ॐ

परमात्मने नमः

स्वानुभूतिदर्शन

(प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चंपाबेनकी स्वानुभूति-मार्गप्रकाशक तत्त्वचर्चा)

संकलनकार

श्री प्राणलाल पुरुषोत्तमदास कामदार

सोनगढ

अनुवादक

मगनलाल जैन

प्रकाशक

दोशी जगजीवन बावचंद-परिवार

(सावरकुंडलावाले)

सोनगढ़–364250

हिन्दी प्रथमावृत्ति : प्रत : ३००० कहान सं. १७ वीर निर्वाण सं. २५२३ विक्रम सं. २०५३
भाद्रपद कृष्णा दूज बहिनश्रीकी ८४वीं जन्म-जयंती
हिन्दी द्वितीयावृत्ति : प्रत : २००० कहान सं. १८ वीर निर्वाण सं. २५२४ विक्रम सं. २०५४
चैत्र कृष्णा १० बहिनश्रीकी ६६वीं सम्यक्त्व-जयंती
हिन्दी तृतीयावृत्ति : प्रत : २००० कहान सं. १९ वीर निर्वाण सं. २५२५ विक्रम सं. २०५५
भाद्रपद कृष्णा दूज बहिनश्रीकी ८६वीं जन्म-जयंती
गुजराती प्रथम आवृत्ति : प्रत : ४५०० द्वितीय आवृत्ति : प्रत : १००० लागत : रू. ६५=००

अनंतकालके परिभ्रमणके दुःख और विभावके दुःख--सर्व परभाव और भेदभावसे न्यारा शुद्धात्मतत्त्वको दिखानेवाली पू. गुरुदेवश्रीकी वाणीसे सहजतासे नष्ट होता है।

पूज्य गुरुदेवश्रीने शुद्धात्मतत्त्वको प्रगट करनेका मार्ग दिखाकर, पंचमकालमें कई जीवोंका दुःख नष्ट किया है।

सुखधाम–आनंदधाम आत्माको प्रगट करनेका मार्ग सुगम किया है।

परम परम उपकारी पू. गुरुदेवश्रीके चरणकमलमें
परमभक्तिसे बारंबार नमस्कार

—पूज्य बहिनश्री चंपाबेन

प्राप्तिस्थान

☞ **प्राणभाई कामदार, सोनगढ** ✆ 244413

☞ **हेमंतभाई ए. गांधी, सोनगढ**

☞ **ब्र. उषाबेन जे. दोशी**
गोगीदेवी ब्रह्मचर्याश्रम, सोनगढ-३६४२५०

☞ **प्राणभाई पी. कामदार**
२०, कहाननगर, २७१/२९३ एन.सी. केलकर रोड,
दादर (वेस्ट), मुंबई-४०००२८ ✆ 4308190

☞ **प्रदीपभाई प्राणभाई कामदार**
कामदार इन्स्युलेशन,
२८-डी, भांगवाडी, कालबादेवी रोड,
मुंबई-४००००२ ✆ 2016656

☞ **वसंतभाई जे. दोशी**
७३/७ निर्मल बिल्डींग, गारोडीया
घाटकोपर (इस्ट), मुंबई-४०००७७ ✆ 5133974

☞ **पं. कैलासचंदजी जैन**
जैन बंधु, पलटन बाजार,
दहेरादून (यु.पी.)

☞ **श्री पवनकुमारजी जैन**
'विमलांचल', हरिनगर,
अलीगढ़-२०२०११ ✆ 0571-410395

☞ **श्री आदिनाथ दिगंबर जैन मंदिर**
१४१, रंगास्वामी टेम्पल स्ट्रीट,
बाले पेट क्रोस, बेंगलोर-५६००५३

Type Setting :
Arihant Computer Graphic
SONGADH-364250
Mo : 98249 44401

Printed by :
SMURTI OFFSET
SONGADH-364250
Phone : (02846) 244081

प्रकाशकीय निवेदन

हम पामरोंको प्रभु बनानेवाले, 'तू परमात्मा है.....तू परमात्मा है' ऐसी मिष्ट–मधुर गुंजारवमय दिव्यध्वनिके दाता हे परमकृपालु पूज्य गुरुदेव! भरतक्षेत्रके भव्य जीवोंपर आपका अनंत–अनंत अचिंत्य उपकार है। भवच्छेदक वाणी द्वारा आत्मदेवका मिलन करानेवाले हे मुक्तिदूत! आपका इस कालमें असीम–अवर्णनीय उपकार वर्तता है। विशाल जनसमूहके बीच गरजते हे शूरवीर केसरी सिंह! आपने 'सत्'के हेतु सोनगढ़के एकांत–शांत स्थलमें निवास किया और कुछ ही अरसेमें सोनगढ़ भारतवर्षका एक अनुपम 'अध्यात्मतीर्थ' बन गया। 'सोनेमें सुगंध'की भाँति हमें गणधर–श्रुतधर प्रशममूर्ति भगवतीमाताका कल्पवृक्षके समान सत्-समागम संप्राप्त हुआ वह हमारा अहोभाग्य है।

ऐसे महान् ज्ञानवैभवधारी पवित्र महात्माकी चरणोपासना महाभाग्यसे प्राप्त होती है। हमारे पिताश्रीको रत्नचिंतामणि सदृश पूज्य गुरुदेवश्रीका तथा कल्पवृक्षकी शीतल छायाके समान पूज्य भगवती माताका समागम दीर्घकाल तक प्राप्त हुआ था। हमारी बहिन ब्र. उषाबेनको पूज्य बहिनश्रीके मंगल सान्निध्यमें निरंतर रहकर उनके दैनिक जीवनमें गुथ जानेका एवम् भक्तिभावसे उनकी सेवा करनेका दुर्लभ लाभ वर्षों तक प्राप्त हुआ था। पूज्य बहिनश्रीकी हमारे कुटुंबपर जो असीम–अनंत कृपा रही है उसका क्या वर्णन करें?

पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते थे कि ''बेनका जितना करो उतना कम है।'' इस भावनासे प्रेरित होकर एवम् पूज्य बहिनश्रीकी अतीन्द्रिय आनंदमय निर्मल परिणतिमेंसे प्रवाहित ज्ञानगंगाके अमृत-झरनोंमें अवगाहनका लाभ भव्य जीवोंको प्राप्त हो एतदर्थ इस अमृतवाणीके प्रकाशनकी हमारी भावना थी जो आज साकार हो रही है जिससे अंतरमें हम हर्षका अनुभव कर रहे हैं।

अनेक वर्षों तक रात्रिके समय पूज्य बहिनश्रीने मात्र महिलाओंकी सभामें नियमित शास्त्र-प्रवचन किये जिससे बहिनोंको उनकी दिव्यवाणीका लाभ मिला। परंतु पूज्य गुरुदेवश्रीका वियोग होनेपर, मुमुक्षुओंके आग्रहभरे अनुरोधवश, वैसा करना पूज्य बहिनश्रीको नापसंद होते हुए भी, उनकी तत्त्व-चर्चाका लाभ मुमुक्षु भाईयोंको भी प्राप्त हुआ। जिनागमके रहस्योंको, स्वानुभूतियुक्त वाणीसे, सुगम शैलीमें समझाकर भक्तोंको निहाल कर दिया। उसके हर शब्दमें अनुभवरस झर रहा है, जिसमें दिव्य मंत्र गूँज रहे हैं। उस अध्यात्म-अमृत-सरिताका पान भव्य जीवोंने अंजलि भर–भरकर किया और भव–भवकी तृषा शांत की।

हमारे पूज्य पिताश्रीकी ज्ञान-प्रचारकी भावनाके निमित्तसे विक्रम संवत् २०२६में पूज्य गुरुदेवश्रीके शुद्धात्मतत्त्वरसपूर्ण प्रवचनोंका संकलन तथा सर्व प्रथम पूज्य बहिनश्रीके श्रीमुखसे निर्झरित स्वानुभूतियुक्त कुछेक वचनामृत 'प्रवचन-सागरके मोती' शीर्षकसे प्रकाशित हुए थे।

पूज्य बहिनश्रीकी सम्यक्त्वजयंती मनानेकी हमारी पूज्य मातुश्रीकी तीव्र भावना होनेसे पूज्य

बहिनश्रीकी '५७'वीं सम्यक्त्वजयंती उन्हींके मंगल सान्निध्यमें मनानेका हमें अपूर्व लाभ मिला, वह हमारा महान् सद्भाग्य था। धन्य है वह दिवस! धन्य है वह काल!

प्रथमबार श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्टने पूज्य गुरुदेवश्रीकी पावनकारी मंगलमय उपस्थितिमें, पूज्य बहिनश्रीकी ६३वीं जन्मजयंतीके प्रसंगपर, गुजराती 'आत्मधर्म'के संपादक द्वारा संकलित, पूज्य बहिनश्रीके ६३ वचनामृतोंको गुजराती आत्मधर्ममें प्रकाशित किया। और तत्पश्चात् उक्त ट्रस्टकी ओरसे पूज्य माताजीकी ६४वीं जन्मजयंतीके शुभ अवसरपर 'बहिनश्रीके वचनामृत' ग्रंथका प्रकाशन हुआ। उसके बाद पूज्य गुरुदेवश्रीकी अनुपस्थितिमें भी उक्त ट्रस्टकी ओरसे: पूज्य बहिनश्रीकी ७५वीं जन्मजयंतीके प्रसंगपर 'अभिनंदन-ग्रंथ', 'बहिनश्रीकी साधना और वाणी', तथा 'बहिनश्रीका ज्ञानवैभव'का प्रकाशन किया गया। एवम् श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर द्वारा 'गुरु-गुण-संभारणां' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। उसी प्रकार पूज्य बहिनश्रीकी भवसंतति-छेदक, स्वानुभूतियुक्त दिव्यवाणीका भव्य जीव अमृतपान करें और शुद्धात्मरुचि-संपन्न होकर साधना–आराधना-पथके पथिक बनें उसी हेतुसे हम भी यह ग्रंथ 'स्वानुभूतिदर्शन' प्रकाशित कर रहे हैं। उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत ग्रंथमें वीडीयो व ओडियो-टेपमें संग्रहित पूज्य बहिनश्रीकी तत्त्वचर्चा प्रकाशित की गई है। ऐसा करनेमें पूज्य बहिनश्रीकी परोक्ष प्रेरणाने ही शक्ति प्रदान की है।

पुरुषार्थ प्रेरणामूर्ति, अध्यात्ममार्गदर्शक पूज्य गुरुदेवश्री तथा स्वानुभूतिपरिणत पूज्य बहिनश्रीके पुनीतप्रतापसे इस ग्रंथका भगीरथ कार्य हो सका है। पूज्य बहिनश्रीकी धीर–गंभीर और मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेवाली वाणी लिपिबद्ध हो ऐसी अनेक मुमुक्षुओंकी व हमारी अंतरंग उत्कृष्ट भावना थी जो आज साकार हो रही है।

श्री जिनवाणी और पूज्य बहिनश्रीके प्रति भक्तिसे प्रेरित होकर आत्मार्थी श्री प्राणलालभाई कामदारने इस ग्रंथका उल्लासपूर्वक (गुजराती भाषामें) संकलन किया है; उसीका यह हिंदी अनुवाद हिंदीभाषी तत्त्वजिज्ञासुओंके लाभार्थ प्रस्तुत है। भाषांतरका यह महत् कार्य माननीय श्री मगनलालजी जैनने किया है जिसमें उन्होंने मौलिक अभिव्यक्तिकी अक्षुण्णताको वरीयता दी है। आपने अनेक ग्रंथोंका सुंदर अनुवाद किया है। यहाँ यह भी बताने योग्य है कि इनके अतिरिक्त भी आत्मार्थी मुमुक्षु भाईयोंने तथा पूज्य बहिनश्रीके सान्निध्यमें रहनेवाली अनेक ब्रह्मचारी बहिनोंने इस ग्रंथके प्रकाशन-कार्यमें प्रशंसनीय सहयोग प्रदान किया है एतदर्थ हम उन सबका आभार मानते हैं।

इस ग्रंथके प्रकाशनमें जिन–जिन मुमुक्षुओंने आर्थिक सहयोग दिया है उनका सहृदय आभार मानते हैं। ग्रंथके सुंदर मुद्रण कार्य हेतु स्मृति ऑफसेट, किंग ओफ किंग तथा अरिहंत कोम्प्युटर ग्राफिक्सका हृदयसे आभार मानते हैं।

करुणासागर धर्मात्माके उपदेशको ग्रहण करके हम सब भावी भगवंत एवम् भावी गणधरके मंगल आशीर्वाद द्वारा आत्महित साधें, यही मंगल भावना—

—प्रकाशक

*

संपादकीय निवेदन

अध्यात्मयुगस्रष्टा परमोपकारी पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामीने भगवान् महावीरस्वामीके शासनमें लगभग दो हजार वर्ष पूर्व अवतरित महासमर्थ आचार्य श्री कुंदकुंदाचार्यदेव तथा अन्य आचार्यों–मुनियों द्वारा विरचित परमागमोंमें सन्निहित अध्यात्मके परम गूढ रहस्योंको खोलकर दीर्घकालसे लुप्तवत् मोक्षमार्गको पुनः प्रकाशित किया और पंचमकालमें तीर्थंकरतुल्य कार्य करके चतुर्थकाल प्रवर्तित किया। ४५ वर्ष पर्यंत जिनवाणीका अमृतस्रोत प्रवाहितकर भारतके भव्य जीवों पर महान्–महान् उपकार किया है।

ऐसे महान् उपकारी गुरुका विरह असह्य था। पूज्य गुरुदेवश्रीके परमभक्त स्वानुभूतिविभूषित प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चंपाबेन, उस गुरु-विरह-कालमें, भक्तोंका परम आधार-स्तंभ बनी। उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्रीके उपदेशका हार्द समझकर भवांतका कारणरूप भगवती अनुभूति प्राप्त की थी। प्रस्तुत ग्रंथमें जिज्ञासुओंके द्वारा उनसे पूछे गये प्रश्नोंका तथा उनके द्वारा दिये गये समाधानका संकलन किया गया है।

पूज्य बहिनश्री चंपाबेन अति गंभीर, शांत–वैराग्य मुद्राधारी, अल्पभाषी, निराभिमानी, बाह्य प्रसिद्धिसे दूर रहनेकी भावनावाली थी। उनकी स्वानुभूतिकी तो पूज्य गुरुदेवश्री अथक प्रशंसा करते रहते थे, विविध प्रशंसाके उद्गार सहजरूपसे निकल पड़ते थे, जिनका उद्देश्य यह था कि मुमुक्षुजगत् उन्हें पहिचाने और उनका लाभ ले। पूज्य बहिनश्रीकी भवातापविनाशक वाणीका लाभ आत्मार्थी जीवोंको प्राप्त हुआ तथा मुमुक्षुओंके महा भाग्यसे वह वाणी टेपमें संग्रहित हुयी, जिसके फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रंथका प्रकाशन शक्य हुआ है।

जैनदर्शनके रहस्य अति गंभीर एवम् मात्र अनुभवगम्य होनेसे अनुभवी आत्मज्ञानीके प्रत्यक्ष मार्गदर्शनका मूल्य कोई विशिष्ट प्रकारका होता है। जब तक आत्माकी प्रत्यक्ष प्राप्ति न हो तब तक आत्मार्थी जीवोंको अनेक प्रकारके प्रश्न उठते हैं और तब प्रत्यक्ष ज्ञानीका मार्गदर्शन–समाधान उन्हें आत्माकी ओर प्रेरता है। पूज्य बहिनश्रीकी भावना तो एकांतमें रहकर निरंतर अपनी साधना करनेकी ही रही है तथापि पूज्य गुरुदेवश्रीके वियोग पश्चात् मुमुक्षुओंकी उलझनपूर्ण परिस्थिति देखकर, अस्वस्थ होते हुए भी, जिज्ञासुओंके द्वारा पूछे गये तात्त्विक प्रश्नोंके समाधान, करुणावश, सादी–मृदुभाषामें किये। कोई अल्प अभ्यासी हो तो वह भी सर्व पहलुओंको स्पष्ट प्रकारसे समझ सके वैसे वे समाधान कराती थी। स्वानुभूतिकी प्राप्ति हेतु ही उनका समस्त मार्गदर्शन था इसीलिये इस

ग्रंथका नाम 'स्वानुभूतिदर्शन' रखा गया है। और प्रश्न-समाधानकी प्रक्रियाका रूढिगत नाम 'चर्चा' होनेसे तदर्थ 'बहिनश्रीकी तत्त्वचर्चा' नाम दिया गया है।

जीवको स्वरूप-प्राप्तिकी जिज्ञासा कैसे उत्पन्न हो, रुचि कैसे हो, लगन कैसे लगे, गहराई कैसे आये, दृढ़ता वृद्धिगत कैसे हो, कार्यसाधकताकी सावधानी कैसे बढ़े, कार्य पूरा हुए बिना चैन नहीं पड़ना चाहिये, ज्ञान क्या कार्य करता है, श्रद्धा कैसे ग्रहण करती है, चारित्र क्या क्रिया करता है, वीर्यका पलटाव कैसे हो, ज्ञानी-अज्ञानीकी परिणतिमें क्या फर्क है, क्रमबद्ध और पुरुषार्थका सुमेल किस प्रकार है, ज्ञान-वैराग्यकी संधि कैसी होती है, भेदज्ञान कैसे व किससे किया जाता है, स्वरूपकी महिमा कैसे आये, रागसे विरक्ति किस प्रकारसे होती है, इत्यादि; तथा स्वच्छंदता न हो, प्रमाद न हो, मिथ्या संतोष न हो, थोड़े कार्यमें ज्यादा माननेमें न आ जाय; क्षयोपशम, मंदकषाय और बाह्यक्रियामें किसी प्रकार अधिकता भासित न हो, इत्यादि अनेक भावोंको अत्यंत स्पष्ट रीतिसे इस ग्रंथमें समझाया गया है। उपादान-निमित्त, कर्ता-कर्मपना, अकर्तापना, ज्ञेय-ज्ञायकपना, स्व-पर प्रकाशकपना, इत्यादि अनेक विषयोंका इस ग्रंथमें भलीभाँति विश्लेषण होनेसे जिज्ञासु मुमुक्षुओंको इसमें एक विशद मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है, जो पुरुषार्थके उत्थानमें अप्रतिम बल देनेवाला और प्रेरणास्पद बना रहेगा। संक्षेपमें कहा जाय तो पूज्य बहिनश्री द्वारा प्रदत उक्त समाधानोंमें उनका अनुभवरस झरता है और 'मैं ज्ञायक हूँ.....ज्ञायक हूँ' ऐसा सुमधुर नाद मुमुक्षुओंको जागृत करता है।

अनेक मुमुक्षुओंकी माँग होनेसे एवम् पूज्य गुरुदेवश्रीके भक्त ऐसे समस्त मुमुक्षुजन पूज्य बहिनश्रीकी अमृतमय मंगलकारी वाणीका लाभ ले सकें इसी प्रशस्त उद्देश्यसे यह ग्रंथ प्रसिद्ध किया जा रहा है। अनादि अपरिचित आत्म-पथके अभिलाषी मुमुक्षु-पथिकको, यह ग्रंथ दिशादर्शक व पुरुषार्थप्रयोजक, एक प्रखर अनुभवी पथप्रदर्शक जैसा कार्य करेगा। अतः इस तत्त्वचर्चाके ग्रंथको महान् लाभकारी समझकर इसका तलस्पर्शी-स्वलक्षी अध्ययन करने योग्य है।

इस 'स्वानुभूतिदर्शन' ग्रंथके, आदिसे अंततक मूल प्रेरणास्रोत पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी हैं, जिन्हें मैं अनंत-अनंत वंदन करता हूँ। प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चंपाबेनका भी परम-परम उपकार है। उन्हींके मंगल आशीर्वादसे ही यह कार्य संपन्न हुआ है।

ज्ञानीकी टेपमुद्रित वाणीको लिपिबद्ध करनेका कार्य अति कठिन होता है, कारण कि ज्ञानीके आशयको जीवंत रखकर ही वह कार्य करना होता है। तदुपरांत, प्रस्तुत इस हिंदी अनुवादमें वक्ताके मौलिक भावोंकी मौलिकताको भाषांतरमें संरक्षित-अक्षुण्ण रखनेका कार्य तो और भी जटिल होता है। तथापि, पूज्य बहिनश्रीके सान्निध्यमें वर्षोंसे रहनेवाली अनेक ब्रह्मचारी बहिनोंके सहयोगसे तथा

पूज्य गुरुदेवश्री और पूज्य बहिनश्रीके सत्समागममें वर्षोंसे रहनेवाले कई अभ्यासी मुमुक्षु भाईयोंके अथाह प्रयत्नसे यह सब कार्य सफलतापूर्वक पूर्ण हो सका है।

इस ग्रंथके प्रकाशक श्री जगजीवन बावचंद दोशीकी सुपुत्री ब्र. उषाबेन, पूज्य बहिनश्रीकी सेवामें अहर्निश रहती थी और तत्त्वचर्चाके दौरान उसे सावधानीपूर्वक ओडियो–वीडियो कैसेटमें संग्रहित कर लेती थी। उसी परसे यह संकलन-कार्य शक्य हो सका है। पूज्य बहिनश्रीकी अंतःवासी कुछ ब्रह्मचारी बहिनोंने टेपमेंसे तत्त्वचर्चाको प्रथम अक्षरशः लिपिबद्ध करके उसका पूरी सावधानीसे संशोधन किया। पूज्य बहिनश्रीका आशय संपूर्णतया संरक्षित रहे एतदर्थ पुनः इस पूरे आलेखको कुछएक अभ्यासी मुमुक्षुभाईयोंने जाँचकर उसे समुचितरूपसे तैयार किया।—इस प्रकार ऐसे महान् कार्यमें जिन्होंने सहयोग प्रदान किया है उन सभीके प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ। इन सभी भाई–बहिनोंने इस कार्यको अति उल्लास व सावधानीपूर्वक मात्र अपनी देव–शास्त्र–गुरुके प्रति निष्ठा और भक्तिसे प्रेरित होकर पूर्ण किया है।

पूज्य गुरुदेवश्रीने ''बहिनश्रीके वचनामृत'' ग्रंथकी कितनी महिमा की थी वह तो हम सभी मुमुक्षु भलीभाँति जानते ही हैं। यह ''स्वानुभूतिदर्शन'' ग्रंथ भी उन्हींकी टेप-वाणीमेंसे अक्षरशः उतारकर उनके भाव सुरक्षित रखकर किया गया संकलन है। यह ग्रंथ आत्मार्थी जीवोंके मनमें उठनेवाले सैकड़ों प्रश्नोंके समाधानरूप है; इसलिये आत्महितकी दृष्टिसे अपनेको इस ग्रंथका कितना महत्त्व होना चाहिये वह पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्राप्त मार्गदर्शनके अनुसार पाठकोंको स्वयं समझनेका है।

इस ग्रंथका संकलन करनेका अति पवित्र कार्य करनेका लाभ मुझे प्राप्त हुआ उसे मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ। इस कार्यमें मेरी अल्पमति या प्रमादवश जो भी त्रुटि रह गई हो उसके लिये मैं अति नम्रभावसे क्षमा याचना करता हूँ।

अंतमें पूज्य गुरुदेवश्री तथा पूज्य बहिनश्रीके चरण कमलमें विनम्रभावसे नमन करते हुए यही भावना है कि सर्व जीव स्वानुभूति प्राप्त करके मोक्षमार्गको साधकर सिद्धपदको प्राप्त हों।

—संकलनकार

पूज्य बहिनश्रीके नित्यक्रमकी प्रार्थनाके भक्तिपद

सुखधाम अनंत सुसंत चही,
दिनरात रहे तद्ध्यान महीं;
प्रशांति अनंत सुधामय जे,
प्रणमुं पद ते वरते जय ते.

*

कायानी विसारी माया, स्वरूपे समया अेवा,
निर्ग्रंथनो पंथ भव अंतनो उपाय छे.

*

संगत्यागी अंगत्यागी, वचनतरंगत्यागी,
मनत्यागी बुद्धित्यागी, आपा शुद्ध कीनो है.

*

पावन मधुर अद्भुत अहो! गुरुवदनथी अमृत झर्यां,
श्रवणो मळ्यां सद्भाग्यथी नित्ये अहो! चिद्रस भर्या.
गुरुदेव तारणहारथी आत्मार्थी भवसागर तर्या,
गुणमूर्तिना गुणगणतणां स्मरणो हृदयमां रमी रह्यां.

*

द्रव्य सकळनी स्वतंत्रता जग मांहि गजावनहार,
वीरकथित स्वात्मानुभूतिनो पंथ प्रकाशनहारा,
गुरुजी जन्म तमारो रे जगतने आनंद करनारो.

*

स्वर्णपुरे धर्मायतनो सौ गुरुगुणकीर्तन गातां;
स्थळ–स्थळमां 'भगवान आत्मा'ना भणकारा संभळातां,
कण–कण पुरुषार्थ प्रेरे
गुरुजी आत्म अजवाळे.

*

हुं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे;
कंई अन्य ते मारुं जरी, परमाणुमात्र नथी अरे.

ॐ

श्री परमात्मने नमः

स्वानुभूतिदर्शन * बहिनश्रीकी तत्त्वचर्चा

प्रश्न :—*पूज्य गुरुदेवश्रीके वचनामृतमें 'ॐ **सहज चिदानंद**' आता है, तो उसमें क्या कहना चाहते हैं?*

समाधान :—'ॐ' भगवान्‌की वाणी है। ॐ ध्वनि निरक्षरी होती है। गुरुदेवको जिनवाणीके प्रति अत्यन्त प्रेम था इसलिये उनको 'ॐ सहज चिदानंद' ऐसा (सहज) आता था। आत्मा सहज चित्स्वरूप आनन्दस्वरूप है; तू ऐसे सहज चिदानंद आत्माको पहिचान। वह किससे पहिचाना जाये? इस ॐसे उसको पहिचाना जाता है—भगवान्‌की वाणीसे आत्मा पहिचाननेमें आता है। गुरुदेवको ॐका भास भी हुआ था।

मुमुक्षु :—सहज चिदानन्द आत्माकी पहिचान ॐकारध्वनि द्वारा होती है?

बहिनश्री :—आत्मा सहज चिदानन्द है, वह ॐकारध्वनि द्वारा पहिचाना जाता है। भगवान् आत्मा सहज चिदानन्द है, उसे भगवान्‌की वाणी पहिचान कराती है, ऐसा उपादान-निमित्तका सम्बन्ध है। ॐको पहिचाने वह आत्माको पहिचाने। ॐकार द्वारा सब पहिचाना जाता है। जीव अनादिकालसे परिभ्रमण कर रहा है, उसमें साक्षात् भगवान् मिले, भगवान्‌की वाणी मिले अथवा गुरुकी वाणी मिले तब आत्माको पहिचाने, ऐसा उपादान-निमित्तका सम्बन्ध है अर्थात् ऐसा वाणीके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। गुरुदेवको जिनवाणीके प्रति कोई विशिष्ट जातिका प्रेम था, उन्हें अंतरसे सहज श्रुतका प्रेम था।

मुमुक्षु :—गुरुदेव पूर्वभवमें सुनकर आये थे न?

बहिनश्री :—हाँ, वे स्वयं पूर्वभवमें सुनकर आये थे। एक अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग (शास्त्रमें) आता है, ऐसा श्रुतका ज्ञान गुरुदेवको अंतरमेंसे आता था। उन्हें जिनवाणीके प्रति इतना बहुमान था कि वाणीका अर्थ करते हुए थकते ही नहीं थे, शास्त्रोंके अर्थ उनकी

वाणीमें धाराप्रवाहरूपसे निकला करते थे। व्याख्यान करे तब एक शब्दमें मानो पूरा ब्रह्मांड खड़ा करते थे।

ॐकारका बहुमान सहज ही था। 'जिनवर सो जीव और जीव सो जिनवर' ऐसा बारम्बार सहज ही उनके हृदयमेंसे निकलता था। उनका द्रव्य ही ऐसा था इसलिये सहज ही ऐसा आता था। वे सबको 'ॐ' लिख देते थे। किसी-किसीको 'ॐ सहज चिदानन्द' भी लिख देते थे। १.

प्रश्न :—*तीर्थंकरकी सभामें लाखों-करोड़ों जीव होते हैं, परन्तु उनमें तीर्थंकरका जीव तो कोई विरला ही होता है न?*

समाधान :—समवसरण-सभामें तीर्थंकरके जीव तो कुछएक ही होते हैं। सभी श्रोता तीर्थंकरके जीव थोड़े ही होते हैं? हमेशा तीर्थंकर भगवान् तो बिरले ही होते हैं। श्रोता बहुत होते हैं, परन्तु उनमें तीर्थंकर होनेवाले तो कोई-कोई होते हैं। तीर्थंकरका जीव अनमोल द्रव्य है, वे मार्ग-प्रकाशक हैं; उनकी वाणी द्वारा लाखों-करोड़ों जीव मार्ग प्राप्त करते हैं। जगत्में सर्वोत्कृष्ट हों तो तीर्थंकर भगवान् ही हैं, ऐसे सर्वोत्कृष्ट जीव बिरले ही होंगे न? इन्द्र भी स्वर्गलोक छोड़कर भगवान्के चरणोंमें आते हैं और उनकी महिमा करते हैं कि हमें पुण्यकी महिमा नहीं, आपकी महिमा है। भगवान् तो पुण्य और पवित्रता दोनोंमें सर्वोत्कृष्ट हैं। उनके आगे सब निस्तेज हैं। समस्त लोकमें सर्वोत्कृष्ट हों तो तीर्थंकर भगवान् हैं, इसलिये ऐसे द्रव्य अल्प होते हैं। उनकी वाणी ऐसी होती है कि जिसे सुनकर कितने ही जीव मार्ग प्राप्त कर लेते हैं। उनके अतिशय भी अलौकिक होते हैं, उनके दर्शनमात्रसे जीवोंके भाव पलट जाते हैं।

गौतमस्वामीने मानस्तंभ देखा और उनका मान गल गया। भगवान्की अतिशयता चारों ओर फैली होती है। मान गला उसमें मानस्तंभ कारण नहीं है, भगवान् कारण हैं। भगवान्का अतिशय चारों ओर होता है। यह मानस्तंभ ऐसा है तब भगवान् कैसे होंगे! ऐसा आश्चर्य होनेपर वहीं का वहीं मान गल गया और सारे आग्रह छूट गये। पहले तो अंतरमें इतने आग्रह थे कि मुझ जैसा कोई नहीं है, मैं तो सर्वज्ञ हूँ, ऐसा भीतर अभिमान था, परन्तु मानस्तंभको देखते ही वह मान एकदम गल गया और वहींसे पात्रता शुरू हो गई। भगवान्के अतिशय कोई अलग ही होते हैं। उनकी वाणी आदि सब अलौकिक होते हैं और वे जीवोंको सहज ही पलटनेका कारण बनते हैं। यदि उपादान तैयार हो तो

परिणति सहज ही पलट जाती है। गौतमस्वामी समवसरणमें आगे बढ़ते हैं वहाँ सम्यग्दर्शन, मुनिदशा, समस्त लब्धियाँ और अवधि–मनःपर्ययज्ञान प्रगट होते हैं, अंतरमें एकदम परिवर्तन हो जाता है और भगवान्‌की वाणी खिरती है। भीतर पात्रता हो तो भगवान् अति प्रबल निमित्त बनते हैं।

महाभाग्यसे गुरुदेवका जन्म भरतक्षेत्रमें हुआ। वर्तमानमें उनके समान कोई दिखायी नहीं देता। उनकी वाणी आदि सब अलग ही प्रकारके थे, उनके दर्शनमात्रसे जीव उल्लसित हो उठते थे और ऐसे भाव जागृत होते थे कि यह कोई विलक्षण पुरुष हैं! २.

प्रश्न :—*विकल्पमें तत्त्व सम्बन्धी विकल्प–विचार तो अनेक चलते रहते हैं, परन्तु तत्त्व-निर्णय तक पहुँचा नहीं जाता; विकल्पमें तत्त्वके विचारोंके सिवाय अधिक कुछ दिखायी नहीं देता, तो क्या करना चाहिये?*

समाधान :—अपने पुरुषार्थकी मन्दता है इसलिये आगे नहीं बढ़ा जाता। तत्त्वका अभ्यास है इसलिये तत्त्वके विचार करता रहता है; परन्तु यह जो ज्ञायक है वही मैं हूँ इसप्रकार उसे (गहराईसे) ग्रहण करके ज्ञायककी श्रद्धा नहीं करता। श्रद्धाके बलसे 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा भेदज्ञानका अभ्यासमात्र कहनेरूपसे नहीं, किन्तु अंतरसे किये बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। द्रव्यदृष्टिके जोरसे तथा भेदज्ञानके अभ्यासके बलसे आगे बढ़ सकता है।

तत्त्वनिर्णयके पश्चात् भी श्रद्धाका बल जोरदार रखकर भेदज्ञानका अभ्यास करते रहना। उसके बिना आगे नहीं बढ़ा जाता।

मुमुक्षु :—स्व–परका स्वरूप तो बुद्धिमें बराबर बैठ जाता है, तथापि शुष्कता जैसा लगता है और भावसे भींजोकर जो आना चाहिये वह नहीं आता, तो ऐसी स्थितिमें क्या करें? कृपा करके समझायें।

बहिनश्री :—अपना कारण स्वयं ढूँढ़ना है। अंतरसे हृदयको भींजोकर, आत्माकी महिमा लाकर, तत्त्वनिर्णयको दृढ़ करके तथा उसका पुरुषार्थ करके स्वयं ही आगे बढ़ना है। जो एकत्वबुद्धि हो रही है उसे तोड़नेपर ही छुटकारा है। दोनों प्रतिपक्ष हैं। यहाँ स्वमें एकत्वबुद्धि करनी है और परसे पृथक् होना है। ज्ञायक तो निराला है, उस निरालेको निरालेरूपमें परिणमनमें लाना है। यह किये बिना छुटकारा नहीं है। द्रव्यपरकी दृष्टिके जोरपूर्वक भेदज्ञानका अभ्यास करना; उसके सिवा कोई उपाय नहीं। इसप्रकार अंतरमें स्वयं अपने

हृदयको भींजोकर पुरुषार्थ करना, यह एक ही उपाय है। स्वकी ओर जाना हो तो यही उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं, ऐसा निर्णय स्वयंको आना चाहिये; और उस निर्णयके बलसे उस प्रकारका पुरुषार्थ स्वयं करे तो (कार्य) हो।

मुमुक्षु :—निर्णय तो ऐसा ही है कि ज्ञायकके आश्रय बिना सम्यग्दर्शन प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है; परन्तु जोर नहीं आता, तो क्या किया जाय?

बहिनश्री :—अंतरका पुरुषार्थ किये बिना, लगन लगाये बिना छुटकारा ही नहीं है। अनादिका दूसरा अभ्यास है और पुरुषार्थकी मन्दता है इसलिये अन्यत्र कहीं रुकता ही रहता है; परन्तु भेदज्ञानका बारम्बार अभ्यास करते ही रहना वही उपाय है।

मुमुक्षु :—आप कहते हैं वह बात सच है कि जीव कहीं अन्यत्र रुकता है, उसका खयाल भी आता है, परन्तु उस समय अलग कैसे होना?

बहिनश्री :—ज्ञानसे निर्णय किया है, परन्तु भीतरसे हृदय इतना भींजा हुआ हो—स्वयंको भीतरसे खटक लगे तो भिन्न पड़े। अंतरमेंसे खटक लगनी चाहिये तथा ज्ञायककी महिमा आनी चाहिये; यह विभावमात्र दुःखरूप है ऐसा अंतर्वेदनमें लगना चाहिये। यह विभाव दुःखरूप है और दुःखफलरूप है, ऐसी खटक लगे तो उससे भिन्न पड़े। निर्णयके पश्चात् भी उसे स्वयंको खटक लगनी चाहिये, तब भिन्न पड़े। मात्र विचार किया करे ऐसा नहीं, किन्तु अन्तरसे खटक लगनी चाहिये।

मुमुक्षु :—जबतक अपनेको प्राप्त न हो तबतक क्या यही किया करे?

बहिनश्री :—अपनेको प्राप्त न हो तबतक द्रव्यपर दृष्टि स्थापित करके अपनी श्रद्धाको जोरदार करनेका प्रयत्न तथा भेदज्ञान करना। यह एक ही मार्ग है। द्रव्य–गुण–पर्यायका स्वरूप चारों ओरसे समझे, चारों ओरसे शास्त्रोंके पहलुओंको विचारता रहे, तत्त्वका विचार करे और स्वयं अंतरमें विचारकर शास्त्रोंमें आता है तदनुसार निर्णय करे। अपनी श्रद्धाका बल स्वयं प्रगट करना चाहिये कि 'यह मैं ज्ञायक हूँ और यह मैं नहीं हूँ' ऐसा बल श्रद्धामें लाना चाहिये। एकबार विचार करे कि यह मैं हूँ और यह मैं नहीं, तो कुछ नहीं होगा। परन्तु उसे कार्यमें लाना चाहिये, अंतर्परिणतिमें उतारना चाहिये। उपाय तो यह एक ही है।

जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञानसे हुए हैं, और जो नहीं हुए वे भेदविज्ञानके

अभावसे नहीं हुए। भेदज्ञान कहाँ तक भाना? उसके दो अर्थ हैं—एक तो यह कि जबतक यह आत्मा स्वयं भिन्न पड़कर स्वरूपमें स्थिर न हो तबतक भेदज्ञान भाना। और दूसरा अर्थ यह है कि जबतक केवलज्ञान न हो तबतक भेदज्ञानको भाते रहना। यद्यपि प्रारम्भमें (भेदज्ञानका) अभ्यास सहज नहीं होता तथापि अभ्यास करते रहना। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेसे पूर्व और पश्चात् भी, जबतक केवलज्ञान प्राप्त न हो तबतक भेदज्ञान भाते रहना। द्रव्यदृष्टिका जोर—भेदज्ञानका बल—ठेठ केवलज्ञान न हो तबतक साथ रहता है। यह एक ही उपाय है। अपूर्ण दशा है इसलिये अणुव्रत, पंचमहाव्रत, देव–शास्त्र–गुरुकी महिमा आदि ऐसे शुभभाव तथा सम्यग्दर्शनके आठ अंगरूप व्यावहारिक भाव आते हैं, वह सब साथ होता है; परन्तु मोक्षका उपाय तो अंतरमें एक सम्यग्दर्शनकी सहजधारा चले वह है। सम्यग्दृष्टिको सहज ज्ञाताधारा चलती है और वह सहज पुरुषार्थसे चलती है। उसने सहज मार्ग जान लिया है। अनुभवसे पूर्व जिज्ञासुको भी अभ्यास तो एक ही करना है, जो मार्ग है उस मार्गका ही अभ्यास करना है। अभ्यास न हो तो बारम्बार पुरुषार्थ करना; परन्तु मार्ग तो एक ही है। भेदविज्ञान कहाँ तक भाना? कि आत्मा आत्मामें स्थिर न हो जाये वहाँ तक धारावाही भाना, ऐसा 'समयसार'में आता है। ३.

प्रश्न :—*वाह्य कार्य चाहे जैसा कठिन हो तथापि जीव उसे करनेकी तत्परता बताता है; परन्तु यहाँ पूज्य गुरुदेव और आप बहुत कुछ बतलाते हैं फिर भी करता नहीं है।*

समाधान :—गुरु कहते हैं कि इस मार्गपर चल....यह दिशा है वहाँ जा; वे मार्ग बतलाते हैं, किन्तु चला नहीं देते। गुरुदेवने खोल–खोलकर सब बतलाया है। जैसे छोटे बच्चेको बताते हैं वैसे बतलाया है।

विभाव—शुभभाव बीचमें आवें उनमें रुकना नहीं, भीतर साधकदशाकी पर्यायें प्रगट हों उनमें भी नहीं रुकना और अनेक प्रकारके ज्ञानके भेद आवें उनमें भी मत रुकना। इसप्रकार गुरुदेव अनेक प्रकारसे समझाते थे। एक शाश्वत द्रव्यको ग्रहण करके उस मार्गपर चलनेसे तुझे शुद्धताकी पर्याय प्रगट होगी, ऐसा कहकर मार्ग बतलाते थे। अकेले ज्ञायक द्रव्यको पकड़ना, तो तुझे ज्ञायक भगवानमें जो भरा है वह सब प्राप्त होगा। उसमें सर्व निधियाँ भरी हैं वे मिलेंगी। इसप्रकार खोल–खोलकर बतलाते थे, परन्तु चलना तो अपनेको है। गुरुदेवने सब बतला दिया, किन्तु चले कौन? गुरु मार्ग बतलाते हैं, मुँहमें कौर रखते हैं,

परन्तु अपनी जीभ चलाकर अपनेको गले उतारना रहता है। अर्थात् पुरुषार्थ तो स्वयंको करना रहता है।

ऐसा बतलानेवाला इस पंचमकालमें कौन मिले? दुनियामें सब जीव कहीं न कहीं अटके होते हैं। कोई थोड़ा पढ़ते हैं और भक्ति–त्याग–क्रिया करते हैं इसलिये धर्म हो गया, तथा कोई ध्यान करते हैं उसमें प्रकाश दिखायी दे या भगवान् दिखायी दे तो धर्म हो गया ऐसा मानते हैं। इसप्रकार कहीं न कहीं भ्रमणामें भूले पड़े हैं।

गुरुदेवने पूरा समझाया है इसलिये किसी मुमुक्षुको भ्रमणा होनेका अवकाश नहीं है, मात्र चलना ही बाकी है। इतना पूरा गुरुदेवने बतलाया है। सबके ऊपरसे दृष्टि उठाकर एक चैतन्यपर दृष्टि दे, भेदज्ञान प्रगट कर। स्वानुभूति प्रगट करके उसीमें तृप्त हो तो उसमेंसे ही आनन्दका सागर उछलेगा, उसमें शान्तिका सागर, ज्ञानका सागर भरा है इसलिये उसीमेंसे शान्ति–ज्ञान प्रगट होंगे। उसीमें बारम्बार दृष्टि, ज्ञान और लीनता करनेसे उसीमेंसे पूर्णताकी प्राप्ति होगी। ४.

प्रश्न :— *नास्तिभावसे निर्णय बराबर होता है, किन्तु अस्तिभावसे पकड़में नहीं आता कि मैं ज्ञायक आत्मा ही हूँ?*

समाधान :—पहले आत्मा दिखायी नहीं देता इसलिये अस्ति ग्रहण नहीं होती और रागादि सब करने योग्य नहीं है ऐसा लगता है, क्योंकि रागादि दुःखरूप लगते हैं, तथापि आत्मा स्वलक्षणसे पहिचाननेमें आता है। 'जाननेवाला है वही मैं हूँ' ऐसा विचार करके और गहराईमें उतरकर सूक्ष्म उपयोग करे तो अपनी अस्ति ग्रहण होती है। स्वयं अपनेको भूल गया है, किन्तु स्वयं ही है, कोई अन्य नहीं।

सर्वभाव चले गये, परन्तु स्वयं ज्ञाता तो ज्यों का त्यों शाश्वत रहता है। भूतकालमें जो विकल्प हुए उन्हें स्वयं याद कर सकता है, परन्तु स्वयं तो ज्यों का त्यों ही रहता है। इसलिये ज्ञाताका जैसा है वैसा अस्तित्व ग्रहण करना चाहे तो कर सकता है। स्वयं अंतरमें गहरे उतरकर जो 'यह जाननेवाला ज्ञायक है वही मैं हूँ' ऐसा जोर उसपर ला सकता है। इसप्रकार ज्ञायकपर जोर लाकर निर्णय करे तो यथार्थ प्रतीति कर सकता है। स्वयं विचार कर तथा अंतरसे निर्णय करके जोर लाये कि यह जो ज्ञाता है सो मैं हूँ, यह रागादि मैं नहीं हूँ, तो स्वयं अपनेको पहिचान सकता है। ५.

प्रश्न :—*आत्माको पहिचाननेका अभ्यास किस प्रकार करें? क्या बाह्य कार्योंको छोड़ देवें?*

समाधान :—स्वयं अंतरसे खटक रखकर पढ़नेका समय निकाल लेना। ऐसे कार्य नहीं होने चाहिये कि अपनेको विचार–वांचनमें बाधा पहुँचे। इतने अधिक कार्य न हों कि पढ़ने या विचारनेका समय ही न मिले। यदि वैसा हो तो स्वयं कार्योंको कम करके निवृत्ति मिले ऐसा करना चाहिये। कुछ एक कार्य छोड़ देने चाहिये, परन्तु कितने छूटते हैं सो तो अपनी शक्तिके अनुसार है। अपनेको निवृत्ति मिले, पढ़ने–विचारनेका समय मिले—ऐसे प्रकारके मर्यादित कार्य होवें। गृहस्थाश्रममें अमुक प्रकारके कार्य तो होते हैं, परन्तु अपनेको निवृत्तिके लिये समय ही न मिले और बोझ बढ़ जाय ऐसा न होवे। कार्य छोड़ने या नहीं छोड़ने वह तो अपनी रुचिपर निर्भर है, किन्तु गृहस्थाश्रममें इतना तो होना चाहिये कि अपनेको पढ़ने–विचारनेका समय मिले। ६.

प्रश्न :—*रागमें सहज एकाकार हो जाते हैं, उससे पृथक् होनेका अभ्यास कैसे किया जाय, वह समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—रागमें एकत्वबुद्धि है उसी क्षण उसे विचार आना चाहिये कि जो राग है वह मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञाता हूँ। राग कहीं मेरा स्वरूप नहीं है। जो राग—विभावभाव हैं वे आकुलतारूप हैं, उनमें कहीं शान्ति नहीं दिखती, आकुलतासे पृथक् रहनेवाला जो शान्तस्वरूप है उसमें रागकी आकुलता नहीं है।

उसी प्रकार खाते–पीते या किसी भी कार्यके समय उसे विचार आना चाहिये कि यह शरीर भिन्न, यह खाना भिन्न, यह आहार भिन्न और यह पेट भिन्न है। उस समय यह वस्तु अच्छी है, यह बुरी है ऐसा जो राग आता है वह सब कल्पना है; वह तो पुद्गलकी पर्यायें हैं और उनमें जो राग आता है उस रागसे भी भिन्न मैं ज्ञाता हूँ।

यह जो भोजन जाता है वह पेटमें जाता है, मेरे ज्ञायकमें नहीं जाता, मैं ज्ञाता उनसे भिन्न हूँ, ऐसा विचार बारम्बार करें। उसे अंतरमें यह बात बैठना चाहिये कि राग आये वह मेरा स्वरूप नहीं है। अपनी मन्दताके कारण राग आता है, तथापि विभावकी परिणतिसे मैं भिन्न हूँ। मैं सिद्धभगवान् सदृश आत्मा हूँ; वास्तवमें विभाव, वस्तुका मूलस्वरूप नहीं होता, और जो स्वरूप हो वह विभावरूप नहीं होता; विभाव तो दुःखदायक है और मैं तो निर्मलस्वभाव हूँ, मैं तो भिन्न हूँ, ऐसे अनेक प्रकारसे विचार करें।

राग आये उसी क्षण मैं भिन्न हूँ, वीतराग स्वभाव हूँ; रागकी आकुलता वह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं शान्तस्वरूप हूँ, वीतराग स्वरूप हूँ, मैं तो जाननेवाला ज्ञायक हूँ, यह रागकी विकृति वह मेरा स्वरूप ही नहीं है।

मुमुक्षु :—रागसे भेद करनेमें कठिनाई तो दिखती है। रागके समय रागसे निराला ज्ञाता सो मैं हूँ, यह कठिन तो लगता है, फिर भी आपके समझानेपर इतना खयाल आता है कि सविकल्पदशामें अभी भी बहुत करना रह जाता है।

बहिनश्री :—जिसे सहज हो उसे विचार नहीं करना पड़ता; यह तो जो अभ्यास कर रहा है उसकी बात है। किस प्रकार करना वह वास्तवमें तो अपनेको विचारना है। गुरुदेवने बहुत समझाया है; फिर भी इसप्रकार अभ्यास करे तो विकल्पोंसे छूटनेका अवसर आता है।

निर्णय किया हो कि शरीर तो जड़ है, मैं जुदा हूँ; परन्तु शरीरमें कोई रोग आये अथवा खाने-पीनेकी क्रिया होती हो उस समय मैं जुदा हूँ और यह जड़ है वैसा भास कहाँ होता है? उसकी परिणति तो एकत्व कर रही है। रागकी परिणति हो उससे मैं जुदा हूँ ऐसा प्रयत्नमें आना चाहिये, तब उसे विकल्प छूटनेका अवसर आये। वह आकुलता न करे परन्तु शांति रखे कि मैं जुदा सो जुदा ही हूँ। यह विकल्प कब टूटेगा? कब टूटेगा?—ऐसे विकल्पके पीछे आकुलित न होकर जुदे होनेका पुरुषार्थ करना।

मैं जुदा हूँ और जुदा होना ही मुक्तिका मार्ग है। जुदे होनेका प्रयास-अभ्यास करना चाहिये। उसके लिये उलझन, आकुलता या जल्दबाजी करनेसे भी विकल्प नहीं टूटता।

मुमुक्षु :—सविकल्पदशामें भी भेदज्ञानका अभ्यास करनेसे परिणति सहज ही जुदी पड़ जाती है वह समझमें नहीं आता था, आज आपने बहुत अच्छी स्पष्टता कर दी।

बहिनश्री :—अनेक बार कहा जाता है कि भेदज्ञानका अभ्यास कर, परिणति अंदरसे पलट दे। तू अभ्यास कर क्योंकि जीवने अनन्तकालमें अनेक विकल्पात्मक ध्यान किये हैं। अशुभ छूटकर शुभ विकल्प इतने मन्द हो जाते हैं कि उसे ऐसा लगता है कि विकल्प हैं ही नहीं; परन्तु भेदज्ञानके अभ्यास बिना एकदम निर्विकल्प होना कठिन होता है। बाह्यसे चाहे जितने ध्यान करे तथापि विकल्प नहीं टूटते। एकत्वबुद्धि हो और ऊपर-ऊपरसे ध्यान करे तो एकत्व ज्यों का त्यों बना रहे और विकल्प मन्द पड़े इसलिये ऐसा लगे कि मुझे

शान्ति मिली; परन्तु वह तो मन्द कषाय है। परन्तु जिसे विकल्पको पकड़नेकी सूक्ष्मता न हो उसे ऐसा हो जाता है; परन्तु यदि भेदज्ञानका अभ्यास करे कि मैं ज्ञायक हूँ, यह सब मुझसे भिन्न है तो उसे सच्चा आनेका अवसर आता है, नहीं तो भूल हो जाती है अर्थात् भ्रमणा हो जाती है। ७.

प्रश्न :—*क्या अपना अस्तित्व यथार्थरूपसे ग्रहण हो तभी उसे द्रव्य-गुण-पर्यायका सच्चा ज्ञान होता है? तथा 'सत् चिदानन्द'में 'सत्' पहले क्यों लिया है?*

समाधान :—मैं आत्मा ध्रुव शाश्वत अस्तित्ववान् (सत्) एक वस्तु हूँ, ऐसा ज्ञानमें प्रथम निर्णय होना चाहिये। उसमें एक अस्तित्वगुण नहीं परन्तु ज्ञान-आनन्दादि अनन्त गुणोंसे भरपूर पूर्ण पदार्थ हूँ।

मैं एक अस्तित्ववान् वस्तु हूँ अर्थात् चैतन्यरूपसे मेरा अस्तित्व है, जड़रूपसे नहीं।—इसप्रकार पहले ग्रहण करे कि मेरा अस्तित्व है; फिर वह पदार्थ कैसा है? तो कहते हैं कि ज्ञान-आनन्दादि अनंतगुणोंसे भरपूर है। ज्ञान-आनन्दसे भरपूर मेरा अस्तित्व है; उसमें ज्ञानरूप, आनन्दरूप ऐसे अनन्तगुणरूपसे मेरा अस्तित्व एकसाथ आ जाता है। इसप्रकार जगत्में सर्व वस्तुएँ सत् हैं।

आत्माका अस्तित्व ही न हो तो ज्ञान-आनन्दादि समस्त गुण किसमें होगें? यदि वस्तुका अस्तित्व हो तो उसमें गुण हों, परन्तु जिसका अस्तित्व ही न हो उसमें गुण किस प्रकार हों? यदि शाश्वत वस्तु ही नहीं तो ज्ञान और आनन्द रहेंगे किसमें? वेदन होगा किसमें?

अनन्तकाल बीत गया, अनन्त जन्म-मरण किये परन्तु ज्ञायकका अस्तित्व तो ज्ञायकरूप ही रहा है। वह निगोद-नरकमें गया, किसी भी क्षेत्रमें रहा और चाहे जैसे उपसर्ग-परीषह आये, परन्तु चेतनका अस्तित्व चेतनरूप ही रहा है, उसका नाश नहीं होता। ज्ञायकका ज्ञायकरूप अस्तित्व कभी नहीं छूटता, नष्ट नहीं होता, वह उसका भाव है, ऐसी अस्तित्वकी महिमा है और उसका ग्रहण होनेपर द्रव्य-गुण-पर्याय सबका ज्ञान एकसाथ हो जाता है।

मुमुक्षु :—पदार्थमें ज्ञान और आनन्द कहनेसे उसमें भाव दिखायी देता है, परन्तु सत् कहनेसे उसमें कोई भाव दिखायी नहीं देता?

बहिनश्री :—आनन्दमें वेदन और ज्ञानमें जाननेका गुण (स्वभाव) है, इसलिये वे भावसे

भरे हुए लगते हैं, वैसे ही अस्तित्व भी रूखा और खाली नहीं है, वह ज्ञान–आनन्दादि अनन्तगुणोंसे भरा हुआ अस्तित्व है।

जैसे अग्निमें उष्णता गुण है और पानीमें शीतलता गुण है तो उनके गुणोंसे वे अन्यको पकड़नेमें आते हैं; उसीप्रकार आत्मा ज्ञायकस्वरूप है; ज्ञायकका अस्तित्व धारण करे वह आत्मा है और जो जानता नहीं वह जड है; इसप्रकार दोनों (अपने–अपने) गुणोंसे पकड़में आते हैं। (ग्रहण होते हैं।) ८.

प्रश्न :—*आत्माका स्वरूप बोलनेमें जितना सहज लगता है, उतनी सहजतासे हमें प्राप्त हो सकता है?*

समाधान :—स्वभाव सहज है; परन्तु अनादिसे विभावमें पड़ा हुआ है, इसलिये सहज नहीं दिखता। उसके ज्ञान, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि सर्व गुण अनादि–अनन्त सहज हैं; वैसे ही वस्तु भी स्वयं सहज है, किसीने बनायी नहीं है। जो स्वभाव हो वह सहज होता है, तथा अपने स्वभावमें जाना वह भी सहज है; परन्तु परपदार्थको अपना बनाना वह अशक्य है। जड़ और चेतन अपना कार्य भिन्न–भिन्न करते रहते हैं। जड अपना नहीं होता। कहाँसे हो? क्योंकि जड और चेतन दोनों जुदे हैं, और जुदे हों वे एक कहाँसे हों? इसप्रकार जड अपना नहीं होता। किन्तु चैतन्यको–अपनेको ग्रहण करके अपनेरूप होना वह सहज है। अपने स्वभावरूपसे परिणमना वह सहज है। जैसे पानी शीतल है उसे शीतलतारूप परिणमना वह सहज है। पानी अग्निके निमित्तसे ऊष्ण हुआ, परन्तु उसका शीतल होना सहज है, क्योंकि वह पानीका स्वभाव होनेसे अग्निसे पृथक् होनेपर शीतल हो ही जाता है, किन्तु पानीको ज्यों का त्यों ऊष्ण रखना वह अशक्य है। उसीप्रकार अनन्तकाल बीता तथापि जीव शरीररूप नहीं हुआ, उसरूप होना अशक्य है, क्योंकि वह परपदार्थ है; उसके साथ रहे तो भी जडरूप नहीं होता। आत्मा अपनी ओर झुके, ज्ञायकको ग्रहण करे तो अल्पकालमें ही स्वानुभूति एवं केवलज्ञान प्रगट होता है, क्योंकि वह अपना स्वभाव है, उसके लिये अनंतकालकी आवश्यकता नहीं है। परपदार्थोंको अपना बनानेमें अनंतकाल व्यतीत हुआ, तथापि अपने हुए नहीं। जब कि अपनेको ग्रहण करनेमें अनन्तकाल लगता ही नहीं, असंख्य समयमें ही केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है इसलिये अपनेको ग्रहण करना, अपनी प्राप्ति करना वह सहज है। ९.

प्रश्न :— *'द्रव्य उसे कहते हैं कि जिसके कार्यके लिये दूसरे साधनोंकी राह न देखना पड़े', इसे विशेष समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—द्रव्यको अन्य साधनोंकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। दूसरोंकी प्रतीक्षा करनी पड़े तो वह द्रव्य काहेका? यदि उसके कार्यके लिये अन्य साधनोंकी प्रतीक्षा करनी पड़े तो वह द्रव्य स्वयं शक्तिहीन हो गया; परन्तु द्रव्य स्वयं अनन्तशक्तिसंपन्न है, उसे साधनोंकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती कि साधन नहीं हैं तो अब कैसे आगे बढ़ा जाये?—ऐसा उसे नहीं है, क्योंकि स्वयं परिणति करनेवाला द्रव्य है, इसलिये उसके कार्यकी परिणति स्वयं ही होती है।

कुदरती द्रव्य स्वतःसिद्ध है। अन्य साधन हों तो द्रव्य अवस्थित रहे ऐसा नहीं होता, वह अनादिसे स्वयं अपनेसे ही शाश्वत टिका हुआ है। उसकी परिणतिके प्रत्येक कार्यमें स्वयं स्वतंत्र है। द्रव्यके आश्रयसे सम्यग्दर्शन हो, ज्ञानकी परिणति हो और लीनता बढ़े, यह सब परिणमन स्वयं अपने आप करनेवाला है। अपने परिणमनकी गति, पुरुषार्थकी गति वह स्वयं ही करता है। उसकी परिणति हो उसमें साधन नहीं आये और साधनोंकी प्रतीक्षा करनी पड़े तो द्रव्य ही नहीं कहलाता। ऐसा पराधीन द्रव्य हो ही नहीं सकता। कुदरतमें ऐसा द्रव्य होता ही नहीं। साधन स्वयं आकर उपस्थित हो जाते हैं, अपनेको प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। अपने आप अपनी परिणति करनेवाला है।

ज्ञानका सम्पूर्ण चक्र स्वयंसे ही चल रहा है, वह कर्मके कारण नहीं होता अथवा साधन नहीं मिले इसलिये नहीं होता ऐसा नहीं है, परन्तु अपनी कचाईके कारण स्वयं अटका है। स्वयं पुरुषार्थ करे तो स्वयं आगे बढ़ता है। इसलिये उसके कार्यके लिये साधनोंकी जरूरत नहीं पड़ती। साधनके लिये रुकना पड़े तो वह द्रव्य ही नहीं है। ऐसा पराधीन द्रव्य हो ही नहीं सकता। १०.

प्रश्न :— *ज्ञानी पुरुष–अविरत सम्यग्दृष्टि दिनभर क्या करते होंगे? उन्हें परमें तो कुछ करना रहता नहीं है, तब समय कैसे व्यतीत करते होंगे? यह कृपया बतलाईये।*

समाधान :—परका कार्य करना हो तो समय व्यतीत हो ऐसा है नहीं। सम्यग्दृष्टिको अन्तरमें ज्ञायककी परिणति प्रगट हुई है, ज्ञाताकी धारा चलती है। उन्हें तो क्षण–क्षण पुरुषार्थकी डोर चल रही है, साधनाकी पर्याय होती है। प्रतिक्षण जो विभाव आयें उनसे भिन्न पड़कर ज्ञायककी धारा—ज्ञायककी परिणति–पुरुषार्थकी डोर—चल ही रही है। सहज ज्ञाताधारा चल रही है।

ज्ञानी दिनभर क्या करते होंगे? आत्माका निवृत्त स्वभाव है, वह विभावमें अथवा कुछ बाहरका करे तो उसका समय व्यतीत हो ऐसा नहीं है। अन्तरके कर्त्ता-कर्म-क्रिया आत्मामें हैं। वह बाहरका कुछ कर ही नहीं सकता। मैं दूसरेका कुछ कर सकता हूँ ऐसा मात्र अभिमान जीवने अज्ञानसे किया है। ज्ञानीके अन्तरमें आत्माकी स्वरूप परिणतिकी क्रियाका कार्य चल ही रहा है, प्रतिक्षण भेदज्ञानकी धारा चल ही रही है। कभी कभी विकल्प छूटकर स्वानुभूति प्रगट होती है तथापि भेदज्ञानकी धारा चलती ही रहती है। खाते-पीते, सोते हुए-स्वप्नमें भी ज्ञायककी धारा चल रही है। यदि वे गृहस्थाश्रममें हैं इसलिये बाह्य कार्योंमें जुड़ते हैं, परन्तु उनकी ज्ञाताधारा चलती रहती है। बाह्यमें कार्य करते दिखायी देते हैं तथापि अन्तरसे तो ज्ञायक ही रहते हैं। अन्तरमें ज्ञायक हो गये और परके कर्ता नहीं हैं इसलिये उनका समय व्यतीत नहीं होता ऐसा नहीं है। विभावके कार्योंमें संलग्न रहें तभी समय व्यतीत हो ऐसा नहीं है; वह तो आकुलता है। भीतर निवृत्तिमय एवं शान्तिमय परिणतिमें ही उन्हें सुख लगता है, बाहर कहीं सुख नहीं लगता।

मुनि अन्तरमें तो अकर्ता हैं ही, परन्तु बाहरका भी सब छूट गया है। तथापि शास्त्रमें आता है कि मुनि कहीं अशरण नहीं हैं। बाह्य पंचमहाव्रतके परिणाम शुभ हैं उनसे भी उनकी परिणति भिन्न रहती है। छठ्ठे-सातवें गुणस्थानमें झूलते मुनिराज क्षण-क्षण स्वरूपमें लीन होते हैं। ऐसे मुनि कहीं अशरण नहीं हैं, उनको आत्माकी शरण प्रगट हुई है। मुनियोंका सारा दिन कैसे बीतता होगा?—इस प्रश्नका कोई अर्थ नहीं है। वे तो शुद्धात्मामें लीन रहते हैं, प्रचुर स्वसंवेदनपूर्वक आनन्दका वेदन करते हैं।

उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको गृहस्थाश्रममें कार्य हो तथापि भीतरका कार्य—अन्तरकी ज्ञाताधारा—चलती ही रहती है। प्रतिक्षण यह जो विभाव परिणति हो रही है उससे भिन्न परिणति भी प्रतिक्षण चल ही रही है, वे कहीं अशरण नहीं हैं। जिसने आत्माकी शरण ली है उसे तो आत्मामें ही सुख-शान्ति-स्वानुभूतिका कार्य चलता है। आत्माकी निर्मलता विशेष प्रगट हो ऐसी विशेष पुरुषार्थकी डोर चल ही रही है।

सिद्ध भगवान्‌को सब छूट गया है तो सिद्ध भगवान् क्या करते होंगे? दिनरात क्या करते होंगे? सिद्धभगवान्‌को अनन्तगुण-पर्यायें हैं, उन अनन्तगुण-पर्यायोंमें वे परिणमन करते रहते हैं। कर्त्ता-क्रिया-कर्म सब अन्तरमें प्रगट हुए हैं और वह सहज है, आकुलतारूप नहीं

है। आत्माका निवृत्त स्वभाव पूर्ण प्रगट हुआ है। गुणोंका कार्य चलता रहता है। ज्ञान ज्ञानका कार्य करता है, आनन्द आनन्दका कार्य करता है, इसप्रकार अनन्तगुण अनन्तगुणोंका कार्य करते हैं, तथापि परिणति निवृत्तिमय है। सिद्ध भगवान् निरंतर आत्मामें लीन रहते हैं, अद्भुत एवं अनुपमदशामें रहते हैं, और उसमें संतुष्ट हैं, तृप्ति और आनन्द है।

सम्यग्दृष्टिको कहीं बाहर जानेका मन नहीं होता, तथा किसी कार्यमें कर्ताबुद्धिसे जुटनेका मन नहीं होता। अन्तरसे स्वामित्वबुद्धिपूर्वक बाहर जानेकी इच्छा नहीं होती, अस्थिरतासे जाना होता है।

मुनियोंके तो सब छूट गया है और निवृत्तिमय परिणति विशेष है, उसमें वे कहीं थकते नहीं हैं और बाहर निकलनेका मन भी नहीं होता। मैं आत्मामें कैसे स्थिर रह जाऊँ, स्वानुभूतिकी दशामें क्षण-क्षणमें बाहर आना पड़ता है उसकी अपेक्षा अन्तरमें शाश्वत कैसे रह जाऊँ ऐसी भावना मुनियोंको होती है। उसीमें उन्हें तृप्ति और आनन्द है। क्षण-क्षणमें बाहर जाना पड़ता है वह न जाना पड़े ऐसी उनकी भावना रहती है। आत्माका स्थान छोड़कर बाहर जाना नहीं रुचता। अनन्त आनन्द-सुखका धाम आत्माका उद्यान छोड़कर अन्यत्र कहीं बाहर जानेका मन नहीं होता। उनका पूरा समय आत्मामें ही व्यतीत होता है। और सम्यग्दृष्टिको ज्ञायककी धारा प्रगट है, पुरुषार्थकी डोर चल रही है; तब उनका समय कैसे बीतता होगा?—यह प्रश्न ही नहीं रहता। इसी मार्गसे अनन्त जीव-अनन्त साधक मोक्षको प्राप्त हुए हैं। ११.

प्रश्न :—*आप उपादानपर अधिक जोर देते हैं, जब हम श्रीमद्‌जीका पढ़ते हैं तब ऐसा लगता है कि उन्होंने निमित्तपर विशेष भार दिया है।*

समाधान :—ऐसा नहीं होता। सबके कहनेका आशय एक ही है। सबका यही कहना है कि तू कर तो (कार्य) हो। कोई निमित्तकी ओरसे भले बात करते हों, परन्तु करना तो अपनेको ही है।

कोई व्यवहारकी ओरसे बात करते हों इसलिये वे व्यवहारका कहते हैं और दूसरे अध्यात्मका कहते हैं ऐसा नहीं कहा जाता। सबका आशय एक ही होता है। सब भावलिंगी मुनि मुक्तिके मार्गमें थे। तथापि कोई व्यवहारके शास्त्रोंकी रचना करें इसलिये वे कुछ दूसरा कहते हैं ऐसा नहीं है। सबका आशय एक ही होता है। १२.

प्रश्न :— *'आनन्दका दिन' उसमें आपने जो लिखा है कि 'चैतन्य भगवान् अपने निर्विकल्प स्वरूपमें केलि कर रहे थे–खेल रहे थे' यह वाक्य तो कोई अद्भुत है!*

समाधान :—वस्तुपर दृष्टि स्थापित करनेपर आत्मा पर्यायमें केलि करता प्रगट होता है। अनन्त गुणसागर आत्मा है वह कोई निराला ही है, अद्भुत है, चमत्कारिक है। स्वानुभूतिमें विचारना नहीं पड़ता या धोखना नहीं पड़ता। अपने स्वभावमें ही खेलता हुआ वह प्रगट होता है; क्योंकि वह उसका स्वभाव ही है। उसका रम्य–रमता स्वभाव है। विकल्प छूटनेपर सहज प्रगट हो ऐसा ही उसका स्वभाव है। अनन्तगुण–पर्यायमें रमना वह आत्माका सहज स्वभाव है। मूल वस्तु स्वयं अपनेरूप रहकर अपने गुण–पर्यायमें रमण करती है, वह उसका स्वभाव ही है। १३.

प्रश्न :— *दृष्टि और ज्ञानकी सन्धि समझानेकी कृपा करें। हम तो एकका निर्णय करने जाते हैं वहाँ दूसरा छूट जाता है।*

समाधान :—दृष्टिको मुख्य रखकर ज्ञायकको ग्रहण करना। उसके साथ–साथ ज्ञान भी सबका होता है। उसमें एकका निर्णय करे और दूसरा छूट जाय ऐसा नहीं होता। साधनामें दृष्टि और ज्ञान साथ होते हैं। दृष्टिको लक्ष्यमें रखे तो ज्ञान छूट जाय और ज्ञानको लक्ष्यमें रखे तो दृष्टि छूट जाय ऐसा नहीं होता; परन्तु यदि एकान्त ग्रहण करे तो साधना छूट जाती है; नहीं तो वह छूट जाय ऐसा नहीं होता। जो ज्ञायकको ग्रहण करे उसे ज्ञानमें ऐसा होता है कि यह पर्याय है। साधनामें पर्यायका ज्ञान होता है। साधनामें समस्त निर्मल पर्यायें पुरुषार्थपूर्वक आती हैं, छूट नहीं जाती, ऐसी उसकी संधि है। एक ज्ञायकको ग्रहण किया और दृष्टि वहाँ स्थापित कर दी तो सब छूट जाय ऐसा नहीं होता। दृष्टि और ज्ञानकी संधि हो सकती है, एकको मुख्य रखे और दूसरा गौण रखे तो संधि हो सकती है। ज्ञायकको मुख्यरूपसे ग्रहण करे और पर्यायका लक्ष्य रखकर (ज्ञान करके) पुरुषार्थ करे तो संधि होती है। मैं तो अनादि–अनन्त शुद्ध हूँ। भीतर शुद्धतामें कहीं अशुद्धता घुसी नहीं है; तथापि पर्यायमें अशुद्धता है इसलिये अन्तरमें स्वरूपके ओरकी परिणति प्रगट करनेसे अशुद्धता टलती है। एकको ग्रहण करे तो दूसरा छूट जाय ऐसा नहीं है, क्योंकि एक द्रव्य है और एक पर्याय है। यदि दो द्रव्य हों तो एकको ग्रहण करनेसे दूसरा छूट जायगा; परन्तु यह तो एकको गौण करना है और एकको मुख्य रखना है। उपयोगमें कभी पर्यायके विचार आयें, तो पर्याय ज्ञानमें मुख्य हो, परन्तु दृष्टिमें तो एक द्रव्य ही मुख्य है और पर्याय गौण है। १४.

प्रश्न :—*प्रतिज्ञा लेनेके बाद यहाँ कितने वर्ष बीत गये, तथापि भीतर कार्य नहीं हुआ; तो आगे कैसे बढ़ें?*

समाधान :—आत्माके हेतुसे प्रतिज्ञा ली है यह बात अच्छी है; उसमें अब आगे बढ़ना है। जो जिज्ञासु है उसकी भावना कहीं निष्फल थोड़े ही जायगी, फलेगी ही। अपने आत्माके ध्येयसे प्रतिज्ञा ली है उसमें सम्यग्दर्शनका पुरुषार्थ हो वह अच्छी बात है; नहीं तो गहरे संस्कार पड़ें वह भी लाभका कारण है। शास्त्रमें आता है कि कर सके तो ध्यानमय प्रतिक्रमण करना और नहीं बन सके तो कर्तव्य है कि श्रद्धा करना, श्रद्धामें फेरफार मत करना। श्रद्धाका बल बराबर रखे तो आगे बढ़ा जा सकेगा। ज्ञायकके मार्गके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। क्रियाकाण्डका कोई मार्ग नहीं है, मार्ग अन्तरका है। ज्ञायककी श्रद्धा करना, भेदज्ञान करना, द्रव्यपर दृष्टि रखना अर्थात् शरीर और विकल्पसे अपना स्वभाव भिन्न है, इसप्रकार ज्ञायकको अलग कर लेना, वह एक ही मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। सर्व विभावोंसे स्वयं भिन्न है, विभाव अपना स्वभाव ही नहीं है, इसप्रकार भेदज्ञानकी धारा निरंतर बढ़ाने जैसी है। देव–गुरुने जो बतलाया वह करना है। देव–गुरुकी श्रद्धा तथा आत्माकी श्रद्धा करना।

देव–गुरुका सान्निध्य प्राप्त हुआ सो महाभाग्यकी बात है। उनकी महिमा तथा ज्ञायककी महिमा करना। ज्ञायक महिमावंत है, उसके गहरे संस्कार डालना। परिणति प्रगट हो तो अच्छी बात है, नहीं तो श्रद्धा कर्तव्य है। गुरुदेवके प्रतापसे आत्माका कल्याण करने हेतु (यहाँ) सब इकट्ठे हुए हैं।

इस भवमें सब तैयारी कर लेना और पुरुषार्थ करना। गुरुदेवकी देशनालब्धि प्राप्त हुई है तो ऐसे गहरे बीज बोना जो शीघ्र फलित हों। १५.

प्रश्न :—*ज्ञाताधारा द्रव्यके आश्रयसे प्रगट होती है, तो उस 'आश्रय'का भाव क्या है वह कृपया समझायें।*

समाधान :—आश्रय अर्थात् अपने चैतन्यका अस्तित्व ग्रहण करना। 'यह चैतन्य मैं हूँ, यह विभावादि मैं नहीं हूँ,' इसप्रकार अपने अस्तित्वको ग्रहण करके उसमें स्थिर खड़े रहना। विभावसे दृष्टि उठाकर चैतन्यमय ज्ञायकका जो अस्तित्व है वही मैं हूँ, इसप्रकार अपने ज्ञानस्वभावको ग्रहण करना। इस विभावके साथ जो ज्ञान है वह विभावमिश्रित ज्ञान मैं नहीं

हूँ, परन्तु अकेला जो ज्ञान है उसे ज्ञानलक्षण द्वारा ग्रहण करना। 'ज्ञानसे भरा हुआ चैतन्य द्रव्य सो ही मैं हूँ' ऐसे अपने अस्तित्वको ग्रहण करके, उसमें दृष्टि स्थापित करना तथा उसीमें लीनता करना। इसप्रकार द्रव्य ही उसका आलम्बन है, दूसरा कोई नहीं। भगवान्ने और गुरुदेवने बतलाया है कि जो कोई मोक्ष गये हैं वे सब यह एक ही उपायसे गये हैं, दूसरा कोई उपाय नहीं है। विभावकी परिणति बाहर जाय तो बारम्बार चैतन्यका अस्तित्व ग्रहण करना कि 'ज्ञायक सो मैं हूँ।'

ज्ञानगुण ऐसा असाधारण है कि वह लक्ष्यमें-खयालमें आता है। अन्य अनेक गुण भी असाधारण हैं, परन्तु वे खयालमें नहीं आते, इसलिये ज्ञान लक्षण मुख्य है। दूसरे पदार्थोंमें जाननेका लक्षण नहीं है, जाननेका लक्षण एक आत्मामें है, इसलिये जाननेके लक्षणपरसे अपना अस्तित्व ग्रहण करना कि यह जो जाननेका लक्षण है उस लक्षणवाला मैं चैतन्य हूँ। उस ज्ञानके साथ जीवमें अनन्तगुण भी हैं इसलिये ज्ञानगुणसे सम्पूर्ण आत्माको ग्रहण करना। आनन्दगुण, सुखगुण भी उसमें हैं, परन्तु वह आनन्द ऐसा विशेषगुण नहीं है कि जिससे द्रव्य पकड़में आये। ज्ञान ही ऐसा विशेष असाधारण स्वभाव है कि उससे आत्माका ग्रहण हो सकता है। यह बाहरका जाना, इस ज्ञेयको जाना, इसे जाना सो ज्ञान, ऐसा नहीं, परन्तु वह ज्ञान कहाँसे आता है? उस ज्ञानको धारण करनेवाला कौन है? ज्ञानका अस्तित्व किस द्रव्यमें विद्यमान है?—ऐसे उस द्रव्यको ग्रहण करना। ज्ञेयाश्रित ज्ञान मैं नहीं, परन्तु मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानको धारण करनेवाला चैतन्य हूँ—इसप्रकार उसे ग्रहण करना। १६.

प्रश्न :—*स्वानुभूतिका अन्तरंग स्वरूप कैसा होता है?*

समाधान :—वह अन्तरंग स्वरूप वाणीमें (पूर्ण) नहीं आता। विकल्प छूटकर अन्तरमें आनन्दका वेदन आये वह स्वयं ही अनुभव कर सकता है। अनन्तगुणोंसे भरा हुआ आत्मा है उसमें उसका उपयोग स्वानुभूति होनेपर लीन हो जाता है और विकल्प छूट जाते हैं। विकल्पकी आकुलता छूटकर उपयोग स्वरूपमें जम जाय ऐसी स्वानुभूति वचनमें अमुक प्रकारसे आती है, बाकी तो जो वेदन करे वह जान सकता है। वह दशा होनेपर समूची दिशा बदल जाती है। जो बाहरकी-विभावकी दिशा थी वह पलटकर स्वभावकी दिशामें, विकल्प छूटकर निर्विकल्प ऐसी किसी दूसरी दुनियामें चला जाता है। इस विभावकी दुनियामें नहीं, किन्तु अलौकिक दुनियामें वह चला जाता है और स्वभावमें तल्लीन-एकदम

लीन हो जाता है। जैसा स्वभाव है उसी प्रकारकी परिणति स्वानुभूतिमें हो जाती है। वह अनुभूति वेदनमें आती है इसलिये जानी जा सकती है, वेदन की जा सकती है परन्तु कही नहीं जा सकती। आनन्दसे–ज्ञानसे भरपूर चैतन्य चमत्कारी देव स्वयं विराजमान है उसकी स्वानुभूति होती है। जैसा सिद्ध भगवान्‌को आनन्द है उसका अंश स्वानुभूतिमें आता है। उस काल अनुपम गुणका भंडार, अनुपम आनन्दसे भरा हुआ आत्मा अनुपम आनन्दका वेदन करता है। विभावदशामें आनन्द नहीं है क्योंकि वहाँ ज्ञान आकुलतामय है; जब कि स्वानुभूतिमें निराकुलस्वरूप आत्मा, अनुपम आनन्दसे भरपूर ऐसे अपने आत्माका वेदन करता है। १७.

प्रश्न :—*शुद्धता त्रिकाल द्रव्यमें रहती है और अशुद्धता पर्यायमें होती है, तो क्या द्रव्य और पर्याय ऐसी सीमायुक्त दो भाग द्रव्यमें हैं?*

समाधान :—द्रव्य जो मूल वस्तु है उसमें यदि अशुद्धता घुस जाय तो द्रव्यके स्वभावका नाश हो जाय। मूल वस्तुमें कहीं अशुद्धता प्रवेश नहीं करती, अशुद्धता ऊपर–ऊपर रहती है। जैसे स्फटिक निर्मल है, उसके भीतर लाल–पीला रंग घुस जाय तो स्फटिक ही न रहे। लाल–पीले रंग तो ऊपरी प्रतिबिम्ब हैं। स्फटिकमें प्रतिबिम्ब ऊपर–ऊपर रहते हैं, किन्तु भीतर प्रवेश नहीं करते, मूलमें–तलमें प्रतिबिम्ब नहीं जाता। उसी प्रकार द्रव्य स्वयं शुद्ध रहता है और पर्याय ऊपर–ऊपर रहकर उसमें सारी मलिनता होती है। यह मलिनता अनादिके कर्मसंयोग तथा पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण होती है। वहाँ मूल वस्तुमें शुद्धता रहती है और पर्यायमें अशुद्धता होती है। अनादिसे वस्तु ऐसी है। जैसे पानी स्वभावसे निर्मल है, उसमें कीचड़के निमित्तसे मलिनता होती है; तथापि मूलमेंसे शुद्धता नहीं जाती। सब मलिनता ऊपर–ऊपर होती है। मूल वस्तुमें अशुद्धता प्रवेश नहीं करती, ऊपर–ऊपर रहती है, तथापि अज्ञानी मान लेता है कि मुझमें अशुद्धता प्रवेश हो गई है। इसप्रकार दो भाग हैं कि द्रव्य उसका मूल तल है और ऊपर–ऊपर पर्यायें हैं। ज्ञायकस्वभाव ऐसा है कि उसके मूलमें अशुद्धता नहीं होती, परन्तु उसकी परिणति अशुद्धरूप होती है और उसे बदला जा सकता है।

मुमुक्षु :—मलिनता ऊपर–ऊपर है परन्तु द्रव्य ही हाथमें नहीं आता?

बहिनश्री :—मूल तल हाथमें आ जाय तो सब सरल है; सब विभावभाव ऊपर–ऊपर तैरते हैं, इसलिये मूल आत्माको जानना कि मैं अधिक (सबसे निराला) ज्ञायक हूँ। ज्ञायक

स्वयं ही है, कोई दूसरा नहीं है कि जिससे उसे (जानना) दुष्कर हो। स्वयं अपनेसे अपनेको भूला है तो अब परिणति अपनी ओर झुके तो मलिनता छूट जाय और भेदज्ञान हो। १८.

प्रश्न :—*इतनी अधिक उत्कंठा होनेपर भी वर्तमानमें कार्य होता दिखायी नहीं देता, तो यह उत्कंठा भविष्यमें कार्यकारी होगी या नहीं?*

समाधान :—अपने गहरे संस्कार हों तो भविष्यमें कार्यकारी होते हैं। स्वयं यथार्थ कारण दिया हो तो कार्य हो ही, परन्तु कारण ऊपर-ऊपरसे दे तो कार्य नहीं होता। 'यह कार्य मुझे करना ही है, इसे किये ही छुटकारा है' ऐसे भीतरसे स्वयं गहरे दृढ़ संस्कार डाले तो भविष्यमें कार्यकारी हुए बिना रहते ही नहीं। यदि उसको यथार्थ देशना ग्रहण हुई हो तो किसी भी समय अन्तरसे पलटा खाये बिना रहता ही नहीं; किसीको जल्दी होता है तो किसीको समय लगता है, किन्तु अनन्तकाल नहीं लगता। जिसे गहरी रुचि हुई उसे काल मर्यादित हो जाता है, संसार परित हो जाता है। १९.

प्रश्न :—*मुनिराज मुनिपनेकी मर्यादा छोड़कर विशेष बाहर नहीं जाते। मर्यादा छोड़कर विशेष बाहर जाये तो मुनिदशा ही नहीं रहती। तो मुनिराजकी मर्यादा कैसी होती है?*

समाधान :—मुनिराज अपनी मुनिदशाकी मर्यादा छोड़कर बाहर नहीं जाते। सातवें गुणस्थानमें अंतर्मुहूर्तमें आत्मामें जाते हैं और फिर बाहर आ जाते हैं, पुनः अन्तरमें जाते हैं और बाहर आते हैं। वे बाहर आयें तब देव-शास्त्र-गुरु आदिके शुभ विकल्प होते हैं तथापि उनमें अधिक देर नहीं रुकते, तुरन्त अन्तरमें चले जाते हैं। अंदर क्षण-क्षणमें छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें झूलते रहते हैं। विकल्पकी दशामें, शुभभावमें अधिक देर तक नहीं रुकते। वे शास्त्र लिखते हैं उसमें भी इतना अधिक रस नहीं आता कि सातवाँ गुणस्थान न आवे। मुनिराजको ज्ञायकधारा तो निरंतर चलती ही रहती है परंतु शास्त्रकी रचना करते हों, भगवान्‌के स्तोत्र बनाते हों, स्तोत्र बोलते हों या उपदेश देते हों, उन सबमें ऐसा रस नहीं आता कि आत्मामें लीनता करना छूट जाय। मुनिपनेकी मर्यादा कदापि नहीं छूटती। विकल्पके समय भी मुनिके पंचमहाव्रतके जो कार्य हों उनकी मर्यादामें वे खड़े रहते हैं। गृहस्थयोग्य कार्योंमें नहीं जुड़ते। गृहस्थोंके साथ विशेष वार्तालाप करना, किसी कार्यमें जुटना, किसी व्यवस्थामें लगना ऐसे कार्य मुनिराजके नहीं होते। यदि ऐसे कार्य करें तो उनकी मुनिदशा ही छूट जाय। शुभभावमें विशेष नहीं रुकते। अन्तरमें शुभका रस लग जाये और अप्रमत्तदशा न आवे ऐसा नहीं बनता।

शास्त्रमें आता है कि तुम सबका (शुभाशुभ दोनों भावोंका) निषेध करते हो तो मुनि किसके आश्रयसे मुनिपनेका पालन करेंगे? वहाँ कहा है कि मुनि कहीं अशरण नहीं हैं, उनको आत्माकी शरण है। वे आत्माके अमृतमें निरंतर लीन हैं, उनको आत्माकी ही शरण है। बाहर शुभभाव आयें उन सबका निषेध है तो मुनिपना किसके आधारसे पालेंगे? मुनि बारम्बार (अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्तमें) स्वरूपमें जाते हैं और उसके आधारसे मुनिपनेका पालन करते हैं। मुनिदशा ऐसी है कि शुभमें अधिक रुकें और अप्रमत्तदशा न आये तो मुनिदशा छूट जाती है। मर्यादा न छूटे ऐसे योग्य शुभभाव मुनिके होते हैं; गृहस्थको उसके योग्य और सम्यग्दृष्टिको उसके योग्य भाव होते हैं—ऐसी मर्यादा है। मुनिराज छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें झूलते रहते हैं और बादमें श्रेणी माँडते हैं। कोई उसी भवमें मोक्ष जाते हैं, और कोई अगले भवमें।—ऐसी मुनिदशा है। २०.

प्रश्न :— *'श्रीमद् राजचंद्र' में आता है कि पात्रताके लिये विशेष प्रयत्न रखना; तो उस पात्रताका स्वरूप क्या?*

समाधान :—आत्माको ग्रहण करने हेतु अपनी विशेष पात्रता होनी चाहिये। अन्यमें किसी प्रकारकी तन्मयता न हो, आत्माकी महिमा छूटकर बाहरकी कोई महिमा न आये, कोई बाह्य वस्तु आश्चर्यजनक न लगे, एक अपना आत्मा ही आश्चर्यकारी एवं सर्वोत्कृष्ट लगे, आत्माकी अपेक्षा किसी अन्य वस्तुकी महिमा बढ़ न जाय, देव-शास्त्र-गुरु और एक आत्माकी अपेक्षा अन्य कुछ भी विशेष भासित न हो, ऐसी पात्रता होनी चाहिये। बाहरके निष्प्रयोजन प्रसंगोंमें अथवा कषायोंके रसमें विशेष एकत्व-तन्मयता हो जाये, वह सब आत्मार्थीको-पात्रतावान्‌को नहीं होता। जिसे आत्माका प्रयोजन है उसे परके साथका एकत्व मन्द हो जाता है, अनन्तानुबंधीका समस्त रस मन्द पड़ जाता है।

आत्मार्थीको ऐसी जिज्ञासा बनी रहती है कि तत्त्वका ग्रहण कैसे हो? उसे बाह्यमें कहीं विशेष तन्मयता नहीं हो जाती। आत्माकी मुख्यता छूटकर सांसारिक कार्योंमें कहीं विशेष-अधिक रस नहीं आ जाता। उसे आत्माका ही प्रयोजन रहता है, ऐसी उसकी पात्रता होती है।

श्रीमद्‌जीमें आता है न? कि विशालबुद्धि, मध्यस्थता, सरलता और जितेन्द्रियता ये सब तत्त्व प्राप्तिके उत्तमपात्र (लक्षण) हैं। आत्मार्थी कहीं रागके प्रति आकर्षित और द्वेषमें

खेदखिन्न नहीं होता, सर्वत्र मध्यस्थ रहता है। उसके सब राग-द्वेष छूट नहीं जाते, किन्तु रस सब उड़ जाता है, सब मर्यादामें आ जाता है। सम्यग्दर्शन होनेपर वह सबसे पृथक् हो जाता है और उसके तो सब मर्यादामें आ जाता है। ज्ञानीको अनन्तानुबंधीका रस छूट गया है, सबसे न्यारा हो गया है और भेदज्ञान (वर्तता) है जिसके कारण वह मर्यादा बाहर नहीं जुड़ता, उसे एकत्व नहीं होता किन्तु भिन्न ही रहता है, उसको ज्ञायकताकी धारा चलती है। पात्रतावान्को भी आत्मा प्रगट करना है इसलिये वह सर्वत्रसे रस तोड़ता है और कहीं विशेष तन्मय नहीं होता। किन्हीं विकल्पोंमें या बाह्य कार्योंमें या घर-कुटुंब आदिमें वह विशेष तन्मय नहीं होता। ''कषायकी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष'' मात्र मुक्तिकी-मोक्षकी अभिलाषा उसे रहती है। प्रत्येक कार्यमें उसे आत्माका ही प्रयोजन रहता है।

मुमुक्षु :—जिसको आत्माका प्रयोजन मुख्य है उसको साथ ही मध्यस्थता, जितेन्द्रियता आदि सबका मेल होगा?

बहिनश्री :—उन सबका मेल होता है; जितेन्द्रियता, सरलता आदि सब होते हैं। जिसे आत्माका प्रयोजन हो वह अपने आंतरिक परिणामोंको समझ सकता है, इसलिये कहीं विशेष लिप्त नहीं होता, आत्माके सिवा उसे कहीं विशेष रस नहीं आता; उसे अपना आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट रहता है। अपना आत्मा न मिले तबतक 'मुझे कैसे आत्माकी प्राप्ति हो' ऐसी भावना रहती है; यह सब निरस लगता है, कहीं मर्यादाके बाहर रस नहीं आता और आत्माका ही (कार्य) करने जैसा भासता है। वह जीव सब विचार करके 'यह ज्ञानस्वभाव ही मैं हूँ' ऐसा निर्णय करता है। निर्णय किया हो, परन्तु अन्तरसे यदि रुचि मन्द हो जाय तो निर्णयमें फेर पड़ जाता है। परन्तु यदि पुरुषार्थ, आत्माके प्रति जिज्ञासा-भावना-लगन ज्यों कि त्यों हो तो निर्णयमें फेर नहीं पड़ता। हर जगह पुरुषार्थ तो होता ही है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके पश्चात् साधकदशामें भी निरंतर पुरुषार्थ होता है; तो जिसे आत्माकी रुचि हुई उसको भी पुरुषार्थ तो साथ ही रहता है। जिसने अन्तरसे निर्णय किया कि आत्माका ही करने योग्य है, उसका निर्णय नहीं बदलता। २१.

प्रश्न :—*स्वानुभूतिके कालमें क्या आत्माके प्रत्येक प्रदेशमें आनन्दका वेदन होता है?*

समाधान :—हाँ, उस कालमें भेदका लक्ष्य छूटकर आत्माके प्रत्येक प्रदेशमें आनन्द प्रगट होता है। वह आनन्द सिद्धभगवान्को पूर्ण प्रगट हुआ है, सम्यग्दृष्टिको अंशतः वेदनमें

होता है; तथापि जाति तो सिद्धभगवान् जैसी ही है। वह आनन्दगुण आत्माके असंख्य प्रदेशोंमें व्याप्त है। उसकी अनुभूति होनेपर विकल्प छूट जाते हैं और जगत्से न्यारा कोई अनुपम आनन्द प्रगट होता है। उसे जगत्की कोई उपमा लागू नहीं पड़ती। उस आनन्दकी इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद अथवा अन्य किसी आनन्दके साथ तुलना नहीं होती। वे बाह्य आनन्द तो लौकिक रागयुक्त हैं जब कि यह वीतरागी आनन्द तो अलग ही है, उसकी किसीके साथ तुलना नहीं हो सकती। वह आनन्द वचनातीत है।

ज्ञायककी महिमा आये, उसमें सर्वस्वता लगे, उसकी रुचि-श्रद्धा हो तो जीव उस ओर ढलता है, उसके बिना नहीं ढल सकता। जिसने बाह्यमें ही सर्वस्व मान लिया है अर्थात् अल्पक्रिया और शुभभाव करके उसमें सर्वस्व मान लेता है उसे आत्माकी प्राप्ति (— सम्यग्दर्शन-स्वानुभूति) नहीं होती।

अशुभसे बचनेके लिये बीचमें शुभभाव आता है उससे पुण्यबंध होता है; परन्तु आत्मा उन दोनोंसे न्यारा है, ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये; और श्रद्धा हो तो उस ओर ढले।

अनन्तकालसे उसने सब कुछ किया, परन्तु आत्माका स्वरूप नहीं पहिचाना। उसने सर्वत्र भ्रमण किया, सब कुछ कंठाग्र किया, परन्तु आत्माको नहीं पहिचाना। आत्माको पहिचाने बिना भवका अभाव नहीं होता। २२.

प्रश्न :—*आत्मा स्वरूपानंदमें रम रहा था, आनन्दकी तरंगोंमें डोल रहा था, उसमें आपको क्या कहना है? अतीन्द्रिय आनन्दमें क्या संवेदन होता होगा?*

समाधान :—उसका अर्थ क्या करना? वह कोई वाणीमें आये वैसा थोड़े ही है? आत्मा तो अद्भुत है, उसके द्रव्य-गुण-पर्याय कोई निराले हैं। अनन्तकालसे आकुलता थी वह मिटकर, आत्माका निराकुलस्वभाव निर्विकल्पदशामें प्रगट होता है। आत्मा स्वयं आनन्दस्वभावी है अर्थात् आत्मामें आनन्दादि अनन्तगुण हैं और उनमें आत्मा परिणमन करता रहता है; अर्थात् आत्मामें अनेक प्रकारकी क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। तरंगें उठती रहती हैं और उनमें वह केलि करता रहता है, ऐसा आत्माका स्वभाव है। आत्मामें आनन्दादि अनन्तगुण हैं और उनकी पर्यायोंकी-परिणमनकी तरंगें उठती रहती हैं ऐसा उसका अर्थ है। वैसे तो वाणीमें उसके लिये कोई उपमा नहीं है; सिद्ध भगवान्को पूर्ण आनन्द है और इस स्वानुभूतिमें उसका अंश है, परन्तु जाति वही है। आत्मा स्वयं अस्तित्वरूप है, अवस्तु नहीं

है तथा वह अस्तित्व जागृत-स्वरूप है। इसलिये जहाँ आकुलतासे छूटा वहाँ आत्मामें जो स्वभाव है वह प्रगट होता है; इसीलिये 'आनन्द-तरंगमें केलि कर रहा था' ऐसा कहा है। उस वाक्यमें गंभीरता है।

कथनके लिये शब्दों द्वारा कहा जाता है कि केलि कर रहा था, रम रहा था, डोल रहा था; परन्तु उन सबके अर्थमें गंभीरता है। उसके स्वभावमें अद्भुतता है। शब्दोंसे ऐसा कहा जाता है कि तरंगोंमें डोलता था, झूलता था; मगर उसके भावमें गहनता है, वह कहीं दृष्टान्तसे खयालमें नहीं आती। सागरमें झूलता था, तरंगोंमें डोलता था, ऐसे बाहरी दृष्टान्त आते हैं; किन्तु वस्तु कोई निराली है। वह तो जो स्वानुभूतिमें वेदन करे उसके खयालमें आती है, अर्थात् स्वानुभूतिमें जो स्वभाव है उसका वेदन होता है।

स्वानुभूतिकी अद्भुततामें गंभीरता रही हुई है। उसके विषयमें 'समयसार'में अमृतचंद्राचार्यके कलशोंमें बहुत आता है। आत्मा ऐसा "अद्भुतात्–अद्भुतः" है कि उसका शांतरस लोकपर्यंत उछल रहा है, आत्मा डोलायमान हो रहा है, ऐसा 'समयसार'के कलशमें आता है।

तथा आत्मामें आनन्दगुण है, उसे विकल्प–रागकी या बाह्य पदार्थकी अर्थात् स्वर्गलोकके या चक्रवर्तीके किन्हीं सुखोंकी अपेक्षा नहीं है। आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप ही है; इसलिये वह आनन्द भी निरपेक्ष, किसीकी अपेक्षा रहित है। ज्ञायक आत्मामें ज्ञानादि अनन्तगुण हैं, परन्तु उनमें आनन्दगुणको मुख्य करके यह बात की गई है। विभावोंसे पृथक् और जगत्से न्यारा—ऊपर तैरता—आत्मा अद्भुत आनन्द तरंगमें डोलायमान हो रहा है, केलि कर रहा है, रम रहा है।—इन शब्दोंमें बड़ी गंभीरता रही हुई है। अनेक शब्दों द्वारा इसप्रकारका कथन अमृतचंद्राचार्यके कलशोंमें बहुत आता है।

निक्षेपोंका समूह कहाँ चला जाता है उसकी खबर नहीं रहती, नयोंकी लक्ष्मी उदयको प्राप्त नहीं होती और प्रमाण अस्त हो जाता है तब आत्मा अंदरसे कोई निराला ही प्रगट होता है, चैतन्यस्वरूप लीला करता हुआ भीतरसे प्रगट होता है।

कोई कहे कि हमें शान्ति हो गई, सो यह बात नहीं है; यह तो अलग बात है; यह आनन्दतरंगें कुछ और हैं। आनन्द अन्तरमेंसे स्वयं आता है। कुछ लोग विकल्पोंको अति मंद करते हैं और फिर मात्र सूक्ष्म विकल्प रहनेसे उन्हें शान्ति लगती है; परन्तु

यहाँ तो विकल्पोंसे सर्व प्रकारसे छूटकर जो आनन्द प्रगट होता है वह अलग जातिका प्रगट होता है।

मुमुक्षु :—हमें तो विकल्प ही दिखायी देते हैं, तथा आप जिस आनन्दकी बात करते हो वह जाति ही कोई अलग लगती है।

बहिनश्री :—अनादिसे विकल्पका अभ्यास हो रहा है इसलिये विकल्प ही दिखनेमें आते हैं। विकल्प मंद हों तो शान्ति लगती है और विकल्प विशेष हों तो आकुलता लगती है। परन्तु यहाँ तो अन्तरमें विकल्परहित होनेकी बात है। आत्मा स्वयं जागृतस्वरूप है, अस्तिस्वरूप है। उसका अस्तित्व कहीं चला नहीं गया है। विकल्पकी अस्ति चली गई है; तथापि अपना अस्तित्व मौजूद रहता है और वह अस्तित्व चैतन्यरूप है; वह चैतन्य आनन्दगुणसे परिपूर्ण है। उसका आनन्दगुण कोई निराला ही है, अद्भुत है; और ज्ञानगुण भी कोई अनोखा है। ऐसे तो उसमें अनन्तगुण हैं। समस्त विकल्प छूट जाएँ तो फिर रहेगा कौन?—एक आत्मा रहता है, उसमें आनन्दगुण प्रगट होता है, आनन्दगुणकी अनुभूति होती है। विकल्पोंके अभ्यासमें विकल्प ही दिखते हैं, दूसरा कुछ दिखाई नहीं देता, इसलिये उसे ऐसा लगता है कि विकल्प छूट जानेपर फिर रहेगा क्या?—आनन्दगुणसे भरपूर आत्मा रहता है। वह चैतन्य अनन्तगुणमें केलि करता है, रमता है, डोलता है। कोई कहता है कि हमें शान्ति.....शान्ति.....लगती है; परन्तु वह अमुक विकल्प मन्द होते हैं उसकी शान्ति है। जब कि यह शान्ति तो कोई अलग ही है, वह प्रगट होनेपर उसे भीतरसे तृप्ति होती है कि इसके सिवा कोई मार्ग नहीं है; यही मुक्तिका मार्ग है। २३.

प्रश्न :—*भरत चक्रवर्ती मुनिराजकी प्रतीक्षा करतें हैं कि कब मुनिराज आहार लेने पधारें? मुनिराज पधारने पर हमारे आँगनमें मानों कल्पवृक्ष आया! ऐसा समझकर वे भक्तिपूर्वक आहारदान देते हैं। इसप्रकार गुरुदेव एक ओर मुनिराजका दासत्व तथा दूसरी ओर तू भगवान् है ऐसा कहते हैं; तो दोनोंका मेल किस प्रकार है? कृपया समझाइये।*

समाधान :—द्रव्य अपेक्षा 'तू भगवान् है' ऐसा गुरुदेव कहते थे। आत्माका द्रव्य-स्वभाव भगवान् जैसा है, परन्तु पर्यायमें विभाव है, अशुद्धता है। द्रव्य-अपेक्षा आत्मा शुद्ध है, जैसे सिद्धभगवान् हैं वैसा ही है; परन्तु पर्यायमें अपूर्णता है। भरतचक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि थे। स्वयं गृहस्थाश्रममें थे तब भोजनके समय आहारदान देनेकी भावना भाते हैं कि कोई मुनिराज पधारें, उन्हें आहार दूँ। ऐसी भावना श्रावकोंको–गृहस्थोंको होती है; क्योंकि अभी अपूर्णता

है, साधना चल रही है। द्रव्य-अपेक्षा आत्मा सिद्धभगवान् जैसा है, ऐसी श्रद्धा प्रगट हुई है, सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है तथा ज्ञायककी धारा प्रगट हुई है, परन्तु पर्यायमें अभी अपूर्णता है; चौथे–पाँचवें गुणस्थानकी भूमिका है इसलिये ऐसे (आहारदानादिके) भाव आते हैं।

मुनिराज तो मोक्षमार्गमें आगे बढ़ गये हैं, छट्ठे–सातवें गुणस्थानमें झूलते हैं; स्वरूपमें रमण कर रहे हैं, सर्वसंग परित्यागी एक आत्मामें झूलनेवाले हैं। आत्मामेंसे बाहर आयें तब कभी शास्त्र-स्वाध्याय अथवा द्रव्य–गुण–पर्यायके विचार आदि शुभभावोंमें रुकते हैं तथा क्षणमें अन्तरमें चले जाते हैं—ऐसे मुनिराजको देखकर साधकको बहुत भावना होती है : आहारदानका समय हो तब कोई मुनिराज पधारें!

छह खंडके अधिपति तथा चौदहरत्न एवं नवनिधिके स्वामी ऐसे चक्रवर्ती स्वयं आहारदानकी भावना भाते हैं कि कोई मुनिराज पधारें! आँगनमें मुनिराजके पधारने पर 'मेरे आँगनमें आज कल्पवृक्ष फलित हुआ!' ऐसी उन्हें भावना आती है। शुभभावमें देव–शास्त्र–गुरुकी भक्ति होती है और अन्तरमें शुद्धात्मा भगवान् समान है ऐसी श्रद्धा भी होती है। दोनों एकसाथ हैं।

ज्ञानीको पर्यायमें अपूर्णता होनेसे देव–शास्त्र–गुरुकी भक्ति आये बिना नहीं रहती। धन्य मुनिदशा! जिसने ऐसी मुनिदशा अंगीकार की वह धन्य है, ऐसी भावना भरत चक्रवर्तीको आती है। उनको पर्यायमें दासत्व है कि मैं तो मुनिराजका दास हूँ; देव–शास्त्र–गुरुका दास हूँ; जो गुणोंमें मुझसे बड़े हैं उन सबका दास हूँ। मैं द्रव्य-अपेक्षा भगवान्–प्रभु हूँ, किन्तु पर्यायमें पामर हूँ। कहाँ मुनिदशा और कहाँ मेरी दशा! इसप्रकार स्वयं पामरपना मानते हैं। पर्यायमें तो मैं मुनिका दास हूँ। पर्यायमें दासत्वपना और द्रव्य-अपेक्षा मैं भगवान् हूँ, ऐसी दोनों प्रकारकी परिणति है। श्रद्धामें 'मैं द्रव्यसे शुद्ध हूँ' ऐसा विश्वास है और पर्यायमें अशुद्धता है उसका ज्ञान है, इसलिये सम्यग्दृष्टिको भावना होती है कि कब मैं मुनिपना अंगीकार करूँ।

मुमुक्षु :—क्या पर्यायका ज्ञान करते हुए ध्येयमें शिथिलता नहीं आ जायगी?

बहिनश्री :—पर्यायका ज्ञान करनेमें किंचित्मात्र शिथिलता नहीं आती; जैसा द्रव्य है वैसी श्रद्धा हो वहाँ शिथिलता नहीं आती। श्रद्धाकी–ज्ञायककी परिणति (द्रव्यसे मैं ज्ञायक हूँ वह) चल रही है और पर्यायमें दासत्व होता है—वे दोनों साथ रहते हैं, उनमें किंचित् भी फेर नहीं पड़ता। पर्यायमें दासत्व मानता है उसमें भी फेर नहीं पड़ता, और स्वयं द्रव्यसे

प्रभुत्व माना है उसमें भी फेर नहीं पड़ता। दासत्वमें तनिक भी न्यून दासत्व नहीं है, किन्तु परिपूर्ण अर्पणता है तथा भीतर प्रभुत्वमें भी किंचित् न्यूनता नहीं आती; दोनों एकसाथ रहते हैं। वह परिपूर्ण भक्ति करता है। मैं तो भगवान् जैसा हूँ, इसलिये भक्ति किसलिये करूँ?—ऐसा (विचार) कर दासत्वमें किंचित् न्यूनता लाता हो ऐसा भी नहीं है।

मुमुक्षु :—पर्यायको बहुत याद करें तो दृष्टि मन्द हो जाय ऐसा नहीं होता?

बहिनश्री :—ऐसा किंचित्मात्र नहीं होता। साधकको पर्याय भी खयालमें है और द्रव्य भी खयालमें है, उन दोनोंको खयालमें रखकर, जिस समय जिस प्रकारका राग आये उसमें पृथक् रहता है। पर्यायमें जो प्रशस्त राग आता है उसमें भक्ति आती है परन्तु स्वयं भिन्न रहता है। दृष्टिका जोर बराबर बना रहता है।

मुमुक्षु :—क्या रागसे भिन्न रहकर उसका बराबर ज्ञान करता है?

बहिनश्री :—रागसे भिन्न रहकर उसका ज्ञान करता है और भक्ति भी आती है—दोनों साथ होते हैं। अकेला ज्ञान करता है ऐसा नहीं, भक्ति भी आती है। चक्रवर्ती राजा स्वयं भावना भाता है और स्वयं आहारदान देता है, नौकर चाकरोंको आदेश नहीं देता। अपनेको स्वयं ऐसी भावना आती है और वर्तन भी वैसा होता है। निश्चय-व्यवहारकी संधि है। वे दोनों एकसाथ कैसे रहते होंगे!—ऐसा अटपटा लगता है, परन्तु वे दोनों परिणतिमें साथ रहते हैं। बात अटपटी लगे, किन्तु परिणतिमें दोनों साथ रहते हैं।

मुमुक्षु :—पर्याय-अपेक्षा शत-प्रतिशत दासत्व स्वीकारता है और फिर द्रव्य-अपेक्षा शत-प्रतिशत ऐसा भी स्वीकारता है कि मैं परमात्मा हूँ?

बहिनश्री :—शत-प्रतिशत दासत्व और शत-प्रतिशत परमात्मपना—दोनों स्वीकारता है तथा भेदज्ञानकी धारा चलती है। द्रव्यपर जोर रहता है और पर्यायमें दासत्व वर्तता है। उपयोगमें वह कार्य करता है और परिणति जोरदार वर्तती है। २४.

प्रश्न :—*अपनेको अपना कार्य कैसे करना वह समझमें नहीं आता। ज्ञानमें तो आता है, परन्तु भीतर श्रद्धामें कैसे परिवर्तित करना चाहिये वह नहीं आता; तो तत्सम्बन्धी मार्गदर्शन देनेकी कृपा करें।*

समाधान :—श्रद्धा परिवर्तित करनेका कार्य तो भीतरसे श्रद्धा पलटे तब हो न? वह बाह्यमें सब बहिर्लक्ष्यपूर्वक करता रहता है, परन्तु अन्तरूपरिणमन बदले, यथार्थ

श्रद्धा करे तथा जैसा स्वभाव है वैसा अन्तरसे पहिचाने तो कार्य हो। अन्तरकी श्रद्धा अन्तर् परिवर्तनसे होती है। वह बाह्य विचारसे निर्णय करता है, तथापि अन्तरमें पलटना तो रह जाता है। बाहरसे तो सब करता है, परन्तु अन्तरकी तीव्र रुचि हो–लगन लगे तो कार्य हो। अंतर्परिवर्तन करना वह अपने हाथकी बात है, स्वयं करे तो हो अर्थात् ज्ञानस्वभावको पहिचानकर पुरुषार्थ करे तो हो। २५.

प्रश्न :—*अनेक प्रकारसे आचार्य भगवंत स्वभावकी महिमा करते हैं, वह हम पढ़ते हैं, सुनते हैं परन्तु अन्तरसे महिमा क्यों नहीं आती? महिमा–रुचि कैसे हो?*

समाधान :—सब कारण अपना ही है, अन्य किसीका नहीं; महिमा नहीं आनेका कारण भी अपना ही है। स्वयं पुरुषार्थ करे तो महिमा–रुचि हो, अन्तरमें अपनेको पहिचाने तो महिमा–रुचि हो। अपनेको इतनी लगन नहीं लगी है, उत्कंठा नहीं हुई है, इसलिये महिमा–रुचि नहीं आती। स्वयं बाह्यमें कहीं अटक जाता है इसलिये महिमा नहीं आती। ऐसे ही अनन्तकाल बीत गया उसमें भी सब कारण अपना है; अन्य किसीका नहीं। २६.

प्रश्न :—*सम्यग्दर्शनका विषय उपादेय है या सम्यग्दर्शन?*

समाधान :—सम्यग्दर्शन प्रगट करनेकी अपेक्षा उपादेय है, परन्तु वास्तवमें सम्यग्दर्शनका विषय जो ध्रुवद्रव्य है वह उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है। सम्यग्दर्शन तो पर्याय है, और पर्यायके ऊपर दृष्टि करनेकी नहीं होती; दृष्टि तो ध्रुवद्रव्यपर करनेकी होती है; इसलिये वास्तवमें तो परमपारिणामिकभावस्वरूप अनादि–अनन्त ध्रुव आत्मा उपादेय है। सम्यग्दर्शन प्रगट करना योग्य है, परन्तु पर्यायके ऊपर दृष्टि करनेसे सम्यग्दर्शनकी पर्याय प्रगट नहीं होती, वह तो द्रव्यपर दृष्टि करनेसे प्रगट होती है। इसलिये वास्तवमें तो ध्रुवद्रव्य परमपारिणामिकभावस्वरूप जो आत्मा है वह ग्रहण करने योग्य है–उपादेय है। सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान आदि प्रगट करनेकी अपेक्षासे सब उपादेय हैं; परन्तु उनपर दृष्टि करनेसे सुख प्रगट नहीं होता; इसलिये वास्तविक उपादेय तो ध्रुवआत्मा है। सम्यग्दर्शन प्रगट करनेसे सुख–आनन्द प्रगट होता है इसलिये वह उपादेय है। इसप्रकार दोनोंकी अपेक्षाएँ भिन्न हैं। सम्यग्दर्शन, स्वानुभूति, केवलज्ञानादि सब उपादेय हैं, परन्तु वे पर्याय होनेसे उनपर दृष्टि देनेसे सुख प्रगट नहीं होता। ध्रुवके ऊपर दृष्टि करनेसे (सुख) प्रगट होता है, इसलिये ध्रुव उपादेय है।

—इसप्रकार किसी अपेक्षासे सम्यग्दर्शन उपादेय है और किसी अपेक्षासे ध्रुव उपादेय है। उपादेय दोनों हैं परन्तु अपेक्षा भिन्न है। एक व्यवहार है और एक निश्चय है। परन्तु वह व्यवहार ऐसा नहीं है कि वह कुछ है ही नहीं। सम्यग्दर्शनादि अनन्त शुद्धपर्यायें वेदनमें आती हैं इसलिये उपादेय हैं। परन्तु वे अनन्त पर्यायें ध्रुवको ग्रहण करनेसे वेदनमें आती हैं, इसलिये वास्तवमें तो ध्रुव उपादेय है। सम्यग्दर्शन सर्वथा उपादेय नहीं है ऐसा नहीं है, वह उपादेय है; परन्तु व्यवहार-अपेक्षासे है और निश्चय-अपेक्षा ध्रुव उपादेय है। २७.

प्रश्न :—*आत्माका स्वभाव तो स्व-पर प्रकाशक है; तो सम्यग्दृष्टि जीवको स्वानुभूतिके कालमें पर जाननेमें आता है या नहीं?*

समाधान :—स्वानुभूतिके कालमें उपयोग बाहर नहीं है इसलिये परज्ञेय ज्ञात नहीं होते। अपना उपयोग अन्तरमें है और उसमें अनन्तगुणोंकी पर्यायें जाननेमें आती हैं, इसलिये वहाँ भी स्व-परप्रकाशकपना मौजूद रहता है, उसका नाश नहीं होता। सम्यग्दर्शन-स्वानुभूतिकी पर्याय प्रगट होती है उस समय स्वयं आनन्दगुणका वेदन करता है, अपने अनन्तगुण भी वेदनमें आते हैं, इसलिये स्वयं अपनेको जानता है और दूसरे गुण-पर्यायोंको भी जानता है और इसलिये स्व-परप्रकाशकपना है। स्वानुभूतिके कालमें स्वको अर्थात् ज्ञान स्वयं अपनेको जानता है और पर अर्थात् बाहरी ज्ञेयको नहीं जानता, किंतु स्वयं अन्तरमें ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातास्वरूप ऐसे अपनेको अभेदरूपसे जानता है, अपनी अनन्त पर्यायोंको जानता है; उन अनन्त पर्यायोंके नाम नहीं आते, परन्तु अपनेको अनन्त पर्यायोंका वेदन होता है उसे जानता है। आत्मा चैतन्यचमत्कारस्वरूप है, वह अपनी अनेक प्रकारकी पर्यायोंको जानता है, वह अनुभवके कालमें पर प्रकाशकपना है। तथा उपयोग बाहर हो तब वह बाहरी जानकारी करता है, परन्तु उसमें एकत्व नहीं होता। (अनुभवकालमें) स्वयं अपना ज्ञायक रहता है, ज्ञाताकी धारा चलती है; और जब उपयोग बाहर होता है तब वह पृथक् रहकर परको जानता है, अर्थात् स्वयं अपनेको जानता है और दूसरेको भी जानता है, इसप्रकार सविकल्पदशामें स्व-परप्रकाशकपना है। तथा अन्तरमें स्वयं अपनेको जानता है और अपने अनन्त गुण-पर्यायोंको जानता है, वह निर्विकल्पदशाके कालका स्व-परप्रकाशकपना है। अनेक प्रकारकी पर्यायें उसको स्वानुभूतिमें परिणमित होती हैं उन्हें जानता है तथा अपनेको अभेदरूपसे जानता है।—इसप्रकार सब जानता है वह निश्चय स्व-परप्रकाशकपना है।

परको जाने वह व्यवहार अर्थात् वह परको नहीं जानता ऐसा उसका अर्थ नहीं है। व्यवहार अर्थात् दूसरेको नहीं जानता और दूसरेको जानता है वह कथनमात्र है ऐसा नहीं है। परको जानता है, परन्तु वह दूसरा–बाहरका ज्ञेय हुआ इसलिये व्यवहार कहा जाता है। २८.

प्रश्न :—*विशेष शास्त्राभ्यास न हो, तथापि आत्माकी प्राप्ति हो सकती है?*

समाधान :—शिवभूति मुनिको गुरुने ''मा तुष–मा रुष'' ऐसा कहा, परन्तु इतना भी वे भूल गये और 'तुष–माष' (याद) रह गया। वहाँ एक स्त्री दाल धो रही थी; वह छिलके (तुष) और दाल (माष) देखकर उन्हें लगा कि छिलके जुदे हैं और दाल जुदी है। उस परसे याद आया कि मेरे गुरुने ऐसा कहा है कि 'आत्मा जुदा है और शरीर, विभाव–राग–द्वेषादि जुदे हैं';—इसप्रकार मेरा स्वभाव निराला है, ऐसा प्रयोजनभूत ग्रहण कर लिया और अन्तरमें उतर गये; इसलिये अधिक शास्त्राभ्यासकी आवश्यकता नहीं है; परन्तु अन्तरकी लगन, अन्तरका पुरुषार्थ एवं रुचिकी आवश्यकता है—वह यथार्थ समझे तो हो सकती है और आत्माका अस्तित्व ग्रहण करे तो हो सकती है। अन्तरस्वरूप समझना जरूरी है—आत्मा दूसरेसे भिन्न है, वह ज्ञायक है, आनन्दसे भरपूर है, महिमावंत है, वह कोई निराला ही तत्त्व है ऐसा अन्तरसे समझे तो हो सकती है। जिनेन्द्रदेवने पूर्णताकी प्राप्ति कैसे की, गुरु किस प्रकार साधना कर रहे हैं, शास्त्रमें कैसी बातें आती हैं, समझानेवाले गुरु क्या कर रहे हैं, क्या मार्ग बतला रहे हैं वह स्वयं ग्रहण करे। प्रयोजनभूत–मूलभूत बात ग्रहण करे तो प्राप्ति हो सकती है। विशेष शास्त्राभ्यास करे तभी प्राप्ति हो ऐसा नहीं है; दिन–रात लगन लगनी चाहिये। बाहरकी रुचि या रस हो तो यह न होवे, परन्तु आत्माका रस लगना चाहिये। यह सब जो बाहरी है वह अन्तरमें नीरस लगे, अर्थात् अन्तरमेंसे उसका रस सब छूट जाये, उसकी महिमा छूट जाय, तो आत्मप्राप्ति हो। एक आत्माका रस लगे, दूसरी सब महिमा छूट जाये, तथा अन्तरसे ऐसा लगे कि यह संसार महिमावंत नहीं है, महिमावंत मेरा आत्मा ही है तब (प्राप्त) हो। मूल प्रयोजनभूत आत्मस्वभावको पहिचाने अर्थात् मेरे द्रव्य–गुण–पर्याय क्या हैं—ऐसे मूल प्रयोजनभूत स्वरूपको समझे तो आत्मप्राप्ति हो। उसके पुरुषार्थमें कमी है, परन्तु अन्तरसे सच्ची लगन लगे तो बारम्बार पुरुषार्थ करे, बारम्बार पुरुषार्थ हो। यथार्थ रुचि हो तो बारम्बार पुरुषार्थ हुआ ही करे। यदि रुचि मन्द पड़े तो बारम्बार पुरुषार्थ करके उग्र करे। लगन अन्तरसे लगनी चाहिये। अन्तरसे आत्माकी लगन लगे उसे कहीं चैन नहीं पड़ता।

मुमुक्षु :—लगन तो खूब लगी है किन्तु पुरुषार्थ नहीं उपड़ता?

बहिनश्री :—लगन लगे और पुरुषार्थ न उपड़े ऐसा बनता ही नहीं; और पुरुषार्थ न उपड़े तो लगन ही नहीं लगी है। भीतरसे प्यास लगी हो तो वह पानी ढूँढ़नेका प्रयत्न किये बिना रहता ही नहीं; परन्तु भीतर प्यास ही नहीं लगी है। लगन लगे तो पुरुषार्थ होवे ही और तब मार्ग मिले बिना नहीं रहता। गुरुदेवने अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक विधि बतलाई है, परन्तु स्वयंको भीतरसे लगे तो विधि ढूँढ़े न? सचमुच लगन लगी ही नहीं है। विधि एक ही है कि आत्माको पहिचानना, आत्माका अस्तित्व ग्रहण करना। आत्मा कौन है? आत्मा शाश्वत है वह किस प्रकार है?—आदि विचार करके निर्णय करे तथा एकत्वबुद्धि तोड़नेका प्रयत्न करे। परमार्थ पंथ एक ही है, परन्तु वह स्वयं करता नहीं है। २९.

प्रश्न :—*बाहरकी मिठास अभी छूटती नहीं है, तो आत्माकी प्राप्तिके लिये क्या करें? कैसे आगे बढ़ें?*

समाधान :—आत्मा सबसे निराला कोई अपूर्व है, इसप्रकार आत्माको पहिचाने तो भवका अन्त हो। गुरुदेवने ज्ञायकको पहिचाननेका मार्ग बतलाया है उसे पहिचाने तो भवका अन्त हो। आत्माकी मिठास लगनी चाहिये। अंतरसे आत्माकी मिठास और उसकी जरूरत लगे तो पुरुषार्थ हो। आत्माकी मिठास लगती नहीं और बाहरकी मिठास लगती है तो बाहरका मिलता है; और यदि आत्माकी मिठास लगे तो आत्मा मिलता है। आत्माकी मिठास नहीं लगती तो आत्मा कहाँसे मिले? उसे अंतरसे आत्माकी अपूर्वता लगनी चाहिये। जैसे भगवान् कोई निराले हैं, वैसे ही मेरा आत्मा भगवान् समान है—इसप्रकार पहिचान करे तो आगे बढ़ सकता है। ३०.

प्रश्न :—*श्रीमद् राजचन्द्रजीके वचनामृतमें आता है कि दूसरा कुछ मत खोज, एक सत्पुरुषको खोजकर उसके चरणकमलमें सर्वभाव अर्पण करके प्रवृत्ति करता रह, फिर यदि मोक्ष न मिले तो मुझसे लेना।—इसे विशेष स्पष्टतासे समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—तत्त्वको जिसने ग्रहण किया है, स्वानुभूति जिसने प्रगट की है, मार्ग जिन्होंने प्रगट किया है और जो मार्गको जानते हैं ऐसे एक सत्पुरुषको खोज; वे तुझे सब बतलायेंगे। तुझे अंतरसे कुछ समझमें नहीं आता तो सत्पुरुषको खोज और फिर वे सत्पुरुष जो कुछ कहें उसका आशय ग्रहण कर ले।

मोक्ष मुझसे लेना अर्थात् तुझे मोक्ष मिलना ही है; तूने सत्पुरुषको ग्रहण किया और पहिचाना तो तुझे मार्ग मिलना ही है, मोक्ष प्रगट होना ही है। इसलिये 'मोक्ष न मिले तो मुझसे लेना' उसका अर्थ है कि तुझे मोक्ष मिलनेवाला ही है।

अनन्तकालसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ, उसे देव–शास्त्र या गुरु मिलें और अपना उपादान तैयार हो तो प्राप्त हो, ऐसा निमित्त–उपादानका सम्बन्ध है; अंतरसे देशनालब्धि प्रगट हुई हो तो अवश्य सम्यग्दर्शन प्राप्त हो। सम्यग्दर्शन होता है अपने उपादानसे, परन्तु निमित्तके साथ ऐसा सम्बन्ध होता है। इसलिये तू एक सत्पुरुषको खोज, उसमें तुझे सब कुछ मिल जायगा। तुझे सत्पुरुष मिलें और मार्ग प्राप्त हुए बिना रहे ऐसा नहीं बनता, अवश्य मार्ग मिलता ही है; क्योंकि सत्पुरुषके प्रति तुझे भक्ति एवं अर्पणता आई है और तुने सत्पुरुषको पहिचाना है तो तुझे आत्मा पहिचाननेमें आये बिना रहेगा ही नहीं।

जो भगवान्‌को पहिचाने वह अपनेको पहिचाने और अपनेको पहिचाने वह भगवान्‌को पहिचाने। भगवान्‌के द्रव्य–गुण–पर्यायको पहिचाने वह अपने द्रव्य–गुण–पर्यायको पहिचाने। तू सत्पुरुषको पहिचान तो तुझे आत्मा पहिचाननेमें आये बिना रहेगा ही नहीं। उससे तुझे अवश्य स्वानुभूतिकी प्राप्ति होगी और मोक्ष भी अवश्य मिलेगा ही। अनादिकालसे अपने लिये अनजान मार्ग है, इसलिये सम्यग्दर्शनकी तैयारी हो और सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन हो तब देव या गुरुका निमित्त अवश्य होता है, इसलिये तू सत्पुरुषको खोज ऐसा कहते हैं। तू सत्पुरुषको पहिचान तो तुझे आत्मा पहिचाननेमें आये बिना नहीं रहेगा, ऐसा उसका अर्थ है।

स्वयंने सत्पुरुषको ग्रहण किया–पहिचाना कब कहनेमें आये? कि आत्माकी प्राप्ति हो तब; यदि आत्मप्राप्ति न हो तो उसने सत्पुरुषको पहिचाना ही नहीं–ग्रहण किया ही नहीं और उसका आशय ग्रहण किया ही नहीं है। ३१.

प्रश्न :—*हम तो मुक्तिके लिये पुरुषार्थ करते हैं, लेकिन नियमसारमें मुनिराज कहते हैं कि मुक्तिमें और संसारमें कोई अंतर नहीं है, तो वह कैसे? कृपया समझाइये।*

समाधान :—द्रव्यकी अपेक्षासे ऐसा कहा है। द्रव्य जैसा शुद्ध मुक्तिमें है वैसा ही शुद्ध संसारमें भी है। वह शुद्धतासे भरा है। जैसा भगवान्‌का द्रव्य है वैसा अपना द्रव्य है। मुक्तिकी पर्याय प्रगटती है लेकिन द्रव्य तो वैसा का वैसा ही रहता है। सब विकल्प तोड़कर भीतरमें जाता है तो मुक्त द्रव्य देखनेमें आता है। द्रव्य मुक्त ही है, जबकि बंधन और मुक्ति पर्यायमें होते हैं।—ऐसा कहते हैं तो 'पुरुषार्थ नहीं करना' ऐसा अर्थ नहीं है।

द्रव्य तरफ देखो तो मुक्तस्वरूप ही देखनेमें आता है। उसको बंधन या विभाव हुआ ही नहीं। यदि द्रव्यमें विभाव हो तो कभी छूटे ही नहीं; विभाव ही स्वभाव हो जाय, अर्थात् यदि विभाव भीतरमें चला जाय तो वह स्वभाव हो जाय। लेकिन विभाव भीतरमें है ही नहीं, इसलिये द्रव्य मुक्त ही है।

आचार्यदेव पर्यायको गौण करके कहते हैं कि हम तो द्रव्यको देखते हैं, पर्यायके ऊपर दृष्टि नहीं देते। पर्यायको गौण करके और द्रव्यको मुख्य करके सिद्धसमान मुक्तस्वरूप आत्माको देखते हैं तो उसमें कुछ भी भेद देखनेमें आता ही नहीं। द्रव्य ऐसा मुक्तस्वरूप है, तो भी आचार्य पुरुषार्थ करते हैं। मुनिराज छट्ठे–सातवें गुणस्थानमें झूलते हैं और कहते हैं कि संसार और मुक्तिमें कुछ भेद नहीं है। फिर भी पुरुषार्थ करते हैं। कोई मुनिराज तो श्रेणि चढ़कर केवलज्ञान प्रगट करते हैं। ऐसा पुरुषार्थ करते हैं फिर भी आचार्य कहते हैं कि मुक्ति और संसारमें भेद नहीं है, क्योंकि द्रव्य-अपेक्षासे देखो तो आत्मा मुक्तस्वरूप ही दिखनेमें आता है। ३२.

प्रश्न :—*आज प्रातः पूज्य गुरुदेवश्रीके टेप(-प्रवचन)में द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियके विषयभूत पदार्थकी बात आयी थी। उसमें अरिहंत भगवान्‌की दिव्यध्वनिको भी इन्द्रियके विषयभूत पदार्थमें लिया है, किन्तु प्रवचनसारकी ८०वीं गाथामें आता है कि— जो भगवान्‌के द्रव्य–गुण–पर्यायको जानता है उसका मोह क्षयको प्राप्त होता है, तो इस कथनको स्पष्टरूपसे समझायें।*

समाधान :—यह बात दूसरी है और वह दूसरी बात है। दोनोंकी अपेक्षा अलग–अलग हैं। जितेन्द्रियस्वरूप आत्मा—द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उनके विषयभूत पदार्थ—सबसे भिन्न है। दृष्टिका विषयभूत आत्मपदार्थ, भावेन्द्रिय–क्षयोपशमज्ञान जितना भी नहीं है, वह तो पूर्णस्वरूप है। आत्मामें ज्ञान कम हो गया अथवा उसकी वृद्धि हो गई, ऐसी कोई अपेक्षा लागू नहीं होती; वह तो चैतन्यस्वरूप पूर्ण शुद्धात्मा है, इसलिये इन द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उनके विषयोंसे आत्माको भिन्न देखो। उनसे आत्माको भिन्न देखनेपर भेदज्ञान एवं स्वानुभूति होती है; उसीको जितेन्द्रिय कहनेमें आता है।

'प्रवचनसार'में कहा कि भगवान्‌के द्रव्य–गुण–पर्यायको देखनेवाला अपनेको देखता है; तो वहाँ निमित्त–उपादानका सम्बन्ध दर्शाया है। अनादिकालसे जीवने आत्माको नहीं पहिचाना; जब भगवान् जैसा प्रबल निमित्त मिलता है तब आत्माकी पहिचान होती है; अर्थात् भगवान्‌के

द्रव्य–गुण–पर्यायको समझ ले तो अपना आत्मा समझमें आता है कि जैसा भगवान्‌का आत्मा वैसा मेरा आत्मा।—ऐसे निमित्त उपादानका सम्बन्ध दर्शाते हैं।

यहाँ ऐसा दर्शाते हैं कि तू सबसे भिन्न है। भगवान्‌की दिव्यध्वनि सुननेमें राग आता है वह प्रशस्तराग है; उस प्रशस्तरागको तोड़कर स्वरूपमें लीन होते हैं तब मुनि वीतराग हो जाते हैं और केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं; परन्तु इस बीच दिव्यध्वनि श्रवण करनेका राग आता है वहाँ भगवान् रागका विषयभूत पदार्थ है।

द्रव्यदृष्टिसे आत्मा रागसे भिन्न ही है; आत्मा पूर्ण वीतरागस्वरूप है उसे तू देख। ये रागादि तो सब बाह्य हैं और बाह्यलक्ष्यसे ही दिव्यध्वनि श्रवण आदिका राग आता है, इसलिये तू द्रव्यदृष्टिसे पूर्ण स्वरूपको यथार्थ देख। सूक्ष्म प्रशस्तराग भी आत्माका स्वरूप नहीं है। उपयोग बाहर जानेसे राग आता है और स्वरूपमें लीन हो जाय तो राग नहीं होता; परन्तु बीचमें राग आये विना नहीं रहता। जबतक स्वरूपको समझकर पूर्ण वीतरागदशा नहीं होती तबतक छद्मस्थको प्रशस्तराग आता है, भगवान्‌की दिव्यध्वनि श्रवण करनेका राग आता है।—ऐसा तू जान।

तू भगवान्‌के द्रव्य–गुण–पर्यायको समझ, तो तुझे अपना स्वरूप समझमें आयेगा, ऐसा निमित्त–उपादानका सम्बन्ध है। अनादिकालसे जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ उस जीवको भगवान्‌के द्वारा देशनालब्धि प्राप्त हो तो सम्यग्दर्शन प्रगट होनेमें भगवान्‌को निमित्त कहनेमें आता है। उपादान तो अपना है, अपने ही पुरुषार्थसे जीव समझता है; भगवान् कुछ समझा नहीं देते; फिर भी वे निमित्त बनते हैं। भगवान्‌की वाणी सुने तब अपना आत्मा समझमें आता है और भगवान्‌के आत्माको समझे तो अपना आत्मा समझमें आता है, ऐसा निमित्त–उपादानका सम्बन्ध है। द्रव्यदृष्टिमें राग नहीं है, परन्तु पर्यायमें राग होता है, प्रशस्त राग आता है, इसलिये द्रव्यदृष्टि और पर्यायका ज्ञान साथमें रखकर विचार करना चाहिये। ३३.

प्रश्न :—*ज्ञानीको स्थिरतामें वृद्धि विना प्रयत्नके हो जाती है या उसके लिये अलग पुरुषार्थ करना पड़ता है?*

समाधान :—स्थिरता अपने आप नहीं बढ़ती, किन्तु स्वयं अंतरमें लीनताका प्रयत्न करता है तो होती है। स्वयं कुछ करे ही नहीं और अपने आप लीनता हो जाय ऐसा नहीं होता। ज्ञायककी दृष्टिसे–उसके बलसे लीनता होती है। ज्ञानीका उपयोग बारम्बार बाहर जाता है तथापि वह मर्यादामें रहकर बाहर जाता है। स्वरूपकी ओर अपने उपयोगकी

डोरको खींच रखता है, इसलिये उपयोग अधिक बाहर नहीं जाने देता। 'मैं तो ज्ञायक हूँ, यह मैं नहीं...यह मैं नहीं' इसप्रकार बारम्बार ज्ञायकके जोरमें स्वयं पुरुषार्थ करता ही रहता है। उसे विकल्पपूर्वक पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, सहज ही करता है; तथा उसमें हठ भी करनी नहीं पड़ती अर्थात् पुरुषार्थ नहीं होता हो और उसे बारम्बार हठपूर्वक करना पड़े, ऐसा नहीं होता। उसे जबरन् करना पड़े ऐसा नहीं होता; परन्तु स्वयंने ज्ञायकको पहिचाना है इसलिये सहज ही उस ओरका पुरुषार्थ करता है। जो अपना स्वभाव हो वह सहज होता है, उसी प्रकार पुरुषार्थ भी सहज होता है।

मुमुक्षु :—'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ' ऐसा खयालमें रहता ही है?

बहिनश्री :—'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ' ऐसा उसे रहता ही है। रागके प्रति उसकी रुचि नहीं है, इसलिये रागसे छूटता जाता है और अपनी ओर झुकता जाता है। इस भाँति पुरुषार्थ सहज होता है; हठपूर्वक या जबरन् नहीं होता। उसे आत्माकी रुचि है, इसलिये रुचि और पुरुषार्थ आनन्दसे करता है, सहज होता है।

मुमुक्षु :—'सहज'का अर्थ आनन्दसे होता है। आपने 'आनंद' शब्द अच्छा कहा।

बहिनश्री :—पुरुषार्थ आनन्दसे करता है, हठसे नहीं। हठ अर्थात् खेदपूर्वक करता है ऐसा नहीं, परन्तु रुचिपूर्वक आनन्दसे करता है ऐसा अर्थ है। उसे पुरुषार्थ करनेमें रस आता है एवं अपना स्वरूप है इसलिये सहज उस ओर स्वयं आनन्द एवं रुचिपूर्वक जाता है।

मुमुक्षु :—क्या रुचिपूर्वक तथा रसपूर्वक सहज पुरुषार्थ है?

बहिनश्री :—बाहरके दृष्टान्तमें, जिस प्रकार भगवान्‌के–गुरुके दर्शनका अपनेको रस लगा हो तो उनके दर्शन करने आनन्दसे जाता है, हठसे नहीं जाता; उसी प्रकार जिसे ज्ञायकका प्रेम लगा हो वह आनन्दपूर्वक उस ओर जाता है, हठपूर्वक नहीं, किन्तु सहज जाता है, क्योंकि अंतरमें रस और रुचि है।

जैसे पानी पानीको खींचता हुआ पानीकी ओर जाता है वैसे ही ज्ञायक ज्ञायकको खींचता हुआ ज्ञायककी ओर जाता है और वह सहज है। ज्ञायक ज्ञायककी डोर अपनी ओर खींचता है, वहाँ हठ या खेद नहीं है, आनन्द है। अपना स्वभाव अपनेको अनुकूल होता है, प्रतिकूल नहीं होता, इसलिये वह सहज है। भीतर जाना रुचता है, बाहर जाना रुचता ही नहीं, तथा भीतर जाय तो अपनेको संतोष व शान्तिका अनुभव होता है, इसलिये वह कार्य उमंगसे करता है, वह बोझरूप नहीं लगता। ३४.

प्रश्न :—*आत्माकी पहिचान क्या महिमापूर्वक होती है?*

समाधान :—आत्माकी पहिचान महिमापूर्वक होती है; शुष्क विचार करे तो वह छूट जाता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा बोल दिया, लेकिन उसको ग्रहण नहीं किया तो ऐसे पहिचान नहीं होती। उसकी महिमा आनी चाहिये। अनन्त गुणोंसे भरपूर, आश्चर्यकारी, आनन्दकारी, महिमावंत आत्मा है, ऐसा विचार कर भीतरमें जाय तब भेदज्ञान हो। अनन्तगुणोंसे भरपूर चैतन्य चमत्कारमय चैतन्यदेव मैं हूँ, मैं दिव्यतासे भरपूर हूँ, ऐसी चैतन्यकी अद्भुतता अंतरसे लगनी चाहिये। फिर आत्माको ग्रहण करे तो गहराई आती है। आत्माकी महिमा न लगे और बाहरसे ज्ञानस्वरूप..... ज्ञानस्वरूप.....ऐसा बोलने लगे अर्थात् ऊपर-ऊपरसे 'ज्ञानस्वरूप....ज्ञानस्वरूप' किया करे तो कुछ नहीं होता; इसकी महिमा आनी चाहिये। 'मैं ज्ञानस्वरूप, चैतन्यस्वरूप कोई अद्भुत आत्मा हूँ' ऐसी महिमा आये तो भीतरमें चला जाता है।

मुमुक्षु :—आत्माकी महिमा कैसे आये?

बहिनश्री :—महिमा अर्थात् आत्माकी अद्भुतता लगनी चाहिये, आश्चर्य लगना चाहिये कि यह कोई अद्भुत तत्त्व है! मेरा आत्मा कोई सामान्य नहीं है, सिद्धभगवान् जैसा है और सर्व लोकके ऊपर तैरता है, ऐसा मैं अद्भुत हूँ! जहाँ रुचि हो, उपयोग वहीं लगता है। जिसको भगवान्की महिमा होती है कि भगवान् वीतरागस्वरूप हैं, उसे जिनमंदिरमें भी भगवान्के दर्शन करते समय भगवान्की प्रतिमाको देखकर आश्चर्य लगता है कि कैसा भगवान्! ठीक उसी प्रकार चैतन्यभगवान्का आश्चर्य लगना चाहिये कि मेरा वीतरागी आत्मा भी ऐसा ही है! फिर वह (आश्चर्य) छूटता नहीं। आत्माकी महिमा लगे तो उसे देखनेके लिये उपयोग बारम्बार वहीं जाये; किन्तु महिमा न आये तो 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ' ऐसा छूट जाता है।

भगवान्की महिमा लगे तो मंदिरमें प्रतिमाजीको देखकर शान्ति होती है कि भगवान् कैसे वीतराग हैं!! ऐसे आत्मभगवान्की महिमा आनी चाहिये। प्रतिमाजी ऐसी हैं तो साक्षात् भगवान् कैसे होंगे!!—ऐसे साक्षात् भगवान्की महिमा आये वैसे आत्मभगवान्की महिमा आनी चाहिये। यदि चित्त वहाँ ही लगे तो अन्यत्र कहीं भी नहीं लगता।

मुमुक्षु :—स्वयं महिमावान् पदार्थ होते हुए भी स्वयंकी महिमा क्यों नहीं आती?

बहिनश्री :—बाहरकी महिमा है बाहरमें रुक रहा है इसलिये स्वयंकी महिमा नहीं

आती। बाहरके पदार्थोंमें रुक जाता है, उनकी महिमा आती है; बाहर देखनेमें आश्चर्य लगता है कि यह देखूँ–वह देखूँ....ऐसे सब बाहर देखनेमें रुक जाता है; और भीतरमें चैतन्य भगवान्आत्मा दिखायी नहीं देता इसलिये विश्वास नहीं आता इस वजहसे महिमा नहीं आती। और बाहरमें विश्वास आता है, इसलिये बाहरमें सब महिमावंत लगता है।

बाह्यमें कोई सामान्य-सी बात हो तो भी कुतूहल करके देखनेको जाता है; परन्तु भीतर आत्माका आश्चर्य करके, कुतूहल करके देखनेको भी नहीं जाता! शास्त्रमें आता है कि तू एकबार कुतूहल करके देख तो सही! कि भीतर कैसा आत्मा बिराजमान है! ३५.

प्रश्न :— *'मैं ज्ञायक ही हूँ' ऐसा निर्णय क्या पहले बुद्धिपूर्वक होता होगा?*

समाधान :—प्रथम बुद्धिपूर्वक निर्णय होता है। उसे अंतरसे ऐसी श्रद्धा (विश्वास) आ जाती है कि 'यह...मैं ज्ञायक हूँ और इस ज्ञायकको ग्रहण करके उसमें तीव्रता–उग्रता करनेसे अवश्य आगे बढ़ा जा सकेगा' ऐसा निर्णय उसे आ जाता है। ज्ञायकके मूलमेंसे स्वभाव ग्रहण होता है कि ज्ञायक यही है। यह विभाव है, यह पर है, यह स्वभाव है और उस स्वभावको ग्रहण करनेसे अंतरमेंसे शान्ति एवं आनन्द आयगा। इसी ज्ञायकको ही ग्रहण करना है, उसके पुरुषार्थको उग्र बनानेसे अवश्य उसमेंसे स्वानुभूति प्रगट होगी, ऐसा जोरदार निर्णय प्रथम होता है और स्वानुभूतिके पश्चात् भेदज्ञानकी धारा सहज वर्तती है। पहले निर्णय होता है, परन्तु भेदज्ञानकी सहज धारा नहीं चलती; उसे ज्ञायकका ग्रहण होता है और छूट भी जाता है; पुरुषार्थकी ऐसी तीव्रता–मन्दता होती रहती है; परन्तु निर्णय प्रबल होता है कि इसी प्रकारका पुरुषार्थ करनेसे—इस ज्ञायककी उग्रता करनेसे—अवश्य मार्गपर चला जा सकेगा।

स्वानुभूतिके पश्चात् उसको ज्ञायककी धारा सहज वेगवान् रहती है। उपयोग क्षण–क्षणमें चाहे जहाँ बाहर जाय तथा अनेक प्रकारके विभावके विकल्प आयें, तथापि ज्ञायककी धारा वर्तती है, ज्ञायक प्रतिक्षण भिन्न का भिन्न रहता है। बाहरमें चाहे जो कार्य होता हो और अंतरमें चाहे जैसे विकल्प आते हों तथापि ज्ञायक उनसे न्यारा का न्यारा रहता है, ज्ञायकधाराकी परिणति पृथक् ही रहती है। खाते–पीते, चलते–फिरते, सोते–जागते—इसप्रकार किसी भी कार्यमें निरंतर भेदज्ञानकी धारा वर्तती है। वह (ज्ञायक) एकमेक होता ही नहीं, ऐसी सहज धारा रहती है।

मुमुक्षुको पहले तो मात्र निर्णय होता है, सहजधारा नहीं होती; परन्तु निर्णय ऐसा होता है कि इस ज्ञायकको ग्रहण करनेसे तथा उसकी उग्रता करनेसे अर्थात् भेदज्ञान करनेसे अवश्य स्वानुभूति होगी। उसकी भेदज्ञानधारा नहीं टिकती, क्योंकि सहज नहीं है, तथापि उसकी उग्रता करते-करते स्वानुभूति होगी ऐसा निर्णय है। ३६.

प्रश्न :—*संस्कारोंकी बातें बहुत आती हैं, तो गहरे संस्कार कैसे डालना?*

समाधान :—ज्ञायकका बारम्बार अभ्यास करते रहना। गुरुदेवने जो मार्ग बतलाया है उसका चिंतवन, उसकी महिमा, उसकी लगन, सत्संग, श्रवण-मनन आदि बारम्बार करना। दहीको मथते-मथते मक्खन बाहर आता है उसी प्रकार बारम्बार ज्ञायकका मंथन करते रहना। गुरुदेवने बतलाया है तदनुसार बारम्बार पुरुषार्थ करना। 'मैं चैतन्य जुदा हूँ, यह विभाव जुदे हैं' इसप्रकार भेदज्ञानके लिये तैयारी स्वयंको करनी है। बाह्यमें देव-शास्त्र-गुरुका सान्निध्य प्राप्त हो, उनका सत्संग मिले, श्रवण-मनन चलता रहे, वह सब बारम्बार करते रहना। बारम्बार उसके (ज्ञायकके) संस्कार दृढ़ करना। रुचि तीव्र हो वैसा बारंबार करते रहना। ३७.

प्रश्न :—*परिणतिको पलटने हेतु कैसा पुरुषार्थ करना चाहिये? पढ़ते रहें या विचार करें?*

समाधान :—एक चैतन्य तरफकी दृष्टि प्रगट करनेके लिये पढ़ना-विचार करना। अंतरकी दिशा पलटानेका हेतु होना चाहिये। परिणति तद्गतरूप-तद्रूप-तदाकार न हो जाय तबतक पठन-विचार सब आता है। विचारमें स्थिर न हो तो पठन करे अथवा पठनमेंसे विचार करे, जहाँ परिणति स्थिर हो वह करते रहना। परन्तु करनेका तो एक ही है कि 'दृष्टिको पलटाना है, अंतरकी दिशा परिवर्तन करना है' वह न हो तबतक उसके पीछे पड़ जाना। ३८.

प्रश्न :—*'ज्ञानीके पास जाकर तू भक्ति माँगना'—इसका क्या अर्थ?*

समाधान :—भक्ति अर्थात् महिमा करना। (उनके पाससे) मैं जान लूँ....मैं जान लूँ, ऐसे मात्र विकल्प करते रहनेकी अपेक्षा तू भक्ति अर्थात् महिमा करना। सत्पुरुषकी दशाकी महिमा आनेपर तुझे अपने आत्माकी महिमा आनेका तथा अपने आत्माकी दशा प्रगट करनेका अवकाश है। मैं जान लूँ.....मैं जान लूँ, ऐसे लूखे ज्ञानकी माँग करनेकी अपेक्षा अर्थात् इसका क्या? इसका क्या?—ऐसा करनेकी अपेक्षा उनकी महिमा करना। उससे तुझे अपने चैतन्यकी महिमा आयगी, चैतन्यकी ओर झुकाव होगा। बाह्यमें देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा

करनेसे अंतरमें अपने आत्माकी महिमा आनेका अवकाश है। उसकी महिमाके बिना तू जो कुछ जानेगा वह किस कामका?

जिन्होंने आत्माकी दशा प्रगट की है तथा आत्माकी साधना की है, ऐसे गुरुकी महिमा तुझे न आये तो अपने आत्माकी महिमा आनेका कहाँ अवकाश है? अपने आत्माकी महिमा न आये और मात्र जानकारी किया करे तब भी आत्माकी ओर झुकनेका अवकाश नहीं है। इसीलिये ज्ञान महिमापूर्वक होना चाहिये। महिमा बिनाका ज्ञान तेरे स्वभावकी ओर नहीं आयगा।

अरिहंत भगवान्‌के द्रव्य–गुण–पर्यायको जाने वह अपने द्रव्य–गुण–पर्यायको जाने। भगवान्‌की दशाकी महिमा आये तब भगवान्‌के आत्माकी महिमा आये और तभी निजात्माकी महिमा आये। गुरुकी दशाकी महिमा आये तो गुरुको पहिचाने और गुरुको पहिचाने वह अपनेको पहिचाने।

श्रीमद्‌जी ऐसा लिखते हैं कि ''ज्ञानीके पास ज्ञान माँगनेकी अपेक्षा भक्ति माँगना'', क्योंकि उससे तुझे अपने स्वभावकी महिमा आयगी। ज्ञानका स्वभाव क्या है? विभाव क्या है?—इसप्रकारसे तू तत्त्व-विचार करके जानना। परन्तु मात्र जान लूँ.....सीख लूँ.....पढ़ लूँ.....ऐसा कुछ करनेसे तू उसमें ही रुक जायगा और अपनी ओर झुकनेका अवकाश नहीं रहेगा। गुरुके स्वभावकी महिमा आनेसे तू सहज ही अंतरमें झुक जायगा; तुझसे विभावमें टिका नहीं जा सकेगा। यदि गुरुकी दशाकी महिमा आयी तो आत्माकी–स्वभावकी महिमा आयगी और तब विभावमें टिका नहीं जा सकेगा; अपनी ओर जानेका प्रयत्न चलेगा। निज महिमाके बिना ज्ञान अपनी ओर नहीं आयगा। यदि तुझे अपनी महिमा नहीं आती तो तू विभावकी महिमामें खड़ा रहेगा और स्वभावकी ओर नहीं जा सकेगा। इसलिये महिमापूर्वक ज्ञान होता है। ज्ञान, भक्ति, तत्त्वविचार आदि आत्माकी महिमापूर्वक होने चाहिये।

ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि सब हों तो अपनेमें ढल सकेगा। रुचि अपनी ओरकी होगी। विभावमें एकत्वबुद्धि, तन्मयता होगी तो अपनी ओर ढला नहीं जाता। इसलिये उनसे तू अलग रहना; अपनी परिणतिका वेग स्वभावकी ओर जाये ऐसी अंतरंग विरक्ति, महिमा, वैसे तत्त्वके विचार करना और अपनेको पहिचानकर अपनी ओर ढलना। अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, भक्ति सब साथ होंगे तब ही अपनेमें ढला जा सकेगा। उसके बिना ढला नहीं जाता। ज्ञानके

बिना कहाँ जायगा? और महिमा–भक्तिके बिना अकेला ज्ञान होगा तो वह लूखा हो जायगा। इसलिये ज्ञान, महिमा, विरक्तिके बिना अपनी ओर जाया नहीं जा सकता। ३९.

प्रश्न :—*विभावको तथा वर्तमान पर्यायको गौण करके स्वभावका आलम्बन करनेको कहा जाता है; परन्तु स्वभाव तो दिखायी नहीं देता, वर्तमान विकार ही दिखता है।*

समाधान :—जो नहीं दिखता उसे देखनेका प्रयत्न करना, अर्थात् जो अदृश्य है उसे दृश्यमान करना और जो दिखता है उसे गौण करना। स्वभाव अदृश्य लगता है, परन्तु वह दिखाई दे ऐसा है। उसे स्वयं नहीं देखता है इसलिये वह अदृश्य अर्थात् गुप्त हो गया है ऐसा नहीं है; वह दिखे, लक्षमें आये, उसके दर्शन हों एवं ज्ञानमें आये ऐसा है, इसलिये उसे दृश्यमान करनेका प्रयत्न करना। सबको ज्ञानस्वभाव तो जाननेमें आ ही रहा है; उस ज्ञानके लक्षण द्वारा—गुण द्वारा—गुणीको पहिचान लेना। गुण–गुणीके भेद होते हैं, परन्तु वह एक ही वस्तु है, भिन्न नहीं। शास्त्रमें आता है कि लक्षणसे लक्ष्यको पहिचान लेना, पहिचाननेका प्रयत्न करना। लक्ष्यको–ज्ञान-स्वभावको पहिचाननेसे, उसमें दृष्टि देनेसे तथा उसमें तन्मयता होनेसे शान्ति और सुख प्राप्त होता है। उसमेंसे ही अपार एवं अगाध ज्ञान प्रगट होता है। उसे ग्रहण करनेसे अपूर्व वीतरागी दशा एवं आनन्द प्रगट होता है। यह अनादिकालके सर्व विभाव तो आकुलतारूप तथा दुःखरूप हैं। उन्हें टालनेके लिये निराले तत्त्वको ग्रहण करना। ४०.

प्रश्न :—*रागी जीव भेदका लक्ष्य करे तो राग उत्पन्न होता है तब सामर्थ्यका आश्रय लेनेसे सम्यग्दर्शन किस प्रकार हो? क्योंकि सामर्थ्य भी एक अंश है न?*

समाधान :—सामर्थ्यमें एक अंश नहीं लेना, परन्तु अनन्त शक्तिसे परिपूर्ण आत्माको लेना और उसमें भी अखंड द्रव्यका आश्रय लेना है; एक गुणका आश्रय लेना ऐसा नहीं है। वह अखंड द्रव्य कैसा है? कि अनन्त शक्तिसे–अनन्त सामर्थ्यसे भरा है। उस द्रव्यका आश्रय लेनेसे शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। जब कि विभावके आश्रयसे अथवा पर्याय और गुणभेदपर दृष्टि रखनेसे तो राग होता है। इसलिये अंतरमें एक अखंड द्रव्यका आश्रय लेना।

मुमुक्षु :—ध्रौव्यको अंश कहा जाता है न? वह तो विभाग हुआ, तब अखंड वस्तु किस प्रकार है?

बहिनश्री :–ध्रौव्य अखंड वस्तु है। किसी अपेक्षासे उसे अंशके रूपमें भी लिया जाता

है; तथापि उस अंशमें और इस पर्यायके अंशमें फेर है। उत्पाद-व्यय पलटते अंश हैं और यह तो शाश्वत ध्रुव अंश है जो कि स्थिर है, पूर्ण है। उत्पाद-व्यय पलटते अंश होनेसे वे ज्ञानमें गौण होते हैं; जब शाश्वत ध्रौव्यको ग्रहण किया उसमें पूर्ण अस्तित्व आ जाता है। जो पलटता है वह ज्ञानमें आता है, परन्तु पलटता है उसका आश्रय नहीं लिया जाता। जो शाश्वत है उसीका ही आश्रय लिया जाता है। जो दूसरे ही क्षण पलट जाता है उसका आश्रय नहीं लिया जाता।

ध्रुवमें पूर्ण सामर्थ्य है। उत्पाद-व्यय पलटता है वह भी द्रव्यका स्वरूप है; परन्तु वह पलटता रहता है इसलिये उसका—पलटनेवालेका—आश्रय नहीं लिया जाता, शाश्वत ध्रुवका ही आश्रय लिया जाता है। शाश्वत ध्रुव है वह अनन्त गुणसे-अनन्त शक्तियोंसे भरपूर है। शाश्वत ध्रुव है वह शून्यवत् अकेला नहीं है; अनन्त गुण-शक्तिसे भरपूर ध्रुव है। उसे लक्ष्यमें लिया तो दूसरा कुछ बाकी नहीं रह जाता, उसके आश्रयमें सब आ जाता है। पर्याय कहीं आश्रय लेने योग्य नहीं है, उसका वेदन होता है। द्रव्यके आश्रयमें पर्याय आती ही नहीं; जो शाश्वत ध्रुव है वही आश्रयमें आता है; और शाश्वत ध्रुव आश्रयमें आया उसमें सब आ जाता है, कुछ बाकी नहीं रहता। शाश्वतका आश्रय लेनेसे राग नहीं होता अपितु छूट जाता है। ४१.

प्रश्न :—*रुचि कैसे हो?*

समाधान :—रुचि अपनेसे होती है, कोई कर नहीं देता। रुचि स्वयंको भीतरसे लगनी चाहिये। गुरुदेवने तो अद्भुत वाणीकी वर्षा की है; अब रुचि करनी सो अपने हाथकी बात है। गुरुदेवने कहा है कि आत्मा कोई अपूर्व-अनुपम है; आत्मामें सब कुछ है; उस संबंधित विचारकर-निर्णय करके रुचि जागृत करना है। "रुचि अनुयायी वीर्य।" अपने आत्माके ही प्रयोजनवाली सच्ची रुचि हो तो ज्ञान उसमें सच्चा कार्य करता है। रुचि ऐसी लगे कि कहीं रुके नहीं; ऐसी तीक्ष्ण रुचि होनी चाहिये।

(गीत) आता है न? कि : "मुझे तो चलते-फिरते याद प्रभुकी आती है"—ऐसी आत्माकी रुचि होनी चाहिये कि जहाँ देखूँ वहाँ आत्मा ही स्मरणमें आये, हिलते-डोलते आत्मा ही याद आये। 'मेरा आत्मा कैसे प्रगट हो?' इसप्रकार मुझे सब कार्योंमें आत्मा याद आये। "मुझे तो भोजन करते याद प्रभुकी आती है" ऐसे मुझे हर समय आत्मा स्मरणमें आये। "दतवन करते भी मुझे याद प्रभुकी आती है" ऐसी आत्माकी रुचि और लगन लगे तो अंदरसे आत्मा प्रगट होनेका अवकाश आये।

आत्माकी रुचि ऐसी लगनी चाहिये कि कहीं भी रस न लगे और सब ओरसे रस टूट जाय। "मुझे तो शयन करते याद प्रभुकी आती है" इसप्रकार मैं शयन करूँ तो भी आत्माका स्मरण रहे। वैसे ही हर कार्यमें मुझे आत्मा याद आये। 'आत्मा कैसे प्रगट हो?' ऐसी अंदरसे लगन लगे तो आत्मा अंदरसे प्रगट हो; परंतु प्रतिक्षण ऐसी रुचि और लगन चाहिये। ४२.

प्रश्न :—*परमार्थकी प्राप्तिमें किसी प्रकारका आकुल-व्याकुलपना होना उसे श्रीमद्जीने दर्शन परीषह कहा है; तो वे क्या कहना चाहते हैं?*

समाधान :—परमार्थकी प्राप्ति हेतु खोटी आकुलता हो वह दर्शन परीषह है। आत्मार्थी व्यर्थकी उतावल नहीं करता परंतु उसमें धैर्य चाहिये। धीरज रखे तो सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। आत्मा कैसे प्राप्त हो? कैसे करूँ? अब क्यों प्रगट नहीं होता?—ऐसी आकुलता हो, वह एक प्रकारका परीषह है, उसमें दर्शनमोहका निमित्त है और कार्य न होनेमें उपादानकारण अपना है।

आत्माका ज्ञानस्वभाव किस प्रकार ग्रहण हो? रागसे कैसे पृथक् होऊँ? भेदज्ञान कैसे हो? सूक्ष्म होकर प्रज्ञाछैनीसे अंतरमें ज्ञानको कैसे ग्रहण करूँ? इतना समय हो गया फिर भी (कार्य) क्यों नहीं होता?—ऐसी सर्व आकुलता अंतरमें होती है, तथापि उसमें शांति रखे कि मेरी भावना है तो (कार्य) होगा ही। प्रयत्न करता ही रहे और धीरजसे मार्गको पहिचाननेका प्रयत्न करे। आत्माका स्वभाव क्या है? ज्ञायक क्या है? ज्ञान सो ही मैं हूँ, यह सब राग है सो मेरा स्वभाव नहीं है। वह वेदन भिन्न जातिका है और ज्ञानका जो जाननेका स्वभाव है वह दूसरी जाति है;—इसप्रकार लक्षणसे रागको भिन्न पहिचानता रहे और ज्ञानको ग्रहण करे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेका कारण बनता है तथा दर्शनमोह चला जाता है। परन्तु उसे धैर्य होना चाहिये। यदि आकुलता-उतावल करे तो कार्य नहीं होता। चाहे जितना समय लगे तथापि बारम्बार प्रयत्न करता ही रहे तो सम्यग्दर्शन प्राप्तिका कारण बनता है। प्रारम्भमें आकुलता तो होती है, परन्तु शान्ति रखना चाहिये।

मुमुक्षु :—उतावल करने जायें तो क्या अन्य उलटे-पलटे मार्गपर चढ़ जायें?

बहिनश्री :—हाँ, उतावल करनेसे (कार्य) नहीं होता; उलटे-पलटे मार्गपर चढ़ जायगा। उतावल करने जाये तो स्वभावका ग्रहण नहीं होता; स्वभावका ग्रहण तो धैर्यसे ही होता है। स्वयं शांतिसे अंतरमें सूक्ष्म होकर ज्ञानस्वभावको ग्रहण करे तो वह पकड़नेमें आये वैसा है।

उतावल करे तो कुछका कुछ पकड़ा जाये, मिथ्या पकड़में आ जाये और खोटा संतोष मान ले। कार्य नहीं होता इसलिये (खोटी) उतावल करे तो हानिकर हो जाये।

सच्चा जिज्ञासु और सच्चा आत्मार्थी हो उसे जबतक सच्चा परिणाम नहीं आये तबतक संतोष होता ही नहीं। उसका आत्मा ही कह देता है कि यह कोई अंतरसे शान्ति नहीं आती है, इसलिये यह यथार्थ नहीं है; और यथार्थ हो उसे अंतरसे ही शान्ति आती है। उतावल करनेसे बुरा होता है, मिथ्या ग्रहण हो जाता है, कहीं न कहीं प्रशस्तरागमें रुक जाता है। सूक्ष्म राग पकड़में नहीं आता और अंतरमें शुभरागको पृथक् नहीं कर सकता या सूक्ष्म होकर ज्ञानको ग्रहण नहीं कर सकता। बारम्बार भावनाके विकल्प आयें उनसे भी ज्ञायक पृथक् है, इसप्रकार अन्तरसे यथार्थ ग्रहण होना चाहिये।—वह नहीं हो सकता हो और व्यर्थकी उतावल करके कोई परमार्थको ग्रहण करनेके लिये ध्यान करे, परन्तु ऐसे ध्यानमें यथार्थ ग्रहण नहीं होता। उस ध्यानमें विकल्प शान्त हो जायें उससे ऐसा लगे कि मानो विकल्प हैं ही नहीं; परन्तु विकल्प होते हैं तथापि वे नहीं हैं ऐसा उतावलसे मान ले तो हानिकर हो जाता है।

मुमुक्षु :—सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो तबतक उसे प्राप्त करनेकी आकुलता तो स्वाभाविक होती है; तथापि उसे दर्शन परीषह क्यों कहा? तथा धैर्य रखनेमें क्या प्रमाद न हो जाय?

बहिनश्री :—आत्मार्थीको प्रमाद नहीं होता। यह प्रमाद है या धैर्य है वह उसे पकड़ना चाहिये। धैर्य और प्रमादमें फेर है। यथार्थ ग्रहण न हो तबतक शान्ति रखे वह प्रमाद नहीं है। यथार्थ आत्मार्थीको यथार्थ ग्रहण होता है कि यह प्रमाद है या धैर्य है? सम्यग्दर्शनके लिये व्यर्थकी आकुलता करना उसे अपेक्षासे दर्शनपरीषह कहा है। वास्तवमें तो सम्यग्दर्शन, चारित्र होनेके पश्चात् सब परीषह लागू होते हैं; परन्तु यह तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं हुआ, परमार्थकी प्राप्ति नहीं हुई तथापि अपेक्षासे दर्शनपरीषह कहा है।

कोई झूठी शंका या कुतर्क करते हों तथापि सम्यग्दृष्टि नहीं डिगता। उसे निःशंकित गुण ऐसा प्रगट हो गया है कि स्वयं अपनी श्रद्धासे चलित नहीं होता। सारा ब्रह्मांड खलबली जाय ऐसे (प्रसंग) अथवा चाहे जैसे अन्य परीषह आयें तथा न्याय-युक्ति आयें तब भी स्वयंने जिस ज्ञायकस्वभावका ग्रहण किया है उस ज्ञायकमें निःशंक रहता है, उसमें उसे किंचित् शंका नहीं होती। ऐसे परीषह सम्यग्दृष्टिको होते हैं।

जिसे परमार्थकी प्राप्ति नहीं हुई उस आत्मार्थीको भी परीषह कहा है, वह अपेक्षासे है। सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता और आकुलता होती है उस अपेक्षासे उस जातिका परीषह कहा है। भावना यथार्थ है और प्रगट नहीं होता उसमें (दर्शनमोह) कर्म निमित्तकारण है और कर्ममें स्वयं जुड़ा हुआ है। इसप्रकार स्वयं ग्रहण करना चाहता है और ग्रहण नहीं होता, इसलिये उसे दर्शनपरीषह कहा है। कोई विकल्प–कोई शंकाएँ–कोई तर्क बीच–बीचमें अपनेको रोकते हों वे सभी अंतरंग परीषह हैं। स्वरूप निर्णय करे वहाँ बीचमें कोई शंकाएँ उत्पन्न हों, शंकामें भी कोई शंका पैदा हो जाय, इसप्रकार परमार्थको ग्रहण करनेमें भीतर अपने परिणाममें अनेक प्रकारकी कठिनाईयाँ खड़ी हों उन्हें दर्शनपरीषह कहा है। तथापि वह धीरजसे उन सबमेंसे पार होकर स्वयं निःशंकपने चैतन्यको ग्रहण करे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेका कारण बनता है।

मुमुक्षु :—स्वभाव प्राप्तिकी भी बहुत आकुलता करने जैसी नहीं?

बहिनश्री :—बहुत आकुलता करनेसे उसे धैर्य नहीं रहता (धैर्य खो बैठता है) जिससे कहीं न कहीं शान्ति मान ले ऐसा हो जाता है। 'यह ज्ञाता ही है' ऐसा सहजरूपसे ज्ञायकको ग्रहण करनेके बदले उतावलसे कृत्रिमता होनेपर ध्यान करने बैठे तब उसे ऐसा लगता है कि विकल्प मुझे दिखायी ही नहीं देते; अब मुझे सम्यक्त्व हो गया है; अर्थात् अयथार्थरूपसे मान ले ऐसा हो जाता है। मेरे विकल्प शांत हो गये हैं ऐसा भ्रम उतावलके कारण हो जाता है।

जिसे गुरुदेवने तथा शास्त्रोंने ज्ञायक कहा है वह ज्ञायक ही मैं हूँ, अन्य कोई मैं हूँ ही नहीं, इसप्रकार जिसे अन्तरसे सहजरूपसे ग्रहण होता है उसका हृदय ही—उसका आत्मा ही—निःशंकरूपसे तथा सहजरूपसे भीतरसे कह रहा होता है कि यही मार्ग है, अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। उसे किसीसे पूछने नहीं जाना पड़ता, परन्तु उसका हृदय ही सहजरूपसे कह रहा होता है कि यही ज्ञायक है, यही स्वानुभूति है और यही भगवान्का तथा गुरुका कहा हुआ मार्ग है, ऐसा उसको अन्तरसे सहजरूपसे आता है, किसीसे पूछकर निर्णय हो ऐसा नहीं होता। अन्तरसे उसकी दृढ़ता कोई अलग ही प्रकारकी आती है।

मुमुक्षु :—इसमें बहुत समझने जैसा है।

बहिनश्री :—कई लोग ध्यान करने बैठें और उन्हें उसमें प्रकाश जैसा दिखायी दे तथा

कुछ शान्ति लगे, तो कहते हैं कि ध्यान हो गया। ऐसी तरह-तरहकी कल्पनाएँ होती हैं; परन्तु उसमें बाहरका देखनेका कुछ भी नहीं है क्योंकि स्वयं ही है। अन्तरकी शान्ति प्रगट हो और विकल्पसे भिन्न पड़े, वह उसका आत्मा ही उससे कह देता है, स्वानुभूति ही कह देती है। अन्तरसे न्यारे हुए आत्माकी निःशंकता एवं दृढ़ता कोई जुदी ही आती है। अन्तर एकाग्रतापूर्वक अपना अस्तित्व ग्रहण हुए बिना और विभाव तरफकी नास्ति हुए बिना अर्थात् भेदज्ञान हुए बिना यों ही सच्चा ध्यान हो नहीं सकता; मात्र उसके विकल्प डाँवाडोल हों वे शान्त हो जाते हैं, कम हो जाते हैं। अन्तरसे पृथक् होकर स्वभावकी अस्ति ग्रहण करे और विभावका भेदज्ञान हो अर्थात् द्रव्यपर दृष्टि जाय और उसके साथ भेदज्ञान हो—दोनों साथ हों, तो ध्यानकी एकाग्रता सच्ची होती है। अपने स्वभावका अस्तित्व ग्रहण करनेसे उसका ध्यान, उसकी लीनता, और उस ओर ढलना होता है। भीतर उपयोगको स्व सन्मुख करे तो उसके विकल्प शान्त होते हैं। उसका मार्ग एक भेदज्ञान है और वह द्रव्यपर दृष्टि करे तथा विभावसे नास्ति हो तो होता है। ४३.

प्रश्न :—*श्रद्धा और चारित्र इन दोनों गुणोंका परिणमन स्वतंत्र है—ऐसा कहकर क्या कहना चाहते हैं?*

समाधान :—ऐसा कहना है कि तू श्रद्धा तो यथार्थ कर; फिर आचरण तेरे पुरुषार्थके अनुसार होगा। प्रथम श्रद्धा सच्ची कर; श्रद्धा होनेके साथ ही आचरण नहीं हो जाता। श्रद्धा वह मुक्तिका मार्ग है, श्रद्धाके बिना कुछ नहीं हो सकता; इसलिये मुख्य तो श्रद्धा है। जैसी श्रद्धा हो तदनुसार आचरण हुए बिना नहीं रहता। इसलिये शास्त्रमें आता है कि—बन सके तो ध्यानमय प्रतिक्रमण करना; यदि वह न हो सके तब श्रद्धा तो बराबर रखना। श्रद्धामें उलटा-पुलटा मत करना कि मुझसे नहीं हो सकता इसलिये मार्ग ऐसा नहीं होगा। मुनिकी जो ध्यानदशाका वर्णन शास्त्रमें है वह मुझसे नहीं हो सकती इसलिये मुनिमार्ग ऐसा नहीं होगा; कोई दूसरा ही होगा—इस प्रकार श्रद्धामें भूल नहीं करना, श्रद्धा तो यथार्थ रखना। मुनिदशा न हो सके तो स्वीकार करना कि मेरे पुरुषार्थकी कमी है, परन्तु मार्ग तो यही है। श्रद्धामें बराबर लेना कि मार्ग तो यही है। जो अन्तरमें छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें हों, बारम्बार निर्विकल्पदशामें झूलते हों उनका व्यवहार भी ऐसा पंचमहाव्रतादिका होता है। इसलिये उनका निश्चय-व्यवहार जैसा हो वैसा निर्णय करना, श्रद्धा बराबर रखना। यह पंचमकाल है इसलिये थोड़ा इधर-उधर हो, ऐसा मत मानना;

श्रद्धा यथार्थ रखना। ऐसी दशा न हो सके तो वह तेरे पुरुषार्थकी मन्दता है परन्तु मार्ग तो यही है। जो भी मुक्तिको प्राप्त हुए हैं वे सब इसी मार्गसे प्राप्त हुए हैं। सम्यग्दर्शन–स्वानुभूति होनेपर भेदज्ञानकी धारा प्रगट हो कि 'मैं ज्ञायक भिन्न हूँ और यह शुभाशुभभाव हेय हैं' ऐसी उसकी ज्ञायकधारा होती है; वस्तुस्वभाव ऐसा है। परन्तु वह न बन सके तो कुछ ऐसा भी हो और कुछ ऐसा भी—ऐसा मार्ग हो—ऐसी कल्पना नहीं करना, श्रद्धा यथार्थ करना। श्रद्धागुण तथा चारित्रगुण दोनों जुदे हैं; इसलिये चारित्र न बन सके तो तू हताश होकर श्रद्धामें फेरफार मत करना। अन्तरंग परिणतिरूपसे यदि स्वानुभूतिदशा न आये तो प्रयत्न करना, परन्तु ऐसा नहीं मान लेना कि स्वानुभूति कोई वस्तु ही नहीं है। मार्ग तो जो है वही है। तुझसे नहीं बन सकता हो तो श्रद्धा यथार्थ बनाए रखना, प्रयत्न करते रहना। ४४.

प्रश्न :—*आज महामंगल दिवस है, इसलिये कोई आशीर्वचन कहिये।*

समाधान :—सबको जीवनमें एक ध्येय रखना कि—ज्ञायकआत्मा कैसे पहिचाननेमें आये? जीवनमें जो निर्णय किया है उस निर्णयकी दृढ़तासे आगे बढ़ना है। अन्तरमें पुरुषार्थ करना, भेदज्ञानका अभ्यास करना; शुभभावमें देव–शास्त्र–गुरुकी तथा अन्तरमें ज्ञायकदेवकी आराधना–महिमा करना। बस, अन्य सब विभावभावोंको गौण कर देना और ज्ञायकदेवको मुख्य रखकर जीवन बिताना। बस, वह एक ही ध्येय रखना। जो ध्येय निश्चित किया कि इसप्रकार जीवन बिताना है, उस एक ही ध्येयकी दृढ़तासे आगे बढ़ना है। शास्त्र-स्वाध्याय, देव–शास्त्र–गुरुकी महिमा तथा अन्तरमें शुद्धात्मा कैसे पहिचाननेमें आये उस ध्येयकी दृढ़ता रखना। मैं तो एक ही कहती हूँ और वह एक ही करना है कि 'एक आत्माको पहिचानो।' बस, उसमें सब आ जाता है। देव–शास्त्र–गुरुके सान्निध्यमें रहकर उनकी तथा आत्माकी आराधना करना। बस, यही करनेका है। लौकिक जीवन तो देखो! कैसे चले जाते हैं? यह आत्माके हेतु बिताया गया जीवन ही यथार्थ जीवन है, बाकी तो सब संसारके लौकिक जीवन व्यर्थ हैं। लौकिकमें तो दिनभर खाना–पीना तथा व्यावहारिक संबंध रखने जैसे कार्य होते हैं;—ऐसे जीवन वे जीवन नहीं हैं। मनुष्य जीवनमें ज्ञायकका ध्येय हो और देव–शास्त्र–गुरुका सान्निध्य मिले, उसमें जीवन बीते तो वह सफल जीवन है। बाकी उसके बिना सब जीवन सर्वथा निष्फल, तुच्छ एवं शुष्क है; ऐसा जीवन आदरणीय नहीं है। एक शुद्धात्मा ही आदरणीय है। इसलिये जिस जीवनमें

आत्माका कुछ नहीं किया, शुद्धात्माका ध्येय नहीं रखा, उसकी आराधना नहीं की तथा देव–शास्त्र–गुरुकी महिमा नहीं की वह जीवन निकम्मा है।

पद्मनन्दि आचार्यदेवने कहा है कि वह गृहस्थाश्रम किस कामका? कि जिसमें गुरुके चरण नहीं, गुरुको आहारदान नहीं, जिनेन्द्रदेवके दर्शन नहीं तथा शास्त्र-स्वाध्याय नहीं। उस गृहस्थाश्रमको पानीमें डुबो देना—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं। ४५.

प्रश्न :—*पहले आपने कहा था कि उदासीनरूपसे रहनेका रस आना चाहिये; ज्ञाता–द्रष्टा रहनेमें रस आना चाहिये; तो उसका प्रयोग कैसे हो?*

समाधान :—आत्मा और उसका स्वभाव जो कि निवृत्तस्वरूप है, उसका अपनेको रस होना चाहिये; ऐसा होनेपर आत्मा तद्रूप परिणमन करे तो ऐसी निवृत्त परिणति हो और ज्ञायकका बल बढ़नेसे कर्तापना छूट जाय। 'मैं मात्र उदासीन ज्ञायक हूँ, मैं किसीका कुछ कर नहीं सकता। विभावमें जुड़ जाता हूँ, फिर भी मैं ज्ञायक हूँ। यह विभाव मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो जाननेवाला हूँ, ज्ञातापने रहनेवाला हूँ' इसप्रकार जिसे ज्ञायक स्वभावकी दृढ़ता हो कि 'मैं तो ज्ञायक ही हूँ' अर्थात् ज्ञातापनेका जिसे रस हो वह, और जिसे उदासीन रहनेकी रुचि हो–उदासीनतामें रस हो वह, निवृत्तरूपसे रह सकता है। जीवको अनादिसे कर्ताबुद्धिका इतना अधिक रस लगा है कि मैं करूँ, यह मैंने किया, ऐसा लगता है। उस रसमें उसे ज्ञाता होकर निवृत्त रहना कि मैं कुछ कर नहीं सकता, ऐसा (मानना) कठिन पड़ता है। जिसे ज्ञायकका रस हो, महिमा हो, वह अन्तरकी महिमासे निर्णय करे–श्रद्धा करे तो निवृत्त परिणति प्रगट कर सकता है। जिसे विकल्पके समय भी ज्ञायक रहनेका रस हो, वैसी अन्तरंग ज्ञायककी निवृत्तदशा रुचती हो वह उदासीन रह सकता है। जिसे कर्तृत्वबुद्धि रुचती हो वह उदासीन नहीं रह सकता। उसने विचारसे तो निर्णय किया होता है कि 'मैं कर्ता नहीं हूँ, ज्ञाता हूँ'; परन्तु अन्तरंगसे ज्ञायककी महिमाका रस हो तो उसे ज्ञायककी बारम्बार भावना और जिज्ञासा हो, तब उसे वैसी परिणति प्रगट हो। कुछ करना नहीं, ऐसी निवृत्तदशा जिसे अच्छी लगती हो, रुचती हो वह अन्तरमें रह सकता है। फिर भले ही वह किन्हीं बाह्यकार्योंमें जुड़े तथापि अन्तरसे एकत्वबुद्धि छूट जाती है। इसप्रकारकी निवृत्तमय परिणति ही उसे रुचे तो अन्तरमें प्रवृत्तिमेंसे रस उड़ जाये।

अशुभसे बचनेके लिये शुभभाव आये वह और बात है, परन्तु अन्तरमेंसे आत्माका निवृत्तमय स्वभाव है उसमें आनन्द आना चाहिये। स्वभाव परिणतिमें आनन्द आये, भीतर

रहनेमें रस आये, कर्ता होनेका रस छूट जाय और जाननेवाला रहनेमें रस आये कि मैं तो जाननेवाला–उदासीन ज्ञायक हूँ; परपदार्थका मैं कुछ कर नहीं सकता, उनमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। वह जाननेवाला होनेपर भी अमुक रागके कारण कार्योंमें जुड़ता है, तथापि उसकी मर्यादा होती है। अपनेको भूलकर परमें–विभावमें जुड़ जाय ऐसा नहीं होता। ज्ञायकताकी, उदासीनताकी मर्यादामें ही रहता है।

कर्ताबुद्धिमें जीवको परके साथ इतना अधिक एकत्व हो जाता है कि अपना ज्ञायकत्व भूल जाता है। इसलिये तो आचार्यदेवने सम्पूर्ण कर्ता–कर्म अधिकार अलग लिया है और गुरुदेवने भी कर्ता–कर्म अधिकारका अत्यन्त स्पष्टीकरण किया है।

कर्ताबुद्धिके रसमें 'कुछ नहीं करना' ऐसी श्रद्धा करनी कठिन पड़ती है; उसमें एक ओर बैठ जाना ऐसी बात नहीं है, परन्तु अन्तरसे श्रद्धा पलटनेकी बात है। ४६.

प्रश्न :—*ज्ञानीका ज्ञान निर्विकल्परूपसे कार्य करता है?*

समाधान :—जिस प्रकार श्रद्धा कार्य करती है उसी प्रकार ज्ञान भी सहज कार्य करता है। उसे विकल्प नहीं उठाना पड़ता; श्रद्धा भी पूर्ववत् कार्य करती है और ज्ञानधारा भी वैसी ही निर्विकल्परूपसे कार्य करती है। निर्विकल्प अर्थात् स्वानुभूतिकी निर्विकल्पता है वैसी नहीं, किन्तु उसकी परिणति उस प्रकारकी हो जाती है; अर्थात् उसे रागका विकल्प कर–करके ज्ञातारूपसे रहना पड़े ऐसा नहीं है, परन्तु सहज परिणति है। जैसे एकत्वबुद्धिकी परिणति सहज है, उसे कहीं विकल्प करके नहीं रखनी पड़ती; वैसे ज्ञानीको भी अपना स्वभाव होनेसे ज्ञातापना सहज रहता है। ४७.

प्रश्न :—*पंचमकालमें ऐसे गुरु मिलना कठिन है, महान् सद्भाग्य है कि ऐसे गुरु मिल गये।*

समाधान :—पंचमकालमें सच्चे गुरु मिलना ही कठिन है; उसमें भी इसप्रकार समझानेवाले गुरु मिलना तो विशेष कठिन है। एककी एक बात बारम्बार कितनी बार समझाते थे?—ऐसे गुरुका संयोग अति दुर्लभ है। शास्त्रमें आता है न? कि—कोई व्यक्ति धोबीके वहाँसे वस्त्र लाकर उसे ओढ़कर सो गया। (वस्त्रका मालिक आकर) उसे बारम्बार कहता है कि यह वस्त्र मेरा है, मुझे दे दे, मुझे दे दे, यह मेरा है, इसप्रकार बार–बार कहनेपर उसकी समझमें आता है कि सचमुच यह वस्त्र मेरा नहीं है। उसी प्रकार गुरुदेव बारम्बार कहते

कि 'यह जो ज्ञायक आत्मा है वह तू है, शरीर तू नहीं है, विभाव तू नहीं है; तू आत्मा, ज्ञाता है–कर्ता नहीं। यह शरीर तेरा नहीं है, शरीर तू नहीं है' ऐसा कितनी ही बार कहते तब समझमें आता। गुरुदेवने कितने वर्षोंतक कहा, बारम्बार कहा। ऐसे उपदेश दाता गुरु महाभाग्यसे शिष्योंको मिलते हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि जीव मोहमें स्थित है वह आश्चर्य है! मोहमें तू कैसे रहता है? मोहरहित आत्मा मोहमें खड़ा है यह आश्चर्य है! ४८.

प्रश्न :—*क्या आत्माको पहिचाने बिना राग–द्वेष नहीं छूटते?*

समाधान :—प्रथम स्वभावकी प्रतीति करे तो राग–द्वेष भिन्न पड़ें; उससे पूर्व वास्तविकरूपसे भिन्न किस प्रकार पड़ें? बाह्य वैराग्यपूर्वक उन्हें मंद पाड़े कि यह अच्छे नहीं हैं, यह राग–द्वेष करने योग्य नहीं हैं, तथापि वे वास्तविक भिन्न नहीं पड़ते, स्वभावको पहिचाने तभी ही राग–द्वेष भिन्न पड़ते हैं।

जो पात्र आत्मार्थी हो—जिसे आत्माका प्रयोजन हो—उसे मर्यादा बाहर अर्थात् जो अपनेको शोभा न दे वैसे, कषाय नहीं होते परन्तु कषायकी उपशांतता एवं वैराग्य आदि होते हैं। मुझे आत्माका ही करना है, यह राग–द्वेष कुछ रखने योग्य नहीं हैं, इसप्रकार आत्माका प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये वैराग्य करे तो राग–द्वेष मंद पड़ें, परन्तु भेदज्ञान किये बिना वे भिन्न नहीं पड़ते।

प्रथम तो दृढ़ श्रद्धा (निर्णय) करे कि मैं ज्ञायक–जाननेवाला ही हूँ; शुभाशुभभाव मेरा स्वरूप नहीं है; शरीर और आत्मा भिन्न–भिन्न हैं; यह शरीर कुछ नहीं जानता; मैं अन्तरमें एक जाननेवाला तत्त्व, अनादि–अनन्त शाश्वत हूँ—इसप्रकार उस 'जाननेवाले तत्त्व'का निर्णय बराबर करना चाहिये। यद्यपि उसे अशुभसे बचनेके लिये बीचमें देव–शास्त्र–गुरुकी महिमा आती है, तथापि मुझे एक आत्मा पहिचाननेमें कैसे आये?—वह उसका प्रयोजन होना चाहिये। प्रथम आत्माकी महिमा आनी चाहिये कि यह सब बाह्य वस्तुएँ सारभूत नहीं हैं, सारभूत तो एक आत्मा ही है, ऐसी महिमा–निर्णय अन्तरसे होना चाहिये। पहले एकदम लीनता नहीं होती, पहले श्रद्धा होती है और पीछे लीनता होती है तब राग–द्वेष छूटते हैं। ४९.

प्रश्न :—*भावकर्मका निरोध कैसे हो?*

समाधान :—मूलमें भावकर्म ही कर्म है। भावकर्मके कारण द्रव्यकर्म बँधाता है।

यदि भावकर्मका निरोध हो तो द्रव्यकर्मका निरोध होता ही है। अनादिकालसे वह समस्त कर्मोंके त्यागका प्रयत्न करता है, परन्तु कर्मनाशका जो सच्चा उपाय है उसे ग्रहण नहीं करता। तू बाह्यसे सब कुछ करता रहे उससे कहीं कर्मका नाश नहीं होता, अपितु कर्म बँधते रहते हैं। तू शुभभाव करता रहता है, परन्तु उन शुभभावोंसे कर्मका नाश नहीं होता; पुण्यबंध होता है अर्थात् द्रव्यकर्म तो जैसे के तैसे बँधते ही रहते हैं। जबतक भावकर्मोंका नाश न हो तबतक द्रव्यकर्मोंका नाश होता ही नहीं।

शास्त्रमें आता है न? कि अज्ञानी जितने कर्म लाखों-करोड़ों भवोंमें खपाता है उतने कर्मोंका क्षय ज्ञानी उच्छ्वासमात्रमें करता है। अज्ञानी अशुभमेंसे शुभभावमें स्थित होता है परन्तु उससे तो भावकर्म जैसे के तैसे बने रहते हैं, इसलिये द्रव्यकर्मोंका नाश नहीं होता, उसे यथार्थरूपसे निर्जरा नहीं होती। अशुभभावकी निर्जरा होना वह यथार्थ निर्जरा नहीं है। मात्र शुभभाव करनेसे कर्मोंका आस्रव नहीं रुकता।

अन्तरमें भावकर्मका निरोध कैसे हो?—उसके उपाय हेतु परम गुरुका (सत् पुरुषका) आश्रय लेना। समस्त मोह-राग-द्वेषका क्षय करना हो तो परम गुरुका आश्रय लेना। परम गुरु तुझे मार्ग बतलायेंगे कि भावकर्मका निरोध कैसे होता है? तू अन्तरमें चैतन्यदेवको ग्रहण कर, और यह जो भावकर्मका उद्भव होता है उससे पृथक् हो। यह जो भावकर्म-विभावभाव होते हैं वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उनसे भिन्न ज्ञायक हूँ, ऐसे ज्ञायकदेवको ग्रहण कर तो भावकर्मका निरोध होगा। तू चैतन्यकी परिणति-चैतन्यका कार्य प्रगट कर, तो भावकर्मकी क्रिया तुझसे भिन्न पड़ेगी। भेदज्ञान कर कि मैं भावकर्मसे भिन्न हूँ, चैतन्यके कर्त्ता-कर्म-क्रिया सब मुझमें हैं, भावकर्म मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार उससे पृथक् हो। भावकर्मका निरोध कब होता है? कि जब चैतन्यकी परिणति प्रगट करे तब। यदि ज्ञायकदेवकी परिणति ज्ञायकरूप हो और भावकर्म मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार उससे पृथक् हो तो अनन्तानुबंधीके जो भावकर्म होते हैं वे सब टूट जायेंगे तथा उस प्रकारके द्रव्यकर्म भी टूट जायेंगे। फिर अल्प अस्थिरताके भावकर्म रहेंगे वे भी धीरे-धीरे टूट जायेंगे। इसलिये तू भावकर्मसे पृथक् हो कि उससे 'मैं भिन्न हूँ' अर्थात् भावकर्मसे तू भेदज्ञान कर, उससे भिन्न हो जा। जिसमें तू एकमेक हो गया है उससे पृथक् हो जा, और पृथक् होगा तो वह टूटेगा। भावकर्मका निरोध होनेपर, उसके निमित्तसे जो द्रव्यकर्म बँधते थे वे बँधेंगे ही नहीं; इसलिये भावकर्म कैसे छूटे उसका पुरुषार्थ कर। ज्ञायककी परिणति ज्ञायकरूप कर। और भावकर्मके साथ तेरी

एकत्वकी गाँठ बँध गई है उसे खोल दे, तो वे ढीले पड़ जायेंगे। वे ढीले पड़नेसे अमुक प्रकारके भावकर्म तो आयेंगे ही नहीं, और फिर जो कुछ रहेंगे वे भी छूट जायेंगे। इसलिये तू अन्तरमें चैतन्यदेवको प्रगट कर। भावकर्म तोड़नेका उपाय एक ज्ञायकदेव है। ज्ञायकदेव उठा कि बस! भावकर्म टूट गये। ज्ञायकदेव सर्वप्रकारसे बलवान् है। ज्ञायकदेव यदि जागृत हो तो भावकर्म टूट जाएँ इसलिये ज्ञायकदेवको अन्तरसे प्रगट करनेसे सब मोह-राग-द्वेष चूर-चूर हो जायेंगे। ५०.

प्रश्न :—*ज्ञायकदेवके प्रति अर्पणता किस प्रकार आये?*

समाधान :—द्रव्यको बराबर पहिचाने कि 'मैं चैतन्य शाश्वत अनादि-अनन्त ज्ञायक हूँ' ऐसा ज्ञायकका स्वरूप पहिचानकर उसकी महिमा आये तो उसके प्रति अर्पणता हो जाती है।

जिनेन्द्रदेव जगत्में सर्वोत्कृष्ट हैं। गुरु आत्माकी साधना कर रहे हैं तथा वाणी (उपदेशामृत) बरसाते हैं, और शास्त्र मार्ग दर्शाते हैं, ऐसा जानकर उनकी महिमा जैसी आती है वैसी महिमा आत्माकी आये तो उसके प्रति भी अर्पणता हो जाती है।

ज्ञायक कैसा है!! वह अनन्तगुणोंसे भरपूर कोई अनुपम आश्चर्यकारी तत्त्व है, वह अनादि-अनन्त है, चाहे जितने भव करनेपर भी ज्ञायक आत्मामें विभावका एक अंश भी नहीं घुसा अथवा मलिनता नहीं आयी, ऐसा शाश्वत ज्ञायक आत्मा कोई अद्भुत आश्चर्यकारी है, उसका कोई नाश नहीं कर सकता और नहीं कोई उत्पन्न कर सकता है, स्वानुभूतिमें जिसका ग्रहण होता है, ऐसा आत्मा ज्ञानद्वारा—उसके लक्षण द्वारा—पहिचाना जा सकता है; इसप्रकार आत्मा ही जगत्में सर्वोत्कृष्ट है, ऐसी उसकी महिमा जिसे आये उसे अर्पणता हो जाती है। उसे ऐसा ही लगता है कि मुझे अब ज्ञायकदेवके सिवा अन्य कुछ नहीं चाहिये। इस जगत्में अन्य जो कुछ है वह सारभूत नहीं, तुच्छ है।

मैं अपने ज्ञायकदेवकी पहिचान करूँ, उसे देखता ही रहूँ, उसकी महिमा करूँ, उसका पूजन करूँ, इसप्रकारकी अर्पणता ज्ञायकदेवकी महिमा आये तो हो जाती है।

ज्ञायकदेवकी महिमा आये बिना मुक्तिका मार्ग प्रगट नहीं होता। उसे पहिचान कर, श्रद्धा करके, उसकी लीनता करनेसे स्वानुभूति प्रगट होती है। तदर्थ सर्वत्रसे राग टूटकर विरक्ति आये तभी अन्तरमें प्रवेश कर सकता है।

पूज्य गुरुदेवकी वाणीमें आता है न....कि 'तू परमात्मा है....तू परमात्मा है' ऐसा निर्णय कर। गुरुदेवने जो कहा है वही करना है। ज्ञायकदेवकी महिमा करके उसके द्वारपर चक्कर लगाते रहना। ५१.

प्रश्न :—*ज्ञायकदेवकी कैसी भक्ति आये जिससे ज्ञायकदेव प्रगट हो?*

समाधान :—ज्ञायकका ज्ञान और महिमापूर्वक ज्ञायक....ज्ञायक.....मुझे तो ज्ञायक ही चाहिये! ज्ञायक सिवा अन्य कुछ नहीं चाहिये। ज्ञायककी ऐसी भक्ति अन्तरसे आनी चाहिये।

जागते ज्ञायक, सोते ज्ञायक, खाते-पीते, उठते-बैठते मुझे ज्ञायक ही चाहिये। मुझे ज्ञायकदेवकी महिमा, भक्ति-स्तुति करनी है, ज्ञायकको देखना है, ज्ञायकके दर्शन करने हैं। मैं ज्ञायकको ही देखता रहूँ, ज्ञायकके गुणगान करूँ, ज्ञायककी पूजा करूँ—ऐसी भक्ति हो तो ज्ञायकदेव प्रगट हुए बिना नहीं रहते।

जैसे जिनेन्द्रदेव एवं गुरुको पहिचानकर निर्णय करता है कि यह देव हैं और यह सच्चे गुरु हैं; फिर भगवान्‌के द्वारपर जाये तो उसे यों लगता है कि मुझे भगवान्‌के दर्शन करने हैं, स्तुति-पूजा करनी है; उसी प्रकार गुरुके दर्शन करूँ, गुरुको देखता ही रहूँ, गुरुदेवकी वाणी सुनता रहूँ। परीक्षा करके निर्णय किया हो तो उनके स्तवन-गुणगान करे और देव-गुरु जो कहते हैं उसका आशय समझनेका प्रयत्न करे। उसी प्रकार प्रथम 'यह ज्ञायक ही है' ऐसा लक्षणसे पहिचानकर निर्णय करे और पश्चात् उसकी भक्ति-स्तुति करे तो ज्ञायककी सच्ची भक्ति कही जाय। इसप्रकार ज्ञायकके पीछे लगे तो प्रगट हुए बिना रहता ही नहीं। यह सच्चा भक्तिमार्ग है।

देव-शास्त्र-गुरुकी भक्तिके साथ ही ज्ञायककी भक्ति आनी चाहिये। देव-गुरुकी सच्ची भक्ति किसे कहते हैं? कि जिसमें ज्ञायककी भक्ति साथ हो। अकेली बाह्य भक्ति वह सच्ची भक्ति नहीं है। ज्ञानपूर्वक भक्ति होनी चाहिये। ५२.

प्रश्न :—*ज्ञानीको शुभराग आता है, उसमें उसे खटक लगती है, तो वह शुभरागमें जुड़ता है या नहीं?*

समाधान :—ज्ञानी शुभरागमें जुड़ते हैं, तब भी भेदज्ञान वर्तता है। अपने पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण रागमें जुड़ना हो जाता है, अर्थात् जब अन्तरमें लीन हुआ नहीं

जाता तब शुभरागमें जुड़ते हैं। परन्तु वह शुभराग आता है उसके साथ-साथ भेदज्ञानकी धारा वर्तती है, इसलिये ज्ञायक पृथक् रहता है। ज्ञानी शुभरागमें ऐसे तन्मय नहीं होते कि ज्ञायकको भूल जाएँ! ज्ञायकरूपसे भिन्न रहते हुए शुभराग आता है। यह शुभराग आता है, परन्तु मैं तो भिन्न ही हूँ; वह विभावकी ओरका भाग है और मेरे ज्ञायकका भाग—मेरे निज घरका भाग—उससे पृथक् है। यह शुभराग विभावका घर है, वह मुझसे भिन्न है, ऐसा ज्ञानीको बराबर ज्ञान होनेके कारण रागसे भिन्न रहते हैं, एकत्व नहीं होता और आकुल-व्याकुल भी नहीं होते। दूसरोंकी अपेक्षा उनका उत्साह अधिक दिखाई दे परंतु वे अंतरमें भिन्न ही रहते हैं। उसमें ऐसा एकत्व-तन्मयता नहीं होती कि अपनेको भूल जाएँ। वे भिन्न रहते हैं, तथापि मैं भिन्न हूँ-भिन्न हूँ ऐसा घड़ी-घड़ी विकल्प नहीं करते, किन्तु उनकी धारा ही निराली वर्तती है। ५३.

प्रश्न :—*ज्ञायकके जो संस्कार पड़े हैं वे तो एकबार अवश्य फलेंगे ही?*

समाधान :—गुरुदेवने देशना दी और ज्ञायकके जो संस्कार पड़े हैं वे अन्तरसे नहीं छूटते। अपनी भावना हो तथा उस ओर अपनी परिणति जाती हो—उसे चाहता हो—तो वह उसे प्रगट हुए बिना नहीं रहता। स्वयं ही है, कोई दूसरा नहीं है। परद्रव्यकी इच्छा हो तो वह अपने हाथकी बात नहीं है, परन्तु यह तो स्वद्रव्य स्वयं ही है। स्वयं ही स्वद्रव्यको चाहता हो तो वह प्रगट हुए बिना रहे ही नहीं। एक शुभभाव आये उसमें ऐसा पुण्य बँधता है कि जो उससे पर हैं-बाह्य हैं—ऐसे देव-शास्त्र-गुरु भी मिल जाते हैं, तो फिर अन्तरकी सच्ची भावना हो तो ज्ञायकदेव कैसे न मिले?

सच्ची भावना फलित हुए बिना रहती ही नहीं। हाँ, लौकिक इच्छाकी बात अलग है; वह तो पापकी बात है। तदनुसार बाह्यमें नहीं भी फले। शुभभावमें भी अपना अधिकार तो नहीं है, तथापि बाह्यमें उसका फल आता ही है, तब फिर ज्ञायककी सच्ची भावना फले बिना कैसे रहे?—फलती ही है। ५४.

प्रश्न :—*क्या गुरुदेव सबको परमात्मा ही कहते थे? क्या जीव पामर नहीं है?*

समाधान :—गुरुदेव कहते हैं कि तू परमात्मा है; पामर नहीं है। गुरुदेव सबको भगवान् ही कहते थे। आत्मद्रव्य कहीं पामर नहीं है, पूर्ण भरचक है; इसलिये परमात्मा ही है। और उस परमात्मद्रव्यमेंसे ही परमात्मपना आता है। पामरता है वह तो पर्यायकी अपेक्षा

है। जो भावनाशील हो वह ऐसा कहता है कि हे प्रभु! आपने हमें—पामरको—प्रभु बनाया; तथापि प्रभुता अपनेमें भरी है उसमेंसे प्रभुता प्रगट होती है। ५५.

प्रश्न :—*बाह्यमें कोई देव-शास्त्र-गुरुके प्रति विरोधी बातें करे तो उस समय (मुमुक्षुको) शान्ति कैसे रहे?*

समाधान :—जिसे आत्माका प्रयोजन सिद्ध करना है वह अमुक प्रकारकी मर्यादाके बाहर जाता ही नहीं। उसे विभाव परिणति चाहिये ही नहीं। जिसका प्रयोजन आत्मसिद्धिका है, जिसे आत्माकी लगन लगी है वह आत्मार्थी, जिसे अभी विभाव परिणतिका एकत्वपना छूटा नहीं है तथापि, मर्यादासे बाहर नहीं जाता, और तभी वह आत्माको साध सकता है; आत्मा प्राप्त होता है। अन्यथा आत्मा कहाँसे प्राप्त हो? आत्माका प्रयोजन ही न हो, तो उसे आत्मा कहाँसे प्राप्त हो? अमुक पात्रता तो होनी ही चाहिये। सबको विचार बदलकर शान्ति रखनी चाहिये। ५६.

प्रश्न :—*शरीर काम नहीं करता, यहाँ रह नहीं सकते, तो क्या करें?*

समाधान :—गुरुदेवने बहुत कहा है। आत्माका ही (कार्य) करना है। शरीर कहाँ आत्माका है? रोग-वेदना आत्मामें नहीं हैं, आत्मा उनसे भिन्न है। मैं जाननेवाला हूँ, रोग होता है वह मुझमें नहीं है। शरीरके प्रति राग होनेसे उसमें एकत्वबुद्धिके कारण जुड़ना हो जाता है, परन्तु शान्ति रखना। भेदज्ञानका प्रयत्न करना कि 'मैं जाननेवाला, सदा भिन्न ही हूँ।'

बाह्य उदय आयें वह अपना स्वरूप नहीं है, उनमें शान्ति रखना। गुरुदेवने बतलाया है उस तत्त्वका विचार करना, आत्माका स्वरूप विचारना और देव-शास्त्र-गुरुको हृदयमें रखना। 'मैं ज्ञायक हूँ, रोग भिन्न और मैं भिन्न हूँ।' आकुलता होती है, परन्तु मैं तो आत्मा हूँ, यह रोग मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा विचारकर शान्ति रखना और बारम्बार ज्ञायक आत्माका स्मरण करना। रोग तो शरीरमें आते रहते हैं, वे आत्मामें नहीं आते, वे कहीं आत्माका स्वरूप नहीं हैं। सब उदय आते हैं परन्तु आत्मा तो भिन्न ही है, ऐसा गुरुदेवने कहा है, वे वाक्य याद करना।

सनत्कुमार चक्रवर्तीको भी रोग हुआ था। वे मुनि हुए और अन्तरमें आत्मामें लीन रहते थे। देवोंने कहा कि रोग मिटा दें? स्वयंको लब्धि थी कि अपना ही थूक लगा दें

तो रोग मिट जाय! परन्तु ऐसा नहीं किया। रोग तो किसीको भी आ सकता है, उदय तो उदयका कार्य करेगा, 'मैं' तो ज्ञायक जाननेवाला भिन्न हूँ।

मुमुक्षु :—सत्संगकी इच्छा रहती है, किन्तु बाहर नहीं जा सकते। उलझन हो जाती है।

बहिनश्री :—घरमें रहकर जो हो सके वह करना। घरमें रहते-रहते भी हो सकता है। सत्संगकी-श्रवण करनेकी इच्छा होती है; परन्तु वह पूर्ण न हो तो घरमें रहकर भी हो सकता है—भाव अच्छे रखे जा सकते हैं। घरमें रहकर स्वाध्याय आदि जो हो सके वह करना। शरीर साथ न दे तब वहाँ क्या उपाय? देव-शास्त्र-गुरुके सान्निध्यमें आनेकी इच्छा हो परन्तु आ नहीं सके तब वहाँ क्या उपाय? अन्तर आत्मामें अच्छे विचार करना, कोई उलझन हो तो बारम्बार विचारोंको पलटते रहकर शान्ति रखना। ५७.

प्रश्न :—*अपनेको अनुभव नहीं हुआ है; तो यह कषायकी मन्दता है, आत्मशान्ति नहीं ऐसा भेद कर सकता है?*

समाधान :—भेद कर सकता है। जो सच्चा आत्मार्थी हो जिसे आत्मा ग्रहण करना है वह भेद कर सकता है। यदि भेद पकड़ न सके तो उसकी दृष्टि बराबर नहीं है। जो भेद पकड़ नहीं सकता वह मिथ्या कल्पना करके मन्दकषायमें संतोष मान लेता है। परन्तु जिसे सच्ची जरूरत हो तो उसे मन्दकषायमें सन्तोष नहीं होता। जबतक अन्तरमें शान्ति न हो, अन्तरसे पृथक्ता हुई न भासे और अन्तरमें आकुलता नष्ट न हो तबतक सच्ची शान्ति नहीं आती; तथापि यदि मन्दकषायमें शान्ति मान ले तो उसे यथार्थ जिज्ञासा ही नहीं है। जिसे सच्ची जिज्ञासा हो वह कहीं भूल नहीं खाता और अटकता नहीं है। उसे मन्द कषायमें सन्तोष आता ही नहीं। उसे ऐसा लगता है कि मुझे अभी कुछ प्राप्त हुआ ही नहीं। अन्तरसे जुदी दशा भासित होनी चाहिये वह भासित नहीं होती—जुदी दशा आयी नहीं—उसे सन्तोष आता ही नहीं। यदि संतोष आ जाय और थोड़ेमें बहुत मान ले तो उसके पुरुषार्थकी मर्यादा आ जाती है। सच्चे आत्मार्थीके पुरुषार्थकी मर्यादा आती ही नहीं। उसे ऐसा लगता है कि अन्तरमें अभी करना बाकी है। अभी अन्तरमेंसे पलटकर जो शांति आनी चाहिये सो आयी ही नहीं है, भले मन्दकषाय हो, परन्तु अन्तरमें कुछ भासित ही नहीं होता। शान्ति लगती है, परन्तु आत्माका कोई भिन्न स्वरूप भासित नहीं हुआ (अतः वह शांति यथार्थ नहीं है)।—इसप्रकार सच्चा आत्मार्थी हो वह सन्तोष मानता ही नहीं।

मुमुक्षु :—जिसे अनुभव हुआ हो वह भेद कर सकता है; परन्तु जिसे अनुभव नहीं हुआ वह ठगा नहीं जायगा? उसे तो ऐसा लगेगा कि साक्षात् अनुभव हो गया है।

बहिनश्री :—सच्चे जिज्ञासुको मन्दकषायकी शान्ति हो तथापि अन्तरमें सन्तोष नहीं आता। अन्तरमेंसे जो आकुलता छूटनी चाहिये वह छूटी नहीं है और अन्तरमें कुछ भासित नहीं होता; इसलिये सच्चा आत्मार्थी हो वह ठगा नहीं जाता। उसे तो यही लगता रहता है कि अभी कहीं मेरी भूल हो रही है। मुक्तिके मार्गकी जो बात आचार्य, महापुरुष, ज्ञानी तथा गुरुदेव कहते हैं तथा शास्त्रोंमें आती है—वैसा प्रकार अन्तरमें लगता नहीं है इसलिये उसे सन्तोष नहीं आता। अपनेको अनुभव नहीं है, परन्तु शास्त्रोंमें पढ़ा हो और गुरुसे स्वानुभूति एवं भेदज्ञानकी सब बातें सुनी हों—तदनुसार अन्तरसे उस प्रकारका उल्लास या शान्ति नहीं है; अथवा तो 'मार्ग यही है' ऐसा प्रबल निर्णय आना चाहिये सो नहीं आता, इसलिये मेरी कोई भूल है;—इसप्रकार भेद कर सकता है। सच्चा जिज्ञासु–आत्मार्थी हो वह अल्प पुरुषार्थमें अटक नहीं जाता। उसे ऐसा लगता है कि मन्दकषायमें अटक जाना वह मेरी भूल है, ऐसी खटक उसे बनी ही रहती है, इसलिये वह अटकता ही नहीं। बाकी जिसे थोड़ेमें अधिक मान लेना हो अथवा मैंने शीघ्र कर लिया और अब मुझे प्राप्त हो गया—ऐसी कल्पना करनी हो वह सन्तुष्ट हो जाता है। जो सच्चा शोधक है, जिसे आत्मकार्य ही करना है, आत्माका ही प्रयोजन है वह किसीको दिखानेके लिये या झूठमूठ मनानेके लिये नहीं करता। मुझे तो अपने आत्महितके लिये करना है; यह अनन्तकालका परिभ्रमण कैसे मिटे? अन्तरंगमेंसे सुख प्राप्त कैसे हो? और यह दुःख कैसे मिटे? अनुपम आत्मा कैसे मिले?—ऐसी सच्ची खटक हो वह सन्तुष्ट नहीं होता। परन्तु जिसे बाह्यमें मुझे कुछ करके दिखानेका है ऐसा अन्तरमें प्रयोजन है वह सन्तुष्ट हो जाता है। आकुलता हो और शीघ्र पुरुषार्थ कर लूँ—वैसी अधीरता हो वह संतुष्ट हो जाता है। ठगे जानेके अनेक मार्ग हैं। जिज्ञासा होनेके बाद—कैसे भी करके कार्य न होता हो और अल्प पुरुषार्थ करके 'मुझे तो हो गया!'—ऐसी कल्पना कर ले तो वह कोई मार्ग नहीं है।

मन्दकषायमें उसे शांति....शांति लगे; परन्तु एकत्वबुद्धि नहीं टूटी, अन्तरमेंसे जो भिन्न भास्यमान होना चाहिये वह नहीं होता और ज्ञायक हाथमें आया नहीं है तो उस ओर जानेके लिये यथार्थ मार्ग नहीं मिला है। विकल्प मन्द हो जायें तो ऐसा लगता है मानो विकल्प

छूट गये हैं, परन्तु अंतरमें सूक्ष्मतासे देखे तो विकल्प मन्द हुए हैं, उनसे पृथक् नहीं हुआ है। आत्माके अस्तित्वके ग्रहणपूर्वक शान्ति प्रगट होनी चाहिये; वह तो प्रगट हुई नहीं है और उसके साथ जो विकल्प छूटने चाहिये वे तो किंचित् छूटे नहीं हैं; इसलिये मार्ग उसके हाथ नहीं आया है।

सच्चा आत्मार्थी हो तो सन्तुष्ट नहीं हो जाता; क्योंकि अन्तरमें आत्मा भास्यमान होकर, यह आत्मा और यह मेरा स्वरूप जैसा है वह आना चाहिये सो नहीं आता, इसलिये वह सन्तुष्ट नहीं होता, अटकता नहीं। यह मार्ग किसको दिखानेका नहीं है, ऐसा उसे अन्तरमेंसे आना चाहिये। आत्मार्थीकी दृष्टि अन्तरमें ही फिरा करती है, यह तो मेरे ही लिये है, यह कहाँ किसी औरके लिये है? यदि मैं कहीं अटक गया तो जन्म-मरण खड़े हैं—इसप्रकार वह भवभीरु है। ५८.

प्रश्न :—*हमेशा कहा जाता है कि रुचि खूब बढ़ाना, ज्ञानके क्षयोपशमकी बहुत आवश्यकता नहीं है; तो रुचि कैसे बढ़ायी जाय?*

समाधान :—स्वयं पुरुषार्थपूर्वक करे तो रुचि वृद्धिगत हो। वह तो स्वयंको करनेका रहता है। उसे अन्यत्र कहीं विश्रान्ति या शान्ति नहीं लगती हो तो आत्माकी ओर झुके बिना नहीं रहता। अशुभभावमें तो विश्रान्ति है नहीं, किन्तु शुभभावोंमें भी विश्रान्ति नहीं है; वे आकुलतारूप हैं—इसप्रकार कहीं विश्रान्ति न लगे तो 'आत्मा' विश्रामस्थान है उस ओर मुड़े बिना नहीं रहता। परन्तु वह चारों ओर बाह्यमें अटक जाता है इसलिये उसे भीतर जाना मुश्किल पड़ता है।

मुमुक्षु :—अनुभवके पूर्व अन्तरमें हठपूर्वक जाना होता है या सहजतासे जाना होता है?

बहिनश्री :—अन्तरमें हठपूर्वक जाया नहीं जाता। ज्ञानीकी सहजदशा है उनकी बात तो अलग है, तथापि जिज्ञासु भी अन्तरमें कोई जबरदस्तीसे नहीं जाता। अन्तरमें अपनेको रुचता है, अच्छा लगता है इसलिये जाता है, उसे हठात् नहीं करना पड़ता। जिज्ञासुको बाह्यमें कहीं रुचता नहीं है, इसलिये स्वयं अपने चैतन्यको ढूँढ़े बिना नहीं रहता। अर्थात् उसके आश्रयभूत जो चैतन्यकी भूमि है उसे ढूँढ़े बिना रहता ही नहीं। चैतन्यकी भूमिमें जाऊँ तो शांति मिलेगी, ऐसा विश्वास होनेसे उसे जबरन् करना पड़े ऐसा नहीं है। परन्तु स्वयंकी रुचि ही स्वयंको उस ओर ले जाती है। ५९.

प्रश्न :—*शुभमें भी है तो आकुलता; तथापि जीवको शुभमें शान्ति लगती है इसलिये उसमें रुक जाता है, तो क्या करना?*

समाधान :—अज्ञानीको शुभभावमें शान्ति लगती है इसलिये वहाँ रुक जाता है, परन्तु वह वास्तविक शान्ति है ही नहीं। भीतर सूक्ष्मतासे विचार करे तो एकके बाद एक विकल्पोंकी घटमाल चलती रहती है उसमें अशान्ति है, सुख नहीं। सुख तो उसका नाम कि जो सहजरूपसे अन्तरसे प्रगट होता ही रहे। उसे कहीं कृत्रिमतासे नहीं लाना पड़ता, परन्तु भीतर सहजतत्त्वमें है उसमेंसे आता ही रहता है। जैसे बर्फमेंसे ठंडक अपने आप आती ही रहती है उसी प्रकार अपनेमेंसे शांति–आनंद आते ही रहते हैं, लाने नहीं पड़ते।

मुमुक्षु :—बर्फको छूनेपर ठंडक अनुभवमें आ जाती है। इसमें (सहजतत्त्वमें) जो आनन्द भरा है उसका स्वाद अनुभव पूर्व कैसे आये?

बहिनश्री :—पहले ज्ञानद्वारा निर्णय करे। पहले स्वानुभव नहीं होता; पहले आगम, युक्ति और परीक्षा करके लक्षणको पहिचानकर निर्णय करे। स्वयं लक्षण–युक्तिसे निर्णय करके आगे बढ़ता है। पहले अनुभवमें कहाँसे आये? (—नहीं आता।)

मुमुक्षु :—अनुभवसे पूर्व भी पक्का निर्णय हो जाता है कि यही मेरा उपादेय तत्त्व है?

बहिनश्री :—हाँ, पहले पक्का निर्णय हो जाता है कि यही मेरा उपादेयतत्त्व है। उसमें आनन्द है, अनन्त शक्ति और विभूति भरी है। भले अनुभव नहीं है, तथापि पहले निर्णय होता है। ६०.

प्रश्न :—*मुनिराजकी अलौकिकदशाके सम्बन्धमें कुछ कहिये!*

समाधान :—मुनिराज बारम्बार अन्तरस्वरूपमें आनन्द करते रहते हैं। वे वनमें वास करते हैं तथापि वन सम्बन्धी कोई लक्ष्य नहीं होता, एक आत्माको ही देखते हैं। छठ्ठे–सातवें गुणस्थानमें झूलनेवाले और अन्तर्मुहूर्तमें अन्तरस्वरूपमें जानेवाले मुनिराज अकेले चैतन्यमय ही हैं। चैतन्यमें ही निवास करनेवाले ऐसे उन मुनिराजको आहारका या बाहरका कोई लक्ष्य ही नहीं है तथा शरीरकी ओरका भी कोई लक्ष्य नहीं है। वे तो एक चैतन्यमय ही हो गये हैं। मात्र केवलज्ञान नहीं हुआ इतना ही है, बाकी तो वे चैतन्यमय ही हो गये हैं। निद्रा भी अल्प हो गई है। उनका जीवन निरन्तर चैतन्यमय ही हो गया है। जैसे भगवान्

सदा जागृत हैं वैसे ही मुनिराजको जागृतमय दशा हो गई है। जागृत रहते-रहते अर्थात् चैतन्यमय रहते-रहते श्रेणि चढ़कर शाश्वत ऐसी केवलज्ञानदशा प्राप्त करते हैं। फिर चैतन्यमेंसे बाहर आते ही नहीं। मुनिदशामें बाहर आते और अन्तरमें जाते हैं, तथापि जीवन चैतन्यमय ही है, चैतन्यमें ही उनका निवास है, वही निवासस्थान है, आसन भी वह है और भोजन भी वह है—सब कुछ एक आत्मामय ही है। उन्हें बाह्य भोजनकी भी दरकार नहीं है और इसलिये कितने ही नियम लेकर बाहर भोजन लेने जाते हैं कि इसप्रकार भोजन मिले तो लेना, नहीं तो भोजन नहीं लेना। इसप्रकार भोजनकी ओर लक्ष्य नहीं है। तथा उपसर्ग-परीषह आनेपर शरीरको कुछ भी हो तथापि उसका ध्यान ही नहीं है, ऐसी मुनिराजकी अलौकिक दशा है! बाह्य क्रियाओंका विकल्प-शुभभाव आता है मगर जीवन तो केवल आत्मामय ही है। ६१.

प्रश्न :—*अशुद्धता अपनेसे होती है, परन्तु द्रव्य तो शुद्ध ही है, फिर शुद्धतामेंसे अशुद्धता कैसे आती है?*

समाधान :—शुद्धतामेंसे अशुद्धता नहीं आती, परन्तु पर्यायमें अशुद्धता होनेकी उसकी योग्यता है इसलिये अशुद्धता हुई है, उसमें परद्रव्य निमित्त है और उपादान अपना है। जीवकी अशुद्धतारूप परिणमित होनेकी योग्यता है और उसकी दृष्टि परकी ओर जाती है इसलिये विभाव होता है। द्रव्यमें शुद्धता होनेपर भी उसमें (पर्यायमें) अशुद्धता होनेकी योग्यता है इसलिये होती है। ६२.

प्रश्न :—*आपने कहा है कि विकल्पोंसे अपनेको अलग करना। तो क्या मैं बार-बार ऐसा विचार करता रहूँ कि राग मुझमें नहीं है?*

समाधान :—बार-बार विचार नहीं, अन्तरसे श्रद्धा करना कि 'मैं रागसे भिन्न हूँ।' रागमें एकत्वबुद्धि चल रही है उसे तोड़ना, तोड़नेका अभ्यास करना। फिर उसे रटना नहीं पड़ता। 'मैं शरीर हूँ, मैं विकल्प हूँ' ऐसी जो एकत्वबुद्धि निरन्तर चल रही है उसको तोड़नेका अभ्यास करना।

मुमुक्षु :—एकत्वबुद्धि तोड़नेका अभ्यास करनेके लिये मुख्य उपाय क्या है?

बहिनश्री :—आत्माकी रुचि-महिमा करना। स्वभावकी महिमा आये, बाह्यमें सुख-चैन न लगे और भीतर ही चैन लगे वह उपाय है। मैं चैतन्यको कैसे पहिचानूँ? उसकी

महिमा कैसे हो ?—इसप्रकार बारम्बार स्वभावको पहिचानना। जैसे बाह्यमें वस्तु देखनेमें आती है वैसे मैं चैतन्यको देखूँ, इसप्रकार चैतन्यको पहिचाननेका बारम्बार अभ्यास करना। अनादिसे परमें एकत्वबुद्धि हो रही है, खाते-पीते भी एकत्वबुद्धि बनी रहती है किन्तु तब भी भिन्न करनेका अभ्यास करना। यदि चैतन्यकी महिमा आये, तो यह अभ्यास होवे। यह अभ्यास निरन्तर करते रहना। ६३.

प्रश्न :—*हम ध्यान करने बैठें तो हमें कैसा चिन्तवन करना चाहिये ? कोई उपाय बतलाईये।*

समाधान :—सर्व प्रथम ज्ञायकका यथार्थ ज्ञान करना कि ज्ञायक कैसा है ? द्रव्य कैसा है ? गुण कैसा है ? पर्याय कैसी है ? यह वर्ण-गंध-स्पर्शादि हैं वह पुद्गलद्रव्य हैं, वे अलग हैं और मैं चेतनद्रव्य भिन्न हूँ।—इसप्रकार पहले यथार्थ ज्ञान करना, फिर यथार्थ ध्यान होता है। 'मैं चैतन्य हूँ' उसका अस्तित्व ग्रहण करनेके बाद ध्यान होता है। यथार्थ ज्ञान हुए बिना यथार्थ ध्यान होता ही नहीं। पहले यथार्थ ज्ञान करना। गुरुदेवने जो मार्ग बतलाया है उसका यथार्थ ज्ञान करना। मोक्षका मार्ग कैसा है ? वह कैसे प्राप्त होता है ? कैसा स्वभाव है ? कैसे मैं निर्मल हूँ ? ये विभाव क्या हैं ? मोक्षस्वरूप आत्मा कैसा है ?—यह सब पहले पहिचान करके पीछे ध्यान करना। तो ध्यान यथार्थ हो। ज्ञानके बिना ध्यान जमता नहीं। ६४.

प्रश्न :—*पुद्गलका परिणमन प्रतिक्षण स्वयं ही हो रहा है, फिर भी यह बात ज्ञानमें क्यों नहीं आती ?*

समाधान :—अनादिकालसे भ्रम हो रहा है, इसलिये यह सब पुद्गलका परिणमन स्वयं ही हो रहा है वह ज्ञानमें कैसे आये ? अनादिसे संकल्प-विकल्पपूर्वक उन सबमें एकत्वबुद्धि हो रही है तो यथार्थ बात कहाँसे बैठे ? अब समझ यथार्थ करके बिठाना कि यह सब पुद्गलका परिणमन है और मैं चैतन्य हूँ। इस शरीरका और बाहरका जो भी परिणमन है वह पुद्गलका है। रोग आता है वह भी पुद्गलका परिणमन है, वह आत्माका परिणमन नहीं—ऐसे यथार्थ श्रद्धा करके बातको बिठाना। अनादिका अभ्यास है और एकत्वबुद्धि ऐसी जोरदार हो रही है कि यह बात नहीं बैठती। बारम्बार अभ्यास करे तभी यथार्थ बात बैठती है। ६५.

प्रश्न :—*इन्द्रियसुख दुःखरूप है तो जैसे शरीरमें सुईके चुभनेसे दुःख महसूस होता है, वैसे ही इन्द्रियसुख भोगते हुए वे दुःखरूप क्यों नहीं लगते?*

समाधान :—उसको यथार्थ ज्ञान नहीं है और बुद्धिका भ्रम हो गया है इसलिये दुःख महसूस नहीं होता; नहीं तो इन्द्रियसुख आकुलतारूप है। इन्द्रियसुखवाले आकुलतामें पड़े हैं; उसमें आकुलता–दुःख है; परन्तु बुद्धिका भ्रम होनेसे कल्पना करके उन सब पदार्थोंमें सुख मान लिया है। अन्तरमें विचार करे तो वह दुःखरूप–आकुलतारूप है। स्वभावसे विपरीत सर्व विभावदशा दुःखरूप है, उसमें आकुलताका वेदन है; कल्पनासे उसमें सुख लगता है; परन्तु विचार करे तो वह दुःख ही है।

कभी ऐसा लगता है कि इसमें सुख है, किन्तु वास्तवमें वह सब दुःखरूप है। स्वर्गमें सुख और नरकमें दुःख है ऐसा दिखायी देता है, किन्तु देवलोकमें भी अन्तरमें तो आकुलता है, और आकुलता ही दुःख है। मूल दुःख तो आकुलताका है। देवोंको अन्तरमें जो संकल्प–विकल्प होता है वह सब आकुलता–दुःख है। स्वाधीन सुख उसे कहा जाता है जिसमें परपदार्थोंके आश्रयकी जरूरत न हो, जो स्वके–चैतन्यके आश्रयसे प्रगट हो और जो स्वतःसिद्ध प्रगट हो वही सच्चा सुख है। सुख तो आत्माका स्वभाव है। जिसमें परपदार्थोंकी, इन्द्रियोंकी आवश्यकता हो तथा परके आश्रयकी जरूरत हो वह सुख ही नहीं। जो पराधीनता है वह सुख नहीं, दुःख है। ''पराधीन सपनेहु सुख नहीं''—गुरुदेव कहते हैं कि 'जो चैतन्यके आश्रयसे प्रगट होता है वह स्वाधीन सुख ही यथार्थ सुख है।' ६६.

प्रश्न :—*कषाय और ज्ञानकी भिन्नता किस प्रकार हो? वह कृपया बतलाइये।*

समाधान :—कषाय और ज्ञानकी भिन्नता उन दोनोंका स्वभाव पहिचाननेपर होती है। कषाय तथा ज्ञानका स्वभाव भिन्न है। कषाय आकुलतारूप, दुःखरूप तथा क्लेशरूप है; वह शान्तिरूप नहीं है किन्तु अशान्तिरूप है। जब कि ज्ञान शान्तिरूप है, निराकुल है, जाननेवाला है।—इसप्रकार दोनोंके लक्षण भिन्न जाननेपर कषायसे पृथक् हुआ जाता है। आत्मा जाननेवाला ज्ञायक है और कषाय अशान्तिमय एवं क्लेशरूप है।—इसप्रकार दोनोंके स्वभाव भिन्न हैं। उनमें जो ज्ञानस्वभाव है सो मैं हूँ; यह कषाय मैं नहीं हूँ, वह मेरा स्वभाव नहीं है;—ऐसा जानकर ज्ञायकको ग्रहण करना और कषायसे पृथक् होना अर्थात् भेदज्ञान करके ज्ञायकको ग्रहण करना तथा ज्ञायकपर दृष्टि करके, उसका ज्ञान करके कषायसे भिन्न होना। वह न हो तबतक बारम्बार न्यारा होनेका प्रयत्न करे, कषायसे विमुख हो, ज्ञानकी

महिमा आये और ज्ञानको पहिचाने तब भेदज्ञान होता है; ज्ञानस्वभावको पहिचाने बिना भेदज्ञान हो नहीं सकता।

मुमुक्षु :—ज्ञान और कषाय मिश्रित हो गये हों ऐसा लगता है।

बहिनश्री :—वे एकमेक लगते हैं परन्तु उनके स्वभाव भिन्न हैं। अनादिसे एकत्वबुद्धि है, इसलिये कषाय एकरूप लगते हैं; परन्तु ज्ञानस्वभाव उनसे भिन्न है। ज्ञान जाननेवाला है; और कषाय दुःखरूप हैं, कुछ जानते नहीं हैं; कषायको ज्ञान नहीं है इसलिये कषायसे जाननेवाला भिन्न है। आकुलता हुई, राग हुआ, द्वेष हुआ, विकल्प हुए, उनका जाननेवाला भिन्न है। विकल्प, विकल्पको नहीं जानता। राग, रागको नहीं जानता; परंतु उनको जाननेवाला तत्त्व है वह भिन्न है।—इसप्रकार जाननेवाला भिन्न है और कषायभाव जो कि जानते नहीं हैं वे भिन्न हैं। ६७.

प्रश्न :—*सम्यग्दर्शनका विषय क्या है और वह कैसे प्रगट होता है? तथा मुक्तिका क्या उपाय है?*

समाधान :—सम्यग्दर्शनका विषय शाश्वत आत्मा, अचलभाव है। उसे ग्रहण करनेसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। पर्यायें तो सब पलटती रहती हैं। अन्तरमें आत्माको पहिचानना। शाश्वत आत्माको पहिचानकर, भेदज्ञानकी धारा ज्यों की त्यों बनाये रखकर, 'मैं यह चैतन्य हूँ, विभाव मुझसे भिन्न हैं, वे आत्माका मूल स्वरूप नहीं हैं, क्षयोपशमभाव भी अधूरी पर्याय है' ऐसा निर्णय करके एक पूर्ण शाश्वत आत्मा जो कि नित्य अचल है उसे ग्रहण करना। ज्ञान सबका होता है कि यह स्वभाव है, यह विभाव है, परन्तु दृष्टि तो एक आत्मापर रखनी। भेदज्ञानकी धारा प्रतिक्षण अन्तरमें प्रगट हो और ज्ञाताधाराकी उग्रता हो तो विकल्प टूटकर निर्विकल्प स्वानुभूति होती है। स्वानुभूति ही मुक्तिका मार्ग है। अन्तरमें आत्माका कोई अनुपम स्वभाव है। उसका वेदन आये और स्वानुभूतिमें वृद्धि हो, लीनता बढ़ती जाय तो भूमिका भी वृद्धिगत होती जाती है। वस्तुतः करनेका तो यह है, परन्तु उससे पूर्व तत्त्वविचार, शास्त्राभ्यास, देव–शास्त्र–गुरुकी महिमा आदि आते हैं और वे सब एक आत्माको पहिचाननेके लिये हैं। आत्मा कैसे ग्रहण हो?—ऐसी भेदज्ञानकी धारा बारम्बार प्रगट करनी चाहिये। पहले वह भेदज्ञान भावनारूप होता है, फिर उसकी सहजधारा प्रगट हो तो विकल्प टूटकर निर्विकल्पदशा प्रगट होनेका प्रसंग आता है। जो अचल शाश्वत भाव है वही 'मैं' हूँ।—इसप्रकार अन्तरमें द्रव्यपर दृष्टि होनी वही मुक्तिका मार्ग है।

जीवने कई बार क्रियाएँ की हैं, शुभभाव किये हैं, उनसे पुण्यबंध होता है, स्वर्गलोक मिलता है, परन्तु भवका अभाव नहीं होता। विकल्प टूटकर अन्तरमें स्वानुभूति हो तो भवका अभाव हो और वही मुक्तिका मार्ग है। उस हेतु वर्तमानमें भेदज्ञानकी धारा प्रगट हो तो स्वानुभूतिका प्रसंग आता है। ज्ञान आत्मामेंसे प्रगट होता है, दर्शन आत्मामेंसे प्रगट होता है और चारित्र भी आत्मामेंसे प्रगट होता है इसलिये वे आत्मस्वभाव हैं; परन्तु शुभभाव आत्माका मूल स्वभाव नहीं है, इसलिये दृष्टि उसे हेय मानती है। जब कि ज्ञान सबको जानता है। बीचमें अपूर्ण पर्याय आये, शुभभाव आयें उन्हें ज्ञान जानता है, और केवलज्ञान न हो तबतक भेदज्ञानकी धारा वर्तती ही है।

स्वानुभूति बढ़ जाय तो उसे मुनिदशा आती है। मुनिदशामें बारम्बार आत्मामें लीनता होती है। ऐसा करते-करते इतनी स्थिरता बढ़ जाती है कि पूर्ण वीतरागदशा एवं केवलज्ञान प्रगट होते हैं। अनादिकालसे ऐसी भ्रमबुद्धि है कि मैं परका कर सकता हूँ, परन्तु वह दूसरेका कर नहीं सकता। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय हैं उनमें द्रव्य-गुण तो शाश्वत हैं और पर्याय पलटती है। तो वह अपनी पर्यायको बदल सकता है, अर्थात् विभावपर्यायमेंसे स्वभावपर्याय प्रगट कर सकता है, परन्तु अन्य किसीका तो कुछ पलटा नहीं सकता। मात्र अज्ञानतासे कर्ताबुद्धि करता है कि यह मैं करता हूँ। विकल्प भी अपना स्वभाव नहीं है, तथापि अज्ञानदशाके कारण उसमें जुड़ता रहता है। यदि भेदज्ञानकी धारा प्रगट हो तो स्वसन्मुख हो और स्वानुभूति प्रगट हो। वस्तुतः तो यही करनेका है। गुरुदेवने अत्यन्त स्पष्टतासे मार्ग समझाया है। शास्त्रोंके सब मर्म गुरुदेवने खोल दिये हैं। ६८.

प्रश्न :—*आत्माकी निर्विकल्पदशा प्रगट करनेके लिये क्या आवश्यक है और वह कैसी होती है? वह कृपया समझायें।*

समाधान :—निर्विकल्पदशाके लिये उग्र पुरुषार्थकी ही आवश्यकता है। एक ही मार्ग है कि—तू अपने स्वभावकी ओर जा। बारम्बार भेदज्ञान करनेसे सहजदशा होती है तब विकल्प टूटकर उपयोग अन्तरमें जम जाता है। वह ऐसा जमता है कि बाहरका सब कुछ भूल जाता है। यह शरीर है या नहीं, विकल्प हैं या नहीं वह कुछ नहीं रहता। वह तो किसी दूसरी ही दुनियामें प्रवेश कर गया है—आत्माकी कोई निराली ही दुनियामें आ गया है। ऐसी दशाको अनुभूति कहा जाता है। आत्माका स्वरूप ही कोई अद्भुत है, किसीके साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती। ऐसा जो मूल अचल भाव है उसमेंसे प्रगट होनेवाले

आनन्द, ज्ञानादि सहज भावोंका अनुभव कोई और ही प्रकारका होता है। अनुभव होनेपर उसे लगता है कि ऐसा तो किसी दिन नहीं हुआ था! ऐसी अपूर्वता लगती है कि अहो! आत्माका स्वरूप कोई अद्भुत ही है! अन्तरमें अनुभूति प्रगट हो तब आत्मामें श्रद्धाका बल कोई और ही आ जाता है। पूरी दिशा ही बदल जाती है। ६९.

प्रश्न :—*आत्माकी शोधमें अनेक जप-तप-ध्यान-पठन किये, किन्तु 'समयसार' पढ़कर तो ऐसा लगा कि यह मार्ग अलग ही है।*

समाधान :—कुन्दकुन्दाचार्यदेव जागे और इस 'समयसार'की रचना की। उनका यह एक 'समयसार' बस है! उसमें एक आत्मा-आत्माकी ही बात आती है। गुरुदेवने उसके भावोंको स्पष्ट करके मुक्तिके मार्गको सँभाल रखा है। इस पंचमकालके जीव समझते नहीं हैं और अन्य धर्ममें आकर्षित हो जाते हैं; परन्तु जैनमें सब कुछ है, जैनमें पूर्ण-यथार्थ स्वानुभूति भरी है।

कुन्दकुन्दाचार्यदेवने 'समयसार'में कहा है कि बद्धस्पृष्टभाव ऊपर तैरते हैं, तेरे अन्तरमें प्रवेश नहीं करते। एक शाश्वत आत्मा है वही भूतार्थ है। 'समयसार'में स्वानुभूतिकी कितनी महिमा आती है! परन्तु उसका मर्म तो गुरुदेवने बाहर निकाला है। 'समयसार'में तो हीरे पड़े हैं, परन्तु उन हीरोंकी पहिचान करानेवाले गुरुदेव थे।

आत्मामें अनन्तभाव भरे हैं, उनकी चर्चा करते हुए पार नहीं आता। आत्मा एक, परन्तु उसके भाव अनन्त; मुक्तिमार्ग भी एक ही है। संक्षेपमें कहें तो एकमें सब आ जाता है और विस्तार करो तो जिनका पार न आये उतने अनन्त-अनन्त-अनन्त भाव हैं। शब्द संख्यात हैं किन्तु आत्माके भाव अनन्त हैं। शब्द अनन्त नहीं होते किन्तु भाव अनन्त होते हैं।

देव सागरोपमकाल पर्यंत चर्चा करते हैं उसमें अनन्त भाव निकलते ही रहते हैं। चर्चा करते-करते उन्हें तृप्ति नहीं होती। सागरोपमकाल तक चर्चा करें तथापि आत्माके अनन्त भाव पूरे नहीं होते। गुरुदेव जब बोलते हैं तब और ही कुछ भाव कहते हों ऐसा लगता है, तब भगवान्‌की वाणीका तो कहना ही क्या!! यह चैतन्यदेव अनन्त गुणरत्नाकरसे भरा है। जिसके अनन्तगुणोंका पार नहीं आता ऐसे चैतन्यरत्नाकरदेवकी तो बात ही क्या करनी! वह जगत्‌से निराला है और स्वानुभूति हो तब अनुभवमें आता है। ७०.

प्रश्न :—*ज्ञानीकी अन्तरंग दृष्टिपूर्वक बहिरंग स्थिति कैसी होती है?*

समाधान :—ज्ञानीकी अन्तरंग परिणतिमें—जो-जो परिणाम आते हैं उनका—वह ज्ञाता रहता है। क्षण-क्षणमें ज्ञायकको याद नहीं करना पड़ता; परन्तु मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ, ऐसा सहज ही बना रहता है। जैसे अज्ञानीको सहज ही संकल्प-विकल्प होते हैं वैसे ही ज्ञानीको ज्ञाताधारा सहज हो गई है। जैसे अज्ञानदशामें संकल्प-विकल्प क्षण-क्षण आये बिना नहीं रहते उसी प्रकार ज्ञानीको ज्ञाताधारा सहज ही चलती रहती है कि मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ। उसको अंशरूप समाधि, शान्ति, ज्ञाताधारा चल रही है, इसलिये कर्तावुद्धि छूट गई है। जो भी कार्य होता है उसका कर्ता मैं नहीं हूँ, मैं तो जाननेवाला ज्ञाता हूँ—ऐसा सहज परिणमन ज्ञानीको रहता है।

शरीरकी जो क्रियाएँ होती हैं वे परद्रव्यकी हैं, मेरी नहीं हैं, तथा अस्थिरतासे अर्थात् पुरुषार्थकी कमजोरीसे जो विकल्प आते हैं वह मेरा स्वभाव नहीं है—ऐसी ज्ञायककी धारा ज्ञानीको सहज चलती रहती है। खाते-पीते, चलते-फिरते—प्रत्येक क्रियामें—प्रतिक्षण ज्ञाताधारा चल रही है। ज्ञायक.....ज्ञायक.....ऐसा सहज वेदन होता रहता है। अज्ञानीको संकल्प-विकल्प सहज बने रहते हैं, वैसे ही ज्ञानीको ज्ञाताधारा सहज चलती है और कभी-कभी निर्विकल्पदशा आ जाती है।

ज्ञानीका उपयोग निरन्तर स्वानुभूतिमें नहीं रहता। जब उपयोग बाहर आता है तब देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा, शास्त्र-स्वाध्याय, पूजा, भक्ति, श्रुतका चिंतवन ऐसे शुभ विकल्प आते हैं। ज्ञानी जानते हैं कि यह जो विकल्प हैं वह शुभभाव है वह मैं नहीं हूँ, मैं तो उनका ज्ञाता-जाननेवाला हूँ, ऐसा सहज रहता है। जिनेन्द्रदेवकी भक्ति आती है उसी समय ज्ञाताधारा सहज चलती रहती है, इसलिये उसमें तन्मय-एकत्व होकर वह क्रिया नहीं होती; प्रत्येक कार्यमें न्यारापन रहता है।

श्री पद्मनंदिआचार्यने भक्ति अधिकारमें कितने श्लोकोंकी रचना की है? तथापि परिणति तो न्यारी की न्यारी रहती है। गुरुकी भक्ति, सेवा होती है, परन्तु परिणति तो उससे भी न्यारी ही रहती है; क्योंकि अन्तरमें ज्ञायककी धारा चलती है। गृहस्थदशामें उग्र लीनता नहीं रहती, पश्चात् उग्र लीनता हो जाय तो मुनिदशा आ जाती है। पुरुषार्थ कम हो तो लीनता भी कम होती है, परन्तु ज्ञायककी धारा तो चलती ही है। सम्यग्दर्शन होते ही स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हुआ और अनन्तानुबंधी कषाय छूट गये। स्वरूपाचरण चारित्र होनेपर अंशतः शान्ति, ज्ञाताधारा एवं मुक्तिका मार्ग प्रगट होता है। ७१.

प्रश्न :—*सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें श्रद्धारूप अनुभव होता है या वेदनरूप अनुभव होता है?*

समाधान :—सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें मात्र श्रद्धारूप अनुभव होता हो ऐसा नहीं है। ज्ञायककी जो धारा चलती है वह श्रद्धारूपसे ही रहती है ऐसा नहीं; लेकिन अंशरूप वेदन होता है। जैसे सर्व अज्ञानीयोंको राग-द्वेषका वेदन रहता है, उसी प्रकार ज्ञानीको ज्ञायक-चैतन्यका वेदन रहता है। 'जैनधर्म सच्चा है' ऐसी विकल्पमें श्रद्धा कर ली, ऐसा ज्ञानीको नहीं होता है, 'मैं चैतन्य हूँ' ऐसा अंशरूपसे वेदन होता है। वह ज्ञायकको भूल नहीं जाता, उसे चैतन्य-ज्ञायकका वेदन रहता है, पश्चात् कभी-कभी विकल्पके टूट जानेपर निर्विकल्प स्वानुभूति होती है। ज्ञानीको चैतन्यका प्रत्यक्ष वेदन है। सम्यग्ज्ञान वेदनकी अपेक्षासे प्रत्यक्ष है, लेकिन पूर्ण केवलज्ञानकी अपेक्षासे परोक्ष है; केवलज्ञानीका ज्ञान प्रत्यक्ष है, सम्यग्दृष्टिका ज्ञान परोक्ष है; तथापि वेदन तो प्रत्यक्ष है। चैतन्यका जैसा स्वरूप है तदनुसार अनन्तगुणोंकी सर्व शुद्धपर्यायोंका अपूर्व वेदन होता है। चैतन्यके आनन्दका ऐसा अनुपम वेदन होता है जो अनन्तकालमें अब तक नहीं हुआ। उस आनन्दकी तुलना जगत्के किसी पदार्थसे नहीं हो सकती, ऐसा चैतन्यके आनन्दका अनुपम स्वाद आता है। आत्मामेंसे प्रगट हुआ ज्ञान, शुद्धरूप अनन्त पर्याय-परिणति यह सब वेदनमें आता है और जब विकल्प आता है तब भी भेदज्ञानकी-ज्ञायककी धारा तो चलती ही रहती है।

ज्ञायककी अंशरूप समाधि, सुख एवं आंशिक वेदन विकल्पके साथ भी रहता है तथा स्वानुभूतिमें अनुपम आनन्दादि पर्यायोंका वेदन होता है। जैसा सिद्ध भगवान्का आनन्द है वैसा आंशिक आनन्द सम्यग्दृष्टिको प्रगट होता है और साथ ही विकल्प भी आते हैं। आंशिक आनन्द गृहस्थदशामें भी रहता है। ज्ञानीने श्रद्धा कर ली, ऐसे मात्र श्रद्धारूप वेदन नहीं, किन्तु परिणमनरूप वेदन भी होता है। ७२.

प्रश्न :—*उदय आये तब क्या करना?*

समाधान :—उदयके आगे कोई उपाय नहीं है, (उसे कोई टाल नहीं सकता) इसलिये शान्ति रखना, समाधान करना।

मुनिको रोग हुआ। किसी देवने कहा कि आपका रोग मिटा दूँ। तो मुनिराज बोले कि जो उदय आना हो वह भले आये। सनत्कुमार चक्रवर्ती मुनिदशामें जब आत्मसाधना कर रहे थे तब उन जैसोंको भी रोग आया था; तब इस पंचमकालके जीवोंकी तो क्या

गिनती? उदय आये उसका कोई उपाय नहीं है। एक ही भावना रखनी कि 'एक आत्मा ही चाहिये।' जन्म-मरण करते-करते अनन्तभव किये; अब भवका अभाव हो ऐसी भावना करनी। चौथे कालमें भी रोग आते थे; इसलिये उदयके सन्मुख देखना छोड़कर अपने आत्माकी साधना कर लेना। ७३.

प्रश्न :—*ऐसा योग मिलने पर भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई और शरीरका अन्त हो गया तो जीव कहीं भवाटवीमें खो जाय ऐसा हो तो?*

समाधान :—सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न हुई हो, तथापि यदि चैतन्य प्राप्तिकी तीव्र भावना हो और अपनेको यथार्थ लगन गहराईसे लगी हो तो जीव कहीं भी जाय तथापि पुरुषार्थ हो सके वैसा अवकाश रहता है। यदि गहरे संस्कार न हों तो वे मिट जाते हैं। गहरे संस्कार और तीव्र भावना हो कि 'मुझे आत्मा ही चाहिये' तो जीव कहीं भी जाय, फिर भी पुरुषार्थ प्रगट करनेका अवकाश रहता है। ७४.

प्रश्न :—*गहरे संस्कार किन्हें कहा जाता है?*

समाधान :—'मुझे एक ज्ञायक ही चाहिये, और कुछ नहीं चाहिये' ऐसी तीव्र भावना रहा करती हो वह गहरे संस्कार हैं। 'आनन्दका धाम, ऐसा एक ज्ञायक आत्मा ही चाहिये, विकल्पादि कुछ नहीं चाहिये' ऐसी गहरी रुचि यदि अन्तरमें हो, अर्थात् ज्ञायकके बिना कहीं चैन नहीं पड़ता हो, तो कहीं भी संस्कार स्फुरित हुए बिना नहीं रहते। ऐसे जीवको बाह्य साधन मिल जाते हैं। और उसका पुरुषार्थ स्वयं जागृत हो उठता है। ७५.

प्रश्न :—*ऐसे संस्कार लेकर जीव अन्य गतिमें जाय तो निमित्त मिल जाते हैं?*

समाधान :—निमित्त मिल जाते हैं। अपनी भावनानुसार जगत् तैयार ही होता है। जो भावना गहरी न हो तो बात अलग है; परन्तु अपनी भावना गहरी हो तो निमित्त तैयार होते ही हैं। ७६.

प्रश्न :—*अमुक अपेक्षा द्रव्यसे पर्यायकी भिन्नता बतलाते हैं इसलिये समझनेमें उलझन लगती है।*

समाधान :—अपेक्षा समझ लेना, उसमें कोई उलझन नहीं है। द्रव्यपर दृष्टि देनेसे मुक्तिका मार्ग शुरू होता है। भेदज्ञान होनेसे अर्थात् 'स्वमें एकत्व और परसे विभक्तपना' ऐसी चैतन्यपरिणतिकी धारा प्रगट करनेसे मुक्तिका मार्ग प्रगट होता है। शुभाशुभ विकल्प सो

मैं नहीं हूँ; मैं उनसे भिन्न हूँ; मैं तो चैतन्यतत्त्व हूँ; एक क्षण जितना मैं नहीं, मैं तो शाश्वत द्रव्य हूँ;—ऐसी द्रव्यदृष्टिमें गुणके भेद या पर्यायके भेद भी नहीं आते। ज्ञान सबको जानता है और दृष्टि द्रव्यको विषय बनाती है तब परिणति स्वकी ओर ढलती है। विकल्प तोड़कर स्वानुभूति हो—निर्विकल्पदशा हो—वह मुक्तिका मार्ग है। उसमें उलझनका कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

यह किस अपेक्षासे कहते हैं उसे ज्ञानमें समझकर, दृष्टिको मुख्य करके, पर्यायमें शुद्धता प्रगट करना वही मुक्तिका मार्ग है। ७७.

प्रश्न :—अलग-अलग विरोधाभासी वचन सुनकर असमाधान-उलझन होती है।

समाधान :—अपेक्षा समझमें नहीं आती इसलिये कहाँ कौन अपेक्षा (है और किसे) मुख्य करना तथा किसे गौण करना वह समझमें नहीं आता, इसलिये अपेक्षा ही अपेक्षामें रुक जाता है, परन्तु मुक्तिका मार्ग द्रव्यदृष्टिसे होता है। मुक्तिके मार्गपर चलना हो तो, उन्हींमें अटकनेके बदले अपेक्षा समझ लेना। अर्थात् जिस अपेक्षासे भिन्नता कही है उसे समझकर समाधान करना। किसकी मुख्यता और किसकी गौणता करनी तथा क्या आशय है—एकान्त नहीं ग्रहण करके वस्तुस्वरूप क्या है—वह समझ लेना।

चैतन्य द्रव्य सामान्य है, उसमें गुणके या पर्यायके भेद दृष्टि स्वीकार नहीं करती। ज्ञान सब जानता है। द्रव्यमें अनन्तगुण हैं, द्रव्य-गुण-पर्यायसे भरा तत्त्व है। उसे पहिचान लेना और दृष्टि एक सामान्य पर करनी। विकल्प तोड़कर शुभाशुभ विकल्पजालसे भिन्न निर्विकल्प तत्त्व है उसे पहिचानकर स्वानुभूतिके मार्गपर चलना। ७८.

प्रश्न :—*द्रव्य गुणभेदका भी स्पर्श नहीं करता, तो क्या उसमें गुण नहीं हैं?*

समाधान :—भेदपर दृष्टि देनेसे विकल्प उठेंगे, इसलिये भेदके ऊपरसे दृष्टिको उठा ले; परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं है कि द्रव्यमें गुण नहीं है और पर्याय भी नहीं है। यदि द्रव्यमें गुण-पर्याय न हों तो वेदन किसका? स्वानुभूति किसकी? ज्ञान-आनन्दादि अनन्त गुण किसके? द्रव्य भेदको स्पर्श नहीं करता इसलिये द्रव्यमें कुछ है ही नहीं—ऐसा माने तो द्रव्य अकेला सामान्य-कूटस्थ-शून्य है ऐसा उसका अर्थ हो जायगा। किस अपेक्षासे कहा है वह समझना चाहिये। दृष्टिके बलसे आगे बढ़ा जाता है, परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि द्रव्यमें कुछ है ही नहीं।

सिद्ध भगवान् भी अनन्तगुणोंकी अनन्त पर्यायोंमें विराजते हैं, उन्हें प्रति समय अनन्त पर्यायें प्रगट होती रहती हैं, अगुरुलघुरूप भी परिणमित हो रहे हैं, ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है। परन्तु तू भेदपर दृष्टि मतकर; गुणभेदमें रुकनेसे तू आगे नहीं बढ़ सकता, इसलिये एक सामान्य मूल वस्तुके अस्तित्वपर लक्ष्य कर, ऐसा कहते हैं। यदि सब निकाल देगा तो तत्त्व शून्याकार हो जायगा, परन्तु ऐसा वस्तुका स्वरूप नहीं है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप तत्त्व है। "उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्तम् सत्"—ऐसा द्रव्यका स्वरूप है। ७९.

प्रश्न :—*आत्मानुभवकी तीव्र भावना होनेपर भी आत्माका आनन्द क्यों प्रगट नहीं होता?*

समाधान :—पुरुषार्थ नहीं करता। भावना है परन्तु स्वभावरूप परिणमन करके आगे जाना चाहिये वैसे नहीं जाता; स्वयंको उसरूप परिणमन करना चाहिये। ज्ञाताधारा प्रगट करके, कर्ताबुद्धि छोड़कर, ज्ञायकरूप परिणमन करे तो आनन्द प्रगट हो; परन्तु ज्ञायकरूपसे परिणमित नहीं होता। विभावके साथ एकत्वबुद्धि है तो फिर आनन्दरूप कहाँसे परिणमित हो? भावना हो, परन्तु भावनानुसार कार्य नहीं करता। ८०.

प्रश्न :—*आप संक्षेपमें कहिये न? हम दुविधामें पड़ जाते हैं।*

समाधान :—ज्ञानमें सब भेदोंको जानना, परन्तु दृष्टि एक द्रव्यपर करनी और स्वमें एकत्वबुद्धि करके परसे विभक्त होना। 'मैं एक चैतन्यतत्त्व हूँ' उसे जान लेना। अनन्त गुण-पर्यायोंके अनन्त भेद हैं; उनकी विशेष अपेक्षाओंमें न रुककर, मूल तत्त्वको ग्रहण कर लेना कि 'मेरा अस्तित्व तो ज्ञायकरूप है।' ८१.

प्रश्न :—*द्रव्यदृष्टिके जोरमें जब पर्यायको गौण करनेकी बात आती है वहाँ एकान्त पकड़में आ जाता है, उसमें रुकना हो जाता है।*

समाधान :—हाँ, किसीको एकांत पकड़में आ जाता है; पर्यायको अलग मानना या साथ मानना?—इसप्रकार रुककर, दुविधामें पड़ जाते हैं।

द्रव्यदृष्टिके जोरमें शुद्ध पर्याय प्रगट होनेपर वह साथ है या भिन्न है वह उसके ज्ञानमें-समझमें आ जायगा, वह यथार्थ परिणतिमें आ जाता है। पर्यायका वेदन होता है, इसलिये समझमें आ जायगा कि वह सर्वथा भिन्न नहीं है। पूर्ण द्रव्य सामान्य है। तथा पर्याय नवीन प्रगट होती है और व्यय होती है ऐसा उसका क्षणिक स्वभाव है परन्तु वह सर्वथा भिन्न नहीं है ऐसा अपेक्षासे

समझना। द्रव्यकी भाँति पर्याय शाश्वत नहीं है, नई-नई उत्पन्न होती है और व्यय होती है तथा जो वेदन होता है वह द्रव्यकी ही पर्याय है, परन्तु वह क्षणवर्ती है। ८२.

प्रश्न :—*आप हमें मंगल आशीर्वाद प्रदान करें।*

समाधान :—अन्तरमें ज्ञायकका लक्ष्य और बाह्यमें देव-शास्त्र-गुरुको हृदयमें रखना। ज्ञायककी समीपतामें जीवन व्यतीत करना—वह एक ही ध्येय रखने जैसा है।

आत्मा और आस्रवोंका भेद करना है। आस्रव आकुलतारूप हैं तथा भगवान् आत्मा निराकुल स्वभाव है। भगवान् आत्मा विज्ञानघन है उसे पृथक् करना वह कर्तव्य है। चैतन्य है वह स्वयं जाननेवाला-ज्ञायकस्वभाव है। विभावभाव विपरीत भाव हैं; विभाव दुःखरूप हैं, दुःखके कारण हैं, उसमेंसे दुःखका कार्य और सब दुःखका फल आता है। आत्मा सुखका धाम है, सुखका कारण है, उसमेंसे सुखका कार्य आता है, सारा सुख आत्मामेंसे आता है। विभाव स्वयं अपनेको नहीं जानते और परको भी नहीं जानते। आत्मा अपनेको जानता है, स्व-परप्रकाशक है, सबका जाननेवाला है।—इसप्रकार ज्ञायकस्वभावी आत्मा एवं आस्रवोंके बीच भेदज्ञान करना वह जीवका कर्तव्य है।

'अशुचिता विपरीतता वे आस्रवोंके जानकर,
अरु दुःखकारण जानकर इनसे निवर्तित जीव हो।'

ज्ञायक-आत्माको कब जाना कहा जाता है? कि आस्रवोंसे (विभावोंसे) निवृत्ति हो और स्वभावमें परिणति हो। श्री 'समयसार'में आता है वही कहती हूँ कि 'सभीको यह कार्य करने योग्य है। आनन्दघन आत्माको प्रगट करना है। आत्मा ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त गुणोंसे भरा हुआ है, उसकी परिणति प्रगट करके विभावसे निवृत्त होना वह करनेका है।' अन्तरसे परिणति प्रगट हुई कब कहलाती है? कि विभावसे निवृत्त हो तब। विभावसे निवृत्ति हुई कब कहलाये? कि स्वभावमें प्रवृत्ति हो तब। स्वभावका संवेदन हो, तो विभावसे निवृत्ति हुई, विभावसे भेदज्ञान हुआ ऐसा कहा जा सके।

आस्रव मलिन हैं, आत्मा पवित्र एवं उज्वल है। उज्वलता एवं पवित्रतासे भरे हुए आत्माको प्रगट करने जैसा है, उसका ध्येय रखने जैसा है। उसका लक्ष्य और उस ओर परिणति करनी है।

आत्माका और विभावका स्वभाव पहिचानकर, उनका भेद करके, स्वमें एकत्वबुद्धि एवं परमें विभक्तबुद्धि करने जैसी है।

मैं परका कर सकता हूँ और पर मेरा कार्य है, ऐसी कर्त्ता–कर्मकी प्रवृत्तिमें अनादिसे अपनेको भूल गया है। परन्तु मैं स्वभावका परिणमन करनेवाला हूँ और स्वभाव मेरा कार्य—ऐसी परिणति प्रगट हो वह मुक्तिका कारण है। आत्मा ज्ञान और सुखका धाम है ऐसी परिणति प्रगट करनी।

परद्रव्यका आश्रय (और लक्ष्य) वह आस्रव है, वह पराश्रितभाव है। साधकको बीचमें शुभभाव आये तब देव–शास्त्र–गुरुका आश्रय होता है, परन्तु वह चैतन्यके आश्रयपूर्वक–ध्येयपूर्वक होता है। चैतन्यका–स्वयंका आश्रय वह सच्चा आश्रय है, वह स्वाधीनता है; और देव–शास्त्र–गुरुका आश्रय भी पराधीनता है। आत्माका सान्निध्य प्रगट हो ऐसी परिणति प्रगट करनी है। देव–शास्त्र–गुरुका सान्निध्य तो प्राप्त हुआ, परन्तु अन्तरका सान्निध्य कैसे प्रगट हो वह करने योग्य है। उसकी ही समीपता, उसीकी अद्भुतता लाने जैसी है। कोई परपदार्थ अद्भुत या आश्चर्यरूप नहीं है। एकमात्र सुखका कारण ऐसा आत्मा ही अद्भुत एवं आश्चर्यकारी तत्त्व है उसका आश्चर्य करना योग्य है। ज्ञायकके ध्येयपूर्वकका जीवन ही सच्चा जीवन है।

गुरुदेव तो कोई अद्भुत थे! पंचमकालके जीवोंके महाभाग्य कि उनकी वाणी और ऐसे गुरुदेव मिले। ८३.

प्रश्न :—*स्वभाव हाथ नहीं आता और विकल्पोंका जोर बढ़ जाता है, ऐसेमें हमें क्या करना?*

समाधान :—प्रयत्नपूर्वक स्वभावको ग्रहण करना। ''प्रज्ञासे भिन्न करना और प्रज्ञासे ग्रहण करना''—ऐसा शास्त्रमें आता है और गुरुदेव भी ऐसा ही कहते थे। विकल्पोंका जोर बढ़े तो उनके सामने अपना जोर बढ़ाना। चैतन्य-परिणतिका जोर बढ़े तो विकल्पका जोर टूटे। स्वयं अपने स्वभावको ग्रहण करना, प्रज्ञासे भिन्न करना, प्रज्ञासे ग्रहण करना वह अपने हाथकी बात है। विकल्पका जोर बढ़े उसके सामने न देखकर स्वभावका जोर बढ़ाना। बारम्बार यही अभ्यास करते रहना, उसमें थकना नहीं। ८४.

प्रश्न :—*ध्यानमें बैठकर जब ज्ञायकको ग्रहण करनेका प्रयत्न करते हैं तब वह ग्रहण नहीं होता और विकल्प ही होते रहते हैं, तो विकल्पोंको कैसे नष्ट किया जाय? वह कृपया बतलायें।*

समाधान :—पहले विकल्पोंसे भेद करना। पश्चात् जब चैतन्यकी ओर परिणतिका

जोर बढ़े उस ओरकी ही तमन्ना जगे, लगनी लगे और विकल्पोंमें आकुलता लगे–चैन न पड़े, तब विकल्प टूटें। स्वकी ओर दृष्टिका जोर हो, परिणतिकी दौड़ हो तथा पुरुषार्थका बल हो तो उस (ज्ञायक) तरफ जाय। जबतक बाहर एकत्वबुद्धिमें अटका करे—भले ही तत्त्वको बुद्धिमें ग्रहण किया हो किन्तु एकत्वबुद्धिमें अटके—तबतक विकल्प नहीं टूटते। अपनेमें एकत्वबुद्धि और अपने स्वभावका जोर हो, तो विकल्प टूटें। ८५.

प्रश्न :—*सब जीव किसी न किसी विकल्पमें पड़े रहते हैं; तो वह विकल्प टूटकर निर्विकल्प क्यों नहीं हुआ जाता?*

समाधान :—अपने पुरुषार्थकी कमजोरी है, अन्य कोई कारण नहीं। प्रज्ञाछैनीको जोरसे पटकना, वही करनेका है। प्रतिक्षण 'मैं ज्ञायक हूँ....ज्ञायक हूँ' इसप्रकार पुरुषार्थको उग्र बनाना। वह एकबार करनेसे नहीं होता। चलते–फिरते, खाते–पीते, उठते–बैठते और सोते हुए–स्वप्नमें भी 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसी भेदज्ञानकी उग्रता करे तब हो। जिसे हो उसे अन्तर्मुहूर्तमें होता है और न हो तो समय लगता है। उसे अभ्यास तो निरन्तर ऐसा करना चाहिये कि 'मैं ज्ञाता....ज्ञाता....ज्ञाता ही हूँ।' अंदर अपनी परिणतिमें ज्ञाता ही गुथ जाना चाहिये। जिसप्रकार शरीर और विकल्पके साथ एकमेकपना हो गया है, उसी प्रकार वर्तमानमें आत्मा घुलमिलकर एक हो जाना चाहिये तब (ज्ञायक) प्राप्त होता है। ८६.

प्रश्न :—*धारणाज्ञान धर्मका साधन है?*

समाधान :—यह जीव है, यह अजीव है, ऐसा धारणाज्ञान तथा मंदकषाय करें तो धर्म होता है, वह धर्मका साधन है—ऐसी मान्यतासे तो उसे नुकसान है। धारणाज्ञान अर्थात् रटा हुआ ज्ञान नहीं समझना।

धारणाज्ञानका अर्थ रटा हुआ ज्ञान नहीं है; परन्तु पहले अपनी बुद्धिसे निर्णय किया हो कि 'मैं चैतन्य हूँ, यह स्वभाव भिन्न है और विभाव भिन्न हैं', उसे धारणाज्ञान कहते हैं। बहुतसे शास्त्रोंको रट लेना, वैसा ज्ञान, वह सच्चा धारणाज्ञान नहीं है और वह रटा हुआ (शास्त्रज्ञान) काम नहीं आता। वास्तविक साधन तो जो स्वभाव है वह होता है और तब धारणाज्ञानको व्यवहारसे साधन कहा जाता है।

मूल साधन तो द्रव्यस्वभाव है। अंतरसे पुरुषार्थ जागृत हो तो वह वास्तविक साधन होता है। जिसमेंसे अपनी परिणति उछलती है वह द्रव्यस्वभाव मूल साधन है। जो स्वानुभूति

करे उसकी दृष्टि द्रव्यपर होती है और उसे ऐसे भेदविकल्प बीचमें आते हैं, परन्तु उनमें वह नहीं रुकता। रुचिवाले जीवको अनेक प्रकारके विकल्प आते हैं परन्तु उनमें रुकता नहीं है; वास्तविक साधन तो द्रव्यदृष्टि जो कि अंतरमेंसे प्रगट होती है वही है, परन्तु रुचिके साथ 'मैं चैतन्य हूँ, ज्ञान हूँ' इसप्रकारका अभ्यास आये बिना नहीं रहता। जिसप्रकार गुरुका उपदेश बीचमें आता है, उसी प्रकार अमुक प्रकारके शुभविकल्प बीचमें आते हैं। 'मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ' ऐसे भेदविकल्प बीचमें आते हैं, परन्तु उसकी दृष्टिमें तो अनन्तगुणोंका पिंड़ एक चैतन्य ही है। विकल्प साधनरूप नहीं होते, क्योंकि विकल्प तोड़नेमें विकल्प साधन नहीं होते। निर्विकल्प दशा प्रगट हो तब विकल्प नहीं होते।

निर्विकल्पदशाका साधन ज्ञायक है जिससे कि अपनी परिणति निर्विकल्परूप होती है, परन्तु बीचमें विकल्प आये बिना नहीं रहते। अपने ज्ञानमें ऐसा होना चाहिये कि यह विकल्प वास्तविक साधन नहीं है, किन्तु व्यवहार है। विकल्पमें सर्वस्वता नहीं मान लेनी चाहिये कि ऐसा करते-करते कार्य हो जायगा; परन्तु उसकी दृष्टि अपने अस्तित्वको ग्रहण करनेकी ओर ही होनी चाहिये। अपने अस्तित्वको कैसे ग्रहण करूँ?—उस ओर दृष्टि होनी चाहिये।

स्वभावकी खोज करनी है, वहाँ 'यह ज्ञान है-दर्शन है' ऐसे विचार आये बिना नहीं रहते। ८७.

प्रश्न :—*यह तो सच है कि व्यवहार बीचमें आये बिना नहीं रहता; परन्तु उसकी रुचि हो जाय तो निश्चय कैसे प्रगट होगा?*

समाधान :—व्यवहारकी रुचि अर्थात् उसीमें अटक नहीं जाना चाहिये। वह बीचमें आता है, परन्तु दृष्टि तो आगे बढ़नेकी होनी चाहिये।

आचार्यदेव कहते हैं कि हम तुझे तीसरी भूमिकामें—अमृतकुंभकी भूमिकामें—जानेको कहते हैं वहाँ नीचे-नीचे मत गिर। हम शुद्धकी भूमिकामें जानेको कहते हैं; शुभको छोड़कर अशुभमें जानेको नहीं कहते। ऊँचे-ऊँचे (अर्थात्) शुद्धकी भूमिकामें जानेको कहते हैं, उसमें यह शुभभाव आते हैं, परन्तु उन्हें सर्वस्व नहीं मान लेना। 'शुद्ध भूमिका कैसे प्रगट हो, अमृतकुंभ-भूमिका कैसे प्रगटे' ऐसे वहाँ दृष्टि होनी चाहिये, रुचि वहाँ होनी चाहिये। और बीचमें यह सब व्यवहार आये बिना नहीं रहता। ८८.

प्रश्न :—*रुचि परसे हटकर यहाँ स्वमें नहीं आती, तो स्वरूपको कैसे ज्ञानमें लेना जिससे सहज ही रुचि बदल जाय? बड़ी दुविधा होती है कि कबतक ऐसे के ऐसे रहेंगे?*

समाधान :—आत्माको ज्ञान (समझ)में लिया परन्तु आत्माकी यथार्थ महिमा अंतरमेंसे आनी चाहिये। समझके साथ विरक्ति भी चाहिये तब रुचि पलटे। उसे परकी ओरसे विरक्ति आनी चाहिये कि बाह्यमें कुछ नहीं है, आत्मामें ही सब कुछ है। निरालापन आना चाहिये कि बाह्यमें कहीं अटकने जैसा नहीं है, कहीं सुख नहीं है; उसका निर्णय ऐसा दृढ़ होना चाहिये कि रुचि पलट जाय। ज्ञानमें–समझमें वस्तु आनी चाहिये, किन्तु अकेली समझ नहीं; समझके साथ अंतरमें विरक्ति, महिमा आदि सब हों तो रुचि पलट जाती है।

मुमुक्षु :—यह सब किस प्रकार करें?

बहिनश्री :—स्वयं करे तो हो।

मुमुक्षु :—करनेमें क्या बाकी रह जाता है? कुटुम्ब–परिवारको छोड़कर यहाँ रहते हैं और रुचिपूर्वक शास्त्र पढ़ने–विचारनेका मन भी होता है।

बहिनश्री :—ऐसा करते हुए भी स्वयं अटकता है, क्योंकि रुचि जहाँ की तहाँ है; जितनी चाहिये उतनी अंतरंग तीव्रता नहीं है, अंतरमें वापस नहीं मुड़ता, अंतरकी महिमा नहीं आती; अपनेको ग्रहण नहीं करता और विरक्ति नहीं आती। जैसे कोई सो रहा हो और जागनेका निर्णय किया हो, परन्तु अब उठता हूँ....उठता हूँ ऐसे करता रहे तथापि प्रमादवश जागता नहीं, उठता नहीं; उसी प्रकार जितना कारण देना चाहिये उतना नहीं देता, जितनी तीव्रता चाहिये उतनी नहीं करता, ज्ञान–विरक्ति–महिमा नहीं करता, वह कहीं न कहीं अटकता है। अंतरसे उत्कंठा होनी चाहिये कि कहीं भी न रुककर स्वयं अपनेमें चला जाय, ऐसी लगन भीतरसे लगनी चाहिये।

दृष्टि अंतरमें स्थिर नहीं होती और परकी ओरसे हटती नहीं है, उसका स्वयं कारण है। अपना आश्रय प्रबलतासे ले और परका आश्रय छोड़ दे तो निरालम्बी हो जाय। अपने आश्रयका जोर हो तो परका आश्रय छूट जाता है, किन्तु स्वयं छोड़ दे तो छूटता है। द्रव्यको ग्रहण नहीं किया इसलिये पर्यायमें सर्वत्र अटका हुआ है। परकी ओरसे पीछे हटे तब पलटा हो, वह अपने पुरुषार्थसे होता है। ८९.

प्रश्न :—*पर्यायमें अटका है उसके लिये क्या करना?*

समाधान :—बाह्यमें सर्वस्व नहीं है, ज्ञायकमें ही सब कुछ है, ऐसे स्वयं दृढ़ता करनी। भले ही पहले बुद्धिपूर्वक विचार करके दृढ़ता करे, परन्तु भीतरसे पलटा खानेमें विशेष तैयारी होनी चाहिये तो परिणति पलटती है। बुद्धिमें दृढ़ता आये, परन्तु जबतक परिणति पलटा नहीं खाती तबतक कचास है। परिणति परके एकत्वकी ओर ढल रही है, वह अपनी कचास है। बुद्धिमें निर्णय करे कि ज्ञायक आत्मा महिमावंत है, सुख भी उसीमें है, बाहरमें सुख नहीं—ऐसे निर्णय तक स्वयं आता है, परन्तु परिणति पलटा नहीं खाती, वह कचास है। परिणति बारंबार ज्ञायककी ओर रहा करे तो पलटा खाये; परन्तु परिणति ज्ञायककी ओर टिके कब? कि जब अपनी ओर रहनेकी जरूरत लगे तो ज्ञायककी ओर परिणति टिके।

गुरुदेवने सबको ग्रहण हो सके ऐसा स्पष्ट कर दिया है, पूरा मार्ग सुस्पष्ट करके बतला दिया है। ९०.

प्रश्न :—*''तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता'' इसमें क्या कहना है?*

समाधान :—रुचिपूर्वक बातें सुनता है वह ''भावि निर्वाण भाजनम्।'' जो यह बात अंतरसे रुचिपूर्वक सुनता है उसकी परिणति पलटे बिना रहेगी ही नहीं और वह 'भावि'–भविष्यमें निर्वाणका भाजन होता है। स्वयं पुरुषार्थ करके पलटा खाना है। जो जिज्ञासु हो उसे ऐसा लगता है कि मेरी परिणति किस प्रकार पलटे?—इसप्रकार उसे स्वयंको पुरुषार्थ करनेकी भावना रहती है। ९१.

प्रश्न :—*शास्त्र पढ़ते रहनेसे झूठी उष्मा या आश्रय नहीं आ जाता?*

समाधान :—शास्त्र पढ़नेसे झूठा आश्रय आ नहीं जाता, परन्तु उसके साथ परिणतिमें कैसे पलटा हो? कैसे पुरुषार्थ करूँ? कैसे कार्य हो?—ऐसी भावना–लगन लगानेवाला पलटा खाता है। परन्तु पलटा कब खाये, वह उसकी योग्यतानुसार है। मगर भावना तो ऐसी रहती है कि किस प्रकार पुरुषार्थ करूँ? पुरुषार्थ कैसे हो?—इसप्रकार पुरुषार्थ करनेकी ही भावना रहे तो पलटा खाये। ९२.

प्रश्न :—*ज्ञायककी रुचि होनेपर क्या स्व–परका यथार्थ विवेक आता है?*

समाधान :—ज्ञायककी रुचि यथार्थ हो तो उसका विवेक भी यथार्थ होता है। स्व–परका विवेक करके, यथार्थ ज्ञान करे तो यथार्थ मार्ग ग्रहण हो। जिसकी रुचि यथार्थ

उसका सब यथार्थ। आत्मा स्वभावसे परिपूर्ण है, उसकी यथार्थ रुचि होनेपर ज्ञान भी यथार्थ होता है।

मुमुक्षु :—निमित्तका विवेक यथार्थ आता है?

बहिनश्री :—हाँ, निमित्तका विवेक यथार्थ आता है; स्वभावका ग्रहण होनेपर सब होता है। निश्चय-व्यवहारकी सन्धि जैसी है वैसी आती है। ९३.

प्रश्न :—*स्वभावकी रुचिवाले जीवको विवेक एक सा रहता होगा या कभी विपरीतता और कभी यथार्थता रहती होगी?*

समाधान :—अनुभवसे पूर्वकी रुचिवालेको ऐसा नियम नहीं होता। यदि सम्यक्धारा हो अर्थात् जिसे ज्ञान सम्यक् हो उसे सदा विवेक यथार्थ होता है, और उससे पूर्वकी रुचिवालेकी रुचिमें किंचित् मन्दता आ जाय तो विवेकमें कुछ और आ जाता है। रुचि यथार्थ बनी रहे तो विवेक भी यथार्थ रहे और रुचिमें फेरफार हो तो विवेकमें भी फेरफार हो जाय। ९४.

प्रश्न :—*पुरुषार्थ अधिक हो तो अभव्य होता ही नहीं?*

समाधान :—जिसे आत्माके प्रति रुचि हो वह अभव्य नहीं होता। गुरुदेवने इतना समझाया है कि 'शुभाशुभभाव आत्माका स्वभाव नहीं है' यह बात जिसे अंतरमें बैठ जाय और आत्माकी रुचि जागृत हो वह अभव्य नहीं होता। ९५.

प्रश्न :—*यह जीव कई बार समवसरणमें हो आया, तथापि सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ, तो उसका क्या कारण? कृपया समझाइये।*

समाधान :—उसने अंतरसे भगवान्को नहीं पहिचाना, इसलिये ज्यों का त्यों लौट आता है। उसने बाहरसे तो भगवान्को पहिचाना कि भगवान् समवसरणमें सिंहासन पर विराज रहे हैं, अष्ट प्रातिहार्य हैं, छत्र-चँवर हैं और शरीर शांत होनेसे वे शान्त हैं।—यह सब उसने देखा; परन्तु अंतरसे भगवान्को नहीं पहिचाना, इसलिये लौट आया। भगवान्का क्या स्वरूप है, आत्माका क्या स्वरूप है वह नहीं पहिचाना इसलिये लौट आता है। ९६.

प्रश्न :—*आत्माके अस्तित्वका स्वीकार कैसे हो?*

समाधान :—गुरुदेवने कहा है उसकी अपूर्वता अंतरमें भासित हो, आत्मामें ही सर्वस्व है ऐसा लगे, आत्मा कोई निराला है, उस ओरकी रुचि-पुरुषार्थ जगे, और शुभाशुभभावोंमें

कहीं भी रुचि न लगे तब उसे अंतरसे अपने अस्तित्वका यथार्थ स्वीकार आता है। ९७.

प्रश्न :—*कलकी चर्चामें आया था कि—राग और ज्ञानस्वभावके बीच भेदज्ञान करना है, द्रव्य और पर्यायके बीच नहीं। 'समयसार'की ३८वीं गाथामें ऐसा आता है कि नवतत्त्वोंसे अत्यंत भिन्न होनेके कारण आत्मा शुद्ध है, उसमें संवर-निर्जरा-मोक्ष भी आ गये। तदुपरान्त द्रव्यदृष्टि करनी और पर्यायदृष्टि छोड़नी, उसमें भी द्रव्य और पर्यायके बीच भेदज्ञानकी बात आयी, उसी प्रकार ध्रुव एवं उत्पाद, निष्क्रियभाव एवं सक्रियभाव,—इन सबमें भी द्रव्य और पर्यायके बीच भिन्नता आती है; तब फिर राग और स्वभावके बीचके भेदज्ञानको क्यों प्रधानता दी गई?*

समाधान :—'राग' विभाव है, 'ज्ञान' स्वभाव है।—दोनोंके बीच स्वभावभेद है, इसलिये उस भेदकी प्रधानता है। गुण-पर्यायका भेद तो दृष्टिकी अपेक्षासे है, सर्व अपेक्षासे नहीं है। गुण और पर्याय अंश हैं, साधकदशाके जो-जो भेद पड़ते हैं उन्हें तथा गुणस्थान-जीवस्थान आदि सब भेदोंको द्रव्यदृष्टि गौण करती है; क्योंकि आश्रय द्रव्यका लेना है, गुण-पर्यायोंका नहीं। गुण-पर्यायें वैसे भिन्न नहीं हैं जैसे रागसे भिन्नता है; दोनोंकी भिन्नतामें फेर है; इसलिये उस अपेक्षासे कहा था कि रागसे भेदज्ञान करना;—वह स्वभाव और विभावका भेदज्ञान है। और इस (द्रव्य-पर्यायके) भेदज्ञानकी अपेक्षा जुदी है। चैतन्य पूर्ण ऐश्वर्यशाली है उसका आश्रय लेना है; परन्तु गुण या पर्याय जो कि अंश हैं उनका आश्रय नहीं लेना है। द्रव्यपर दृष्टि करनेसे द्रव्यका आश्रय आता है और गुण-पर्यायोंके भेदका आश्रय छूट जाता है; तब साधकदशा तथा अन्य सब गौण हो जाता है।

जैसे एक शक्तिशाली राजा उसके शत्रुसे भिन्न है, वैसे ही वह उसके सम्बन्धियोंसे भिन्न नहीं है। यद्यपि राजा और उसके सम्बन्धी सब भिन्न ही हैं; तथापि उसके सम्बन्धी भिन्न और उसका शत्रु भिन्न;—उन दोनोंकी भिन्नतामें अन्तर है। यहाँ दृष्टिके बलमें दृष्टि सब भिन्न करती है—मैं कृतकृत्य-पूर्ण हूँ, विभाव मुझसे अत्यन्त भिन्न है, इसप्रकार भिन्न करती है, और बीचमें साधकदशाकी जो अधूरी पर्याय तथा पूर्ण पर्याय आती है उन सबका लक्ष्य छोड़ देती है। तथापि ज्ञान उन्हें लक्ष्यमें रखता है कि ये जो पर्यायें हैं वे चैतन्यकी अवस्थायें हैं। तथा वे शुद्ध पर्यायें उसके वेदनमें आती हैं।—इसप्रकार ज्ञान उनका विवेक करता है। इस अपेक्षासे मूल भेदज्ञान जो राग है उससे करना है। जब कि गुण-पर्यायोंके भेदज्ञानमें इसप्रकारका भेद है कि दृष्टिका आश्रय द्रव्यपर जाता है, (गुण-पर्यायोंपर नहीं) इसलिये उन सबका भेद करना है।

जैसा भेद रागसे करना है वैसा भेद गुण-पर्यायसे नहीं करना है। भेद-भेदमें फेर है। इसलिये मूल तो रागसे भेदज्ञान करना है और इनका (गुण-पर्यायोंका) विवेक करना रहता है। ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि सब गुण हैं वे चैतन्यके एक-एक अंश हैं और चैतन्य अखंड पूर्ण शक्तिवान् है। एक-एक अंशका आश्रय नहीं लेना है; क्योंकि वे अंश हैं, इसलिये उन सबको गौण करना है। दृष्टि उन सबको निकाल देती है, निमित्तकी अपेक्षासे जो अधूरी-पूर्ण पर्यायें हुईं उन सबको भी दृष्टि भिन्न करती है और 'मैं तो एक पूर्ण हूँ, कृतकृत्य हूँ' ऐसा स्वीकारती है।

'मैं एक पूर्ण हूँ' ऐसे दृष्टिके बलमें सब निकल जाता है। परन्तु यदि वह एकांततः पूर्ण ही हो तो साधकदशा नहीं रहती। उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि सर्व अवस्थायें तो होती हैं; इसलिये ज्ञान उनका विवेक करता है कि किसी अपेक्षासे ये गुण चैतन्यके हैं; चारित्रकी पर्याय प्रगट हो वह चैतन्यकी है; ज्ञान-चारित्रादि सब चैतन्यमें प्रगट होते हैं। द्रव्यपर दृष्टि रखनेसे सब कुछ प्रगट होता है, इसलिये नवतत्त्वोंकी परिपाटी छोड़कर मुझे एक आत्मा प्रगट होओ! नवतत्त्वोंकी परिपाटीपर दृष्टि नहीं रखनी है, आत्माके ऊपर दृष्टि रखनी है। आत्मापर दृष्टि रखनेसे समस्त निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं, किन्तु उन पर्यायोंका आश्रय नहीं लेना है। जिस प्रकार विभाव भिन्न है उसी प्रकार निर्मल पर्यायें भिन्न नहीं हैं। स्वानुभूतिका वेदन—वीतरागदशाका वेदन—आता है; इसलिये जैसे विभावसे भिन्न होना है वैसे ही शुद्धपर्यायसे भिन्न नहीं होना है।—ऐसे सब अपेक्षासे समझना। ९८.

प्रश्न :—*रागसे पृथक् होनेपर राग चला जाता है और शुद्ध पर्याय जितना मैं नहीं हूँ, ऐसा स्वीकार करनेसे शुद्धताकी वृद्धि होती है—ऐसा क्या आपका कहना है?*

समाधान :—रागसे पृथक् होनेपर भीतर चैतन्यमें शुद्ध पर्यायें प्रगट होती हैं तथा शुद्धिकी वृद्धि भी होती है; परन्तु उनपर दृष्टि देनेसे या उनका आश्रय करनेसे वे प्रगट नहीं होती। द्रव्यका आश्रय ले तभी शुद्धात्माकी पर्यायें प्रगट होती हैं; इसलिये दृष्टि तो एक परिपूर्णपर ही रखनी है। पर्यायोंपर या गुणोंपर दृष्टि रखकर उनमें नहीं रुकना है। पर्यायोंपर दृष्टि नहीं रखनी परन्तु ज्ञानमें रखना है कि ये पर्यायें चैतन्यके आश्रयसे प्रगट हुई हैं; वे कहीं जडकी नहीं हैं—ऐसा ज्ञान यथार्थ करना। दृष्टिको पूर्णके ऊपर रखकर ज्ञान यथार्थ करे तो उसकी साधकदशाकी पर्याय यथार्थरूपसे प्रगट होती है। यदि ज्ञानमें सर्व अपेक्षाओंसे ऐसा ही रहे कि 'मैं तो पूर्ण ही हूँ' तो फिर उसे कुछ करनेका ही नहीं रहता और इसलिये

उसमें भूल होती है। परंतु दृष्टि पूर्ण द्रव्यपर हो और ज्ञानमें ऐसा रहे कि 'मेरी पर्याय अभी अधूरी है' तो साधकदशा प्रगट होती है, नहीं तो ज्ञान मिथ्या होता है। राग मुझसे भिन्न है, परन्तु होता है चैतन्यके पुरुषार्थकी कमजोरीसे—ऐसे सब खयालमें रखे, तो पुरुषार्थ उपड़ता है और उसमें आनंददशा, वीतरागदशा आदि सब प्रगट होते हैं। पहले दृष्टिकी अपेक्षासे दो भाग पड़ते हैं, फिर ज्ञान सबका विवेक करता है। गुरुदेवने अनेक प्रकारसे समझाया है, उन्होंने तो परम उपकार किया है। सर्व अपेक्षाएँ गुरुदेवने समझायी हैं। ९९.

प्रश्न :—*वचनामृतके ४०१वें बोलमें विभावभावमें परदेशपनेकी अनुभूति व्यक्त की है। अनंतगुणोंका परिवार हमारा स्वदेश है, उस ओर हम जा रहे हैं इसप्रकार एक ही द्रव्यमें एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गतिक्रिया और सब अलग अलग विभाग हों—ऐसा अनुभव किस प्रकार हो सकता है?*

समाधान :—यह भावनाकी बात है कि विभाव हमारा देश नहीं है। द्रव्यपर दृष्टि होनेसे चैतन्यदेश हमारा है, परन्तु अभी अधूरी पर्याय होनेके कारण विभाव है, तथापि वह विभाव हमारा देश नहीं है। इस परदेशमें हम कहाँ आ पहुँचे। चैतन्य वह हमारा स्वदेश है और यह तो सब परदेश है। यहाँ विभावमें हमारा कोई नहीं है। हमारे स्वदेशमें सर्व गुण हैं वे हमारे हैं। इसप्रकार दृष्टि भले ही अखंडपर है, तथापि चारित्रकी पर्यायमें आगे बढ़ने हेतु अनेक प्रकारकी भावनाएँ आती हैं। यह विभाव तो सब परदेश है, हमारा स्वदेश तो हमारे गुण हैं। स्वदेशकी ओर हमारे पुरुषार्थकी गति है। हमें विभावोंकी ओर नहीं जाना है। दृष्टिकी अपेक्षासे भले ही स्वदेशको पूर्ण ग्रहण किया है किन्तु परिणति अमुक प्रकारसे स्वकी ओर हुई है, इसलिये विशेष-विशेषरूपसे हम स्वदेशमें जायें, हमारे पुरुषार्थकी गति स्वदेशकी ओर जाये; यह विभाव हमारा देश नहीं है, ऐसा भावनामें आता है। साधकको सर्व प्रकारकी भावनायें होती हैं। विभावकी ओर दृष्टि करनेपर वहाँ कोई हमारा दिखाई नहीं देता, चैतन्यके स्वदेशमें जायें तो वहाँ सब अपने हैं, यह सब विभाव परभाव हैं, ऐसा भावनामें आता है। १००.

प्रश्न :—*पर्यायमें द्रव्य नहीं है और द्रव्यमें पर्याय नहीं है, तो पर्याय द्रव्यके साथ एकत्वका अनुभव कैसे कर सकेगी?*

समाधान :—द्रव्यमें पर्याय नहीं है, और पर्यायमें द्रव्य नहीं है, वह दृष्टिकी अपेक्षासे है, क्योंकि द्रव्यपर दृष्टि रखनेसे दृष्टिके विषयमें एक द्रव्य आता है; परन्तु सर्व

अपेक्षासे द्रव्यमें पर्याय नहीं है और पर्यायमें द्रव्य नहीं है, ऐसा नहीं है। पर्यायको द्रव्यका आश्रय है और द्रव्य पर्यायरूप परिणमित होता है, ऐसी दूसरी एक अपेक्षा है। सर्व अपेक्षासे पर्याय बिलकुल भिन्न हो तो पर्याय स्वयं ही द्रव्य हो जाये; इसलिये सर्व अपेक्षासे ऐसा नहीं है। १०१.

प्रश्न :—*यहाँ द्रव्य अर्थात् ध्रुवभाव और पर्यायभाव—ऐसे दो भाव लें तो?*

समाधान :—ध्रुव अकेला नहीं है, ध्रुवको उत्पाद-व्ययकी अपेक्षा है। उत्पाद-व्ययरहित ध्रुव नहीं है। अकेला ध्रुव हो ही नहीं सकता, वह उत्पाद-व्ययकी अपेक्षा सहित ध्रुव है। किसी अपेक्षासे अंश जुदे हैं, किन्तु एक-दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं। १०२.

प्रश्न :—*पहले निरपेक्षतासे जानना चाहिये फिर सापेक्षता लगानी चाहिये अर्थात् ध्रुव ध्रुवसे है, पर्याय पर्यायसे है। ध्रुव पर्यायसे नहीं है और पर्याय ध्रुवसे नहीं है। इसप्रकार पहले निरपेक्षता सिद्ध करके फिर सापेक्षता लगानी चाहिये कि पर्याय द्रव्यकी है; तो ऐसा समझनेमें क्या दोष होगा?*

समाधान :—जो निरपेक्षपनेको यथार्थ समझे, उसे यथार्थ सापेक्षपना साथ आता है। समझने हेतु प्रथम-पश्चात् आये, परन्तु यथार्थ प्रगट हो उसमें दोनों साथ आते हैं। जो यथार्थ निरपेक्षपनेको समझे उसके साथ सापेक्षपना होता ही है। अकेला निरपेक्ष पहले समझाकर फिर सापेक्ष समझाये वह तो व्यवहारकी एक रीति है। अनादिकालसे तूने स्वरूपकी ओर दृष्टि नहीं की, इसलिये द्रव्यदृष्टि कर, प्रथम निरपेक्ष द्रव्यको पहिचान। निरपेक्ष द्रव्यको पहिचाननेके साथ सापेक्ष क्या है वह उसमें आ जाता है। अकेला निरपेक्ष आये तो निरपेक्ष यथार्थ नहीं है, समझनेमें दोनों साथ हैं, अकेला निरपेक्ष एकांत हो जाता है। १०३.

प्रश्न :—*जीवको रागके परिणामका परिचय है और ज्ञान धुँधला-सा खयालमें आता है, तो ऐसी स्थितिमें आगे कैसे बढ़ा जाय? कृपया इस संबंधमें मार्गदर्शन दीजिये।*

समाधान :—रागका परिचय अनादिसे है और ज्ञानका परिचय नहीं है, इसलिये ज्ञानस्वरूप आत्माका परिचय विशेष करना। ज्ञान धुँधला-सा खयालमें आता है क्योंकि उसकी दृष्टि बाहर है; परन्तु जो दिखाई देता है वह ज्ञान ही है। इसलिये ज्ञानको विभावसे पृथक् जानकर अकेले ज्ञानको ग्रहण करनेका प्रयत्न करना, उसका परिचय करना, उसका बारम्बार अभ्यास करना, उसका विशेष परिचय करनेसे—उसके समीप जाकर पहिचाननेसे—वह प्रगट

होता है। भले ही ज्ञान धुँधला दिखाई दे, परन्तु वह चैतन्यका लक्षण है, इसलिये लक्षणसे लक्ष्यको पहिचान। उसकी दृष्टि परकी ओर जाती है इससे ऐसी भ्रमणा हो गई है कि मानो ज्ञेयसे ज्ञान होता हो। उस भ्रमणाको छोड़कर जो अकेला ज्ञान है उस ज्ञानको ग्रहण करनेका बारम्बार प्रयत्न करना। ज्ञान भले ही धुँधला दिखे परन्तु वह ज्ञान ही है। इसप्रकार ज्ञानको ग्रहण करनेका बारम्बार प्रयत्न करना, उसका परिचय करना, उसका अभ्यास करना। रागका जो परिचय है उसे छोड़कर ज्ञानका परिचय करना, ज्ञाताका परिचय करना और बारंबार उसीका अभ्यास करना, वह उपाय है। १०४.

प्रश्न :—*पर्यायके द्वारा द्रव्यका खयाल कैसे करना ?*

समाधान :—दृष्टि तो द्रव्यपर ही करनेकी है, परन्तु पर्याय बीचमें आती है। पर्यायका आश्रय नहीं आता, किन्तु पर्याय साथ आती है। पर्याय द्रव्यको विषय करती है। जब दृष्टिकी दिशा पलटती है तब उसका विषय द्रव्य बनता है, पर्याय बीचमें आती है। १०५.

प्रश्न :—*हमें तो ज्ञानकी पर्याय जाननेमें आती है तो क्या करें?*

समाधान :—ज्ञानकी पर्याय भले ज्ञात हो परन्तु ज्ञानस्वभावको ग्रहण करनेका प्रयत्न करना। पर्यायको ग्रहण न करके ज्ञायकको ग्रहण करनेका प्रयत्न करना। जो अंश दिखाई देता है उस अंशको ग्रहण करनेका प्रयत्न नहीं करना। यह जो प्रतिक्षण दिखता है वह मैं—ऐसा प्रयत्न नहीं करना। परन्तु ज्ञायककी शक्ति धारण करनेवाला कौन है?—उस द्रव्यको ग्रहण करनेका प्रयत्न करना। 'यह जाना, यह जाना' ऐसे पर्यायको ग्रहण न करके अखंड ज्ञानको ग्रहण करनेका प्रयत्न करना। उसके लक्षणसे ज्ञायकका ग्रहण होता है। पर्याय ग्राहकरूपमें बीचमें आती है। १०६.

प्रश्न :—*हमें स्वभाव प्राप्त करना है वह नहीं होता, इसलिये उलझन होती है।*

समाधान :—अंतरमें ज्ञायकदेव प्रगट न हो, तबतक आत्मार्थीको संतोष नहीं होता, परन्तु शांति रखकर प्रयत्न करना। ज्ञायकदेवको ग्रहण करनेके लिये उसका बारंबार अंतरसे अभ्यास करना; अकुलाना नहीं। शांति रखकर एकत्वबुद्धि तोड़नेका प्रयत्न करना। प्रयत्न तो बारम्बार स्वयंको ही करना है। अपनी भूलसे स्वयं विभावमें दौड़ जाता है, और स्वयं पुरुषार्थ करे तो अपनी ओर आता है। इसलिये बारम्बार गहराईमें उतरकर स्वभावको

ग्रहण करनेका प्रयत्न करना। बारम्बार चैतन्यका अभ्यास करे तो सहज हो जाय और ज्ञायक प्रगट हुए बिना न रहे। समझपूर्वक बारम्बार करनेसे फिर उसे सहज हो जाता है। शुरुआतकी भूमिका दुष्कर है। १०७.

प्रश्न :—*स्वभावकी शीघ्र प्राप्ति हो उसका कोई उपाय है क्या?*

समाधान :—प्राप्त करनेका उपाय एक भेदज्ञान ही है। चैतन्य-ज्ञायक भिन्न और विभाव भिन्न, इसप्रकार स्वभाव-विभाव दोनोंको पृथक् करना। यथार्थ रुचि, महिमा, लगन, तत्त्वविचार करके स्वयं स्वभावको ग्रहण करनेकी परीक्षकशक्ति अंतरसे ऐसी प्रगट करनी चाहिये कि 'यह स्वभाव है और यह विभाव है।' भीतर लगन लगे तो कार्य हुए बिना नहीं रहता। देव, शास्त्र और गुरुदेव क्या कहते हैं, उनका आशय ग्रहण करनेके लिये अंतरमें स्वयं तैयारी करे, चैतन्यस्वभावको ग्रहण करनेकी प्रबल तैयारी करे तो प्राप्ति हुए बिना रहे नहीं। उपाय तो यह एक ही है कि ज्ञायकतत्त्व भिन्न और विभाव भिन्न—ऐसा भेदज्ञान करना। 'मैं अखंड ज्ञायक हूँ' ऐसे दृष्टि होनेपर गुणभेद-पर्यायभेदका ज्ञान उसमें समा जाता है। यथार्थ दृष्टि होनेपर उसके साथ ज्ञानमें सब समा जाता है। उसे पात्रता तैयार करनेकी रहती है। जिसे आत्मार्थका प्रयोजन है उसे लौकिक प्रयोजन सब गौण हो जाते हैं, छूट जाते हैं और एक आत्माका ही प्रयोजन रहता है। १०८.

प्रश्न :—*यह जीव सब कुछ सुनने पर भी आगे क्यों नहीं बढ़ता?*

समाधान :—गुरुदेवको गहराईसे क्या कहना है? वे क्या कह रहे हैं?—उस आशयको ग्रहण करके फिर प्रयत्न नहीं किया। प्रथम तो आशय ग्रहण नहीं किया, इसलिये आशय ग्रहण करके अपना पुरुषार्थ उभरना चाहिये वह नहीं होता। गुरुदेवने मार्ग बतलाया कि 'यह मार्ग है'—वह बुद्धिमें ग्रहण हुआ किंतु उसका आशय अंतरमें उतारकर आगे चलना चाहिये वह नहीं चलता, और ज्यों का त्यों अज्ञानमें खड़ा रहता है। वैसी रुचि होनेपर भी आगे नहीं बढ़ता ! अनंतकालमें कभी-कभी सत् सुननेको तो मिला किंतु स्वयंने ग्रहण नहीं किया, और ग्रहण करे तो पुरुषार्थ नहीं करता। उसकी बुद्धिमें यह निर्णय तो होता है कि गुरुदेवने यह मार्ग कहा है—विकल्पसे आत्मा भिन्न है, आत्मा शाश्वत है, तथा विभावसे भिन्न है; गुणभेद-पर्यायभेद वास्तविक आत्मामें नहीं हैं; आत्मा स्वरूपसे अखंड है; आत्माको और इन सब गुण-पर्यायोंको लक्षणभेद है। ऐसे वह बुद्धिमें तो सब ग्रहण करता है, परन्तु अंतरमें परिणति करनी चाहिये सो नहीं करता अर्थात् बुद्धिसे

निर्णय करता है, किंतु आगे नहीं जाता। उसे इतनेमें संतोष हो जाता है। पीछे करुँगा.....बादमें करुँगा, ऐसा प्रमादभाव रहता है इसलिये आगे नहीं जाता। १०९.

प्रश्न :—*वचनामृत बोल ४७में एक दृष्टांत आया है कि अपनी ही लारमें लिपटी हुई मकड़ी यदि छूटना चाहे तो छूट सकती है, घरमें रहनेवाला मनुष्य अनेक कार्योंकी उपाधिमें फँसा हुआ दिखता है, तथापि मनुष्यरूपसे वह छूटा हुआ है, वैसे ही त्रैकालिक द्रव्य बँधा हुआ नहीं है। तो इस दृष्टांत द्वारा सिद्धांत क्या समझें ? यह दृष्टांत ही ठीकसे समझमें नहीं आता।*

समाधान :—दृष्टांत सर्व प्रकारसे घटित नहीं होता, उसका आशय ग्रहण करना चाहिये। जैसे कोई मनुष्य उपाधियोंमें फँसा हुआ दिखाई देता है तथापि मनुष्यरूपसे वह छूटा हुआ है। मनुष्य बाहरसे बँधा हुआ लगे किंतु वह वास्तवमें कुछ बँधा हुआ नहीं है। यह स्थूल दृष्टांत है। उसी प्रकार चैतन्यद्रव्य वास्तवमें परद्रव्यके साथ बँधा हुआ नहीं है, चैतन्यद्रव्य द्रव्यरूपसे छूटा ही है। चैतन्यद्रव्य इस पुद्गलके साथ बंधनमें नहीं आया है, पुद्गल जड है और स्वयं चैतन्य है। चैतन्य चैतन्यरूपसे छूटा है, पुद्गल पुद्गलरूपसे छूटा है। दोनों पृथक् द्रव्य हैं। तथापि भ्रमबुद्धिमें मान लिया है कि मैं बँधा गया हूँ। मैं शरीररूप और विकल्परूप हो गया हूँ—ऐसा स्वयंने मान लिया है। वास्तवमें चैतन्यद्रव्य परद्रव्यरूप नहीं हुआ; पृथक् है। तू पृथक्को पृथक् जान ले। यह तो कल्पना हो गई है कि मैं इसमें बँध गया हूँ, मैं शरीररूप-विकल्परूप हो गया हूँ—ऐसी अपनी मान्यताका भ्रम छोड़ दे, तो तू मुक्त ही है, उस मुक्तको ग्रहण कर ले। मुक्त बंधनमें आ गया हो तो बंधन कैसे तोड़ना ऐसा 'विचार' हो, परन्तु तू वास्तवमें बँधा हुआ ही नहीं है, इसलिये तू मुक्त ही है।—यह आशय इसमेंसे ग्रहण करना।

तेरी विभावपरिणति होती है, उस विभावकी ओर दृष्टि नहीं देकर, तू मुक्त है उसे ग्रहण कर। पर्यायमें जो विभावपरिणति होती है उस पर्यायको गौण करके द्रव्यरूपसे मैं मुक्त ही हूँ ऐसा देख। मकड़ी मकड़ीके रूपमें छूटी हुई ही है, वैसे ही तू द्रव्यरूपसे मुक्त ही है इसलिये द्रव्यको ग्रहण कर ले। पर्यायमें विभावपरिणति होती है परन्तु उससे द्रव्य न्यारा है। यही उसमें सिद्ध करना है। तू मुक्त ही है, बँधा हुआ नहीं, इसलिये मुक्तको ग्रहण कर ले। अनादिकालसे तूने चाहे जितने भव किये, तुझे चाहे जितने विभाव हुए, परन्तु तू द्रव्यरूपसे मुक्त-शुद्धात्मा ही है, इसलिये उसे ग्रहण कर। द्रव्यदृष्टिसे उस ओर देख, तो तू मुक्त ही है।

गुरुदेव कहते हैं न! कि खुद खंभेको बाँहोंमें भर रखा है और कहता है कि अब तो मुझे छोड़, किन्तु तूने ही उसे पकड़ रखा है इसलिये तू उसे छोड़ दे। उसी प्रकार स्वयं भ्रमसे विभावपरिणति कर रहा है उसे छोड़, तो तू मुक्त ही है। अपनी एकत्वबुद्धिको छोड़ तो तू मुक्त ही है।

वह दृष्टि पलट नहीं सकता। इसमें बाहरसे कुछ करना नहीं है। अन्य किसी प्रकारकी महेनत भी नहीं करनी है। फिर भी इस स्थूलतामेंसे अंतरमें सूक्ष्म उपयोग करके दृष्टि बदलनेमें उसे बड़ी कठिनाई लगती है। स्थूलबुद्धिसे इन विकल्प–शरीरादि सबका तो ग्रहण होता है, किन्तु उनमेंसे सूक्ष्मदृष्टि करके दिशा बदलना कठिन लगता है। वह बाहरका सब स्थूल–स्थूल करने जाता है, अर्थात् उपवास करना हो तो कर दे, बाहरसे महेनत करनी हो तो वह भी कर दे। जबकि इसमें तो अन्य कुछ करनेका नहीं है मात्र दृष्टि बदलकर चैतन्यको ग्रहण करनेका है। तथापि सूक्ष्म उपयोग—सूक्ष्म परिणति—करके अंतरमें जाना उसे मुश्किल पड़ता है। अनन्तकाल बीत गया परन्तु दिशा नहीं बदलता।

मुमुक्षु :—एक दृष्टि बदलनेमें ही अनन्तानंत भवपरावर्तन हो गये?

बहिनश्री :—अनन्त परावर्तन किये तथापि दृष्टि बदलना नहीं आया। शुभभावकी रुचिमें कहीं न कहीं फँस जाता है। 'शुभसे लाभ है' ऐसी अंतरंग गहरी रुचिका रस होनेसे किसी क्रियाके विकल्पके रसमें रुक जाता है। प्रवृत्तिके बिना कैसे रहा जाये?—इसप्रकार कहीं न कहीं (अन्य) रुचिमें अटक जाता है, परन्तु दृष्टिको अंतरमें नहीं बदलता। ११०.

प्रश्न :—*आपने कहा है कि पूज्य गुरुदेवके वचनामृतोंका अंतरमें प्रयोग करना; तो प्रयोगका अर्थ क्या? वह कैसे किया जाय?*

समाधान :—गुरुदेवने जो वचन कहे हैं—उन्होंने जो उपदेश दिया है—उसका तू अंतरमें प्रयोग करके उसे अंतरमें उतार। गुरुदेवने उपदेशमें जो मार्ग बतलाया है, उन्होंने जो आज्ञा की है, उसका अंतर प्रयोग करके तू अपने पुरुषार्थमें उतार दे, तो तुझे परिणति प्रगट होगी। गुरुदेव जो कहते हैं उसे मात्र सुन लेना ऐसा नहीं, परन्तु उसका अंतरमें प्रयोग कर। गुरुदेव ऐसा कहते हैं कि 'तू भिन्न शुद्धात्मा है, शुभाशुभभावसे न्यारा अंदर चैतन्य है' ऐसा जो बतलाया है तदनुसार प्रयोग कर, पुरुषार्थ कर। उसे तू अपनी परिणतिमें उतार।

मुमुक्षु :—यह श्रद्धाका प्रयोग कहलाये या चारित्रका?

बहिनश्री :—यह श्रद्धाका प्रयोग है। उसने अभी विकल्पसे श्रद्धा की है। अंतरमें यथार्थ श्रद्धा हुई कब कहलाये? कि जब न्यारी परिणति हो तब यथार्थ श्रद्धा हुई ऐसा कहलाये और तब श्रद्धाका प्रयोग किया, ऐसा कहलाये। जो यथार्थ प्रतीति हो उसके साथ स्वरूपाचरणचारित्र भी होता है, परन्तु वह चारित्रमें नहीं गिनाता; विशेष लीनता हो वह चारित्र कहलाता है। इसलिये यह श्रद्धाका ही प्रयोग है। अंतरमें यथार्थ परिणति प्रगट करनी सो श्रद्धाका प्रयोग है। श्रद्धा अर्थात् आत्माका जैसा स्वरूप है वैसी यथार्थ प्रतीतिकी परिणति। ज्ञायककी ज्ञायकरूप परिणति प्रगट हो वह श्रद्धाकी (प्रतीतिकी) परिणति है। उस प्रतीतिके साथ अमुक प्रकारकी लीनता आती है परन्तु वह चारित्रकी कोटिमें गिननेमें नहीं आती। १११.

प्रश्न :—*ज्ञानीको उदयभाव जुदा दिखाई देता है?*

समाधान :—ज्ञानीको जुदा ही दिखाई देता है। जुदा ही वेदन है। यह क्रोध जुदा और ज्ञान जुदा—ऐसे ज्ञायककी धारा एवं उदयधारा दोनों जुदी वेदनमें आती हैं। उदयधारामें स्वयं अल्प जुड़ता है; परन्तु वेदनमें दोनोंकी जुदी धारायें ज्ञानमें जाननेमें आती हैं। अंशतः ज्ञायकधारा, अंशतः शान्तिधारा तथा उदयधारा दोनों वेदनमें हैं। मैं चैतन्य अखंड शाश्वत हूँ, यह क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है, इसप्रकार चैतन्यको द्रव्यदृष्टिसे पृथक् किया है अतः दृष्टि चैतन्यपर है, और पर्यायमें अंशतः शांतिकी धारा तथा उदयधारा—दोनों धारायें जुदी वर्तती हैं। (ज्ञानी) सहज भिन्न वर्तता है। उसे कुछ याद नहीं करना पड़ता। ११२.

प्रश्न :—*रुचि स्वयंने की है, तथापि परिणति क्यों नहीं पलटती?*

समाधान :—रुचिकी मंदता अपनी है। उग्र रुचि हो तो परिणति पलटे बिना रहे ही नहीं। रुचि ऐसी होती है कि बाह्यमें उसे कहीं चैन न पड़े। ऐसी रुचि अंतरमें उग्र हो तो स्वयं पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। ११३.

प्रश्न :—*उग्र रुचिके पुरुषार्थका स्वरूप समझानेकी कृपा करेंगे?*

समाधान :—अनादिका जीवको अभ्यास है वहाँ दौड़ जाता है, इसलिये विभाव सहज हो गया है; और यहाँ अंतरकी दिशा बदलनी है वह रह जाती है; क्योंकि इतनी

रुचिकी–पुरुषार्थकी मंदता है। अंतरमें इतनी लगन लगी हो कि बस, अब यह चैतन्य.... चैतन्य....चैतन्य....बगैरकी परिणति मुझे चाहिये ही नहीं, मुझे तो चैतन्यका अस्तित्व ही चाहिये, मुझे यह विभावरूप अस्तित्व नहीं चाहिये।—इतनी अंतरसे लगन, महिमा, रुचि हो, उग्रता हो तो पुरुषार्थ टिकता है, नहीं तो पुरुषार्थ बार बार छूट जाता है और मात्र विकल्पमें रहता है, किन्तु अंतरसे सचमुच लगे तो पुरुषार्थ टिके और तब उसके निर्णयका कार्य आये—प्रतीतिरूप कार्य हो। उसके निर्णयमें ऐसा आये कि यह ज्ञायक मैं हूँ और यह विभाव मुझसे भिन्न है; किन्तु जो भिन्न है वह भिन्नरूपसे कार्य करे तो प्रतीतिने कार्य किया कहलाये। विभावका भिन्नरूपसे कार्य न आये तबतक यथार्थ प्रतीति नहीं है, और निर्णय ज्यों का त्यों बुद्धिपूर्वक रह जाता है। ११४.

प्रश्न :—*अनुभवसे पूर्व क्या आना चाहिये?*

समाधान :—भेदज्ञानकी धाराका कार्य आना चाहिये। निर्विकल्पदशाका जो कारण है वह यथार्थ होना चाहिये। उससे पहले वह अभ्यास करता रहे और छूट जाय तो पुनः अभ्यास करे। ११५.

प्रश्न :—*मेरी आयु पूर्ण होनेका समय आ गया है, तो मुझे आत्माका अनुभव करनेके लिये क्या करना चाहिये? वह कृपया संक्षेपमें समझायें।*

समाधान :—सबको एक ही करनेका है। आचार्यदेव कहते हैं कि आबालवृद्ध सबको एक ज्ञायक आत्मा पहिचाननेका है, यह एक ही कार्य है। बहुत वर्षों तक सुना है, अब तो बस, एक ज्ञायक आत्माको पहिचानना, वही करना है। ज्ञायक जुदा है और शरीर जुदा है। विभावभाव अपना नहीं है, उससे स्वयं भिन्न है। आत्मा शाश्वत है; आयु और रोगादि सब शरीरको लागू होते हैं, आत्माको कुछ लागू नहीं होता—इसप्रकार आत्माको पहिचानना कि आत्मा ज्ञायक है। देव–गुरु–शास्त्रकी महिमापूर्वक अंतरमें शुद्धात्माको पहिचाननेका प्रयत्न करना। सबको यह एक ही कार्य करना है। मैं ज्ञायकदेव भगवान् आत्मा हूँ, मेरे आत्मामें सर्वस्व–सब कुछ है। मैं अद्भुत, अनुपम आनंद एवं ज्ञानसे भरा हुआ हूँ, अनन्त प्रभुतासे भरपूर चैतन्य हूँ। मैं एक अद्भुततत्त्व हूँ। शरीरकी चाहे जो अवस्था हो वह मैं नहीं हूँ। मैं तो उससे भिन्न अद्भुत शाश्वत चैतन्य हूँ।—इसप्रकार आत्माको पहिचाननेका प्रयत्न करना। ११६.

प्रश्न :—*आपको तो नारियलके गोलेकी भाँति चैतन्य पिण्ड पृथक् हो गया है, जबकि हमें परमें एकत्वबुद्धि हो रही है, तो उसके लिये क्या करें?*

समाधान :—पृथक् होनेका प्रयत्न करना। सबको एक ही करनेका है, न्यारा होनेका प्रयत्न करना। न्यारेकी रुचि हो तो न्यारा होनेका प्रयत्न करना। न्यारा जो आत्मा है उसमें ज्ञान, आनंद है। परके साथ एकत्वबुद्धि है तो न्यारा होनेकी रुचि करनी, न्यारा होनेका प्रयत्न करना। यह एक ही करनेका है। स्वयं ही एकत्वबुद्धि कर रहा है और न्यारा भी स्वयं ही हो सकता है। जन्म-मरण करनेवाला भी स्वयं ही है और मोक्ष जानेवाला भी स्वयं ही है। स्वयं स्वतंत्र है। अनादि बाह्य अभ्यासवश स्वयं कहीं न कहीं रुक गया है। यदि चैतन्यका गाढ अभ्यास करे तो भिन्न हुए बिना नहीं रहता।

परका कर्तृत्व सहज हो गया है और स्वयं आत्मा होनेपर भी अपना कार्य करना दुष्कर हो गया है। उसे दूसरा कौन करे?—स्वयं सहज करनेका प्रयत्न करे तो हो। ११७.

प्रश्न :—*रुचि करनेमें कोई मदद नहीं कर सकता?*

समाधान :—रुचि तो स्वयंको ही करनी होती है। रुचि करनी सो अपने हाथकी बात है। रुचि कोई और नहीं करा देता। गुरुदेव तो मार्ग बतलाते हैं कि चैतन्य यह है, सुख आत्मामें है, बाहर नहीं। गुरुदेव कहते हैं कि हम तुझे जताते हैं कि आत्मा अनुपम है, तू उसकी रुचि कर। यह दुःख है, यह सुख है। यदि तुझे सुख चाहिये तो आत्माकी रुचि कर; और तुझे रुचि न करनी हो और परिभ्रमण करना हो तो वह भी तेरे हाथकी बात है। तुझे यदि आत्मामेंसे सुख प्रगट करना हो तो उसकी रुचि कर। समझपूर्वक रुचि करके उस मार्गपर जा; तो तुझे मार्ग सुगम-सरल होगा। रुचिके साथमें समझ भी साथ आती है। इसलिये समझपूर्वक कर। ११८.

प्रश्न :—*यदि स्वभावकी महिमा आये तो अनुभव हो परन्तु हम जैसे अज्ञानीने स्वभाव तो देखा नहीं है, इसलिये आत्माका माहात्म्य कैसे आये वह विस्तारसे समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—स्वभाव नहीं देखा तथापि विचारसे निश्चित कर सकता है। आत्माकी ओर रुचि रहे, बाह्यमें कहीं रुचि या शान्ति न लगे, आकुलता लगे; प्रत्येक विचारमें भी गहरा उतरकर देखे तो वह आकुलतास्वरूप ही लगे; इसलिये आनन्दस्वरूप क्या है? यह सब

आकुलतास्वरूप है तो आनंद किस तत्त्वमें है?—इसप्रकार आनंदकी एकदम खोज करे; तथा ये सब पदार्थ क्षण-क्षणमें परिवर्तित होते हैं तो शाश्वत ऐसा कौन सा द्रव्य है कि जिसमें आनन्द भरा है? अनन्तज्ञानसे भरा हुआ द्रव्य कैसा है?—इसप्रकार बारम्बार उस ओरके अंतरमें विचार करे तो स्वभावकी पहिचान हो। बाहरका यह सब तो रूखा (नीरस) है, उसमें कहीं संतोष या शांति नहीं है। किन्तु एक चैतन्यतत्त्व ही ऐसा है कि जिसमें अनन्त शांति-सुख-आनन्द एवं अपूर्वता भरी हुई है।—इसप्रकार आत्माको स्वभावसे पहिचानना।

देव-गुरु स्वानुभव करके कह रहे हैं कि जो अनन्तकालसे प्रगट नहीं हुआ ऐसा कोई अनुपम तत्त्व तुझमें (विद्यमान) है।—इस बातका स्वयं विचार करके अपने स्वभावके साथ मिलान करे और निश्चित करे कि मेरा अपूर्वतत्त्व कोई निराला ही है तथा परिणति अंतरमें जाये तो अनुभव हो सके ऐसा है।

गुरुदेवकी वाणीके पीछे अपूर्वता थी। वे आत्माकी अपूर्वता, आत्माके चमत्कार, आत्माकी महिमा बतलाते थे।—उस बातका स्वयं अंतरमें अपने स्वभावके साथ मिलान करके, मुझे दिखाई नहीं देता तथापि आत्मा महिमारूप है, ऐसे निश्चित करना। स्वयं विचार करके तथा शास्त्र द्वारा, गुरुकी वाणी द्वारा एवं युक्तिसे अंतर चैतन्यका स्वभाव पहिचानकर निश्चित करे। जो स्वभाव हो वह अमर्यादित होता है; तथा जो आनंदको चाहता है उस तत्त्वमें अनन्त एवं अपूर्व आनंद भरा हुआ होना चाहिये; तथा आनंद किसी अन्यके आश्रयसे नहीं होता (अर्थात्) स्वयंसे होता है।—इसप्रकार अंतरमें स्वयं मिलान करके निश्चित करे, महिमा लाये तथा उस ओरका पुरुषार्थ करे, वह आत्माका माहात्म्य लानेका उपाय है। ११९.

प्रश्न :—*ज्ञानीकी मुद्राका निदिध्यासन करनेसे उन्हें पहिचाना जा सकता है?*

समाधान :—सत्पुरुषकी मुद्रा द्वारा उनका आत्मा क्या कर रहा है वह पहिचाना जा सकता है, परन्तु अपनी पात्रताकी इतनी तैयारी होनी चाहिये न? मुझे अंतरमें सत्स्वरूप कैसे प्रगट हो? ऐसी सत्की जिज्ञासा जिसे जागृत होती है वह, जिन्हें सत् प्रगट हुआ है ऐसे सत्पुरुषको वाणी द्वारा, मुद्रा द्वारा पहिचान सकता है। परन्तु उसकी स्वयंकी ज्ञानीको पहिचाननेकी तैयारी होनी चाहिये। सत्के ओरकी रुचि हो तो ज्ञानी क्या करते हैं वह भी मुद्रा द्वारा पहिचान सकता है। १२०.

प्रश्न :—*आत्मसाधना किससे होती है? दृष्टिसे या ज्ञानसे?*

समाधान :—दृष्टि मुख्य है, उसके साथ विचार भी होता है। दृष्टि और ज्ञान दोनों

साथ ही होते हैं। दृष्टि सम्यक् हो, उसके साथ ज्ञान भी सम्यक् होता है। शुरुआतमें जो विचार आते हैं वे मार्गको निर्मल (स्पष्ट) करते हैं—वस्तु क्या है? द्रव्य क्या है? गुण क्या है? विभाव क्या है? स्वभाव क्या है? आदि सब विचार द्वारा निश्चित होता है। दृष्टि एक चैतन्यतत्त्वका आलंबन करती है। साधनामें दृष्टि मुख्य है, परन्तु ज्ञान साथ होता है, दोनों साथ हैं। प्रारंभमें सब निर्णय विचार द्वारा होता है पश्चात् उसकी दृष्टि सम्यक् होती है।

व्यवहार अपेक्षासे पहले ज्ञान आता है फिर दृष्टि, तथापि यथार्थ वस्तुस्थितिसे दृष्टि मुख्य है। निश्चयकी अपेक्षासे साधनामें दृष्टि मुख्य है; परन्तु निर्णय करनेमें विचार साथ होता है। इसलिये दोनों अपेक्षायें समझना। १२१.

प्रश्न :—*दृष्टि और ज्ञान दोनों साथ साथ हैं तो अनुभवकालमें किस प्रकार साथ होते हैं?*

समाधान :—दृष्टि और ज्ञान दोनों साथ होते हैं। ज्ञानमें जो रागमिश्रित विचार चलते थे वे अनुभवके कालमें छूट जाते हैं। निर्विकल्पदृष्टि तो अभेदपर है, और रागमिश्रित विचार ज्ञानमेंसे छूट जानेपर ज्ञान स्वयं भी आत्माके साथ एकाकाररूप हो जाता है, इसप्रकार दोनों साथ होते हैं। १२२.

प्रश्न :—*स्वभावका ग्रहण नहीं होता इसलिये दुःख होता है, आकुलता होती है, तो क्या करें?*

समाधान :—दुःख होता हो तो वह भावनारूप होना चाहिये, आकुलतारूप नहीं। कहीं भी अच्छा न लगे, शुभाशुभमें कहीं भी चैन न पड़े, तो अंतरमें स्वको ग्रहण करे परन्तु घबराहट हो ऐसे नहीं। भावना ऐसे हो कि कहीं भी चैन नहीं पड़ता, स्वभावको ग्रहण कर लूँ। दुःखके पीछे ऐसे आना चाहिये कि स्वभावको ग्रहण करूँ....स्वभावको ग्रहण करूँ। दुःख दुःखरूप ही रह जाये तो कारण नहीं बनता। दुःखमेंसे स्वभाव ग्रहण करनेकी ओर परिणति जाय तो कारण बनता है। प्रयत्न करते रहना, किन्तु आकुलता नहीं होने देना। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है उसकी श्रद्धा करनी, उसका ज्ञान करना तथा उसमें लीनता करनी। यही वास्तवमें करना है। १२३.

प्रश्न :—*गजसुकुमार मुनिके सिर पर अँगीठी जल रही थी, उस समय मुनिराजका उपयोग आत्मामें था?*

समाधान :—मुनिराजका उपयोग भगवान् आत्मामें था। अँगीठी जल रही थी,

मगर अँगीठी अँगीठीमें रह गई और उपयोग स्वानुभूतिमें ऐसा चला गया कि श्रेणि चढ़कर केवलज्ञान हो गया। उपयोग चैतन्यलोकमें चला गया तो शरीरमें क्या होता है उसका ध्यान भी नहीं रहता; शरीर और शरीरकी वेदनाका ध्यान नहीं रहता। यदि उपयोग बाहर आता तो सिरपर अँगीठी है ऐसा ज्ञान होता; परन्तु मुनिराज तो अंतरमें गये सो गये, श्रेणि चढ़ गये, बाहर आये ही नहीं। अँगीठी अँगीठीमें रह गई, और चैतन्य चैतन्यलोकमें चला गया, केवलज्ञान हो गया, पूरे लोकालोकका प्रकाशक हो गया, चैतन्यके अनन्त गुण-पर्यायोंका वेदन हो गया, चैतन्यकी स्वानुभूतिका पूर्ण वेदन हो गया। १२४.

प्रश्न :—*इष्टोपदेशमें आता है कि ज्ञानी देखते हुए भी नहीं देखता, चलते हुए भी नहीं चलता, तो क्या विकल्पमें आने पर भी ऐसा रहता है?*

समाधान :—ज्ञानीका उपयोग बाहर आये तब भी वे देखते हुए नहीं देखते। ज्ञानीकी दृष्टि चैतन्यपर रहती है; उपयोग बाह्यमें हो तब भी दृष्टि चैतन्यपर तो रहती है। उन्हें प्रतिक्षण ज्ञायककी धारा चलती रहती है। ज्ञानीकी दृष्टि बदल गई है, एकत्वबुद्धि टूट गई है। मैं तो ज्ञायक हूँ.....ज्ञायक हूँ.....ज्ञायक हूँ.....ऐसी ज्ञायककी धारा वर्तती है; इसलिये वे चलते हुए भी नहीं चलते, देखते हुए भी नहीं देखते। ज्ञानीकी दृष्टि ज्ञायकपर होनेसे भेदज्ञानकी धारा चलती है कि यह पाँव चल रहे हैं, मैं नहीं चलता। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा विकल्प नहीं है किन्तु सहज ज्ञायककी धारा चलती है। आँखें जड हैं, आँखसे मैं नहीं देखता, मैं तो ज्ञायक हूँ, मैं शरीरसे चलनेवाला नहीं, मैं तो ज्ञायक हूँ..... ऐसी ज्ञायककी धारा ज्ञानीको वर्तती है। दृष्टि बाह्यमें नहीं है, दृष्टि भीतरमें चली गई है, एकत्वबुद्धि टूट गई है, कर्तावुद्धि छूट गई है, और मैं तो स्वभावको जानने-देखनेवाला हूँ ऐसी सहजदशा हो गई है। १२५.

प्रश्न :—*त्रैकालिक ध्रुवतत्त्व एवं पर्यायके बीच प्रदेशभिन्नता किस प्रकार है? भावभिन्नता तो समझमें आती है, किन्तु प्रदेशभिन्नता कैसे है?*

समाधान :—द्रव्यदृष्टिके बलसे ऐसा कहा जाता है कि पर्यायके प्रदेश भिन्न हैं। द्रव्यमेंसे पर्याय आती है, परन्तु द्रव्यदृष्टिमें अकेले द्रव्यका ग्रहण होता है और पर्याय गौण होती है, इसलिये द्रव्यदृष्टिके बलमें प्रदेशभेद हैं, ऐसा कहा जाता है। मेरा स्वभाव पर्याय जैसा क्षणवर्ती नहीं है, मैं तो शाश्वत आत्मा हूँ। ऐसी द्रव्यदृष्टिमें अकेला द्रव्य ही देखनेमें आता है, अकेले द्रव्यका ही जोर रहता है। इसलिये पर्यायका भाव भिन्न है और इसलिये

उसका क्षेत्र भी भिन्न है—ऐसा द्रव्यदृष्टि कह देती है। द्रव्यदृष्टिमें पर्यायका भाव भिन्न है और प्रदेश भी भिन्न है।

परन्तु ज्ञानमें ऐसा ज्ञात होता है कि यह जो द्रव्य है इसमें यह पर्याय उत्पन्न होती है, पर्याय क्षणवर्ती है और मैं त्रैकालिक हूँ—इसप्रकार द्रव्य तथा पर्याय दोनोंको जाननेवाला ज्ञान अपेक्षासे समझता है। द्रव्यदृष्टिकी मुख्यतामें पर्याय गौण होती है, इसलिये भावभिन्नता भासित होती है उस समय साथमें क्षेत्रभिन्नता है, ऐसा दृष्टिके जोरमें आता है। यह पर्याय क्षणिक है, उतना मैं नहीं; मैं तो त्रैकालिक शाश्वत हूँ, मैं तो अनादि-अनन्त हूँ; इसप्रकार दृष्टि तो अकेले ध्रुव अस्तित्व पर ही है, (परिणमन या किसी भेद पर नहीं,) इसलिये वह सब भिन्न-भिन्न कर देती है। द्रव्यदृष्टिकी मुख्यता और उसके जोरमें ऐसा आता है, परन्तु ज्ञान तो साथ ही उपस्थित है, वह दोनोंका विवेक करता है।

पर्याय यदि अधरमें लटकती (झूलती) हो तो आत्माको वेदन क्यों होता है? आत्मामें शुद्धपर्याय-अनुभूतिका वेदन होता है, इसलिये पर्याय अधरमें नहीं लटकती (झूलती)। आत्माके स्वभावमें परिणमन होता है। अनुभूतिमें अनन्तगुण-पर्याय परिणमित हो, उनका वेदन आत्माको होता है। यदि पर्यायका क्षेत्र बिलकुल भिन्न हो तो आत्माको वेदन कैसे हो? ज्ञान दोनोंका विवेक करता है; परन्तु द्रव्यदृष्टि इतनी बलवान् है कि उसकी मुख्यताका जोर भावसे, क्षेत्रसे, सर्वप्रकारसे भिन्न कर देता है। साधकदशामें द्रव्यदृष्टि मुख्य रहती है और उसमें ऐसा आता है कि मैं तो शाश्वत आत्मा हूँ, अन्य कुछ नहीं। १२६.

प्रश्न :—*उपयोगको अंतरमें झुकाने जाते हैं किंतु वह नहीं झुकता और इन्द्रिय, मनकी ओर आकर्षित हो जाता है। तो, बाहरकी ओरका रस तोड़ना और अंतरका रस उत्पन्न करना—ऐसे दो कार्य करने हैं?*

समाधान :—अंतरका रस लगे तो उसे बाहरका रस सहज ही छूट जाता है। उसे दो प्रयत्न नहीं करने पड़ते। एक ओरका आकर्षण हो तो दूसरी ओरका रस सहज ही छूट जाता है। जीवको अपने आत्मा तरफका रस जगे, वहाँ विभावकी ओरका रस सहज ही छूट जाता है। अपने तरफकी रमणता बढ़े, चैतन्यमें लीनता बढ़े वहाँ बाह्यका रस सहज ही टूट जाता है। जैसे कि स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हो वहाँ अनन्तानुबंधीका रस टूट ही जाता है। अंतरसे स्वानुभूति बढ़े वहाँ देशविरतपना सहज ही आ जाता है। फिर उसे इतने विषय छोड़ना अथवा ऐसा करना, इसप्रकार रुकना नहीं पड़ता। यदि बाहर का बाहर ही रुका रहे तो फिर उसे रस नहीं टूटता।

यह कषाय कम करना अथवा ऐसा करना ऐसे नहीं, परन्तु अपनी ओर झुके वहाँ रस सहज ही टूट जाता है। वह शुभभावनामें आये तब मंद कषाय होते हैं, परन्तु कषायोंका अभाव तो भेदज्ञानकी धारा प्रगट हो तथा उपयोग अपनी ओर जाये वहाँ सहज ही हो जाता है। उसे दो प्रयत्न नहीं करने पड़ते। एक प्रयत्नमें दूसरेका समावेश हो जाता है। जहाँ बाहरका रस टूटे वहाँ अंतरका रस बढ़ जाता है और जहाँ अंतरका रस बढ़े वहाँ बाहरका रस टूट ही जाता है। अलग-अलग दो प्रयत्न नहीं करने पड़ते। १२७.

प्रश्न :—*आत्म-अनुभव नहीं होनेमें दृष्टिका दोष है या ज्ञानका?*

समाधान :—आत्माका अनुभव नहीं होता उसमें दृष्टि और ज्ञान दोनोंका दोष है। दृष्टिका दोष मुख्य है। दृष्टिका जोर हो तो ज्ञानका जोर हो। दृष्टि सम्यक् हो तो ज्ञान भी सम्यक् होता है। दृष्टि और ज्ञान दोनोंमें विपरीतता है। परन्तु दृष्टि मुख्य है। यदि दृष्टि बदले तो ज्ञान बदल ही जाता है।

प्रथम भूमिकामें सच्चा ज्ञान, सच्चे विचार आदि सब आते हैं परन्तु मोक्षमार्गमें सर्व प्रथम दृष्टि है। दृष्टिके साथ ज्ञान होता है। दृष्टि सम्यक् हो, वहाँ ज्ञान सम्यक् हो जाता है। गुरुदेवने इतना स्पष्ट किया है कि कोई भूल न हो। जो भी अटकता है वह अपनी भूलसे अटकता है। १२८.

प्रश्न :—*आप हमें उचित मार्गदर्शन दीजिये ऐसा हमारा नम्र निवेदन है।*

समाधान :—मुक्तिका एक ही मार्ग है; उसी मार्गपर चलना है। गुरुदेवने एक ही मार्ग बतलाया है कि सब कुछ करके एक आत्मकार्य करना है।

तत्त्वका चिंतन करे, शास्त्राभ्यास करे, देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा करे अथवा आत्माकी महिमा करे उन सबमें एक आत्माका ही ध्येय रखना है। आत्माको पहिचानना वही कर्तव्य है। आत्माका स्वभाव कैसे प्रगट हो? उसका मूल स्वभाव जो ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि अनन्त गुणोंसे भरा हुआ है वह शुद्धरूप, कैसे (तद्रूप) परिणमित हो? जो विभावपर्याय अनादिसे हो रही है वह पलटकर स्वभावपर्याय कैसे हो? शुद्धात्मा कैसे शुद्धतारूप परिणमन करे?—यह प्रयत्न करनेका है।

विभावकी ओर दृष्टि करनेसे विभावपर्याय हो रही है वह छूटकर शुद्धरूप परिणमन हो वह उसके सम्यक् स्वभावकी प्रकटता है। वह स्वभाव उसका घर है, रहनेका मूल स्थान है।

'समयसार'में आता है न? कि ज्ञायकभाव ही स्थाताका स्थान है, रहनेवालेका रहनेका स्थान है, वह सर्वस्व है। परन्तु अज्ञानी जो अपना स्वभाव नहीं है, अपना घर नहीं है अर्थात् जो परघर है वहाँ बाहरमें चला गया है।

चैतन्यका स्वामित्व चैतन्यमें है तथापि परका स्वामित्व अज्ञानअवस्थावश मान रखा है। 'परका कर सकता हूँ' ऐसा मानना वह अज्ञान है। वह परका कर नहीं सकता फिर भी परका करनेका मिथ्या प्रयत्न कर रहा है। स्वयं चैतन्यकी ओर दृष्टि करे तो स्वयं अपना कर सकता है। अपनी पर्यायका शुद्धतारूप परिणमन वह स्वयं कर सकता है। यह सब परघर है उससे भेदज्ञान करके अपने स्वभावमें दृष्टि स्थापित करे और शुद्ध स्वभावमेंसे शुद्ध पर्याय प्रगट हो वही करना है।

आचार्यदेव कहते हैं कि यहाँ आओ, यहाँ आओ, यह तुम्हारा घर है, यह तुम्हारा पद है; अन्य सब अपद हैं। अपना पद तो चैतन्यपद है उसमें तुम आओ। तुझे यह करनेका है। बाह्यकी विभावप्रवृत्तिसे निवृत्त होकर निवृत्तस्वरूप आत्मामें ही परिणति प्रगट करने योग्य है। अपनेमें ही परिणति करनी और परके साथकी प्रवृत्ति तोड़नी सो जीवनमें करनेका है। तदर्थ शास्त्राभ्यास तथा देव–शास्त्र–गुरुकी महिमा आनी चाहिये। चैतन्यकी परिणति कैसे प्रगट हो? शुद्धात्माकी ओर लक्ष्य करके द्रव्यदृष्टि कैसे प्रगट हो? अनुभूति कैसे हो?—सो करने योग्य है। वही जीवनका सच्चा कर्तव्य है। १२९.

प्रश्न :—*एक समयकी एक पर्यायमें तीनोंकालकी पर्यायको जाननेका सामर्थ्य कैसे होता है, वह समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—ज्ञानकी शक्ति असाधारण है। जहाँ पूर्ण वीतरागता प्रगट हुई वहाँ निर्मल केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह पर्याय एक समयकी होनेपर भी उसकी शक्ति अनन्त है। उस अनन्ततामें कौन जाननेमें न आये? उसे भूतकाल, वर्तमानकाल या भविष्यकालकी अपेक्षा नहीं रहती। वर्तमान पर्यायमें तीनोंकाल आ जाते हैं, तीनोंकाल भिन्न–भिन्न नहीं देखने पड़ते। भूतकाल या भविष्यकालमें जाकर नहीं देखना पड़ता, किन्तु वर्तमानवत् सबको जान लेती है। उस पर्यायमें मर्यादित शक्ति हो तो वह पूर्णज्ञान ही नहीं है। केवलज्ञानकी हर एक पर्यायमें जाननेकी पूर्ण शक्ति होती है। १३०.

प्रश्न :—*गुरुदेवने कौनसा मार्ग बतलाया है? वह संक्षेपमें बतलायें।*

समाधान :—गुरुदेवने आत्माकी मुक्तिका मार्ग बतलाया है। आत्मद्रव्य अलौकिक,

अनुपम है, उसमें ज्ञान–दर्शन–सुख–आनंद है। ज्ञान–दर्शन आदि सब इसमेंसे आता है, बाहरसे नहीं आता। जिसका जो स्वभाव हो उसमेंसे वह आता है। अनन्तकालमें बाह्यक्रियायें बहुत की, शुभ परिणाम भी किये, परन्तु उनसे तो पुण्यबंध होता है। आत्मामेंसे जो दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट होते हैं वे आत्माको सुख–आनंद देनेवाले हैं। मूलतत्त्वमेंसे जो प्रगट हो वह यथार्थ होता है। गुरुदेवने मार्ग बतलाया है कि तू अंतरमें जा, भेदज्ञान कर, पहले निर्विकल्प स्वानूभूति प्रगट होती है उससे आगे बढ़नेपर लीनता बढ़ती है। चारित्रदशा भीतरमें होती है और बाह्यमें नग्न मुनिदशा होती है वहाँ पूर्ण लीनता होनेपर केवलज्ञान होता है। स्वानुभूति होने पर वह इस दुनियासे दूर किसी और ही दुनियामें चला जाता है। सम्यग्दृष्टिको निर्विकल्प स्वानूभूति होती है और मुनि तो बारम्बार आत्मामें लीनता करते हैं।—ऐसा मार्ग गुरुदेवने बतलाया है। १३१.

प्रश्न :—*कृपया हमें कोई संक्षिप्त संदेश दीजिए।*

समाधान :—अंतरमें चैतन्यतत्त्वको पहचानो, ज्ञायकका भेदज्ञान करो, जो सिद्धि होती है वह भेदज्ञानसे होती है—ऐसा शास्त्रमें आता है। चैतन्यतत्त्वपर दृष्टि करो, द्रव्यपर दृष्टि करो, उसका ज्ञान करो, उसीमें लीनता करो, वह करनेका है। 'मैं चैतन्य हूँ, यह सब मै नहीं हूँ...नहीं हूँ' ऐसी अंतरपरिणति प्रगट करो, इसीसे आत्माका ज्ञान–आनंद प्रगट होता है, इसीमें जीवनकी सफलता है।

जैसे अरिहंत भगवान्के द्रव्य–गुण–पर्याय हैं वैसे ही द्रव्य–गुण मेरे हैं। मुझे पर्याय प्रगट नहीं हुई है किन्तु मुझमें शक्तिरूप है; भगवानमें प्रगट हो गई है। इसप्रकार अंतरमें जाकर अनन्तशक्तिसे भरपूर अनुपम आत्मतत्त्वकी दृष्टि करे तो चैतन्यतत्त्व प्रगट होता है। १३२.

प्रश्न :—*ज्ञानी पुरुष मुमुक्षुओंको चाहे जो वचन कहे तो उनमें शंका या कोई अन्यथा विचार नहीं आना चाहिये, यह ठीक है?*

समाधान :—जिसमें आत्मार्थिता हो कि 'मुझे तो मुक्ति ही चाहिये' वह अन्य कोई कल्पना नहीं करता। मुझे तो अपने आत्माका ही प्रयोजन है। जिन ज्ञानीने सच्चा मार्ग बतलाया है वे कुछ भी कहें, मुझे प्रमाण है। अपने आत्मकल्याण हेतु ज्ञानीके प्रति सर्व प्रकारसे अर्पणता और वर्तन करना—ऐसी मुमुक्षुकी परिणति होती है। १३३.

प्रश्न :—*ऐसी परिणति हुए विना किसीको सम्यग्दर्शन हो सकता है?*

समाधान :—जिसे मोक्षमार्गपर चलना है उसे अर्पणताकी परिणति होती है। उसे

स्वच्छंदताकी परिणति नहीं होती। बाह्यकार्योंमें परिणति पकड़में आये न आये किन्तु अपनी स्वच्छंद परिणति नहीं होती, अपनी इच्छानुसार वर्तन करे ऐसा नहीं होता।

जो मुनिराज हो उन्हें भी अपनेसे बड़े गुरु या आचार्य क्या कहते हैं उसमें अर्पणता होती है। श्री कुंदकुंदाचार्य जैसे भी कहते हैं कि हमें जो स्वानूभूति हुई है वह सर्वज्ञदेवकी परम्परासे जो प्राप्त हुआ उसके कारण हुई है। मुनिराजके हृदयमें भी देव, गुरु और शास्त्र होते हैं।—ऐसी उनकी परिणति होती है, स्वच्छंद प्रवृत्ति नहीं होती। १३४.

प्रश्न :— *'मैं ज्ञायक हूँ' आदि सब विचार भी विकल्प ही हैं न?*

समाधान :—सब विकल्प हैं क्योंकि अभी निर्विकल्प नहीं हुआ है। परन्तु उन विकल्पोंके पीछे अपनी जो 'भावना' है तथा 'अपनी परिणति' ज्ञायककी ओर दौड़ रही है वह अपनेको लाभ पहुँचाती है। विकल्पोंसे कुछ नहीं होता; किन्तु चैतन्य तरफकी जो परिणति है, अपनी भावना है, चैतन्यके प्रति अपनी जो तीव्र जिज्ञासा है, उससे लाभ होता है। बारम्बार ज्ञायककी ओर गये बिना चैन न पड़े; प्रतिक्षण उसीकी भावना हो; ज्ञायकका ही रटन रहे; खाते-पीते, सोते-जागते, स्वप्नमें सर्वत्र ज्ञायककी लगन लगे अर्थात् वैसी परिणतिकी दौड़ होती है; वह लाभदायी है।

मुमुक्षु :—यह तो विकल्प है न?

बहिनश्री :-विकल्पसे नहीं होता, परन्तु विकल्पके पीछे अपनी अंतरकी जिज्ञासा, ज्ञायककी ओर दौड़ती अपनी परिणति लाभदायक है। यथार्थ तो बादमें होता है, परन्तु पहले ऐसी भावना और ऐसी जिज्ञासा होती है। गहरी जिज्ञासा और ज्ञायक स्वभावको ग्रहण करनेके प्रति अपनी परिणति जोरदार हो, वह स्वभावसन्मुखता है। १३५.

प्रश्न :— *पर्यायमें अनुभव तो पर्यायका होता है न?*

समाधान :—अनुभव भले पर्यायमें हो, परन्तु आत्मामें अनंत गुण हैं वे गुण उसके खयालमें आते हैं। द्रव्यको छोड़कर पर्याय अधर नहीं रहती, पर्याय द्रव्यकी ही है। वेदन भले पर्यायका हो, परन्तु उसमें द्रव्य ज्ञात होता है। द्रव्यमें ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि अनन्त गुण हैं और पर्याय उन्हें जानती है। द्रव्य कोई वस्तु ही नहीं है अथवा बिलकुल शून्य ही है ऐसा नहीं है; उसमें गुण भरे हैं। जैसे पुद्गल वर्ण-गंध-रस-स्पर्शरूप परिणमता है वे सब उसकी पर्यायें हैं। आमके परिणमनमें खट्टापन या मिठास होती है वह सब पुद्गलकी

पर्यायें हैं; किन्तु वे गुण किसके हैं?—आमके-पुद्गलके हैं। उसी प्रकार आत्मा ज्ञान-दर्शन-आनन्दरूप परिणमन करता है वे सब उसकी पर्यायें हैं; किन्तु परिणमन करनेवाला कौन है?—स्वयं चैतन्यवस्तु। वे चैतन्यवस्तुकी पर्यायें हैं और वे चैतन्यकी पर्यायें हैं इसलिये वे पर्यायें स्वयं द्रव्यको जान सकती हैं, द्रव्यके गुणोंको खयालमें ले सकती हैं कि गुण ऐसे हैं।

वेदन भले पर्यायका हो परन्तु वह जानती है द्रव्यको। तथा वह द्रव्यकी अपनी पर्याय है, दूसरेकी नहीं। पर्याय कहीं अधरमें नहीं लटकती। चैतन्यकी पर्याय ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप परिणमित हो वह पर्याय अपने द्रव्यसे पृथक् नहीं है। पर्यायका स्वभाव इसप्रकार पृथक् है कि—पर्याय क्षणिक है और द्रव्य शाश्वत है। तथापि पर्याय द्रव्यकी है वह आत्माके आधारसे परिणमती है, निराधार नहीं है। यदि पर्याय द्रव्यके आधारसे नहीं परिणमती हो तो द्रव्य और पर्यायके दो टुकड़े हो जाएँ। पर्याय तो क्षणिक है, वह चली जाती है और आत्मा शाश्वत है। उसमेंसे एक के बाद एक पर्याय आती ही रहती है। ज्ञानकी ज्ञानरूपसे, चारित्रकी चारित्ररूपसे, श्रद्धाकी श्रद्धारूपसे—इसप्रकार नयी-नयी पर्याय चैतन्यमेंसे आया ही करती है। जैसे पानीमें लहरें उठती रहती हैं उसी प्रकार चैतन्यमेंसे गुणोंकी पर्यायें आती ही रहती हैं। जैसे हीरेमें जगमगाहट होती रहती है वह हीरेमेंसे आती है, उसी प्रकार आत्मामेंसे नयी-नयी पर्याय आती ही रहती है।

जिस अपेक्षासे द्रव्य-पर्यायके भेदकी बात आती है उस अपेक्षासे भेद है, परन्तु द्रव्य-गुण-पर्यायको सर्वथा भेद नहीं है। उनको लक्षणभेद है, संख्याभेद है—ऐसे भेद हैं। द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षा उन्हें भिन्न कहनेमें आता है किन्तु सर्वथा भिन्न नहीं समझना। वस्तुके टुकड़े नहीं मानना। १३६.

प्रश्न :—*पर्याय दिखती है, द्रव्य कहीं दिखायी नहीं देता—शून्यता जैसे लगता है।*

समाधान :—स्वयं शाश्वत द्रव्य है, उसमें अनंतगुण हैं। उसमें जाननेका गुण है, आनन्द गुण है, अस्तित्व-शाश्वत रहे वैसा गुण है, वस्तुत्व गुण है, चारित्र गुण है, वेदकता गुण है—आदि अनंतगुण हैं। जिनका शब्दों द्वारा वर्णन न हो सके ऐसे हैं; परंतु स्वयं जानता नहीं है इसलिये शून्य-सा भासता है। यदि अंतरमें दृष्टि करे तो स्वयं शून्य नहीं है, गुणोंसे परिपूर्ण है। अंतरमें विकल्प तोड़कर यदि लीनता करे तो उसमें आनंद भरा है, ज्ञान भरा है, वह दिखाई दे। १३७.

प्रश्न :—*स्वभाव सन्मुख उग्र परिणति न हो और भव पूरा हो जाय, तो क्या होगा?*

समाधान :—स्वयं अपनी भावना साथ लेकर जाता है। अपनी अंतरकी तैयारी हो अर्थात् मात्र कल्पना जितनी नहीं किन्तु अंतरकी गहरी भावना हो वह साथ आती है। चैतन्य तरफकी परिणति जो कि ज्ञायकको ग्रहण करनेकी ओर दौड़ती थी वह गहरी हो, जिज्ञासा तीव्र हो तो वह दूसरे भवमें साथ आती है और उसका पुरुषार्थ जागृत होता है। मात्र कथन जितनी या धारणा जितनी हो तो वह छूट जाती है। यदि अंतरकी गहराईपूर्वक हो तो वह साथ आती ही है। १३८.

प्रश्न :—*अनुभूतिका मार्ग क्या एक ही है? दूसरा कोई सरल मार्ग नहीं है?*

समाधान :—मार्ग एक ही है। ज्ञायकको पहिचान, ज्ञायककी ओर जा, भेदज्ञान कर, द्रव्यदृष्टि कर। बस ! यह एक ही अनुभूतिका मार्ग है। गुरुदेवने यही मार्ग बतलाया है। जैसे अरिहंत भगवान्‌के द्रव्य–गुण–पर्याय हैं वैसे ही तेरे हैं। तुझमें शक्तिरूप हैं, भगवान्‌ने उन्हें व्यक्त किया है। उस स्वभावको पहिचान। द्रव्य तो अनादि–अनंत जैसा भगवान्‌का है वैसा ही तेरा है, शुद्धतासे भरपूर है, परंतु तुझे उसका भान नहीं है। उसका तू ज्ञान कर। उस ओरकी परिणति कर। विचार एवं चिंतवन कर, तो वह तुझको साधन होगा।

मैं परद्रव्यका कर सकता हूँ, परपदार्थ मुझमें कुछ कर देते हैं—ऐसी तुझे परके साथकी जो एकत्वबुद्धि हो रही है उसे तोड़ दे। तू तो ज्ञायक है–ज्ञाता है। अपनी दृष्टि बदल दे, उसे चैतन्यकी ओर लगा दे। तदर्थ बारम्बार गहरा अभ्यास कर। वह एक ही मार्ग है। १३९.

प्रश्न :—*शरीरमें रोग आये तब क्या करना? कृपया बतलायें।*

समाधान :—शरीर तो स्वतंत्र द्रव्य है। गुरुदेव फरमाते हैं कि आत्मा जुदा है और शरीर जुदा है। दोनों द्रव्य जुदे–जुदे और स्वतंत्र हैं। शरीर शरीरका काम करता है, आत्मा अपना काम करता है। जो संकल्प–विकल्प होते हैं वह भी अपना स्वरूप नहीं है, तो शरीर कहाँ अपना था?—वह तो परद्रव्य है। शरीरके और आत्माके द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव जुदे हैं। आत्मा स्वतंत्र पदार्थ है, उसकी भावना, आत्मामें की जा सकती है। 'मैं ज्ञायक हूँ, शाश्वत हूँ, अनंतसुखसे भरपूर हूँ' ऐसी उसकी भावना करनी, उसका विचार करना, आत्माका स्मरण करना, तदर्थ उस प्रकारका चिंतन–पठन–मनन करना।

मुमुक्षु :—शारीरिक तकलीफ—आँखकी पीड़ा—है, इसलिये शास्त्र-स्वाध्याय नहीं कर पाता तो क्या करना?

बहिनश्री :—गुरुदेवने जो मंत्र दिये हैं उन्हें याद करना।...बस! आत्माका कल्याण कैसे हो, उसकी भावना करनी। आत्मा आनन्दसे भरपूर है। आँखकी पीड़ाके कारण पढ़ा न जा सके तो खेद नहीं करना। खेद हो जाय तो मनको पलट देना; शरीर है तो उसमें अनेक प्रकारके उदय आते रहते हैं और चले जाते हैं। यह एक धर्म गुरुदेवने बतलाया है वह प्राप्त हुआ सो महाभाग्यकी बात है। १४०.

प्रश्न :—*आत्महित सम्बन्धी विचार क्यों नहीं आते? उसके लिये क्या करें?*

समाधान :—अनादिका अभ्यास होनेसे दूसरे विचार आ जाते हैं, उन्हें प्रयत्न करके बदल देना। विस्मरण हो जाये तो पुनः याद करना। दिनभरमें मुझे कितनी बार आत्महितके विचार आते हैं? वह ज्ञायकके विचार करते रहना। आत्मार्थीको अपने स्वहितके विचार एवं चिंतनके लिये नियमसे अमुक समय निश्चित कर लेना चाहिये। सारे दिनमें ज्ञायकके चिंतन-अभ्यासके लिये समय निकाल लेना। आत्मा याद न आये तो उसके लिये प्रयत्न करना। बाह्य कार्योंके लिये कितना प्रयत्न करता है न? १४१.

प्रश्न :—*शास्त्रभाषाके शब्द बोलना तो हमें आ गया है परंतु भीतर—अंतरमें—कार्य क्यों कुछ नहीं होता? कृपया कोई मार्ग बतलायें।*

समाधान :—अनादिकालका अभ्यास है इसलिये उसे विभावके कार्य सरल हो गये हैं। अंतरमें कभी गया नहीं है, इसलिये अंतरका कार्य करना कठिन लगता है। फिर भी करना तो उसे स्वयं ही है। अपना कार्य कोई दूसरा कर दे ऐसा नहीं हो सकता। बाह्य पदार्थोंको अपने बनानेका कार्य दुष्कर है। परद्रव्य कभी अपने नहीं होते। तथापि उसके लिये जीव अनादिकालसे खोटी महेनत कर रहा है, मिथ्या प्रयत्न करता है, परन्तु उसमेंसे कुछ मिलता नहीं है।

अनादिकालसे बाह्य अभ्यास है इसलिये कठिन लगता है; परंतु वास्तवमें कठिन नहीं है, अपना स्वभाव है इसलिये अंतरमें जाये तो सरल है; परंतु पहले उसे अंतरमें जाना ही कठिन पड़ता है। भीतरमें जाय, स्वभावको पहिचाने, तो चैतन्य स्वयं ही है और वह ज्ञायक सहज ज्ञानस्वभावसे परिपूर्ण है; कहीं बाहर लेने जाना पड़े ऐसा नहीं है। ज्ञान सहज, आनंद

सहज सब सहज है; उसमें तद्रूप हो, दृष्टि करे, तद्रूप परिणमन करे तो प्रगट होता है।

बाह्य परपदार्थोंको अपने बनाना चाहता है इसलिये अपनेमें प्रवेश करना मुश्किल हो गया है। अंतरमें उतरे, स्वभावको पहिचाने तो एकदम सरल है। अंतरमें जाये तो मार्ग सहज है। प्रथम भूमिका विकट होती है, परंतु अंतरमें जाये, दृष्टि करे, तद्रूप परिणमन करे तब तो सरलतासे उस मार्गपर चला जाता है। परंतु वह पुरुषार्थ नहीं करता। १४२.

प्रश्न :—*प्रथम भूमिकामें पहली सीढ़ी चढ़ना ही कठिन लगता है, तो कैसे कार्य हो?*

समाधान :—वस्तु यदि बाहर हो तो उसकी प्राप्ति हेतु बाहर जाना पड़े, किसीकी पराधीनता या लाचारी करनी पड़े परंतु वैसा कुछ करना पड़े ऐसा नहीं है; स्वयं स्वाधीन है। स्वयं ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि अनंतानंत शक्तियोंसे भरपूर है, अधूरा नहीं है, उन्हें प्राप्त करनेमें अपनी स्वाधीनता है। 'मुश्किल पड़ती है' ऐसा पहलेसे ही मानकर (प्रयत्न) नहीं करता। कहीं बाहर लेने जाना पड़े ऐसा नहीं है, अपनेमें भरा है, वही प्रगट होता है। मार्ग तो गुरुदेवने बिलकुल स्पष्ट बताया है परंतु चलना तो अपनेको है। १४३.

प्रश्न :—*मार्ग तो स्पष्ट है परन्तु हमें मार्ग नहीं मिलता इसलिये उलझन होती है, कृपया बतलायें कि मार्ग कैसे ढूँढ़ें?*

समाधान :—रास्ता तो अपनेको ही निकालना है। मार्ग ढूँढ़नेवाला स्वयं ही है। जिनेन्द्रभगवान्, गुरु आदि सब मार्ग बतायें, परंतु तैयारी तो अपनेको करनी है। बाहरसे मिलता हो तो उसे सीखा करे, पढ़ा करे, रटा करे; परन्तु यह तो अंतरमें करनेका है।

उसके पीछे पड़ जाय, भेदज्ञान करता रहे, बारम्बार उसकी दृष्टि करे बारम्बार उसकी लगन लगाये तो (कार्य) हुए बिना न रहे। उसकी सच्ची लगन लगानी चाहिये तो होता है। पूरी दिशा ही बदल देनी है। १४४.

प्रश्न :—*क्या ज्ञानी धर्मात्माकी सभी बातें ग्रहण करनी ? या उसमें निश्चयकी बात ग्रहण करनी और व्यवहारकी छोड़ देनी? क्या करना वह समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—ज्ञानी जिस अपेक्षासे जो बात कहते हों तदनुसार ग्रहण करनी। कोई बात बाद कर देनी या छोड़ देनी ऐसा नहीं है; उसकी अपेक्षा समझनी। व्यवहारकी बात कहते हों तो किस अपेक्षासे कह रहे हैं, निश्चयकी बात हो तो किस अपेक्षासे कह

रहे हैं वह समझ लेना। कोई कथन द्रव्यदृष्टिसे हो, तो कोई पर्यायदृष्टिसे हो, तो उन दोनोंकी संधि करके महापुरुष किस पद्धतिसे कह रहे हैं उसे समझ लेना चाहिए।

दोनों समर्थ आचार्य हों, उनमेंसे कोई आचार्य निश्चयकी बात कहते हों, कोई आचार्य व्यवहारकी बात करते हों तो उन दोनोंकी मैत्री–सुमेल कैसे करना वह समझ लेना। एक आचार्यदेवने शास्त्रके एक प्रकरणमें निश्चयकी बात की हो, और उन्हींने दूसरे प्रकरणमें व्यवहारकी बात की हो तो उन दोनोंमें सुमेल करना चाहिये कि इस प्रकरणमें आचार्यदेवने किस अपेक्षासे कहा है। व्यवहारके प्रकरणमें कहनेका आशय क्या है, वह समझना चाहिये। कोई बात निकाल देने जैसी हो वैसी तो आचार्यदेव करते ही नहीं हैं; जो वस्तुस्वरूप हो उसीका कथन करते हैं। जो वस्तुस्वरूप न हो तथा मुक्तिके मार्गमें जो लागू न होती हो वैसी अघटित बात ज्ञानीपुरुष कहते ही नहीं।

मुमुक्षु :—ज्ञानीकी कोई बात अघटित होती ही नहीं?

बहिनश्री :—ज्ञानीजन अघटित (अयोग्य) बात कहते ही नहीं। मुक्तिमार्गके योग्य न हो वैसी बात कहते ही नहीं। गुरुदेव कहते हों वह सब समझपूर्वक ही कहते हैं, कोई निष्प्रयोजन बात होती ही नहीं; एक भी बात निरर्थक नहीं होती।

मुक्तिके मार्गमें द्रव्यदृष्टि मुख्य होती है, और साथमें व्यवहार होता है। साधनाके बीचमें व्यवहार आता है, परन्तु साधककी दृष्टि द्रव्यपर होती है। उसमें पर्याय बीचमें आये बिना नहीं रहती।

ज्ञानी कभी द्रव्यकी बात करें, कभी पर्यायकी बात भी करें परन्तु जहाँ जो यथायोग्य हो तदनुसार ग्रहण कर लेना। कोई बात छोड़ देने या निकाल देने जैसी नहीं होती। आचार्यदेव कहते हैं कि हमने एक शुद्धनय स्थापित करके उससे (शुद्धनयसे) आत्माकी अनुभूति प्रगट की है। उसमें बीचमें व्यवहार आ जाता है। अरेरे...! व्यवहारनय हस्तावलंबन तुल्य है, इसलिये बीचमें आ जाता है, आये बिना नहीं रहता, किन्तु वह जानने योग्य है। स्वानुभूतिकी बातमें बीचमें व्यवहारनय आता है, परन्तु उसे कितना वजन देना और द्रव्यदृष्टिको कितना (महत्त्व) वजन देना वह समझ लेना। दोनोंकी कौन–कौनसी कोटि है उसे जान लेना। अनादिका मार्ग अज्ञात है। जीवने द्रव्यदृष्टि प्रगट नहीं की है, इसलिये द्रव्यदृष्टि मुख्य होती है; परन्तु साधकदशामें व्यवहार बीचमें आता है। किसी प्रयोजनवश कभी आचार्यदेवने

व्यवहारकी बात कही हो तो उसे निकाल नहीं देना। साध्य-साधकभावके भेदसे एक साध्यको ग्रहण करना है। एक आत्माको ग्रहण करते हुए उसमें बीचमें ज्ञान-दर्शन-चारित्रके भेद आये बिना नहीं रहते। यह ज्ञान है, यह दर्शन है, यह चारित्र है—ऐसे भेद-विकल्प आते हैं, परन्तु उन भेद-विकल्पोंमें नहीं रुकना है। तू ज्ञायककी दृष्टि कर। उसमें बीचमें साध्य-साधकभावके भेद आते हैं।

द्रव्यसे पूर्ण हूँ परन्तु पर्यायमें अपूर्णता है इसलिये बीचमें व्यवहार आये बिना नहीं रहता। जो परमभावको प्राप्त हो गये हैं, उन्हें व्यवहारका कोई प्रयोजन नहीं है। 'समयसार'में आता है न? कि सौटंची शुद्ध सोना हो जानेके पश्चात् उसे ताव देनेकी आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जो साधकदशामें है उसको व्यवहार बीचमें आता है, वह व्यवहार जाननेयोग्य है। वह आदरणीय या रखने योग्य है ऐसा उसका अर्थ नहीं है। १४५.

प्रश्न :—*भक्तिमार्ग क्या दूसरा है? या ज्ञानमार्गमें अभेद भक्ति आ जाती है?*

समाधान :—यथार्थ समझकी ओर ढले तब साथमें भक्ति आये बिना नहीं रहती। यथार्थ तत्त्वनिर्णय करनेकी रुचि जागृत हुई उसे भक्ति साथमें आ जाती है। परन्तु अनादिकालसे जीव शुष्कतामें चला जाता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी तथा अन्य सर्व ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि तत्त्वनिर्णयपूर्वक भक्ति करना वह भक्तिमार्ग है। तत्त्वविचारकी ओर परिणति रखकर भक्ति करना—ऐसा भक्तिमार्गमें कहना है।

ज्ञानमार्गमें जीव अनेकबार शुष्क हो जाते हैं इसलिये भक्तिमार्ग साथ ही बताया है; परंतु अंतर परिणतिमें ज्ञान मुख्य है। उसमें भक्ति साथ होती है; भक्ति न हो तो ज्ञान रूखा हो जाता है।

आत्मा स्वयं महिमावंत है, उसकी महिमा करना। देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा करना, महिमा नहीं होगी तो तेरे विचार आदि सब शुष्क हो जायेंगे। यदि तुझे महिमा न आये तो मात्र तू ज्ञानकी बातें करता रहेगा किन्तु अंतरमें रूखापन हो जायेगा। महिमा साथ होगी तो अंतरमें तुझे ऐसा लगेगा कि अहो! आत्मा ऐसा चमत्कारी है। अहो! ऐसे आत्माकी साधना देव-गुरु कर रहे हैं—ऐसा आश्चर्य तुझे अंतरसे लगना चाहिये तब तेरे तत्त्वविचार भी यथार्थरूपसे चलेंगे। ऐसा भक्तिमार्गमें कहना है।

ज्ञान अकेला रूखा नहीं होना चाहिये, साथ ही भक्ति, विरक्ति एवं तत्त्वविचारादि सब

होने चाहिये। वे सब हों तो मुमुक्षु मर्यादाके बाहर नहीं जाता; अमुक प्रकारके परिणाम आते हैं फिर भी (मुमुक्षु) मर्यादा बाहर नहीं जाता। लूखा हो तो परिणाम मर्यादाके बाहर जाते हैं। यह चैतन्य ऐसा महिमावंत है कि, विभावमें रुकने जैसा नहीं है, ऐसे भावना होती है। देव-गुरु कैसा कर रहे हैं !—ऐसे महिमा करके भी परिणतिको आत्माकी ओर ज्यादा झुकाता है; नहीं तो शुष्कता हो जाय और मर्यादाके बाहर चला जाय। १४६.

प्रश्न :—*सवेरे उठकर चिंतन करते हैं, स्वाध्याय भी करते हैं, फिर भी कुछ नहीं होता। पूज्य गुरुदेव और आपके उपकारका वर्णन क्या हो सके ? यदि इस भवमें आत्माका संवेदन हो तो मनुष्यभव सफल है, नहीं तो मृतवत् है; तो क्या किया जाय ? मार्गदर्शनकी कृपा करें।*

समाधान :—मार्गदर्शनकी कहाँ कमी है ? कमी अपनी ही है। बाह्यमें इतना किया....इतना सब किया..... इसप्रकार बाह्यसे कुछ माप नहीं आता। ऐसा तो जीवने बहुत किया है। अपना रस कहीं अन्यत्र रुकता है। जो विभावसे न्यारापना तथा भींजा हुआ जो हृदय चाहिये, वह अंतरसे होना चाहिये, सो नहीं होता तबतक कुछ होना मुश्किल है। भीतरमें जीव कहीं रुकता है इसलिये पृथक् नहीं होता।

वह बाह्यसे सब करे, ध्यानमें बैठ जाये, स्वाध्याय करे, किंतु अंतरमेंसे उसे जहाँसे छूटनेका है वहाँसे छूटा पड़ना चाहिये न ? जीव सब कुछ करता है। कहा है न! कि—

"यमनियम संजम आप कियो, पुनि त्याग बिराग अथाग लह्यो;
वनवास लियो, मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो."

पद्मासन लगाया, ध्यान लगाया, सब किया।

"सब शास्त्रनके नय धारि हिये"—शास्त्रोंके नय धारण किये।

"मत मंडन, खंडन भेद लिये"—यह सब करने पर भी अंतरमें कुछ रह जाता है....अपना रस कहीं रुक रहा है.....उसका स्वयं विचार करना कि मेरा रस कहाँ रुकता है, मैं कहाँ अटक रहा हूँ ? १४७.

प्रश्न :—*स्वभाव प्राप्ति हेतु जो पूर्ण कारण देना चाहिये वह नहीं दिया जाता इसलिये कार्य नहीं होता ? ऐसा आपका कहना है ?*

समाधान :—कारण नहीं देता तो कार्य कहाँसे आये ? स्वयं जैसा स्वभाव है वैसा

परिणमन नहीं करता। अंतरकी शांति निराली होती है। बाह्यसे विकल्पोंको शांत करके बैठा है सो तो शुभभावकी शांति है, शुभभावका आह्लाद है। उसका रस कहीं रुकता है, उसे प्रमाद रहता है इसलिये कार्य नहीं आता। बाह्यसे इतना किया, ...इतने घन्टे किया उसमें समयका माप नहीं होता। कोई कहे पंद्रह मिनट यह किया, पंद्रह मिनट ध्यान किया, फिर भी कार्य नहीं होता ! परंतु कार्य तो अंतरंग तैयारीसे होता है। अंतरका रस जो सहज हो तो 'इतने घंटे किया' ऐसा माप उसे न हो। जिसे अंतरमें ज्ञायककी सहजधारा चले उसे कालका माप न हो; सहजधारामें स्वयं ही आगे बढ़े; बाह्यसे अमुक विकल्प मंद किये हों तो उसे शांति जैसा लगे वैसा नहीं किन्तु भीतरसे उसका हृदय-भेद चाहिये; अंतरसे उसे कहीं रस न हो, ज्ञायकको पहिचाननेके लिये उतनी हद तक अंतरसे उदासीनता आनी चाहिये। बाहरसे सब छूट जाये ऐसा नहीं होता; परन्तु जबतक कार्य न हो तबतक पठन करे, मनन करे, स्वाध्याय करे, ध्यान करे लेकिन 'मैंने इतना किया तथापि (कार्य) क्यों नहीं होता?' ऐसा उसे नहीं लगता।

कार्य नहीं होनेमें अपना कारण है ऐसा जानकर, बाह्यमें कहाँ रस है, वह स्वयं अंतरमें विचारकर पता करे। १४८.

प्रश्न :—*किसका रस है वह अपने खयालमें आ सके?*

समाधान :—सच्चा जिज्ञासु हो तो खयालमें आता है कि 'मैं कहाँ रुकता हूँ।' नहीं तो जिसे केवल उतावल करनी है कि 'मुझे करना है फिर क्यों कुछ नहीं होता?' ऐसी खोटी उतावलसे करना हो तो खयालमें नहीं आता।

जिसे सचमुच लगी हो कि 'मुझे आत्मका करना ही है' उसे वास्तविकता जाननी हो कि 'मैं कहाँ जाता हूँ?' 'कहाँ रुकता हूँ?' तो वह स्वयं जान सकता है। जितनी देर स्वयं एकांतमें बैठे तब उस समय क्या विचार चलते हैं, परिणाम कहाँ जाते हैं, स्वयं कितना न्यारा रहता है, ज्ञायककी कितनी धारा चलती है, द्रव्यपर दृष्टि कितनी है और विभावोंसे कितना छूटा पड़ा है—वह स्वयं विचार करे तो खबर पड़े।

कुछ घन्टे तक बैठा इसलिये कार्य हो जाये ऐसा नहीं है। शरीर तो बैठा रहे, परन्तु उस समय अपनेमें क्या हो रहा है सो देखना रहता है।

"अब क्यौं न विचारत है मनसें, कछु और रहा उन साधनसें"

उन साधनोंसे कुछ अलग ही रह जाता है। अंतरकी परिणति अंदरसे काम करनी चाहिये, उसे जुदी पड़कर काम करनी चाहिये। परंतु स्वयं इतना गहरे नहीं उतरता, अपनेको ग्रहण नहीं करता। स्वयं अपनेको प्रगट करना है वह ज्ञायकको ग्रहण करे तब हो न! भेदज्ञानकी धारा चले तो छूटा पड़े। भेदज्ञानकी धारा चलती नहीं तो कैसे जुदा पड़े? मात्र विकल्पोंको शांत करनेसे कहीं छूटा नहीं पड़ता। मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ—ऐसे किया करे और विकल्प शांत हों, इसलिये शांति-शांति लगे; परंतु अंतर परिणति प्रगट करनेसे भीतरमें न्यारापना आये तो सच्ची शांति होती है। 'मैं ज्ञायक हूँ, मुझमें बाहरका कुछ नहीं है, कुछ नहीं है'—ऐसे किया करे तब भी कुछ नहीं होता। यथार्थरूपसे ज्ञायकको ग्रहण करे तो हो। अनादिसे एकत्वबुद्धि हो रही है। अनेक बाह्य पुरुषार्थ करते हैं परंतु करनेका अंतरमें है। अपना हृदय भीतरसे भीगना चाहिये और अंतरसे तत्त्वको ग्रहण करनेकी कोई अलग ही प्रकारकी उत्कंठा होनी चाहिये।

मुमुक्षु:—अंतरसे उत्कंठा तो लगती है।

बहिनश्री:—बहुत लगे परंतु बहुत है नहीं। विकल्पमें होती है परंतु अंतरसे होनी चाहिये वह नहीं होती। वैसे हो (यदि यथार्थ हो) तो उसे आकुलता न हो, धैर्य हो, शांति हो। उसे स्वयंको ऐसा लगना चाहिये कि 'ज्ञायकको ग्रहण करना है' तथापि नहीं होता, सो मेरे पुरुषार्थकी कमी है, मेरा दोष है, मैं ही कहीं अटक रहा हूँ। बाहरका सब कुछ छूट नहीं जाता, परन्तु 'मुझे कुछ नहीं चाहिये' ऐसा जोरदार पलटा अंतरसे आना चाहिये। 'बस, मुझे कुछ नहीं चाहिये' ऐसा अंदरसे लगना चाहिये; भीतरसे इतना पलटा होना चाहिये; अंतरमेंसे ऐसा पलटा आये कि 'बस, एक आत्माके सिवा कुछ नहीं चाहिये' 'आत्मा ही चाहिये' इतनी अंदरसे उत्कंठा लगनी चाहिये। यदि अंतरसे लगे कि 'मुझे किसीका आश्रय नहीं है, कोई अन्य सुखरूप नहीं है' तो उसकी दृष्टि एक आत्माके अलावा कहीं अन्यत्र अंदरसे नहीं टिकती। फिर भले ही किसीको अधिक समयमें कार्य हो या किसीको अंतर्मुहूर्तमें हो, परन्तु अंतरसे सब छूट जाना चाहिये कि बाह्यमें एक रजकणसे लेकर कोई भी परद्रव्य मेरा नहीं है, ऐसा श्रद्धामें आना चाहिये। १४९.

प्रश्न :—*आप कहते हैं तब सरल लगता है, किन्तु प्रयत्न करते हैं तब कठिन लगता है और होता नहीं है। तो क्या करना?*

समाधान :—धीरजसे करनेका है। न हो तो अकुलाना नहीं। ज्ञायककी भावना, बारम्बार ज्ञायकका रटन तथा ज्ञायकके विचार करना किन्तु अकुलाना नहीं। उसमें उतावल करके अन्य कुछ करनेका कोई अर्थ नहीं है। अनादिसे एकत्वका अभ्यास है इसलिए कठिन लगता है; परन्तु स्वभाव तो अपना ही है इसलिए कठिन नहीं है; एकत्वबुद्धिके कारण कठिन हो पड़ा है।

अपना स्वभाव समीप है। कहीं बाहर ढूँढ़ने जाना पड़े ऐसा नहीं है। पराधीन नहीं है। कोई दे तो हो ऐसा भी नहीं है। अपने पास है, लेकिन अपने पुरुषार्थकी कमीके कारण (प्राप्त) नहीं होता। दृष्टि इतनी अधिक बाहर है कि अंतरमें नहीं जा सकता और स्थूलतामें चला जाता है। १५०.

प्रश्न :—*श्रीमद् राजचंद्रजीने कहा है कि अपने मनसे किये गये स्वरूपके निश्चयकी अपेक्षा जो ज्ञानी कहते हैं वह निश्चय माननेमें कल्याण है।*

समाधान :—यथार्थ स्वरूपको समझकर ज्ञानीके द्वारा किया हुआ निश्चय यथार्थ है। अपने मनसे किये गये निश्चयमें भूल होती है और वह कल्पित होता है। मुझे ऐसे ठीक लगता है; परन्तु ज्ञानीके कहनेका क्या आशय है? ज्ञानीको–गुरुको क्या कहना है, उसका रहस्य क्या है?—उसे विचार करके, मिलान करके, स्वयं निर्णय करना चाहिए। अपनी कल्पनासे निर्णय करे तो भूल होनेका अवकाश है। क्योंकि वह स्वयंके स्वच्छंदसे किया हुआ निर्णय है। अनन्तकालसे अनजाना मार्ग है; तू स्वयं कुछ समझता नहीं है; इसलिए अपने आप निर्णय करे कि 'वस्तु ऐसी है, मार्ग यह है, मुक्तिका पंथ इसप्रकार है', तो उसमें भूल हो जाती है। ज्ञानीने जो निर्णीत किया हो, गुरुने जो कहा हो सो बराबर ही है। अब किस प्रकार प्रवर्तना सो अपने आप विचार करके स्वयं निश्चित करे। ज्ञानीने जो कहा हो उसका रहस्य और आशय समझे तो वह यथार्थ है; नहीं तो कल्पित है। अपने आप किये गये निश्चयमें भूल होती है।

ज्ञानीके कथनमें अनेक आशय एवं गंभीरता भरी होती है; क्योंकि वह निश्चय यथार्थ होता है। द्रव्यका स्वरूप, निश्चयका स्वरूप, व्यवहारका स्वरूप, निमित्त–उपादानका स्वरूप जो गुरुने कहा हो तदनुसार विचार करके निर्णय करे तो वह बराबर है।

अपनी मति-कल्पनासे शास्त्र पढ़े तो शास्त्र (मर्म) समझमें नहीं आता। उसमें अपनी भूल होती है और कहीं न कहीं स्वयं रुकता है। अपनी इच्छानुसार मति-कल्पनासे अर्थ करता है।

जिसे आत्मार्थिता हो, वह गुरु द्वारा कहे हुए रहस्यके अनुसार निर्णय करता है कि यह बराबर है। वस्तुका स्वरूप ऐसा ही है। स्वयं यथार्थ मार्ग ग्रहण करके, निश्चय करता है कि वस्तुस्वरूप इसी प्रकार ही है। निश्चय-व्यवहारका स्वरूप किस प्रकार कहा है, उसका मिलान करके, यथार्थ निश्चय करता है। १५१.

प्रश्न :—*वीतरागमार्गमें क्या देव-शास्त्र-गुरुका सम्पूर्ण शरणागत स्वीकार कर लेना चाहिए?*

समाधान :—वीतरागमार्गमें बाह्यमें देव-शास्त्र-गुरुका और भीतरमें आत्माका सम्पूर्ण शरणागत स्वीकारना। यह वीतराग मार्ग है। देव-शास्त्र-गुरु (कुछ) कर नहीं देते, किन्तु साथ होते हैं, उनकी शरण होती है। शुभभावमें उनका आलंबन होता है और अन्दरमें अपने परमात्माका आलंबन होता है।

तीर्थोंमें जाता है वहाँ भगवान्को ढूँढ़ता है। कहाँ हैं भगवान्? परंतु, तू स्वयं भगवान् है, तेरे पास भगवान् है उसे नहीं देखता। तीर्थोंमें जानेसे भगवान्के संस्मरण याद आते हैं कि भगवान् यहाँसे मोक्ष पधारे थे, भगवान्ने यहाँपर साधना की थी, वे स्मरण आनेसे स्वयंको भावना जागृत होती है। बाकी तो चैतन्य भगवान् तो अपने पास है। ''दौडत दौडत दौडियो, जितनी मनकी दौड,'' हर ओर दौड़ता फिरता है, परन्तु भीतर सर्वस्व है वहाँ नहीं देखता!

''गुरुगम लेना रे जोड'' तू गुरुगमसे चलना। गुरुदेव कहते हैं कि तू स्वयं ही भगवान् है। तू स्वयं अपनेमें है। भीतर ढूँढ़ ले। अरे! अनन्तकाल बीत गया; स्वयं भगवान् होनेपर भी बाहर भटकता रहा। अपनी परिणतिको देखे तो वेदनमें सर्व विभावभाव, राग-द्वेष, कलुषितता एवं आकुलता दिखाई देती है;अंतरमें चैतन्यभगवान् शुद्धतासे परिपूर्ण है; वह उसे दिखाई नहीं देता, इसलिए विश्वास नहीं आता। गुरुदेव कहते हैं कि 'तू भगवान् है' तथापि उसे ऐसा लगता है कि भगवान् तो कोई अलग होते हैं। अंतरमें 'मैं भगवान् हूँ' ऐसा विश्वास आना मुश्किल पड़ता है।

यह तो पूज्य गुरुदेवके प्रतापसे वाणीका स्रोत प्रवाहित हुआ और 'तू भगवान् है' ऐसे

समझाया इसलिए उसे विश्वास आता है। नहीं तो यों लगे कि अपन भगवान् कहाँसे हों ? क्योंकि उसे अपने वेदनमें अकेली कलुषितता भासित होती है। परंतु गुरुदेवने इतना जोरसे कहा है जिससे विश्वास बैठता है; तो ऐसे लगता है कि अपन भगवान् आत्मा हैं। १५२.

प्रश्न :—*ज्ञानीको पहिचाने कैसे ? मुमुक्षुकी भूमिकामें, एक क्षयोपशम ज्ञानवाला हो और एक सच्चा आत्मज्ञानी हो तो, उन दोनोंको मुमुक्षु कैसे पहिचाने ? दोनोंके बीच कैसे अन्तर करे ?*

समाधान :—दोनोंका परिचय करनेसे तथा अंतर पहिचाननेसे तफावत खयालमें आ सकता है।

सच्चा मुमुक्षु हो उसके हृदयनेत्र ऐसे हो चुके होते हैं कि ज्ञानीकी अपूर्व, अंतरसे भीगी हुई, प्रतिक्षण भेदज्ञान करती तथा अनुभवमेंसे निकलती आत्मस्पर्शी वाणीका ग्रहण कर सकते हैं। उसके हृदयनेत्र वैसे भावोंको ग्रहण करनेयोग्य हो गये होते हैं।

ज्ञानीका क्षयोपशम ज्ञान हो, तथापि वह अनुभूतियुक्त ज्ञान है। ज्ञानी अंतरसे बोलते हों वह जुदा ही निकलता होता है। जैसे कि गुरुदेव कहते हों कि "तू तो जुदा है....जुदा है.....यह तेरा नहीं" ऐसे जो अनुभवमेंसे बोले उसकी भाषा, उसका ढलन निराला होता है।

जो मात्र क्षयोपशमसे बोलते हैं किन्तु अंतरमें स्वानुभूति नहीं है उस वाणीका वजन कहाँ जाता है ? उसकी परिणति क्या काम करती है ? अर्थात् उसके अंतरकी दिशा कैसी है ? हृदय कैसा भींजा हुआ है और वाणी किस प्रकारकी निकलती है ?—वह यदि उसमें मुमुक्षुता हो और विशेष परिचय करे तो, पहिचान सकता है। मात्र क्षयोपशमज्ञानसे जो वाणी निकलती हो वह और ही प्रकारसे निकलती है। क्षयोपशमसे बोलनेवालेकी भाषा एवं झुकाव अमुक प्रकारका आया करता है।—इसप्रकार दोनोंका अंतर मुमुक्षु हो वह भीतरसे ग्रहण कर लेता है। १५३.

प्रश्न :—*श्रीमद् राजचंद्रजीने अनेक जगह लिखा है कि जीवको आत्मप्राप्ति नहीं होनेमें मूल कारण उसकी स्वच्छंदता है। तो स्वच्छंदता कहनेका तात्पर्य क्या है ?*

समाधान :—स्वच्छंदी जीव अपनी मति-कल्पनासे मार्गका निर्णय कर लेता है कि मार्ग इसीप्रकार है, मैं जो मानता हूँ वही सच्चा है। अथवा बहुतसे शास्त्रोंका अभ्यास किया हो तो शास्त्रमें इसप्रकार आता है—आत्मा ऐसा ही है—वैसा अपनी मतिसे जो निर्णय किया हो, वहीं का वहीं स्वच्छंदवृत्तिसे अटक जाता है अथवा अन्यत्र कहीं भी अटकता हो, परन्तु

उसे किसीसे पूछनेका नहीं रहता, क्योकि 'मैं सब जानता हूँ, मुझे सब आता है' ऐसा उसे हो जाता है।

जिन्होंने मार्गको जाना है वैसे अनुभूतिवान् ज्ञानी क्या कहते हैं वह विचारनेका उसे अवकाश नहीं रहता और जिसे मति-कल्पना नहीं हो उसे अवकाश रहता है कि विशेष ज्ञानी कौन हैं और वे क्या कहते हैं?

गौतमस्वामी–इन्द्रभूति वेदांतवादी थे। इन्द्रने आकर उनकी परीक्षा की तब उनकी इतनी तैयारी थी कि 'यह क्या कह रहे हैं?' उन्हें आश्चर्य लगा कि मुझे इतना सब आने पर भी यह तो मैं नहीं जानता ! यह जो प्रश्न पूछ रहे हैं कि द्रव्य कितने....(इत्यादि) वह मुझे कुछ क्यों नहीं आता? मै तो ऐसा मानता था कि मैं सर्वज्ञ हूँ....ऐसे आश्चर्य लगा जिससे वहाँ (भगवान्के पास) जानेको तत्पर हुआ। अंतरमें इतनी योग्यता हुई कि 'मै नहीं जानता', तो वहाँ जानेका अवकाश रहा। परन्तु 'मैं सब कुछ जानता हूँ' वैसे मानता हो उसे कोई अवकाश नहीं रहता। १५४.

प्रश्न :—*श्रीमद्जीने एक जगह लिखा है कि ज्ञानी पुरुषकी अपेक्षा यदि जीवको परिग्रहके प्रति विशेष प्रेम हो तो वास्तवमें वह आत्माको समझने या प्राप्त करनेयोग्य नहीं है, तो उसका क्या अर्थ है?*

समाधान :—जिन्हें ज्ञानकी प्राप्ति हुई है ऐसे ज्ञानीकी अपेक्षा जिसे परिग्रहके प्रति प्रेम यानि कि बाहरका रस बढ़ जाये अर्थात् परिग्रहकी महिमा लगे और ज्ञानीके प्रति महिमा न आये तो वह वास्तवमें पात्र नहीं है। उसे परिग्रह गौण हो जाना चाहिये, बाहरका रस उतर जाना चाहिये तो ज्ञानीकी महिमा आये।

उसे ज्ञान चाहिये, इसलिए उसके ज्ञानमें आत्मा तरफकी महिमा आनी चाहिए। 'ज्ञानीके प्रतिकी महिमा अर्थात् अंतरमें आत्माके प्रति महिमा' ऐसा उसका अर्थ निकलता है। इसलिए इसप्रकारकी महिमा हो और परिग्रहकी गौणता हो जाय तभी ही उसे ज्ञानीके प्रति अर्पणता और आत्माके प्रति महिमा आती है।—दोनोंका मेल है।

मुमुक्षु :—क्या ज्ञानी और आत्माकी महिमाको मेल है?

बहिनश्री :—हाँ, दोनोंको मेल है। ज्ञानीकी महिमा करता है उसका अर्थ यह है कि उसे आत्मा चाहिए। उसे अंतरमें आत्म 'प्राप्ति'का ध्येय है। १५५.

प्रश्न :—*नवमी ग्रैवेयक जानेवाले द्रव्यलिंगी मुनिने और ग्यारह अंगके पाठीने जिस तत्त्वको नहीं पकड़ा उसे आपने बाल्यावस्थामें अति सुलभतासे प्राप्त कर लिया और स्वानुभवसे जैनदर्शनकी यथार्थताका निश्चय करके अमूल्य चैतन्य चिन्तामणिको साध लिया। इस क्षेत्रमें वर्तमानकालमें जो अनेकानेक जीवराशि है उसमें आपने पूज्य गुरुदेवके प्रतापसे इस अतिगूढ रहस्यको खोला है। ऐसे एक महापुरुष आप हमारे बीच विराजमान हैं। आपने किस विधिसे–किस विद्यासे यह रहस्य खोला है? और यह चिन्तामणि हाथ आने पर आपकी हृदयोर्मियाँ कैसी थीं?*

समाधान :—ग्यारह अंग पढ़े, परन्तु अंतरमें क्या है उसे जाननेका प्रयत्न नहीं किया। जीव अनंतबार नववें ग्रैवेयक गया, ग्यारह अंग पढ़ा वैसा तो अनंतबार किया है; परन्तु चैतन्यतत्त्वके स्वभावको पहिचाननेका प्रयत्न नहीं किया।

यह तो गुरुदेवका प्रताप है। गुरुदेवने यह मार्ग प्रकाशित किया कि—तत्त्व कुछ निराला ही है। भीतर जो स्वानुभूति होती है उसमें मुक्तिका मार्ग प्रकट होता है। गुरुदेवने मार्ग प्रकाशित किया और सब श्रवण करनेपर अंतरमें ऐसे हो गया कि बस, यही करनेयोग्य है। इस मनुष्यभवमें इस एक मुख्य तत्त्वकी स्वानुभूति प्राप्त नहीं हुई तो यह सब मिला और मनुष्यभव मिला वह सब निरर्थक है।—इसप्रकार अंतरसे भावना हुई कि यही करने योग्य है, अन्य कुछ करने जैसा नहीं है; अंतरमें एक स्वानुभूति प्रगट करनेयोग्य है।

'यही करनेयोग्य है' ऐसे इसीका निरंतर विचार, इसीका मंथन कर–करके अंतरसे निश्चय किया था कि इन गुरुदेवने बतलाया वह मार्ग ही सच्चा है। अनेक प्रकारके मार्गोंमें अनेक प्रकारकी बातें सब कर रहे हैं वे सब मिथ्या हैं; एक गुरुदेव दर्शाते हैं वही मार्ग सच्चा है। कोई कहे कि मार्ग तो अनेक प्रकारके हैं, उनमें यही एक मार्ग कैसे सच्चा है?—यह तो स्वयं अंतरसे पुरुषार्थ द्वारा निश्चय कर सकता है कि यह सच्चा है।

व्यक्तिगत तो क्या कहना? उसका पुरुषार्थ, उसीका मंथन, बारंबार उसीकी लगन लगे कि 'एक ही—यही—प्राप्त करने जैसा है।' बारंबार वैसा चिन्तवन–मनन दिन–रात चलता, उसके बिना चैन नहीं पड़ता, उसके बगैर शांति नहीं होती; कितने ही घंटों तक बस उसीका ध्यान, उसीका मनन–सब वही का वही चलता था। उसमें गुरुदेवके प्रतापसे (सम्यक्त्व) प्रगट हो गया। गुरुदेवका ऐसा कोई प्रताप और उपादान–निमित्तका वैसा मेल हो गया। उसमें कोई उग्र या अन्य कुछ लागू नहीं होता। अंतरमेंसे भेदज्ञानकी धारा और पुरुषार्थ इसप्रकार प्रगट हुआ।

रात्रिको सोते, जागते, स्वप्नमें भी बस, एक ही बात, उसीकी लगन थी, अन्य कोई लगन न थी। थोड़ा समय जाये तो ऐसा लगे कि अब भी क्यों नहीं होता? अभी भी क्या परिभ्रमणका दुःख नहीं लगा? क्या यह नहीं करना है?—इसप्रकार अंतरमेंसे एकदम आत्माकी पुकार आती कि अभी भी क्यों उत्कंठा नहीं होती? क्या अब भी परिभ्रमणकी रुचि है? अब भी जन्म-मरणकी रुचि है? विभावकी रुचि है? क्यों, कहीं अटक रहा है?—ऐसे अंतरमेंसे—अपने आत्मामेंसे—ही आता था और उसके कारण पुरुषार्थ एकदम तीव्र हो जाता था। गुरुदेवका प्रताप और उपादान (दोनों) इकट्ठे हो गये।

गृहकार्य हो या यह हो, वह हो परन्तु लगन एक ही प्रकारकी रहती थी कि आत्मा जुदा है; कोई भी कार्य करते ऐसा लगता कि यह शरीर और भीतर यह जो विकल्प उठते हैं उनमें आत्मा कहाँ है? इन सबसे तो आत्मा जुदा है। इन सबमें आत्मा जुदा किस प्रकार है ?—उसीके विचार आते रहते। खाते-पीते भी ऐसा लगता कि आत्मा जुदा है। प्रतिक्षण वही विचार चला करते, वही के वही विचार आते थे। कपड़े हाथमें हों और विचार आते, प्रत्येक कार्यमें विचार आते कि यह भिन्न, यह सब जुदे और चैतन्य जुदा। प्रतिक्षण उसीकी रटन रहा करती थी। उसके जोरमें तीन-तीन घंटे ज्यों कि त्यों ध्यानमें बैठी रहती थी। क्यों अभी भी प्राप्त नहीं होता?—इसप्रकार उसीके ही विचारोंमें, उसीकी ही एकाग्रतामें तथा उसीके ही ध्यानमें रहती। यह प्राप्त हुए बिना अंतरमेंसे सुख और शांति होनेकी नहीं है, ऐसे रहा करता था। १५६.

प्रश्न :—*कोई पूर्वभवका कारण होगा?*

समाधान :—पूर्वभवका कारण और वर्तमान अपनी योग्यता। पूर्वभवमें सुना हो वह भी कारण होता है और वर्तमान अपना पुरुषार्थ भी कारण होता है। गुरुदेवसे मार्ग सुना और वर्तमान अपना पुरुषार्थ हुआ उसके साथ पूर्वकी योग्यता-संस्कार भी कारण होता है।

जब जीव तैयारी करता है तब वह नया ही होता है। पूर्वभवमें तैयारी हुई हो तो उस समय नया था। इसलिए पूर्वके संस्कारको मुख्य नहीं करना। १५७.

प्रश्न :—*'यही करने जैसा है' ऐसा आपको लगा, वैसा हमें भी लगे उसके लिए अपनी पूर्वभूमिकाकी थोड़ी बात करनेकी कृपा करें।*

समाधान :—'यही करने जैसा है' ऐसी भावनाके पीछे प्रयत्न न चले तबतक

शांति नहीं होती। ऐसा विचार आये कि 'यही करने जैसा है' ऐसा निश्चय किया तो भी पुरुषार्थ क्यों नहीं होता? क्या मेरे निर्णयमें कमी है? है क्या?—ऐसे विचार आते। 'यही करने जैसा है' ऐसे भावना थी न! इसलिए वैसे ही विचार आया करते थे। अब भी क्यों पुरुषार्थ नहीं उभरता? क्या अभी भी रुचि कहीं और है? अब भी क्यों आकुलता नहीं होती?—ऐसे विचार पुरुषार्थकी तीव्रता हेतु आते ही रहते थे।

गुरुदेव कहते थे कि स्वानुभूतिमें उस पार आत्मा बिराजता है। निर्विकल्प दशा सबसे निराली है। यद्यपि बीचमें क्या मार्ग आता है उसकी अधिक स्पष्टता तो कुछ थी नहीं, तथापि गुरुदेव निर्विकल्पदशाको स्वानुभूति कहते हैं और वह मुक्तिका मार्ग है; तथा आत्मा जुदा है ऐसा कहते हैं।—कुछ इसप्रकारका पकड़में आया था।

सब (करांचीको) छोड़ा, अब क्या करनेका है?—जबतक अंतरमेंसे शांति प्राप्त न हो, तबतक चैन नहीं पड़नेका। अंतरमें जो विकल्पोंकी माला (पंक्ति) है वह भी आकुलता है, उससे छूटना ही सच्चा मार्ग है। यह जो विभावोंका चक्र (क्रम) एकके बाद एक चलता है, उससे आत्मा जुदा है; वह अंतरमेंसे प्राप्त होता है। इन सबसे (अन्यमतोंसे) भिन्न सत्य मार्ग है। ऐसे विचार आते थे। सम्यग्दर्शन होनेके बाद ऐसा निश्चय हो गया कि यही मार्ग है; गुरुदेवने कहा वह यही है। १५८.

प्रश्न :—*निर्विकल्पदशा प्रगट करनेकी कोई विद्या-कला हो तो कृपया समझायें।*

समाधान :—भेदज्ञानकी धारा प्रगट करना कि जिस भेदज्ञानके पश्चात् विकल्प टूटकर निर्विकल्पदशाकी प्राप्ति होती है। वह प्रयत्न तो स्वयंको ही करनेका रहता है। वह भेदज्ञान मात्र धारणा जितना नहीं परन्तु अन्तरमेंसे भेदज्ञानकी धारा प्रगट हो (यह सविकल्प भेदज्ञान धाराकी बात है, जो सम्यग्दर्शनसे पूर्व प्रयत्नसे प्रगट होती है) और तत्पश्चात् उसे स्वयं टिकाये कि 'यह शरीर और यह विभावपर्याय मैं नहीं हूँ, मैं तो चैतन्य ज्ञायक हूँ; सर्व शुभाशुभभावोंमें निराला मैं ही हूँ' इसप्रकारकी सहज धारा अंतरमें प्रगटे—वह करना स्वयंके हाथमें है। ऐसी सहज भेदज्ञानकी धारा प्रगट करे तो उसके पीछे निर्विकल्प दशा आती है। भेदज्ञानकी धारा उग्र होनेपर, ज्ञाताधाराकी उग्रता होनेसे तथा उपयोगकी तीक्ष्णता होनेपर विकल्प टूटकर निर्विकल्पदशाकी प्राप्ति अर्थात् स्वानुभूति होती है।

वर्तमानमें स्वयं ऐसी भेदज्ञानकी धारा प्रगट कर सकता है। पहले उसे विकल्परूप

होती है; परंतु यदि सहज धारा प्रगट हो तो उस सहज धाराकी–ज्ञाताधाराकी उग्रताके पश्चात् निर्विकल्पदशा प्रगट होती है। इस ज्ञाताधाराकी उग्रताको सहजरूप करनेमें अपना प्रयत्न चाहिये।

अनादिका अभ्यास है इसलिये उसे बारंबार एकत्वबुद्धि हो जाती है। उस एकत्वबुद्धिमेंसे छूटनेके लिये प्रथम विकल्परूपसे 'यह भिन्न–यह भिन्न' ऐसा करता रहे, तो वह बादमें अभ्यासरूप होता है। (इसप्रकारसे अभ्यास होनेपर) यदि सहज धारा प्रगट हो, तो तत्पश्चात् निर्विकल्पदशाकी प्राप्ति होती है। उसे द्रव्यपर दृष्टि करके ज्ञाताधाराकी उग्रता करनी चाहिए कि 'मैं ज्ञायक हूँ....ज्ञायक हूँ....ज्ञायक हूँ।' जो जो विकल्प आये उस समय भी 'मैं ज्ञायक हूँ'—इसप्रकार अपने अस्तित्वको ग्रहण करे तो सहजरूपसे उसे भेदज्ञान हो। निर्विकल्पदशा प्राप्त करनेका यह एक ही मार्ग है। भेदज्ञान-धाराकी उग्रता होनेपर ज्ञाताधाराकी उग्रता होनेसे निर्विकल्पदशाकी प्राप्ति होती है। किसीको पुरुषार्थमें मंदता रह जाये तो निर्विकल्पदशा होनेमें देर लगती है। और किसीको सहज धारा होकर अंतर्मुहूर्तमें निर्विकल्पदशा हो जाय वह अलग बात है। अधिकतर तो अभ्यास करते–करते होती है।

स्वयं स्वभावसे स्फटिक समान निर्मल चैतन्य है। उसे कहीं ढूँढ़ने जाना पड़े ऐसा नहीं है। सहज स्वयं ही है। अपने अस्तित्वको ग्रहण करके, जो परिणति परकी एकत्वबुद्धिमें जाती है उसे तोड़कर यह सब मुझसे भिन्न है ऐसा निर्णय करे तो उससे पृथक् हो। विभावकी धारा मौजूद है फिर भी वह जुदी और मैं जुदा—ऐसी धारा यदि प्रगट हो तो उसके बाद निर्विकल्पदशाकी प्राप्ति होती है। तदर्थ मार्ग एक ही है।—इसप्रकार स्वयं अपनेको यथार्थ जानकर उसमें यथार्थ परिणति करे (सम्यग्ज्ञान प्रगट करे) तथा लीनता करे, वही करने जैसा है। १५९.

प्रश्न :—*द्रव्य एवं पर्यायके बीच कोई साँध है कि यह द्रव्य–पर्यायका जोड़ा है और उसमेंसे द्रव्यको भिन्न करके ग्रहण किया जा सके?*

समाधान :—द्रव्य स्वयं शाश्वत है, उसमें द्रव्य–पर्यायका जोड़ा है। विभावपर्याय तो प्रत्यक्ष आकुलतारूप है; और जो शुद्धपर्याय है वह वर्तमानमें प्रगट नहीं है। शुद्धपर्याय कहाँ प्रगट है? द्रव्य जो कि शुद्धस्वरूप है उसे ग्रहण करनेका है। जहाँ द्रव्यपर दृष्टि गई वहाँ अंशतः शुद्धपर्याय तो उसके साथ ही साथ प्रगट होती है। उस समय साथ रहा हुआ ज्ञान जानता है कि यह जो विभावपर्याय है वह मैं नहीं हूँ; यह ज्ञायक है सो मैं हूँ; शुद्धपर्याय जितना भी

मैं नहीं हूँ। चैतन्यको ग्रहण किया उसमें पर्याय एवं द्रव्यका सब ज्ञान साथ आ जाता है। किसीको कहीं पृथक् नहीं करना पड़ता, क्योंकि विभावपर्याय तो मलिन ही है। आप अपनेको ग्रहण करे वहाँ विभावपर्याय तो जुदी ही रहती है और स्वभावपर्याय तो उसके साथ ही साथ प्रगट हो रही है; उसे पृथक् कहाँ करनी है? एक अखंड द्रव्यको ग्रहण किया वहाँ बीचमें शुद्धपर्यायें प्रगट होती ही हैं; उनमें जीवको रुकना कहाँ है? शुद्धपर्यायका अंशतः शान्तिरूप वेदन होता है, उसे कहीं ग्रहण नहीं करना है; वह जाननेमें तथा वेदनमें आती है। १६०.

प्रश्न :—*मनुष्यजीवनके कर्तव्यके संबंधमें कुछ कहनेकी कृपा करें।*

समाधान :—मनुष्यजीवनमें ऐसा भेदज्ञान करना है कि चैतन्यतत्त्व जुदा है और यह परद्रव्य जुदे हैं। अंतरमें विभावोंके साथ जो एकत्वबुद्धि हो रही है उसे तोड़नी है। 'मैं भिन्न चैतन्य ज्ञायक हूँ, ज्ञान-आनंदादि अनंतगुणस्वरूप आत्मा हूँ।' उसपर दृष्टि करके 'मैं शाश्वत चैतन्यज्योति हूँ' इसप्रकार बारम्बार उसीका रटन-मनन करनेका है। भेदज्ञान प्रगट करके निर्विकल्पतत्त्व आत्मा है उसकी स्वानुभूति प्रगट करनी है। गुरुदेवने जो बताया है वही करनेका है। एक ही मार्ग है। श्रीमद्जीने कहा है न....''एक हो त्रिकालमें परमारथका पंथ।'' परमार्थका एक ही पंथ है—चैतन्यतत्त्वको पहिचानो, उसीकी स्वानुभूति प्रगट करो, भेदज्ञान प्रगट करो, ऐसा गुरुदेवने कहा है और वही करनेका है।

''इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा सन्तुष्ट रे;ध्रुव
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे''

इसमें सदा प्रीति कर, इसमें प्रीतिवंत बनो, इसमें सन्तुष्ट हो; संतोष इसीमें ही है, अन्यत्र कहीं संतोष नहीं है, अन्यत्र असंतोष है; अन्यत्र कहीं भी तुझे शान्ति नहीं मिलेगी। आत्मामें जो संतोष-शांति-आनंद है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है। ''इससे हि बन तू तृप्त'' इसीमें तू तृप्तिको प्राप्त हो; तृप्ति इसीमें है, अन्यत्र कहीं भी नहीं है। तृप्तिपना जो है वह सब आत्मामें ही है। उसीमें तुझे तृप्ति मिलेगी, अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलेगी। ''उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे'' उसीमें उत्तम सुखकी प्राप्ति होगी। अन्यत्र-बाह्य सुखमें माथामारनेसे नहीं मिलता; सुख आत्मामें ही है; उसीमेंसे वह प्रगट होगा। वही करनेका है।

जितना ज्ञान है उतना आत्मा है। ज्ञायकतासे भरपूर जो ज्ञानस्वरूप आत्मा, वही

ज्ञायक है। बस, वही परमार्थस्वरूप आत्मा है, उसे पहिचान। यही कर्तव्य है। उस पदको प्राप्त कर, वह सच्चा पद है। अनेक प्रकारके मति–श्रुत–अवधि–मनःपर्याय आदि भेद हैं, उन भेदोंपरसे दृष्टि उठाकर एक ज्ञायकपर दृष्टि कर। बस, उस ज्ञायकमें तृप्त हो। उस ज्ञायकमें ही सब कुछ भरा है। अन्य समस्त भेदभावों और विभावोंपरसे दृष्टि उठाकर एक चैतन्यमें दृष्टि कर। गुरुदेवने कहा सो भेदज्ञान–स्वानुभूति प्रगट करके उसीमें तृप्तिका अनुभव कर। उसीमें आनंदका—शान्तिका—ज्ञानका सागर भरा है, और उसमेंसे ही आनंद, ज्ञान आदि उछलेंगे। सर्वस्व उसीमें भरा है। उसीमें बारम्बार दृष्टि, ज्ञान एवं लीनता करनेसे उसमेंसे ही पूर्णताकी प्राप्ति होगी, वही वास्तवमें करनेका है, वही कर्तव्य है। तत्त्वके विचार, शास्त्राभ्यास, देव–शास्त्र–गुरुकी महिमा यह सब एक चैतन्यतत्त्वकी पहिचानके लिये ही करनेका है। वही जीवनका सच्चा कर्तव्य होना चाहिए। गुरुदेवने बहुत कहा है। गुरुदेवका परम उपकार है। १६१.

प्रश्न :—*शुभभाव हो तो मनुष्यभव मिलता है न?*

समाधान :—ऐसे भाव रखनेका क्या काम है? जिससे भवका अभाव हो वह भाव प्रगट करनेयोग्य है। कैसा भव मिले? उसपर कुछ (आधार) नहीं है। देवका भव मिले या मनुष्यकाभव मिले, वे सब भव ही हैं, उनमें तो आकुलता है। भवमें कहाँ शान्ति है? १६२.

प्रश्न :—*सब जीवोंमें इतना सब ज्ञान नहीं होता कि जिससे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो सके। शुभभावोंसे तो पुनः मनुष्यभव प्राप्त होगा, उसमें तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मोक्षमें जायेंगे ऐसी भावना करना क्या योग्य है?*

समाधान :—इस भवमें पुरुषार्थ न करके अगले भवमें करेंगे, ऐसा वायदा करना ठीक नहीं है। स्वयं क्रियाकांडमें पड़ा था और जिन शुभभावोंसे वास्तवमें पुण्यबंध हो उनमें धर्म माना था। शुभभावकी क्रियासे धर्म होता है, ऐसा मानता था, उसके बदले उन सबसे भिन्न आत्मा गुरुदेवने बताया। जिन गुरुने मुक्तिका मार्ग एवं मुक्ति कोई अलग है, अपूर्व है ऐसा बताया, उनका ऐसा यह संयोग मिला, तो उसमें भेदज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन हो वह अपूर्व है। तथापि वहाँ तक नहीं पहुँचा जा सके तो उसकी भावना, उसका रटन, उसके संस्कार, बारम्बार उसका चिन्तवन कर। ऐसा मनुष्यभव, सच्चे देव–शास्त्र–गुरु, दीर्घ आयुष्य तथा ऐसे गुरुका संयोग मिलना वह एकके बाद एक दुर्लभ है। वह सब वर्तमानमें प्राप्त हो चुका है।

शास्त्रमें पं. टोडरमलजी कहते हैं कि "सब अवसर आ चुका है।" तू अपना कार्य कर ले। सम्यग्दर्शन पाना दुर्लभ है। वह प्राप्त न हो सके तो 'आत्मा कोई अपूर्व है' उसके संस्कार डालना, अपूर्व आत्माकी रुचि करना, भावना करना, चिन्तवन करना, आत्मा एकको ही मुख्य रखना और देव-शास्त्र-गुरुको हृदयमें रखना—इतना तो जीव कर सकता है, अंतरमें इतना परिवर्तन कर सकता है। १६३.

प्रश्न :—*देव-शास्त्र-गुरुकी पहिचान और महिमा दृष्टिको ढीला (शिथिल) नहीं करती ?*

समाधान :—ढीला (शिथिल) नहीं करती, परन्तु दृष्टिको अभिनन्दती है। आत्माकी तथा देव-शास्त्र-गुरुकी पहिचानको निमित्त-उपादानका सम्बन्ध है। दृष्टि, ज्ञान और आत्माका सम्बन्ध तो सीधा है; परन्तु यह (उक्त) शुभराग विरुद्धभाव है, तथापि आत्माके साथ (उसे) निमित्त-उपादानका सम्बन्ध है।

अनादिकालसे जीवने शुभभाव किये किन्तु आत्माको नहीं पहिचाना; उसका कारण यह है कि स्वयंने आत्माको पहिचाननेका प्रयत्न नहीं किया इसलिये उसकी पहिचान नहीं हुई। शुभरागमें अनादिकालसे पड़ा रहा। स्वयंने अपने कारण सत्य समझनेका प्रयत्न नहीं किया। शुभसे सब हो जाता है ऐसा मान लिया है। परन्तु स्वयं दृष्टि बदले और आत्माकी सच्ची रुचि करे तो पहिचाननेमें आता है। देव-शास्त्र-गुरुको बाहरसे पहिचाना परन्तु यथार्थ पहिचाने तो आत्माको पहिचाने बिना न रहे, और आत्माको पहिचाने तो भगवान्‌को पहिचाने बिना न रहे ऐसा सम्बन्ध है। १६४.

प्रश्न :—*जीव बाहरका तो सब कार्य कर लेता है; परन्तु यह कार्य नहीं करता; तो अंतरमें जानेके लिये विशेष प्रेरणा प्रदान करें।*

समाधान :—गुरुदेवने अंगुलिनिर्देश करके मार्ग बतलाया है कि तू स्वभावके मार्गपर जा; परन्तु कोई चला नहीं देता। गुरुदेव दर्शाते थे कि यह मार्ग विभावका है, उसमें तीव्रभाव आवे या मंदभाव-शुभभाव आवे, उस मार्गपर तू मत जाना; क्षणिक पर्यायें हो उनमें, तथा अनेक भेदभाव आवे उनमें भी मत रुकना; शाश्वत आत्माको ग्रहण करना, अन्यत्र कहीं भी नहीं रुकना। शाश्वत आत्माको ग्रहण करेगा तो तुझे सुखधाम मिलेगा।—इसप्रकार मार्ग दिखलाते थे। यदि अन्यत्र रुका या पर्यायमें रुका तो तुझे चैतन्य भगवान् आत्मा नहीं मिलेगा।—ऐसे बराबर स्पष्ट कर करके बताते थे; परन्तु चलना तो अपनेको ही रहता है। शुभभाव बीचमें आते जायेंगे, परन्तु उनमें रुकना नहीं; भीतर साधनामें साधकदशाकी पर्यायें

प्रगटेंगी परन्तु उनमें मत रुकना। तथा अनेक प्रकारके ज्ञानके भेद आयेंगे उनमें भी नहीं रुकना।—इस भाँति अनेक प्रकारसे कहते थे। तू एक शाश्वत द्रव्यको ग्रहण करके उसमें जाना, उस मार्गपर जाना, उसमेंसे तुझे शुद्धताकी पर्याय प्रगट होगी, ऐसे बारम्बार मार्ग बतलाते थे। अब, चलनेका तो अपनेको ही रहता है।

अकेले ज्ञायक द्रव्यको पकड़ना; ज्ञायक भगवानमें सब भरा है; उसमेंसे तुझे सब कुछ मिलेगा उसमें सभी निधियाँ हैं वे तुझे मिलेंगी। ऐसे खोल-खोलकर (विश्लेषणकर) बतलाते थे। परंतु चलना तो अपनेको है। उन्होंने तो सब कुछ बता दिया है, किन्तु चले कौन? जाना करे और आहा....आहा.....ऐसा है! ऐसा है ! ऐसे किया करे; तथा यह विभाव है, यह पर्याय है ऐसे विचार किया करे, किन्तु चले कौन? चलनेका तो अपनेको है। गुरु मार्ग बतायें, किंतु चला कौन दे? मुँहमें कौर रख दें, परन्तु जीभ चलाकर, गले तो उतारनेका तो अपनेको रहता है। पुरुषार्थ करना है। रास्ता दिखानेवाले इस पंचमकालमें कौन मिले? दुनियामें देखो तो सब कहीं न कहीं अटके पड़े हैं, कोई थोड़ा बाँच ले, कोई व्रत-तप-त्याग कर ले, कोई भद्यि१७८द्म कर ले, ध्यान कोई करे कि अहो! ध्यानमें भगवान् दिखाई दिये, कुछ प्रकाश दिखाई पड़ा।—इसप्रकार कोई कहीं तो कोई कहीं अटकते हैं, भ्रमणामें कहीं न कहीं भटक रहे है। यहाँ तो भ्रमणा होनेका अवकाश ही नहीं है। एक चलनेका ही अपनेको बाकी है। १६५.

प्रश्न :—*ज्ञायक ज्ञानलक्षणसे ज्ञात होता है, परन्तु अन्य लक्षण उसे प्रमाणरूपसे कब खयालमें आते हैं?*

समाधान :—मैं ज्ञानलक्षणसे लक्षित एक ज्ञायकतत्त्व हूँ। जो तत्त्व हो वह पूर्ण ही होता है, वह तत्त्व कहीं अधूरा नहीं होता। इसप्रकार 'मैं परिपूर्ण हूँ,' ऐसे कहनेमें सब एकसाथ समझमें आ जाता है। जिस सुखकी स्वयं इच्छा कर रहा है वह सुख कहीं बाहरसे नहीं आता। मैं सुखस्वरूप हूँ, मैं शान्तिस्वरूप हूँ; यह जो विकल्प हैं वह सब आकुलता है; मैं निर्विकल्पतत्त्व हूँ; शास्त्रमें कहा है इसलिये नहीं, परन्तु मैं स्वयं निर्विकल्पतत्त्व ही हूँ, आनन्दगुण दिखाई नहीं देता तथापि मुझमें आनन्दगुण है, वह अमुक प्रकारसे निश्चित होता है। जब कि ज्ञानलक्षण ऐसा है जो उसके खयालमें आ सकता है, इसलिये कहते हैं कि आत्माको ज्ञानसे जानना। मैं आकुलतारहित निराकुल हूँ, ऐसे उसे खयालमें आ सकता है; परन्तु मैं आनन्द लक्षण हूँ उसमें उसे आनन्दका भास नहीं होता; तो भी अमुक प्रकारके

यथार्थ प्रमाणसे जान सकता है; सच्चे ज्ञानसे निर्णय कर सकता है। परन्तु ज्ञानलक्षण ऐसा है जो उसके अनुभवमें आता है; उसके अनुभवमें अर्थात् स्वानुभूतिके अनुभवमें ऐसा नहीं, परन्तु ज्ञानलक्षणसे (ज्ञायकको) जान सकता है। १६६.

प्रश्न :—*आत्मा दूसरोंको जानता है इसलिये ज्ञायक है या स्वयं ज्ञायक है?*

समाधान :—शास्त्रमें आता है न? कि मैं द्रष्टा हूँ, द्रष्टाको देखता हूँ, द्रष्टा द्वारा देखता हूँ, स्वयं द्रष्टा-ज्ञाता हूँ, अन्यका द्रष्टा हूँ ऐसा नहीं। मैं स्वयं द्रष्टा हूँ; मैं द्रष्टा-ज्ञाता स्वभावसे परिपूर्ण हूँ। अग्नि दूसरेको उष्ण करे इसलिए उष्ण है ऐसा नहीं, किन्तु वह स्वयं उष्णतासे भरी है। बर्फ स्वयं ठंडा है; दूसरेको ठंडा करे इसलिए वह ठंडा है ऐसा नहीं है, बर्फका स्वभाव स्वयं ही ठंडा है। वैसे ही मैं दूसरोंको देखता-जानता हूँ इसलिए ज्ञाता हूँ ऐसा नहीं, मैं स्वयं द्रष्टा-ज्ञाता हूँ। मैं अनन्तशक्तिसे भरपूर ज्ञाता हूँ। वस्तु स्वतःसिद्ध अनादि-अनन्त है; उसे किसीने बनायी नहीं है, वह स्वयं है। जिस प्रकार जड पदार्थ स्वयं है, उसी प्रकार मैं चैतन्य स्वयंसिद्ध वस्तु ज्ञाता हूँ। उस ज्ञातामें अन्य अनन्तगुण भरे हैं। वह ज्ञाता ऐसा है कि स्वयं अनन्ततासे भरपूर है। उस स्वयं ज्ञाताको जान लेना। दूसरोंको जानता-देखता है इसलिए जानने-देखनेवाला है ऐसा नहीं, स्वयं ज्ञाता-द्रष्टा है। १६७.

प्रश्न :—*मैं स्वयं ज्ञायक हूँ ऐसा अभ्यास ज्यों-ज्यों उसे गहराईसे विशेष हो त्यों-त्यों मार्ग सहजरूपसे मिलता है?*

समाधान :—(हाँ, उसे अवकाश है)। अंतरमें अभ्यास करे कि मैं स्वयं ज्ञायक हूँ; ये सब जो भाव दिखाई देते हैं वे मैं नहीं हूँ; मैं स्वयं ज्ञायक सबसे पृथक् तत्त्व हूँ, निरालातत्त्व हूँ;—ऐसे बारम्बार अंतरसे अभ्यास करे। अपने अस्तित्वकी उसे महिमा हो। शून्यतामात्र नहीं अर्थात् मैं अनादि-अनन्त, मूल्यरहित तत्त्व हूँ ऐसा नहीं परंतु, अनन्तशक्तिसे भरपूर ऐसा 'चैतन्य अस्तित्व' सो मैं हूँ ऐसी महिमा आये तो परपदार्थोंकी महिमा छूट जाय। विकल्प छूटनेपर मैं शून्य हो जाऊँ ऐसा नहीं हैं; मैं अनन्तशक्तियोंसे भरपूर हूँ; विकल्प मेरा स्वभाव नहीं है; मैं निर्विकल्पतत्त्व अनन्ततासे भरपूर हूँ। १६८.

प्रश्न :—*'ज्ञान जुदा और राग जुदा' ऐसा पहिचान लेनेके बाद उसे ऐसे विकल्प करनेकी आवश्यकता होती है कि ज्ञान जुदा है और राग जुदा है?*

समाधान :—जिसे यथार्थ पहिचान हो उसे ज्ञान जुदा और राग जुदा ऐसा सहज

हो जाता है। जिसे सहज दशा हो उसको ज्ञान जुदा और राग जुदा ऐसी सहज ज्ञाताधारा वर्तती रहती है। उदयधारा और ज्ञानधारा भिन्न है। स्वानुभूति होनेके पश्चात् भेदज्ञानकी धारा वर्ते उसमें पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। उसमें सहज भेदज्ञान वर्तता है। जो-जो उदय आये और अभी अस्थिरता है इसलिये जो विकल्प खड़ा हो उसके साथ 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसी ज्ञाताधारा सहज रहती है। उसे सहज रहता है कि यह जुदा है और मैं जुदा हूँ। यद्यपि पुरुषार्थकी मन्दताके कारण उसमें (विकल्पमें) अल्प जुड़ता है, यदि न जुड़े तो वीतरागता हो जाय। अतः अल्प जुड़ता है, परन्तु ज्ञायककी तीव्र दृढ़ता रहती है कि मैं चैतन्यतत्त्व जुदा हूँ; यह तत्त्व (विकल्प) मैं नहीं, यह तो विभावभाव है, ऐसी भेदज्ञानकी सहजधारा वर्तती ही रहती है। विकल्प करनेकी जरूरत नहीं पड़ती किन्तु भेदज्ञान रहता ही है। पश्चात् ज्यों-ज्यों दशा बढ़ती जाय और मुनिदशा आये तब विशेष तीव्रता होती जाती है। ज्ञायककी धारा तथा द्रव्यकी दृष्टि अधिक बलवान् होते-होते मुनिदशामें उग्रता आती रहती है। उदयधारा और ज्ञानधारा तो जबतक पूर्ण वीतरागता तथा केवलज्ञान न हो तबतक वर्तती है। भेदज्ञानकी धारा सम्यग्दर्शनमें अमुक प्रकारकी रहती है और क्रमसे स्वरूपकी लीनता बढ़ती जाय त्यों-त्यों उग्रता बढ़ती जाती है। १६९.

प्रश्न :—*ज्ञानीको अस्तित्वकी मस्ती कैसी होती है?*

समाधान :—जहाँ तत्त्वकी दृष्टि हुई वहाँ किसी भी परभावके बिना स्वयं टिक सकता है (ऐसी मस्ती आ जाती है)। स्वतः सिद्ध वस्तु अन्य किसी पदार्थके बगैर टिकनेवाली है। जहाँ द्रव्यकी प्रतीति होती है वहाँ उस प्रतीतिमें पूरा बल साथमें आता है। प्रतीति तो उसे दृढ़ ही है कि मैं किसी पदार्थके आश्रयसे टिका रहूँ ऐसा तत्त्व नहीं हूँ। 'मैं स्वयं शाश्वत हूँ, स्वयं वस्तु हूँ' ऐसी प्रतीति तो सम्यग्दर्शनमें पहले ही आ जाती है। फिर तो उसे लीनता बढ़ती जाती है, स्वरूपका वेदन बढ़ता जाता है, स्वानुभूति बढ़ती जाती है और बीचमें सविकल्पदशामें आंशिक ज्ञायककी धारा, शान्तिका वेदन बढ़ता जाता है। 'मैं अपने अस्तित्वमें स्वयं स्थित रहनेवाला हूँ,' वह प्रतीतिमें आगया फिर तो स्वरूपमें ही रहूँ, बाहर न जाऊँ, स्वरूपमें आनंद है-शान्ति है; स्वरूपमेंसे बाहर जाना मुश्किल पड़े, ऐसी उसकी दशा वृद्धिगत होती जाती है। अल्प अस्थिरताके कारण परिणति बाहर जाती है। परन्तु उसकी उग्रता होती रहती है (अर्थात्) भेदज्ञानकी धारा और द्रव्यकी प्रतीतिका बल बढ़ता जाता है, लीनतामें विशेष वृद्धि होती रहती है। १७०.

प्रश्न :—*वचनामृतमें कहा है कि खटक लगनी चाहिये, तो कैसी खटक? कृपया उसको समझायें।*

समाधान :—स्वाध्याय, मनन, चिंतन उन सबका 'हेतु' क्या है? कि मुझे आत्माका स्वरूप प्रगट करना है, मुझे आत्माको पहिचानना है। स्वाध्यायके लिये स्वाध्याय–मनन–चिंतन नहीं, किन्तु उसके पीछे मेरा हेतु क्या है? (मेरा) ध्येय एक चैतन्यके प्रति है, मुझे चैतन्यस्वभाव प्रगट करना है। मात्र शुभभाव जितना स्वाध्याय–मनन करना ऐसे नहीं; किन्तु मुझे चैतन्यकी प्राप्ति कैसे हो ऐसा 'हेतु' व वैसी 'खटक' होनी चाहिये। मुझे अपने स्वभावकी प्राप्ति कैसे हो, भेदज्ञान कैसे प्राप्त हो और अपने चैतन्यतत्त्वका अस्तित्व—मैं चैतन्य हूँ—वह मुझे कैसे ग्रहण हो ऐसी 'खटक' रहनी चाहिये। १७१.

प्रश्न :—*'समयसार' गाथा १७-१८में आता है कि "अनुभूतिस्वरूप भगवान् आत्मा आबाल–वृद्ध सबके अनुभवमें सदा स्वयं ही आता होनेपर भी"—तो क्या भगवान् आत्माका अनुभव अज्ञानदशामें भी होता है?*

समाधान :—अनुभूति अर्थात् स्वानुभूतिकी यहाँ अपेक्षा नहीं है। आबालवृद्ध सबको स्वयं वेदनमें आ रहा है अर्थात् ज्ञानस्वभाव स्वयं उनके अनुभवमें आ रहा है; चैतन्यद्रव्य स्वयं अपने ज्ञानस्वभावसे पहिचानमें आये वैसे अनुभवमें आ रहा है, क्योंकि वह ज्ञाता द्रव्य है। वह ज्ञाता द्रव्य स्वयं ज्ञात हो रहा है अर्थात् यथार्थ जाननेमें आ रहा है ऐसा नहीं, परन्तु उसका ज्ञातास्वभाव सबके अनुभवमें आ रहा है। उसमें जडताका अनुभव नहीं होता, परन्तु ज्ञाता सबके चैतन्यरूपसे अनुभवमें आ रहा है। यह विकल्प है, यह पर है, यह है–यह है ऐसे विचार किसकी सत्तामें होते हैं ऐसा खयाल करे तो ज्ञाता सबके अनुभवमें आ रहा है; परन्तु स्वयं लक्ष्य दे करके यथार्थरूपसे नहीं जानता। स्वयं अपने ज्ञानस्वभावरूपसे अनुभवमें आ रहा है। ज्ञायक–ज्ञाता वह सबके चैतन्यतारूपसे अनुभवमें आता है। आबालवृद्ध सबके अनुभवमें आ रहा है वह यथार्थरूपसे नहीं, परन्तु उसके स्वभावरूपसे अनुभवमें आ रहा है। जैसे इन वर्ण–रस–स्पर्श–गंध सबमें जडता दिखाई देती है उसी प्रकार आत्मामें चैतन्यता दिखाई देती है। १७२.

प्रश्न :—*क्या चैतन्यता इतनी स्पष्ट है कि उसे पहिचानना हो तो पहिचाना जा सके?*

समाधान :—पहिचाना जा सके ऐसी है; स्पष्टरूपसे है, परन्तु स्वयं पहिचानता नहीं है। चैतन्यता तो स्पष्ट है। १७३.

प्रश्न :—*आत्माको पहिचाननेका पुरुषार्थ किस प्रकार करें?*

समाधान :—उसका बारम्बार विचार करना, उस प्रकारके स्वाध्याय–मनन करना, अंतरमें जिज्ञासा करनी, महिमा करनी कि आत्मा कैसा अपूर्व होगा! वह कैसे मुझे प्रगट हो? विभावकी महिमा गौण करके स्वभावकी महिमा प्रगट करनी। 'मैं चैतन्य हूँ' ऐसा अभ्यास बारम्बार करना। चैतन्यस्वभावके लिये आता है न?

"समता, रमता, ऊरधता, ज्ञायकता सुखभास;
वेदकता, चैतन्यता, ए सब जीव विलास।"

—इसप्रकार चैतन्य सबके खयालमें आ सके वैसा है। उसमें ज्ञायकता है, समता है, रमता–रम्यभाव है। वेदकता वेदनमें आती है। चैतन्यता सबके ग्रहण हो वैसी है। 'ए सब जीव विलास'—यह सब जीवका विलास है, परन्तु स्वयं ग्रहण नहीं करता; पुरुषार्थ करे तो ग्रहण हो परन्तु अनादिके परके अभ्यासमें पड़ा है इसलिये ग्रहण नहीं होता। अपनी ओरका अभ्यास करे तो अपने समीप ही है, दूर नहीं है। १७४.

प्रश्न :—*अनन्तकालमें ऐसा अभ्यास क्या जीवने कभी नहीं किया होगा?*

समाधान :—जीवने अभ्यास तो किया है, परन्तु अपूर्वता नहीं लगी। अपूर्वता लगनी चाहिये कि यह कुछ अलग ही है! अंतरमें यथार्थ देशनालब्धि हुई हो तो निष्फल नहीं जाती; इसप्रकार अपूर्वता प्रगट हुई हो तो सफल होती ही है। जीवने अनन्तकालमें सब कुछ किया परन्तु उसमें अपूर्वता नहीं लगी। यह कुछ अपूर्व है, ऐसा स्वयंको अपने आत्माका विश्वास अंतरमेंसे आना चाहिये। १७५.

प्रश्न :—*आत्मप्राप्तिके लिये त्याग–वैराग्यकी मुख्यता तो है न?*

समाधान :—प्रथम आत्मा कैसे प्राप्त हो उसकी भावना, तत्त्वविचार, स्वाध्याय मुख्य होते हैं। त्याग–वैराग्यमें भी जितना स्वयं आत्माकी ओर झुके उतनी विरक्ति अंतरसे आती है और बाहरका रस उतर जाता है। अंतरमें यह सब अमुक प्रकारसे होता है। प्रथम सच्ची समझके लिये तत्त्वविचार, स्वाध्याय, श्रवण–मनन होते हैं। त्याग–वैराग्य तो जितना अंतरमेंसे विभावका रस छूटे उतना होता है। अंतरमें आत्माकी ओर ढले उतनी विरक्ति तो भूमिकानुसार होती ही है। उसके साथ सच्ची समझके लिये स्वाध्याय–विचार–मनन सब होते हैं, परन्तु अमुक विरक्ति तो होनी ही चाहीये। १७६.

प्रश्न :—*सत् सरल है, सुगम है, सहज है, सर्वत्र उसकी प्राप्ति है तो हमें क्यों ऐसा भासित नहीं होता?*

समाधान :—सत् आत्माका स्वभाव है इसलिये सहज है। उसे कहीं बाहर ढूँढ़ने या माँगने नहीं जाना पड़ता और न वह परवस्तुमेंसे आता है। अपना स्वभाव है इसलिये सुगम है, सहज है, सरल है; परन्तु अनादिके विभावके अभ्यासके कारण दुर्लभ है। अपना स्वभाव है इसलिये सहज है। स्वयं ही है, कोई और नहीं इसलिये सहज है। प्रगट करे तो अन्तर्मुहूर्तमें होता है और नहीं करे तो अनन्तकाल बीत जाता है। अपनेको विभावका अनादि अभ्यास है इसलिये प्रगट नहीं होता। वैसे तो स्वभाव अपना है, अपनेमेंसे प्रगट होता है, बाहरसे नहीं आता, बाहर कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता, अपनेमें ही भरा है उसे प्रगट करनेका है। १७७.

प्रश्न :—*बाहर कहीं न रुचता हो तब ही आत्मामें रुचे ऐसा है क्या?*

समाधान :—बाहर नहीं रुचे तभी आत्मामें रुचता है। जिसे बाहरकी रुचि हो उसे आत्माकी रुचि नहीं होती। आत्माकी रुचि लगे उसे बाहरकी रुचि टूट जाती है। बाह्यमें रुचि और तन्मयता है उसे आत्माकी लगन नहीं है, वह आत्माकी ओर नहीं जा सकता। अनादिकालसे स्वयं बाह्यमें तन्मय होकर रहा है इसलिये आत्माकी लगन नहीं लगी है। आत्माकी रुचि हो तभी आत्मामें प्रवेश किया जा सकता है। कई लोग कहते हैं न? कहीं नहीं रुचता। तो अपने आत्माका अस्तित्व ग्रहण कर, वहाँ रुचे ऐसा है। वह तेरे रहनेका स्थान है, सुखका धाम है। स्वरूपको ग्रहण करनेका पुरुषार्थ कर, तो उसमेंसे सुख प्रगट होगा। बाहर न रुचे तभी अंतरमें प्रवेश हो सके ऐसा है। जिसे बाहर रुचे उसके लिये बाहरी संसार खड़ा ही है। १७८.

प्रश्न :—*अंतरमें आत्मसुख देखा नहीं तो विश्वास कैसे किया जाय?*

समाधान :—सुखको देखा नहीं है, किन्तु सुखकी इच्छा है और बाहर कहीं चैन नहीं पड़ता। रुचता नहीं है, तो सुखमय एक आत्मपदार्थ जगत्में होना चाहिये। तू अपने विचारसे उसे ग्रहण कर, उसीमें सुख है। देव–शास्त्र–गुरु जो सुखका धाम बतला रहे हैं, मुनियों तथा अनन्त तीर्थंकरोंने जिसे प्रगट किया है और सर्व महापुरुषोंने भी वह बतलाया है। इसलिये तू विचार कर तो तुझे आत्मामें ही सुख लगेगा। वह अभी तुझे दिखाई नहीं देता, परन्तु तत्त्वका विचार करके देख तो तुझे भी दिखाई देगा। तुझे अपना आत्मा ही

अंतरसे जवाब दे देगा। तू ज्ञाता अंतरमें विराजमान है उसमें सुख है। तू विचार कर तो प्रतीति आये बिना नहीं रहेगी। उस मार्गसे ही अनन्त तीर्थंकर मोक्ष गये हैं और उन्होंने मार्ग बतलाया है। उसका अंतरमें विचार कर तो विश्वास आये बिना नहीं रहेगा। १७९.

प्रश्न :—*जीव क्या राग-द्वेषमें उलझ जाता है?*

समाधान :—अपनी रुचि नहीं है, रुचि मन्द है, इसलिये उलझ जाता है। पुरुषार्थ बढ़ाना, रुचि बढ़ानी; पुरुषार्थ मंद हो जाय तो बारम्बार उसका अभ्यास करना। बाहरकी कोई रुचि लगे तो उसका प्रयत्न कैसे करता रहता है? बाहरकी रुचि हो और अपनी पसन्दके किसी कामकी जिम्मेदारी ली हो तो उसके पीछे लगकर काम करता ही रहता है, वैसे ही आत्मरुचि लगे और बारंबार उसके पीछे पड़कर प्रयत्न करे तो कार्य हो जाय। पुरुषार्थ किये बिना नहीं होता। १८०.

प्रश्न :—*उतावलसे आत्माका कार्य नहीं होता?*

समाधान :—खोटी उतावलसे काम नहीं होता; स्वभावको पहिचाने तो होता है। धीरजसे होता है, प्रमाद करे तो नहीं होता। आकुलता करनेसे नहीं होता, परन्तु धीरजसे-शान्तिसे स्वभावको पहिचानकर यथार्थ रीतिसे विचार करे तो होता है। पुरुषार्थ करे, अपने स्वभावका ग्रहण करे तो होता है। १८१.

प्रश्न :—*स्वानुभूतिमें आत्मा जिस प्रकार नारियलका गोला नारियलसे पृथक् है उसी प्रकार शरीरसे अत्यंत भिन्न है ऐसा खयालमें आता है?*

समाधान :—स्वयं पृथक् ही हो जाता है। एकदम निराला हो जाता है। चैतन्यतत्त्व अकेला निराला होकर स्वयं अपनी अनुभूति करता है, स्वयं अपने अनन्त गुणोंका वेदन करता है। चैतन्यगोला पृथक् होकर, चैतन्यरूपसे स्वयं अपनेको अनुभवता है। इस अनुभवमें जो विभावोंका वेदन है वह छूट जाता है और अंतरमेंसे चैतन्यका वेदन प्रगट होता है। बिलकुल ऐसा निराला हो जाता है। शरीरका खयाल नहीं रहता। उपयोग जब बाहर आये तब 'शरीर जुदा और मैं ज्ञायक जुदा' ऐसी जुदेपनकी-निरालेपनकी परिणति वर्तती है। अंतरमें जानेपर तो यह भी ध्यान नहीं रहता कि शरीर कहाँ है? विकल्पोंके प्रतिका उपयोग भी छूट जाता है और अकेले चैतन्यका वेदन रहता है, अकेली आनन्दकी धारा वर्तती है। उसके साथ अनन्त गुणोंकी पर्याय प्रगट होती है। १८२.

प्रश्न :—*हमें तो लगता है कि हम बहुत पुरुषार्थ करते हैं, फिर भी परिणाम कुछ नहीं दिखता। तो आप इस सम्बन्धमें विशेष स्पष्टतासे समझायें।*

समाधान :—अपने पुरुषार्थकी कमी है। अपने पुरुषार्थमें बस, एक ही लगन और दिन-रात उसीका प्रयत्न करना चाहिये। आत्माकी भिन्नता बुद्धिमें ग्रहण की, परन्तु अंतर्-परिणतिमें भेदज्ञानकी ऐसी धारा प्रगट होनी चाहिये कि 'मैं चैतन्य न्यारा हूँ।' अपने प्रयत्नकी कमी है। मैं चैतन्य जुदा हूँ, जुदा हूँ—ऐसी न्यारापनेकी परिणति अंतरमेंसे प्रगट होनी चाहिये, तब स्वानुभूति होती है। मात्र विचार चले वह ठीक है, परन्तु अंतरमें गहरे उतरकर जो स्वभाव है उस स्वभावमेंसे न्यारापना आना चाहिये। १८३.

प्रश्न :—*शुद्धनयका और सम्यग्दर्शनका विषय क्या एक आत्मा ही है? क्या दृष्टिमें किसी पर्यायका स्वीकार नहीं है?*

समाधान :—दोनोंका विषय एक आत्मा ही है, पर्याय नहीं। द्रव्यदृष्टिमें पर्याय नहीं आती। अपूर्ण एवं पूर्ण पर्यायपर भी लक्ष्य नहीं जाता। शुद्धपर्यायका वेदन होता है, तथापि शुद्धपर्यायपर उसकी दृष्टि नहीं होती। दृष्टि तो शाश्वत अनादि-अनन्त पारिणामिकभावपर है। पारिणामिकभावका भी विकल्प नहीं होता। मैं अनादि-अनन्त आत्मा हूँ, उसपर दृष्टि रहती है। शुद्ध-अशुद्ध किसी भी पर्यायपर दृष्टि नहीं होती, उसका वेदन होता है तथापि दृष्टि उसपर नहीं होती। ज्ञान जानता है कि मेरी साधकदशामें चौथागुणस्थान या छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान है, ऐसा ज्ञानमें रहता है इसलिये पुरुषार्थ होने लगता है;पुरुषार्थ करता है, परन्तु दृष्टि तो पूर्णरूपसे द्रव्यपर रहती है। पर्यायका वेदन होता है उसे ज्ञान जानता है। १८४.

प्रश्न :—*जुदा पाड़नेका अभ्यास करे तो क्या ऐसा एक क्षण आता है जब परिणति अभेद हो जाय?*

समाधान :—हाँ; जुदे पाड़नेका अभ्यास करे तो परिणति न्यारी हो जाती है। कितनोंको अकुलाहट होती है इसलिये थक जाते हैं; परन्तु स्वयं प्रयत्न करते रहना, उसमें अकुलाना या थकना नहीं। स्वयं उत्साहसे तथा धैर्यसे प्रयत्न करना। प्रयत्न करे तो प्रगट हुए बिना रहता ही नहीं। जिसे अपनी जिज्ञासा तथा प्रयत्न अपनी ओर है उसे समय लगे लेकिन हुए बिना नहीं रहता। अपनेको लगन-रुचि है और कारण दे तो कार्य आये बिना नहीं रहता। जबतक कार्य न हो तबतक समझना कि कारणमें कमी है। १८५.

प्रश्न :—*आपको पूर्वभूमिकामें क्या विचार चलते थे?*

समाधान :—मोक्ष क्या है? एकान्त दुःख क्यों है? मोक्षकी आवश्यकता किसलिये? पुण्य-पाप दोनों दुःखका कारण कैसे?—ऐसे अनेक प्रकारके विचार करके निर्णय किया था। शकर और कालीजीरी इस दृष्टान्तके विचार आते और वह अपनी बुद्धिसे किसप्रकार बैठे ऐसे सब विचार चलते। उन दिनों जो-जो विचार आते वे सब लिख लेनेकी आदत थी इसलिये अपने लिये लिख लेती थी; ताकि मुझे पुनः विचारनेमें काम आये। धुन तो ऐसी लगी रहती कि हरएक कार्यमें 'आत्मा जुदा है, आत्मा जुदा है' ऐसे रहता। फिर ऐसे लगे कि आत्मा जुदा है ऐसा निर्णय तो किया परन्तु जुदा रहता तो नहीं है—ऐसे कर-करके इसतरह सभी विचार करती। गृहकार्य करूँ तब भी 'आत्मा जुदा है, आत्मा जुदा है' ऐसी धुन रहती। स्वानुभूतिका मार्ग अंतरमें जुदा है और अन्तरसे स्वानुभूति होती है ऐसा गुरुदेवने जो बताया है उसपर विचार चलते थे। १८६.

प्रश्न :—*हमें करना कैसे?*

समाधान :—भेदज्ञान प्रयास करनेसे होता है, प्रयास बगैर नहीं होता। मात्र मंथन करते-करते भेदज्ञान हो जाय ऐसा नहीं बनता; किन्तु परिणतिको जुदी करते-करते हो जाता है। किन्तु वैसा ध्येय होना चाहिये। परिणतिको जुदी करने—स्वभावको जुदा पाड़नेका ध्येय होना चाहिये। और वह प्रयास करते-करते होता ही है। क्यों ? स्वयं ही है, दूसरा कोई नहीं। विश्वास एवं प्रतीतिको छोड़ना नहीं; श्रद्धा तो बराबर करनी। प्रयास कम-अधिक हो परन्तु श्रद्धा तो बराबर करनी कि इस मार्ग और इसी रीतिसे प्रयास करनेसे (कार्य) होना ही है। जैसे कि 'यहाँ गाँव (जाना) है' ऐसा निश्चय होनेके बाद धीरे चला जाये तो भी चल तो रहा है। उसी प्रकार (यहाँ) निश्चय-दृढ़ता करे तो कार्य हुए बिना नहीं रहता। श्रद्धामें हारना नहीं, श्रद्धा बराबर करना। जैसी देव-शास्त्र-गुरुकी श्रद्धा दृढ़ रखता है वैसे ही इसी मार्गसे ही आत्मा प्राप्त हो सकेगा ऐसी श्रद्धा बराबर रखना।

अपने पुरुषार्थकी मन्दता है, कारण पूरा नहीं देता, वहाँ दृष्टिको स्थिर नहीं करता। दृष्टि कुछ देरके लिये स्थिर हुई न हुई इतनेमें हट जाती है, इसलिये भेदज्ञान नहीं होता। रस बाहर दौड़ जाता है इसलिये परिणति भी अपनेको छोड़कर बाहर चली जाती है। दृष्टिको पूरा तद्रूप-तन्मय नहीं करता इसलिये कार्य नहीं होता; इसप्रकार अपना ही कारण (दोष) है। १८७.

प्रश्न :—*आजकल ध्यान पद्धति चल रही है कि श्वासोच्छ्वास रोको, मनको खाली करो तो तुम्हें भीतरसे आत्म-विचारोंका स्फुरण होगा। तो क्या ऐसा ध्यान कुछ सहायक हो सकता है?*

समाधान :—वह शुभभावनारूप है। उसमें (मनकी) एकाग्रता हो, परन्तु सच्चा ध्यान तो अपनेमें सच्चा ज्ञान हो, तत्त्वको मूलमेंसे—स्वभावमेंसे—पहिचाने तब होता है। सच्चा ज्ञान हो तब सच्चा ध्यान होता है, इसलिये तत्त्वको ग्रहण करना। स्वयं अपने ज्ञान द्वारा सूक्ष्म उपयोग करके अपनेको ग्रहण करे तो उसमें सच्ची एकाग्रता होती है। वैसे श्वासोच्छ्वास तो उसने कई बार रोका है और उसमें एकाग्रता भी की है, परन्तु जबतक आत्माके अस्तित्वका ग्रहण नहीं हुआ तबतक मात्र मनकी एकाग्रता होती है। मूल आत्माका अस्तित्व ग्रहण किये बिना केवल मनकी एकाग्रता कुछ काम नहीं आती। १८८.

प्रश्न :—*सूक्ष्म उपयोगकी भूमिकामें पहुँचनेके लिये क्या करना चाहिये?*

समाधान :—तत्त्वके गहराईसे विचार करना, ज्ञायककी लगन लगानी, उसकी महिमा करनी। जो उपयोग बाह्यमें जाता है वह सब स्थूल है। उसकी महिमा एवं एकत्वबुद्धि तोड़कर मैं चैतन्य हूँ, मैं महिमाका भंडार हूँ, सर्वस्व मुझमें है, बाहर कुछ नहीं है, ऐसे समस्त विकल्पोंके बीच 'मैं कौन हूँ?'—उसे पहिचाननेका प्रयत्न करना। तदर्थ स्वयं सूक्ष्म उपयोग करे तो उसे पहिचान सकता है। बाहर जानेवाला स्थूल उपयोग हो तो पहिचान नहीं सकता। इसलिये तत्त्वके विचार करना। महापुरुषोने जो मार्ग बतलाया है उसका पठन-विचार करना और स्वयं अंतरमें आत्माको ग्रहण करनेका प्रयत्न करना। १८९.

प्रश्न :—*विशेष एकान्तवाससे स्वाध्याय हो सकता है? ऐसे स्थानोंकी क्या आवश्यकता है?*

समाधान :—जिसे जिसकी रुचि हो वह बीचमें आता ही है। कोई एकान्तमें रहे, कोई एकाग्रता करे, परन्तु मुख्य तो अपने आत्माको ग्रहण करनेका प्रयत्न करना। शास्त्रमें आता है और आचार्य भी यही कहते हैं कि तू अपने आत्माको पहिचान तथा उसकी प्रतीति कर। "रे जानकर बंधन स्वभाव, स्वभाव जान जु आत्मका।" यह बंध क्या है? और आत्मा क्या है? वह जानकर "जो बंधमें हि विरक्त होवें....." बंध तथा बंधके जो भाव, उनसे जो विरक्त हो वह अपने स्वभावको पहिचाने। जिस प्रज्ञासे स्वभावको पृथक् किया उससे स्वभावको ग्रहण करके उसमें एकाग्रता करे वह मुक्तिका मार्ग है—स्वानुभूतिका मार्ग है।

स्वयं सच्चे ज्ञानके बिना सब बाह्य साधन एकत्रित करे फिर भी वह पैर कहाँ रखेगा? कहाँ खड़ा रहेगा? जो अपने स्वभावको नहीं पहिचानता वह एकाग्रता कहाँ करेगा? एकान्तमें कहाँ जायगा? स्वयं अपनेको पहिचानना चाहिये कि मैं यह चैतन्य हूँ। उसके बिना वह कहाँ पग रखेगा? इसलिये उसे ज्ञानद्वारा–प्रज्ञाद्वारा अपनेको पहिचानना चाहिये कि मैं तो यह चैतन्य हूँ। इसप्रकार स्वयं अपनेको ग्रहण करके उसमें एकाग्रता करे तो सच्ची एकाग्रता हो; नहीं तो वह मात्र शुभभावनारूप होती है। १९०.

प्रश्न :—*मात्र विचारोंके माध्यमसे स्वभावका ग्रहण हो सकता है?*

समाधान :—तत्त्वविचारमें उसका ध्येय ऐसा होना चाहिये कि मैं आत्माको ग्रहण कर लूँ। मात्र ऊपरी विचार या शास्त्रके विचार करता रहे तो नहीं होता। स्वभावका ग्रहण एकदम हो जाय ऐसा न होनेसे अपनेको चैतन्य ग्रहणके, शास्त्रके, द्रव्य–गुण–पर्यायके सब विचार बीचमें भलेही आयें, तथापि उसका ध्येय ऐसा होना चाहिये कि मैं अपने आत्माको ग्रहण कर लूँ। उसे अपने अस्तित्वको ग्रहण करनेका लक्ष्य होना चाहिये कि मुझे अपने आत्माका ग्रहण कैसे हो? यद्यपि तत्त्वके विचार वह मुख्य साधन है, तथापि उसमें भी अपनेको ग्रहण करनेका प्रयत्न होना चाहिये। १९१.

प्रश्न :—*क्या स्थूल उपयोगको सूक्ष्म बनानेकी कोई पद्धति नहीं होती?*

समाधान :—उपयोग स्थूल होनेका कारण अपनेको बाहरकी महिमा है; बाहरकी एकत्वबुद्धि है; इसलिये उपयोग स्थूल हो गया है।

बाह्यमें उसे कहीं अच्छा न लगे, कहीं न रुचे, कहीं चैन न पड़े, कहीं सुख न लगे तथा इस ओर सुख मेरे आत्मामें है; मुझे आत्मा कैसे पहिचाननेमें आये? कैसे पहिचान हो?—इस भाँति हर क्षण चैतन्यकी लगन लगे, उसकी महिमा आये तो उपयोग सूक्ष्म हुए बिना नहीं रहता। यथार्थ रुचि हो, सच्चा पुरुषार्थ करे, सच्चा कारण प्रगट हो तो कार्य हुए बिना नहीं रहता। जैसे अकौआका (आकका) बीज बोये और आमका वृक्ष उगे, ऐसा नहीं बनता; आमका बीज बोये तभी आमका वृक्ष उगता है; उसी प्रकार आत्माको यथार्थ पहिचाने, चैतन्यका मूल पहिचाने और पश्चात् उसमें ज्ञान–वैराग्य–ध्यानका सिंचन करे तो वह प्रगट होता है। उसका मूल स्वभाव पहिचानना चाहिये। यह स्वभाव है और यह विभाव है इसप्रकार विभाव–स्वभावका भेद करके स्वभावको पहिचानना चाहिये।

सच्ची लगन लगी हो तो कार्य हुए बिना रहता ही नहीं; इसलिये स्वभावको पहिचाननेका ही प्रयास करना, थकना नहीं। उसका प्रयास करनेसे कार्य होता है और वही स्वभावको यथार्थरूपसे ग्रहण करनेकी रीति है। १९२.

प्रश्न :—*ज्ञानीकी परिणति व्यापाररूप होती है ऐसा आप कहती हैं, परन्तु उसका अर्थ समझमें नहीं आता।*

समाधान :—व्यापाररूप परिणतिका अर्थ है ज्ञायकताकी–भेदज्ञानकी परिणति। ज्ञानीको स्वानुभूति होनेके पश्चात् सविकल्पदशामें जितने अंश ज्ञायकता प्रगट हुई है उतनी ज्ञायककी धारा वर्तती ही रहती है। पूरी दृष्टि तो अखंड द्रव्यपर है–द्रव्यको ही ग्रहण करती है; और ज्ञान भी उसी ओर झुका हुआ है, अंशतः परिणति उस ओर ढली हुई है इसलिये ज्ञायकताकी धारा तो चलती ही रहती है, भेदज्ञानकी धारा प्रतिक्षण वर्तती ही है, उसके पुरुषार्थकी धारा–पुरुषार्थका व्यापार चलता ही रहता है। चाहे जैसे शुभविकल्प हों तथापि भेदज्ञानकी–ज्ञाताकी धारा चलती ही रहती है। कभी उसे स्वानुभूति होती है या कभी सविकल्पतामें होता है; चाहे जिस कार्यमें हो अथवा किसी भी विकल्पमें हो, परन्तु भेदज्ञानकी धारा–ज्ञायककी धारा, अंशतः शान्तिका वेदन, ज्ञायकता आदि सब उसे कभी नहीं छूटते। सबसे ऊर्ध्व का ऊर्ध्व एवं पृथक् का पृथक् रहता है, उसकी ज्ञायकता कभी नहीं छूटती। जागते–सोते या स्वप्नमें भी उसे ज्ञायककी धारा ज्यों की त्यों चलती ही रहती है। १९३.

प्रश्न :—*चौथे गुणस्थानमें अधिकसे अधिक कितनी शीघ्रतासे निर्विकल्पदशा हो सकती है?*

समाधान :—यह तो उसके पुरुषार्थकी योग्यतापर निर्भर है। छठवें–सातवें गुणस्थानमें क्षण–क्षणमें निर्विकल्पदशा होती है। ऐसा चौथे गुणस्थानवालेको नहीं होता। चौथेकी अपेक्षा पाँचवें गुणस्थानमें विशेष गति (शीघ्रता) होती है। चौथेमें उसके योग्य गति होती है। छठवें–सातवें गुणस्थानमें तो क्षण–क्षणमें–अंतर्मुहूर्तमें होती है। ऐसी तीव्र गतिसे चौथे गुणस्थानमें नहीं होती। वैसे तो उसके पुरुषार्थकी जैसी गति हो तदनुसार होती है, उसका कोई नियमित काल नहीं होता।

मुमुक्षु :—कोई जीव विशेष पुरुषार्थी हो तो?

बहेनश्री :—कोई जीव विशेष पुरुषार्थी हो तो उसकी निवृत्ति तथा अंतरपरिणतिकी–

ज्ञायककी उग्रताके अनुसार होती है। परिणति हो तो उसको विशेष गतिसे (शीघ्रतासे) होती है। इसप्रकार किसीको अमुक प्रकारसे और किसीको अमुक प्रकारसे होती है परन्तु भूमिकाका उल्लंघन करके नहीं होती, भूमिकानुसार होती है। १९४.

प्रश्न :—*चौथे गुणस्थानसे पाँचवाँ गुणस्थान आये तो उसकी ज्ञानीको कैसे खबर पड़ती है?*

समाधान :—उसकी स्वानुभूतिदशा बढ़ती जाती है, अंतरमें परिणतिकी निर्मलता बढ़ती जाती है; गृहस्थाश्रमके योग्य जो परिणाम हों उनसे विरक्तिके परिणाम विशेष बढ़ते जाते हैं, इसलिये वह जान सकता है? १९५.

प्रश्न :—*पाँचवें गुणस्थानमें निर्विकल्पदशा बढ़ती जाती है?*

समाधान :—हाँ, निर्विकल्पदशा बढ़ती जाती है और सविकल्पदशामें भी विरक्ति बढ़ती जाती है। निर्विकल्पदशा भी बढ़ती है और सविकल्पदशामें भी विरक्ति अधिक होती है। १९६.

प्रश्न :—*चौथेके चौथे गुणस्थानमें भी इसप्रकार फेरफार होता होगा क्या?*

समाधान :—चौथे गुणस्थानकी भूमिका एक की एक हो, परन्तु परिणतिकी तारतम्यतामें अमुक फेर होता है। १९७.

प्रश्न :—*किसी लक्षणसे खयाल आता है कि यह सच्ची मुमुक्षुता है?*

समाधान :—"मात्र मोक्ष अभिलाष"—जिसे एक आत्माकी अभिलाषा है, अन्य कोई अभिलाषा नहीं है; प्रत्येक कार्य एवं प्रत्येक प्रसंगमें मुझे तो एक आत्मा ही चाहिये, इसप्रकार जिसे एक आत्माका ही ध्येय है और जो भी संकल्प-विकल्परूप विभाव हों उनमें तन्मयता नहीं है, किन्तु मात्र आत्माकी अभिलाषा ही मुख्यरूपसे वर्तती है उसे सच्ची मुमुक्षुता है। जिसे मात्र आत्माकी अभिलाषा है कि मुझे आत्म-प्राप्ति कैसे हो? स्वानुभूति कैसे हो? और जिसे बाह्यके किसी पदार्थकी इच्छा या अभिलाषा नहीं है; वह किन्हीं बाह्य कार्योंमें जुड़े, तथापि वे सब गौण होते हैं; उसका ध्येय तो एकमात्र आत्म-प्राप्तिका है कि मुझे आत्मा कैसे प्राप्त हो? यद्यपि उसको देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा आदि सब होते हैं, किन्तु आत्माके बिना उसे कहीं चैन नहीं पड़ता। गुरुदेव कहते थे कि तू अपने आत्माको देख, तू आत्माका ज्ञान कर, यह सब (विभाव) तुझसे पृथक् है।—इसप्रकार स्वयं अंतरंग जिज्ञासापूर्वक आत्माको

ग्रहण करनेका प्रयत्न करे वह सच्ची मुमुक्षुता है। १९८.

प्रश्न :—*ग्यारह अंगका ज्ञान किया हो तथापि शास्त्रमें उस उपयोगको स्थूल कहा है, और जिस उपयोगने चैतन्यस्वभावको ग्रहण किया उसे सूक्ष्म कहा है, उसका क्या कारण?*

समाधान :—क्योंकि चैतन्यतत्त्वको ग्रहण नहीं किया इसलिये उपयोग स्थूल है। यदि अपने चैतन्यतत्त्वको ग्रहण करे तो वह उपयोग सूक्ष्म है। ग्यारह अंगका ज्ञान किया उसमें सब जाना, किन्तु अंतरमें आत्माको ग्रहण नहीं किया इसलिये उपयोग स्थूल है।

बाह्य श्रुतज्ञानमें भले ही द्रव्य-गुण-पर्याय जान लिये, सब जाना सही, परन्तु 'मैं यह चैतन्य हूँ' ऐसे ग्रहण नहीं किया इसलिये उपयोग स्थूल है। वह उपयोग स्वसम्मुख नहीं हुआ और बाहर का बाहर रहा इसलिये स्थूल है। जो उपयोग चैतन्यको ग्रहण करे वह उपयोग सूक्ष्म है।

बाहरका चाहे जो जाना तथापि वैसे उपयोगको स्थूल कहा जाता है, क्योंकि स्वयंको ग्रहण नहीं किया। स्वसम्मुख नहीं हुआ, अपनी ओर नहीं मुड़ा, स्वभावको नहीं पहिचाना इसलिये उस बाह्य स्थित उपयोगको स्थूल कहा जाता है। १९९.

प्रश्न :—*स्थूल उपयोगका विवेचन किया वह तो जाना, अब सूक्ष्म उपयोगके सम्बन्धमें भी विस्तारपूर्वक बतलानेकी कृपा करें।*

समाधान :—जो उपयोग अपने अंतरमें जाय वह उपयोग सूक्ष्म है। जो अपने सम्मुख हो कि 'मैं यह चैतन्य हूँ, मैं चैतन्य द्रव्य हूँ, मैं ज्ञायक हूँ'—इसप्रकार अपने स्वभावकी ओर जाय तो उसकी दिशा बदलती है, इसलिये उस उपयोगको सूक्ष्म कहा जाता है।

स्थूल उपयोगकी दिशा तो बाहर की बाहर ही है। यदि अपने अरूपी तत्त्वको ग्रहण करे तो उसकी अंतरमें दिशा फिरे जो उपयोग सूक्ष्म है। अंतरमें जाकर स्वभावको ग्रहण करे वह उपयोग सूक्ष्म है।

शान्त होकर अंतरमें दृष्टि करे कि यह स्वभाव है और यह विभाव है;—इसप्रकार अपने स्वभावको ग्रहण करे तो उस उपयोगको सूक्ष्म कहा जाता है। २००.

प्रश्न :—*विकल्पात्मक भावभासनको यथार्थ कहा जायगा?*

समाधान :—विकल्पात्मक भावभासन बुद्धिसे होता है, उसे व्यवहारसे यथार्थ कहा

जाता है; किन्तु असलमें यथार्थ तो चैतन्यको ग्रहण करे तभी कहा जाता है। बुद्धिसे निर्णय करे उसे व्यवहारसे कहा जाता है, परन्तु वास्तविकरूपसे स्वयं अपनेको ग्रहण करे तब वह यथार्थ कहलाता है। २०१.

प्रश्न :—*ज्ञान लक्षणके भेदमें न रुककर 'मैं ज्ञायक हूँ'—इसप्रकार क्या आप सीधा ज्ञायकको ग्रहण करनेके लिये कहते हैं?*

समाधान :—ज्ञानकी जो पर्याय प्रतिक्षण पलटती है वह मैं नहीं हूँ, मैं तो त्रिकाल जाननेवाला हूँ। स्वयं मेरा अस्तित्व ही ज्ञायक है; मेरा अस्तित्व स्वयं ज्ञायकतासे ही रचित है। यह प्रतिक्षण जो फेरफार होता है वह मेरा मूल स्वरूप नहीं है, स्वयं ज्ञायकतासे रचित मेरा अस्तित्व अखंड है, इसप्रकार ज्ञायकको ग्रहण करना। यह जो क्षणवर्ती ज्ञान–ज्ञान दिखाई देता है वह मेरा मूल 'असली' अस्तित्व नहीं है; पलटती है वह तो पर्याय है। अनन्ततासे भरपूर, अनन्त ज्ञायकता द्वारा रचित, अनन्तानन्त अगाध शक्तियोंसे भरा हुआ जो ज्ञायकताका अस्तित्व है सो मैं हूँ। ऐसे ग्रहण होना चाहिये।

अनन्तता उसे दिखायी नहीं देती, परन्तु उसे अंतरमें इतनी महिमा आ जाती है कि मेरा अस्तित्व अगाध शक्तियोंसे भरा हुआ है। मेरा अस्तित्व रिक्त नहीं है, परन्तु अनन्त शक्तियोंसे भरपूर ऐसी मेरी ज्ञायकता है।—ऐसी महिमापूर्वक अंतरमें ज्ञायकता ग्रहण होनी चाहिये। २०२.

प्रश्न :—*प्रथम ग्रहण तो ज्ञानी पुरुषके वचनों द्वारा करना पड़ता है न?*

समाधान :—ज्ञानीके वचन उसमें निमित्त होते हैं। अनादिकालसे स्वयं जाना नहीं है; उसमें प्रथम देव या गुरुके वचन कानोंमें पड़ते हैं, फिर अपनी अंतरकी तैयारी होती है तब चैतन्यके कोई अपूर्व संस्कार तथा देशनालब्धि प्रगट होती है। ज्ञानीके वचन निमित्त होते हैं, परन्तु अंतरकी तैयारी तो स्वयंको करनी पड़ती है, पुरुषार्थ अपनेको करना पड़ता है। २०३.

प्रश्न :—*भावमें ऐसा आता है कि हे गुरुदेव! हम कुछ जानते नहीं थे; आपने ही मार्ग बतलाया.....तथा दूसरी ओर ऐसा आता है कोई किसीका कुछ कर नहीं सकता; तो क्या समझना?*

समाधान :—गुरुदेवने (मेरा कार्य) कर दिया ऐसा कहनेमें आये परन्तु करना तो

स्वयंको पड़ता है। अनंतकालमें स्वयं अपने दोषसे भटका है। भगवान्‌को या गुरुको पहिचाना नहीं; मिले फिर भी पहिचान नहीं पाया। इस पंचमकालमें गुरु मिले, उनकी वाणी मिली, उसे स्वयं ग्रहण करके पुरुषार्थ करे तो जगता है। गुरुदेवकी वाणी तो सबके लिये प्रबल निमित्त है, परन्तु तैयारी तो स्वयंको करनी रहती है। गुरुदेवका तो अमाप उपकार है, परन्तु पुरुषार्थ स्वयंको करना रहता है। गुरुदेव भी ऐसा ही कहते थे कि तू कर तो होगा।

अपनी स्वाधीनतासे होता है। तेरा द्रव्य स्वतंत्र है; सब द्रव्य स्वतंत्र हैं। तू अपना पुरुषार्थ कर, परन्तु पुरुषार्थ करनेवाला गुरुका उपकार माने बिना नहीं रहता; उसे उपकारबुद्धि आये बिना नहीं रहती। २०४.

प्रश्न :—*करे स्वयं, फिर भी उपकार मानना?*

समाधान :—स्वयं करे फिर भी कहे कि हे गुरुदेव! आपने (मेरा उद्धार) कर दिया। आचार्य भी शास्त्रमें इसीप्रकार कहते हैं कि परमगुरुके अनुग्रहसे हमारा निजवैभव प्रगट हुआ है। कुंदकुंदाचार्यके लिये श्री देवसेन आचार्य जैसे कहते हैं कि आप वाणी न लाये होते तो हम जैसे पामरोंका क्या होता? उसी प्रकारसे ऐसे गुरु पंचमकालमें पधारे तो सबका उपकार हुआ; नहीं तो क्या होता? गुरुदेव पधारे तो सबको मार्ग स्पष्ट करके बतलाया। २०५.

प्रश्न :—*ज्ञानीके प्रति भक्ति किस प्रकार प्रगट होती है?*

समाधान :—मात्र बाहरसे भक्ति करनी ऐसे नहीं है, किन्तु स्वयंको भीतरसे उनकी महिमा आये वह ज्ञानीके प्रति भक्ति है। अंतरमेंसे बहुमान आना चाहिये; ज्ञानीके वचनों पर सभी प्रकारसे बहुमान आना चाहिये। ऐसी अर्पणता आये कि गुरुदेव कहते हैं सो बराबर है। उन्होंने जो मार्ग कहा है वह बराबर है। ऐसे अपनेसे निश्चय करके बहुमान आना चाहिये। स्वयं विचार करके निर्णय करे यह सत्पुरुष हैं और वे अपूर्व मार्ग बतला रहे हैं। पश्चात् वे कहते हैं वही ठीक है, ऐसे बहुमान-भक्ति अपने अंतरमेंसे आती है। २०६.

प्रश्न :—*गुरु जो कहते हैं उस कथनमें शंका न हो ऐसी तैयारी होनी चाहिये?*

समाधान :—ऐसी तैयारी अंतरंगसे बहुमान-भक्ति करनेवालेको हो जाती है। गुरु जो कुछ कहते हैं उसमें कोई आशय होगा! कोई हित होगा! वह ऐसा अर्थ ग्रहण करता

है। दिखता तो ऐसा है, फिर भी वे ऐसा क्यों कहते हैं?—ऐसा नहीं; किन्तु उसमें कोई हित या कोई आशय होगा, ऐसा ग्रहण करता है।

मुमुक्षु :—एक हो वहाँ अविनाभावी दूसरा होता ही है? आत्माकी रुचि हो वहाँ उसे ज्ञानीके प्रति बहुमान होता ही है?

बहिनश्री :—अंतरकी रुचि हो उसे ज्ञानीके प्रति बहुमान होता ही है, ऐसा सम्बन्ध है। अंतरकी रुचि हो और गुरुके प्रति बहुमान न हो ऐसा नहीं होता। यदि गुरुके प्रति बहुमान न आये तो उसकी रुचिमें कचास है। उसने अपनी बुद्धि और कल्पनासे सब निर्णय किया है। जिसे आत्माको प्राप्त करनेकी रुचि हो उसे गुरुके प्रति अर्पणता साथ होती ही है कि मैं कुछ नहीं जानता हूँ। स्वयंको जिस मार्गपर चलना है वह मार्ग जिन्होंने प्रगट किया उनके प्रति उसके हृदयमें विनय एवं भक्ति तथा अर्पणता होती ही है। २०७.

प्रश्न :—*श्रीमद्जीने कहा है कि—"दूसरा कुछ मत खोज, मात्र एक सत्पुरुषको खोजकर उसके चरणकमलमें सर्वभाव अर्पण कर दे।" तो सर्वभावका अर्थ क्या सर्वार्पणता है?*

समाधान :—हाँ, सर्व प्रकारकी अर्पणता। गुरु जो कहते हैं उसके प्रति पूर्ण अर्पणता, उसमें अपनी कल्पना और चतुराई बिलकुल नहीं। गुरु जो कहते हैं वह सब मान्य है; किन्तु वह मेरी समझमें नहीं आता—इसप्रकार स्वयं समझनेका प्रयत्न करे। मगर गुरु जो कहते हैं वही बराबर है। मेरी अपनी कचास है।

श्रीमद्जी तो यहाँ तक कहते हैं कि—"गुरुको सर्व भाव अर्पण करके प्रवृत्ति करता रह। फिर यदि मोक्ष न मिले तो मुझसे लेना;" उसका अर्थ है कि तुझे मोक्षकी प्राप्ति होगी ही। २०८.

प्रश्न :—*विश्वास आना चाहिये कि मुझमें सब भरा पड़ा है?*

समाधान :—अपने स्वभावकी जातिमें ही सब है; यह जो विभावकी जाति है उसमेंसे किसी प्रकार मेरा स्वभाव प्रगट होनेवाला नहीं है। विभाव तो विलक्षण एवं दुःखरूप है। स्वभावमेंसे ही स्वभाव आयगा, विभावमेंसे स्वभाव आनेवाला नहीं है—ऐसा विश्वास-प्रतीति आये तभी अपनी ओरका पुरुषार्थ करेगा। ज्ञान-दर्शन-चारित्र सब अपनेमें ही हैं, अपनेमेंसे प्रगट होते हैं। बाह्य साधन होते हैं, किन्तु (ज्ञानादि) प्रगटते हैं निज स्वभावका

अभ्यास करनेसे। सच्चा साधन तो स्वयं अपना ही होता है। गुरुदेवने मार्ग बतलाया है कि तेरा तत्त्व निराला है, अभ्यास न होनेके कारण मुश्किल लगता है। मार्ग गुरु बतलाते हैं, किन्तु समझना, प्रतीति करना तो अपनेको रहता है। अपने आप अपने स्वभावको पहिचानना कठिन पड़ता है। बतलानेवाले गुरु मिले तब अंतरमें ग्रहण होता है, ऐसा निमित्त–उपादानका सम्बन्ध है। २०९.

प्रश्न :—*गुरुने मार्ग बतलाया है तथापि गुरुकी ओरसे दृष्टि हटा लेना, ऐसा गुरुका कहना है?*

समाधान :—गुरु ऐसे कहते हैं कि तू स्वतंत्र है, तू अपनेमें देख, अपनी दृष्टि बदल दे, अपनी ओर दृष्टि कर। गुरु ऐसे कह रहे हैं, परन्तु आगे जानेवालेको ऐसा भक्तिभाव आता है कि हे गुरु! आपने ही मार्ग बतलाया, दिशा बतलायी, आत्मा बतलाया, स्वतंत्रता बतलायी, स्वानुभूतिका मार्ग बतलाया है। निर्विकल्पदशा हो तब मुक्तिका मार्ग प्रगट होता है, निजात्मानुभूति होती है, वेदन होता है।—यह सब आपने ही बतलाया है; तथापि करना तो अपनेको रहता है। २१०.

प्रश्न :—*वचनामृतमें आता है कि ज्ञानीको शुभभाव है वह काले नाग जैसा दिखता है, और दूसरी ओर ऐसा कहा जाता है कि—ज्ञानी तो शुभाशुभभावोंका ज्ञाता है। तो इन दोनोंमें मेल कैसे है?*

समाधान :—ज्ञानीको भेदज्ञानकी दशा है। यह स्वभाव है और यह विभाव है ऐसा उसे सहज ज्ञात होता है। ज्ञायक ज्ञायकरूपसे अपनी परिणतिमें खड़ा है; अल्प अस्थिरता है उसे भी वह जानता है; तथापि उसकी भावना ऐसी है कि मैं कब स्वरूपमें पूर्ण लीन हो जाऊँ? ऐसी भावनाके कारण ज्ञानीको शुभभाव काले नाग जैसा लगता है। इस अपेक्षासे वहाँ कहा है। मगर उसे कोई द्वेषबुद्धि नहीं है, वह तो मात्र जानता है–ज्ञायक है, ज्ञाता है; राग आता है उसका ज्ञाता–द्रष्टा है परन्तु उसे भावना तो ऐसे रहती है कि यह अपूर्णता है। अहो! मुनि जिसप्रकार क्षण–क्षणमें स्वरूपमें लीन हो जाते हैं ऐसी मेरी दशा नहीं है, ऐसी दशा मुझे कब प्राप्त हो कि मैं स्वरूपमें लीन हो जाऊँ। इसलिये यह विभाव है वह आदरणीय नहीं है, मेरा स्वभाव नहीं है।

मुझे कब वीतरागदशा हो और मैं शाश्वत आत्मामें स्थिर हो जाऊँ, विभाव मुझे न हों, मुझे पूर्ण स्वभावकी प्राप्ति हो जाय।—ऐसी उसकी भावना रहती है। २११.

प्रश्न :—*ज्ञानीको शुभराग काले नाग जैसा दिखाई देता है—ऐसा कहनेका तात्पर्य तो यही है न कि ज्ञानीको सविकल्पदशामें निरन्तर पूर्णताकी भावना बनी रहती है?*

समाधान :—हाँ, स्वानुभूति–निर्विकल्पदशा हो तब तो विकल्पोंकी ओर उसका उपयोग भी नहीं है; स्वयं तो आनन्दमें–निर्विकल्पदशामें है; परन्तु जब उसका उपयोग बाहर आता है तब जानता है कि इतनी अपूर्णता है; और मुझे पूर्णता कब प्राप्त हो? यह विभावभाव मुझे नहीं चाहिए। इतना विभाव भी मुझे नहीं पुसाता।

जैसे आँखमें एक रजकण भी नहीं समाता, वैसे ही द्रव्यदृष्टिसे मैं पूर्ण होनेपर भी पर्यायमें इतनी भी कचास मुझे नहीं चाहिये; इसलिये राग उसे काला नाग लगता है। वह मुझे आदरणीय नहीं है, मैं पूर्ण हो जाऊँ ऐसी उग्र भावना वर्तती है। निर्विकल्पदशाके समय विकल्पकी ओर उसका उपयोग नहीं है और जब बाहर आता है तब भेदज्ञानकी धारा वर्तती है। उसे विभावके साथ एकत्वबुद्धि नहीं है। २१२.

प्रश्न :—*क्षायिक सम्यग्दृष्टि तलवार लेकर युद्धके मैदानमें जाये, इसमें क्या आश्चर्य नहीं लगता?*

समाधान :—इतनी उसकी अपूर्णता है, भावना तो उग्र है। अंतरमें भेदज्ञानकी धारा वर्तती है, एकत्वबुद्धि नहीं है। राज्यका अल्प राग है इसलिये युद्धके मैदानमें खड़ा रहता है; तथापि उसका वर्तन न्यायोचित होता है। उसकी अंतरपरिणति जुदी है; (हमें) उसके अंतरको देखना है।

जिसप्रकार हाथीके दाँत खानेके अलग और दिखानेके अलग होते हैं, उसीप्रकार ज्ञानी युद्ध क्यों करते होंगे?—ऐसा लगता है, परन्तु उस समय भी वे स्वयं तो स्वभावकी परिणतिमें ही स्थित हैं। अल्प राग है जिससे बाहर खड़े दिखाई देते हैं, परन्तु यदि उस समय भी वैराग्य-भावना तीव्र हो जाय तो मुनि होकर चल देते हैं। २१३.

प्रश्न :—*क्या भेदज्ञान ही स्वानुभूति प्रगट करनेका उपाय है?*

समाधान :—भेदज्ञानकी धारा द्वारा, स्वानुभूति होती है; बारम्बार भेदज्ञानकी तीक्ष्णता करनेसे स्वानुभूति होती है। किसीको उग्रता त्वरासे हो तो तत्काल–उसी क्षण हो जाती है और अधिकांश जीवोंको अभ्यासकी उग्रता करनेपर स्वानुभूति होती है। 'समयसार' मोक्ष अधिकारके १८०वें कलशमें तो भेदज्ञान अर्थात् स्वानुभूतिकी बात ली है। भेदज्ञान द्वारा

तत्काल भेद हो जायगा उसमें तुझे स्वानुभूति होगी। विकल्पवाली भूमिकामें लेना हो तो बारम्बार अभ्यास अर्थात् बारम्बार भेदज्ञानकी उग्रता करनेसे तुझे स्वानुभूति होगी। उस समय विकल्प है परन्तु विकल्प मैं नहीं हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ—-ऐसी ज्ञाताधाराकी उग्रता द्वारा तुझे स्वानुभूति होगी। २१४.

प्रश्न :—*परिणति और उपयोग—दोनोंमें क्या अन्तर है?*

समाधान :—परिणति और उपयोगमें फेर है। भेदज्ञानकी धारारूप उसकी परिणति तो निरन्तर वर्तती ही है, जबकि उपयोग बाहर आता है और अंतरमें जाता है। उपयोग अंतरमें जाये तब स्वानुभूति होती है। फिर बाहर आता है। उपयोग बाहर आने पर भी परिणति तो बनी ही रहती है। इसप्रकार परिणति और उपयोगमें फेर है। भेदज्ञानकी धारा तो चल ही रही है, अमुक अंशमें—जितनी दशा प्रगट हुई है उतनी चलती है। २१५.

प्रश्न :—*होना हो वह क्रमानुसार होता है, इसलिये नवीन पुरुषार्थ करनेकी क्या जरूरत है?*

समाधान :—जो होना है वैसा हो—ऐसा एकान्त नहीं है; उसमें स्वभाव–काल–पुरुषार्थ सब साथ होते हैं। वहाँ पुरुषार्थका कारण मुख्य है। जो पर्याय प्रगट होनी हो वह होती है, परन्तु उसमें पुरुषार्थ साथ होता है। पुरुषार्थ बगैर कोई पर्याय प्रगट हो ऐसा नहीं होता। स्वभाव–काल–पुरुषार्थ–देशनालब्धि सब साथ होते हैं। २१६.

प्रश्न :—*भावना और धारणामें क्या अन्तर है?*

समाधान :—धारणामें तो घोख (रट) रखा है और भावना तो अंतरमें स्वयं भावपूर्वक करता है। भावना भावनामें भी फेर होता है। भावना किया करे कि मैं त्रिकाल शुद्ध हूँ, परन्तु अपने अंतरमेंसे आयी हुई भावना हो वह जुदी होती है। मैं त्रिकाल शुद्ध हूँ, शुद्ध हूँ ऐसे ऊपरी भावना तथा गहरी जो अंतर्गत भावना वह और ही कुछ होती है। धारणामें तो घोखा (रटा) करता है। २१७.

प्रश्न :—*बारम्बार एक ही प्रकारके विचार चलते रहें वह भावना कहलाए?*

समाधान :—विचार चलते रहें वह नहीं, परन्तु अंतरमेंसे—गहराईमेंसे—वैसे होना चाहिये वह भावना है। मात्र घोखा करे या खाली विकल्प किया करे कि मैं त्रिकाल शुद्ध–शुद्ध हूँ ऐसे नहीं। भावनामें विचार तो आते हैं तथापि अंतरमेंसे अपना हृदय भेदकर कुछ आना चाहिये। भावना अर्थात् अंतरंगमेंसे आना चाहिये कि यह कोई विभाव मुझे नहीं चाहिये;

मैं तो त्रिकाल शुद्ध आत्मा हूँ, स्वयंसिद्ध ज्ञायक हूँ।—इसप्रकार अंतरसे, अंतरंगमें हृदय भेदकर आना चाहिये। २१८.

प्रश्न :—*ज्ञानमें तो समझ पड़ती है, परन्तु विश्वास नहीं आता।*

समाधान :—ज्ञानमें समझ पड़े, किन्तु प्रतीति ऐसी यथार्थ होनी चाहिये कि—यह ज्ञायक सो ही मैं हूँ, दूसरा कोई मैं नहीं। ऐसी दृढ़ श्रद्धा-दृष्टि अपने पर स्थापित करनी चाहिये। फिर चाहे जो भाव आयें तथापि मैं चैतन्य ही हूँ—ऐसा अंतरसे होता है। घोखनेरूप हो वह अलग बात है। यहाँ अंतरमेंसे दृढ़ विश्वास आना चाहिये। यथार्थ प्रतीति हो उसे यथार्थ पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। २१९.

प्रश्न :—*वचनामृतमें आता है कि—उलझनमेंसे मार्ग मिलता है, वह कैसे?*

समाधान :—उलझन सच्ची हो तो उसे मार्ग मिले बिना रहता ही नहीं—ऐसा वस्तुका स्वरूप है। उलझा हुआ व्यक्ति उलझनमें टिक ही नहीं सकता। इन विकल्पोंके जालमें फँसा हुआ, उलझा हुआ कि जिसे शान्ति नहीं है, अशान्ति है वह एक क्षण भर भी उसमें टिक नहीं सकता। जिसे अंतरसे यथार्थ उलझन लगे कि यह विकल्प अब चाहिये ही नहीं, तो वह उनमें टिक ही नहीं सकता और उसकी परिणति अपनी ओर मुड़े बिना रहती ही नहीं अर्थात् वह ज्ञायकको पहिचाने बिना रहता ही नहीं, ज्ञायककी शरण लिये बिना रहता ही नहीं। जैसे सचमुच आकुल हुआ मनुष्य चाहे जिसका आधार लेने जाता है, उसी प्रकार अंतरंगसे अकुलाया हुआ मनुष्य अपने स्वरूपका आधार लिए बिना रहता ही नहीं। वह अपने स्वभावको ग्रहण कर ही लेता है। इसलिये जो वास्तवमें आकुल हो और जिसे यथार्थ जिज्ञासा जगे तो वह अंतरमेंसे अपने स्वभावका आधार लिये बिना रहता ही नहीं, स्वभावको पहिचान ही लेता है। २२०.

प्रश्न :—*कल बात हुई थी कि भावना भावनामें बड़ा अन्तर होता है। एक भावना तो इतनी प्रबल होती है कि अंतरको भेद डाले?*

समाधान :—भावना ऐसी उग्र हो कि अंतरमें भेदज्ञान हो तभी छुटकारा हो। मन्द-मन्द भावना अथवा ऊपरी-ऊपरी भावना या मंद-मंद पुरुषार्थ किया करे, वह उग्र भावना नहीं है। यह तो अंतरको भेद डाले—अंतरमेंसे भेदज्ञान प्रगट कर दे—ऐसी भावना कोई जुदी ही होती है। अंतरसे चैतन्यके मार्गमें चलनेपर उसे शुद्ध परिणति प्रगट होती है

और विभावपरिणति पृथक् हो जाती है। अल्प विभावपरिणति अपूर्णताके कारण होती है, परन्तु यह भेदज्ञान करती है कि मैं तो चैतन्य हूँ, यह विभाव मेरा नहीं है।—इसप्रकार अंतरको भेदकर उसकी परिणति चैतन्यकी ओर दौड़ जाती है और वह अपने स्वभावको ग्रहण कर लेती है। २२१.

प्रश्न :—*आप कहते हैं न कि भले ही ऊपर-ऊपरसे कर, परन्तु किसी भी प्रकार उस मार्ग पर जा !*

समाधान :—हाँ, उस मार्गपर जा। अंतरमें अपना लक्ष्य और भावना ऐसी रख कि गहरे उतरने जैसा है। करना तो गहराईमें (ज्ञायकमें) है, परन्तु मुझमें अभी बहुत अपूर्णता है ऐसे निर्णय करके गहराईका लक्ष्य करनेका प्रयत्न कर। ऊपर-ऊपरसे जो होता है उसे छोड़ नहीं देना, क्योंकि हम तुझे अशुभमें आनेको नहीं कहते, तथा शुभमें रुकनेको भी नहीं कहते; तुझे तीसरी भूमिकामें जानेको कहते हैं; हम ऊँचे-ऊँचे जानेको कहते हैं और तू ऐसेमें नीचे कहाँ गिरता जाता है!—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं। हमारे कहनेका आशय यह है कि तू तीसरी—शुद्धस्वभावकी—भूमिका प्रगट कर। शुभ तो बीचमें आता है, परन्तु वह तेरा स्वभाव नहीं है। शुभ और अशुभ दोनों एक कोटिके हैं ऐसा तू समझ और आत्माकी जो तीसरी भूमिका अमृतकुम्भ है उसे ग्रहण कर। इसलिये ऊँचे चढ़नेको कहते हैं, परन्तु जो भावना ऊपर-ऊपरसे आये उसे छोड़ देनेको नहीं कहते। यदि गहरी भावना प्रगट करके शुद्धस्वभावमें जा सके तो उसे प्रगट कर; परन्तु न जा सके तो उसे छोड़कर अशुभमें जानेको नहीं कहते। ऊपरी भावना कुछ कामकी नहीं ऐसे करके उसे छोड़नी नहीं है, किन्तु तू उच्च परिणति प्रगट कर यों कहनेका आशय है।

भगवान्के मंदिरमें दर्शन करनेके लिये फिरे और भगवान्के द्वार न खुले तो थक कर लौट नहीं आता, भगवान्के द्वार खुल जायेंगे; तू चक्कर लगाना मत छोड़ना। उसी प्रकार तू चैतन्यमन्दिरमें फिरा कर कि मैं चैतन्य हूँ। पहले तुझे ऊपर-ऊपरसे समझमें आये उसे छोड़ना नहीं। जबतक चैतन्य पहिचाननेमें न आये तबतक वहाँ फिरते ही रहना, लक्ष्य रखना कि मुझे अभी बहुत आगे जाना है। तेरा पुरुषार्थ उभरनेपर चैतन्यमंदिरके खुलनेका तुझे अवकाश है। यदि दूर जायेगा तो तू उलटा और दूर चला जायेगा। दृष्टि बराबर रखना कि अभी मुझे भीतर जाना है। ऊपरी भावनासे कुछ प्रगट नहीं होता, परन्तु अंतरंग भावना प्रगट करने हेतु तू समझना कि यह तो ऊपरी है; अभी मुझे अंतरंग कार्य करना बाकी

है—ऐसे यथार्थ समझे तो आगे जा सकेगा। ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ ऐसे ऊपर-ऊपरसे हो तथापि तू अंतरमें जानेकी भावनाको मत छोड़ना। ऊपरी भावना छोड़नेको नहीं कहते। अंतरंग भावना ऐसी होती है कि जिससे भेदज्ञान होता है और अंतरको भेद देती है। चैतन्यमंदिरके द्वार खुल जाये और चैतन्य-भगवान् प्रगट हो वह भावना कोई भिन्न प्रकारकी होती है। परन्तु तू ऊपरी भावनाको दृढ़ करते रहना—उसमें कभी तेरा उग्र पुरुषार्थ होगा तो अंतरमें जा सकेगा। दृष्टि शुद्ध द्रव्य पर रखना। २२२.

प्रश्न :—*यह भावना मन्द है या तीव्र है वह कैसे पहिचाना जा सके?*

समाधान :—अपनी मन्दता देखकर पहिचाननेमें आती है कि यह धीमे-धीमे चल रही है, तथा उग्रता नहीं होती इसलिये अभी उग्रताकी कमी है। धीमे-धीमे चले, मन्दगतिसे चले उसे देर लगती है; जिसे उग्रता हो वह त्वरासे पहुँच जाता है। धीमीगतिसे चलनेवाला वहाँ खड़ा रहे तो कैसे पहुँचे? उसे खयाल आता है कि मैं नहीं पहुँच पा रहा हूँ अतः मेरी गति धीमी है। मैं जहाँ का तहाँ खड़ा हूँ, आगे नहीं बढ़ रहा हूँ।

भावनगर जाना हो और धीमी गतिसे चले तो पहुँचनेमें देर लगे, तेजगतिसे चलनेवाला शीघ्र पहुँच जाता है। नहीं पहुँचा जाता तो समझना कि धीमी गति है; (भावना) ऊपर-ऊपरसे हो रही है; अंतरसे प्रगट हो तो पहुँच जाता है। २२३.

प्रश्न :—*जोर तो स्वयंको लगाना है न?*

समाधान :—पुरुषार्थ तो स्वयंको ही करनेका है, दूसरा कोई नहीं करवा देता। परिभ्रमण करनेवाला भी स्वयं और मोक्ष प्राप्त करनेवाला भी स्वयं-स्वतंत्र है। २२४.

प्रश्न :—*निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अति घनिष्ट है। एक महापुरुषका वचन जो असर करता है उतना पढ़नेसे नहीं होता।*

समाधान :—तथापि स्वयं स्वतंत्र है। गुरुदेव मार्गको स्पष्ट कर गये हैं, करना अपनेको है। २२५.

प्रश्न :—*क्या ज्ञान, दर्शन, चारित्र सभीमें अपने अस्तित्वका ही जोर लेनेका है?*

समाधान :—हाँ, सभीमें अपने अस्तित्वका ही जोर लेनेका है। 'मैं ज्ञायक, मैं चैतन्य' इसप्रकार तू ज्ञायकका (अपना) अस्तित्व ग्रहण कर तो स्वयं जैसा है वैसा प्रगट हो।

तू अपना अस्तित्व ग्रहण कर तो जो स्वभाव है वह प्रगटरूप परिणम जायेगा। तूने अपना अस्तित्व ग्रहण नहीं किया इसलिये विभावपर्यायें प्रगट होती हैं। तू अपना अस्तित्व (स्वयं) ग्रहण कर तो उसमेंसे स्वभावपर्यायें प्रगट होंगी। २२६.

प्रश्न :—*चिंतवनमेंसे उपयोग बाहर जाये तब क्या करना?*

समाधान :—उपयोग बाहर जाय तब जिसे सहजदशा होती है उसे तो अपनी भेदज्ञान परिणति चलती ही रहती है। जिज्ञासुका उपयोग बाहर जाय तब वह अंतरमें ऐसा भाव रखे कि करना तो कुछ और ही है। उपयोग बाहर जानेपर परके साथ एकत्वबुद्धि होती है, परन्तु 'मैं तो भिन्न चैतन्य हूँ' ऐसे वह भावना रख सकता है। जिसकी सहज परिणति हो उसकी तो बात ही अलग है, उसे तो ज्ञायककी धारा निरन्तर वर्तती ही है। उपयोग बाहर जाय तथापि प्रतिक्षण भेदज्ञान रहता है, उसे स्मरण नहीं करना पड़ता। एकबार स्वभावमें एकत्व हो जाय उसे याद नहीं करना पड़ता कि मैं जुदा हूँ। जब उपयोग बाहर जाय उस क्षण भी ज्ञायककी सहज जुदी धारा चलती ही रहती है।

परन्तु जिसके सहजदशा नहीं है उसका उपयोग बाहर जाय तो भावना रखे कि करना कुछ और ही है, उपयोग अंतरमें जाना चाहिये। २२७.

प्रश्न :—*आत्माको प्राप्त करनेमें ध्येय किसका होता है? निश्चयका या व्यवहारका?*

समाधान :—ध्येय निश्चयका होता है। ध्येय निश्चयका रखना। व्यवहारसे निश्चयमें जाया नहीं जाता। निश्चयकी दृष्टि, निश्चयके ओरकी परिणति करे तो निश्चयमें जा सकता है। जो जीव व्यवहारमें सर्वस्व मानते हैं, व्यवहारसे धर्म होता है ऐसा मानते हैं, उन्हें तो कोई अवकाश ही नहीं है। आत्मा स्वयं अनादि-अनंत तत्त्व है; यह विभाव मेरा स्वभाव नहीं है; मैं चेतनतत्त्व हूँ—ऐसी दृष्टि, प्रतीति तथा ऐसा ध्येय होना चाहिये। ऐसी भावना और खटक हो तो पलटकर पुरुषार्थ उपड़ता है। व्यवहारसे निश्चय नहीं होता। निश्चयका ध्येय, दृष्टि एवं भावना रखे तो पलटनेका अवकाश है। व्यवहार तो व्यवहार ही है, बंधरूप है।

सर्वस्वभूत तो आत्मा है। आत्मामेंसे शुद्धपर्याय प्रगटती है। यह शुभ तो शुभ ही है। जबतक शुद्धता नहीं होती तबतक शुभमें खड़ा है और ज्ञान, दर्शन, चारित्रकी भावना किया करता है। परन्तु यथार्थ दर्शन, ज्ञान, चारित्र तो चैतन्यको ग्रहण करनेसे प्रगट होते हैं। आत्मामेंसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्रगट होते हैं। २२८.

प्रश्न :—*चैतन्यको ग्रहण करनेमें पठन, मनन, सत्पुरुषोंका समागम आदिमें विशेषता–महत्त्व किसका है?*

समाधान :—सब साथ होने चाहिये। पठन–मननादि चैतन्यकी समझके लिये होने चाहिये। आत्माका ग्रहण कैसे हो वह ध्येय रखकर सत्पुरुषोंका समागम, वाणी सब साथ होने चाहिये। गुरुदेवने क्या कहा है? मार्ग क्या बतलाया है?—तदनुसार सत्पुरुषके आश्रयपूर्वक अपनी विचारशैलीसे स्वयं निर्णय करके आत्मस्वभावका ग्रहण करना। गुरुदेवने क्या कहा है उसके साथ मिलान करके स्वयं आगे बढ़ना। समझता तो अपने ज्ञानसे है परन्तु गुरुदेवने क्या मार्ग बतलाया है उसे साथ रखकर विचार करता है। २२९.

प्रश्न :—*यह तत्त्वके पोषणके लिये एकांत विशेष होना चाहिये, ऐसा जरूरी है?*

समाधान :—एकांतकी भावना आती है। एकांत ज्यादा होना ही चाहिये ऐसा नहीं है। लेकिन एकांत हो तो विचार करनेका, पठन करनेका एक प्रकारसे साधन बनता है। एकांत होना ही चाहिये, ऐसा नहीं है। किसीको पठन अच्छा लगता है, और किसीको एकांत अच्छा लगे, ऐसे सबको अपनी परिणतिके अनुसार होता है। एकांत हो तो अपनेको विचार–मनन करनेका टाईम ज्यादा मिलता है। २३०.

प्रश्न :—*जो उदयभाव क्रममें आ पड़ा हो उसे तो आगे पीछे किया नहीं जा सकता, और उस समय इधरके (तत्त्वके) विचार–मनन टूट जाते हैं तो क्या किया जाय?*

समाधान :—अपनी भावना हो तो पुरुषार्थ करके परिणामको पलट सकता है। यदि परिणाम पलटे न जा सकते हों तो अनादिकालसे कोई जीव पुरुषार्थ करके, भेदज्ञान करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ही नहीं सकता। पर्यायका स्वभाव ही पलटनेका है। स्वभावकी भावना करके स्वभावको ग्रहण करे तो विभावपर्यायका परिवर्तन हो। जो पर्याय उधर (विभावमें) जाती है उसे स्वकी ओर मोड़ना वह अपने हाथकी बात है। क्रमबद्ध पुरुषार्थके साथ जुड़ा हुआ होता है। अकेला क्रमबद्ध नहीं होता। क्रमबद्धमें स्वभाव, पुरुषार्थ सब जुड़े हुए होते हैं। जिसे विभाव ही सर्वस्व लगता है और उससे छूटना अच्छा नहीं लगता उसका क्रमबद्ध भी वैसा ही है। जिसे विभाव नहीं रुचता और स्वभाव ही रुचता है उसका क्रमबद्ध भी उसी प्रकारका होता है। उसके पुरुषार्थकी गति स्वभावकी ओर होती है, उसका क्रमबद्ध पुरुषार्थके साथ जुड़ा हुआ है। २३१.

प्रश्न :—*सम्यग्दृष्टिको शुभभावका निषेध वर्तता है तथापि ज्ञानीके प्रति सच्ची अर्पणता उसीको होती है, यह विचित्र नहीं लगता ?*

समाधान :—स्वभावमें शुभभाव नहीं है इसलिये उसकी दृष्टिमें शुभभावका आदर नहीं होता–ऐसी वस्तुस्थिति है। सम्यग्दृष्टि एक चैतन्यतत्त्वको ग्रहण करता है, परन्तु बीचमें शुभभाव आये बिना नहीं रहते। चैतन्यतत्त्व ही सर्वस्वरूपसे अंगीकार करने योग्य है। चैतन्यतत्त्व बिना जगत्में अन्य कुछ भी सारभूत नहीं है। यह जो विभाव है वह आत्माका स्वभाव नहीं है, वह दुःखरूप–आकुलतारूप है। जिन्होंने ज्ञायकस्वभावको सम्पूर्णरूपसे ग्रहण किया अर्थात् पुरुषार्थ करके स्वरूपमें लीनता होकर केवलज्ञान प्राप्त किया है; तथा जो बारम्बार स्वरूपमें लीन होते हैं ऐसे मुनिवर; उन सबके प्रति सम्यग्दृष्टिको आदरभाव आता है क्योंकि उसे अपने स्वभावका आदर है। मुझे मेरा स्वभाव ही आदरणीय है, विभाव तो हेयरूप ही है—ऐसे यथार्थ दृष्टि–प्रतीति हुई है; फिर भी जिन्होंने ऐसी दशा प्रगट की है उनकी महिमा भी आती है। मेरा स्वभाव जुदा है और यह विकल्प जुदे हैं। स्वयं शुभरागको आदरणीय नहीं मानता, तथापि शुभभावमें खड़ा है इसलिये शुभभावके निमित्त जो देव–शास्त्र–गुरु उनकी महिमा भी उतनी ही आती है। उसे स्वभावकी महिमा है और विभाव तुच्छ लगते हैं; ऐसा होनेपर भी जिन्होंने उसे प्रगट किया है, जो उसकी साधना कर रहे हैं उनकी महिमा आती है। सम्यग्दृष्टिको अपने स्वभावकी महिमा है इसलिये जिन्होंने स्वभावको प्राप्त किया है ऐसे ज्ञानीयोंके प्रति यथार्थ महिमा आती है।

वह अंतर्दृष्टिमें ऐसा मानता है कि शुभभाव मेरा स्वभाव नहीं है और उसी क्षण भेदज्ञानकी धारा भी वर्तती है।—इसप्रकार उसको शुभभाव आदरणीय नहीं है, तथापि शुभभावका रस अधिक होता है और स्थिति अल्प पड़ती है। २३२.

प्रश्न :—*जितना हो सके उतना स्वाध्याय, मनन आदि प्रयत्नपूर्वक करते हैं तथापि व्यावहारिक जीवनमें कई बार झूठ बोलने या मायाचारीके भाव हो जाते हैं; किसी जीवको दुःख होगा ऐसा सोचनेकी भी दरकार नहीं रहती। यद्यपि यह सब बाह्य है, फिर भी क्या उन परिणामोंसे आत्मसाधनामें या अपनी पात्रतामें हानि नहीं होती ?*

समाधान :—स्वयं समझ लेना कि किस प्रकारके भाव आते हैं। मुमुक्षुकी भूमिकामें भीतर आत्मार्थका प्रयोजन मुख्य होता है। आत्मार्थीको शोभा न दें वैसे विचार—

मर्यादाको तोड़करके जो हों उस तरहके—आत्मार्थीको नहीं होते, वैसे कार्य भी आत्मार्थीके नहीं होते। जिनमें आत्मार्थिताका पोषण हो, आत्मार्थिता मुख्य रहे वैसे भाव आत्मार्थीके होते हैं। अपनी आत्मार्थिताकी मर्यादा जिनमें टूट जाय वैसे भाव आत्मार्थीको नहीं होते। अपने परिणाम कैसे हैं उनका विचार करके, उनमें कचास हो तो स्वयंको अपनी पात्रता बढ़ानी चाहिये। मुख्य प्रयोजन तो आत्मार्थिताका है। आत्मार्थिताको कहीं भी नुकसान पहुँचे वैसे मर्यादारहित परिणाम आत्मार्थीके नहीं होते। २३३.

प्रश्न :—*स्वाध्याय करते समय ज्ञाता-द्रष्टापना रखना चाहिये तो वह कैसे रखना?*

समाधान :—अपने अंतरमें ज्ञायककी परिणति प्रगट हुई हो तो उस काल ज्ञाता-द्रष्टापना रहता है। अभी जिसे ज्ञातापना प्रगट ही नहीं हुआ उसे तो ज्ञाता-द्रष्टापना रखना मुश्किल पड़ता है। ज्ञायकको पहिचानकर, भेदज्ञान करके ज्ञाताकी-भेदज्ञानकी परिणति प्रगट की हो तो प्रत्येक शुभ एवं अशुभभावमें ज्ञातापना सहजरूपसे रहता है। 'मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ' इसप्रकार प्रतिक्षण ज्ञाताके अस्तित्व तरफकी परिणति सहजरूपसे बनी ही रहती है। श्रुतका चिंतवन या शास्त्राभ्यासके कालमें भी ज्ञाताधारा निराली ही रहती है। जिसे एकत्वबुद्धि है, जिज्ञासुकी भूमिका है उसे ज्ञातापना नहीं होता; उसे मात्र भावना रहती है कि मैं ज्ञायक हूँ, परन्तु परिणति प्रगट करनी बाकी है।

जिसे ज्ञायककी दशा प्रगट हुई है, स्वानुभूति दशा प्रगट हुई है वह सविकल्पदशामें आये तब भी उसे भेदज्ञानकी धारा वर्तती है। दर्शन करे, पूजा करे, कुछ भी करे तथापि उसे भेदज्ञानकी धारा चलती ही रहती है।

बाहरसे भगवान्‌की भक्ति अधिक दिखाई दे, श्रुतका चिन्तन विशेष दिखाई दे, तथापि ज्ञानीको कहीं एकत्वबुद्धि नहीं होती; ज्ञायककी धारा निराली ही वर्तती है। कर्ममें अमुक प्रकारका रस अधिक पड़ता है परन्तु उसे भेदज्ञानकी धारा वर्तती है इसलिये स्थिति लंबी नहीं पड़ती। २३४.

प्रश्न :—*जितना यह ज्ञान है उतना यह आत्मा है, इसे विशेष स्पष्टतापूर्वक समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—गुण और गुणी अभेद है। जो यह ज्ञानलक्षण दिखाई देता है उतना आत्मा है। ज्ञानके अतिरिक्त सब विभाव एवं पर है। यह जो ज्ञानलक्षण दिखाई देता

है उस ज्ञानलक्षणसे तू आत्माको पहिचान ले। जो ज्ञानलक्षण दिखाई देता है उतना आत्मा है। लक्ष्य-लक्षण एक ही है—अभेद है; उसे ग्रहण कर। तू ज्ञायकको ग्रहण कर ले। २३५.

प्रश्न :—*इस सिद्धांत द्वारा क्या आचार्यदेव ज्ञायकको ग्रहण कराना चाहते हैं?*

समाधान :—हाँ, ज्ञायकको ग्रहण कराना है। जितना यह ज्ञान है उतना यह आत्मा है। बाकी जो दिखाई देता है वह सब विभाव है। तू एक ज्ञानलक्षण आत्माको पहिचान ले, एक ज्ञायकको पहिचान ले; उसपर दृष्टि कर; गुण-गुणी अभेद है उसपर दृष्टि स्थापित कर दे; उसमें संतुष्ट हो, उसमें रुचि कर, उससे तृप्त हो; उसीमें सर्वस्व है, बाहर कुछ नहीं है। उसपर दृष्टि स्थापित करके उसका ज्ञान कर, उसकी परिणति कर, उसमेंसे सन्तोष प्राप्त होगा, उसमेंसे तृप्ति आयेगी और उसमेंसे ही अपूर्व सुख प्रगट होगा। भगवान्स्वरूप आत्मामें ही सब कुछ भरा है।—ज्ञायकमें ही सब कुछ भरा पड़ा है।

किसीको ऐसा लगे कि अकेले ज्ञानमें क्या है? ज्ञानसे क्या मिलेगा? परन्तु उस ज्ञानमें अनन्त-अनन्त भरा है। जितना यह ज्ञान है उतना आत्मा है, उसे तू ग्रहण कर। २३६.

प्रश्न :—*व्यवहारके अनेक भेद होते हैं, परन्तु मुख्यता तो अभेदकी है न?*

समाधान :—भेदके ऊपरसे दृष्टि उठाकर एक अभेदको ग्रहण करनेका है। एक अभेदको ग्रहण करनेसे भेदका ज्ञान बीचमें आ जाता है, परन्तु भेदपर दृष्टि नहीं रखनी है। अन्य सबका ज्ञान कर, और दृष्टि अभेदपर कर। उसमें दृष्टि स्थापित करनेपर उसमेंसे शुद्ध पर्यायें स्वयं प्रगट होंगी। पहले तू यथार्थ निश्चय कर कि ज्ञानस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ। यथार्थ दृष्टि प्रगट कर। दृष्टि ही मुख्य है। एक अभेद आत्मापर दृष्टि कर। २३७.

प्रश्न :—*क्या पहले ज्ञानसे आत्माके स्वरूपका भेदपूर्वक विचार करे कि मैं ऐसे ज्ञानसामर्थ्यसे भरपूर हूँ?*

समाधान :—पहले विकल्प द्वारा निश्चय करता है। विचारमें ऐसे भेदके विचार आये बिना नहीं रहते, किन्तु दृष्टि एक अभेदकी करनी है। दृष्टि अभेदपर गई और उसमें लीन हुई तब विकल्प टूटकर उसमेंसे स्वानुभूति प्रगट होती है। पहले निश्चय करे। व्यवहार बीचमें आयेगा, फिर उस मति-श्रुतकी बुद्धिको समेटकर निर्विकल्प होता है। २३८.

प्रश्न :— *साधककी भूमिकामें शुभराग आये उसे साधक हेयरूप जानता है वह ठीक है। जिज्ञासुकी भूमिकामें— आप कहते हैं तदनुसार— अंतरमें ज्ञायक और बाह्यमें देव–शास्त्र–गुरु दोनों रहते हैं परंतु हमें ऐसा लगता है कि यदि देव–गुरुको साथ रखने जायेंगे तो अनादिसे जीवको व्यवहारका पक्ष है, उसकी रुचि है, इसलिये व्यवहारकी रुचि होनेकी संभावना नहीं लगती ?*

समाधान :—रुचिवान् जीवको बीचमें देव–शास्त्र–गुरु आये बिना नहीं रहते। मुझे अपना स्वरूप पहिचाननेमें कैसे आये, गुरु मुझे क्या मार्ग बतलाते हैं, गुरुने क्या कहा है—ऐसे विचार आये बिना नहीं रहते; परन्तु उससे उसे व्यवहारका पक्ष आ जाता है ऐसा नहीं है। उसे भावना रहती है इसलिये भक्ति आये बिना नहीं रहती। गुरु ऐसा कहते हैं कि तू अपने शुद्ध आत्माको पहिचान, समस्त शुभभावोंसे तेरा शुद्धात्मा भिन्न है; तथापि जिज्ञासुको शुभभाव आये बिना नहीं रहते, परन्तु उनमें व्यवहारका पक्ष नहीं आ जाता। यदि वह जीव व्यवहारसे लाभ माने, उसमें सर्वस्व माने, उससे मोक्षकी प्राप्ति होना माने तो व्यवहारका पक्ष आता है। मगर जो शुभभाव आयें उनमें व्यवहारका पक्ष नहीं आता; कारण कि शुभभाव आते हैं उनके साथ जिज्ञासुकी श्रद्धा ऐसी नहीं हो जाती कि इस शुभभावसे मुझे लाभ है। जिज्ञासुकी श्रद्धा और रुचि उसमें एकाकार हो नहीं जाती।

जिज्ञासुको बुद्धिपूर्वक ऐसा निर्णय होता है कि गुरुने कहा है कि तेरा शुद्धात्मा विकल्परहित निर्विकल्प तत्त्व है; शुभभाव तेरा स्वरूप नहीं है; ऐसा गुरुने जो कहा है वह उसने विचारपूर्वक दृढ़ किया है; इसलिये शुभभाव आनेपर उसमें व्यवहारका पक्ष आकर वैसी श्रद्धा नहीं हो जाती।

शुभभावसे मुझे लाभ होगा, देव–शास्त्र–गुरु मुझे लाभ कर देंगे, वे करें वैसा होगा, मैं अपने पुरुषार्थसे कुछ नहीं कर सकता—ऐसी मान्यता जिसके नहीं है, उसे व्यवहारका पक्ष नहीं आता। जिसे ऐसी श्रद्धा है कि मैं अपनेसे करूँ तभी होगा, तथापि गुरु मुझे उपकाररूप हैं, मुझे गुरुने ही सब कुछ दिया है ऐसी शुभभावना आती है, परन्तु उससे व्यवहारका पक्ष नहीं आ जाता। उसकी श्रद्धा तो जुदी ही रहती है।

यथार्थ श्रद्धाकी तो बात कुछ और ही है, वह सहजरूपसे ज्ञानीको–भेदज्ञानीको वर्तती है। जिज्ञासुको भी बुद्धिपूर्वक जो श्रद्धा है उस श्रद्धामें भूल नहीं आती। गुरुकी भक्ति करे उसमें श्रद्धाकी भूल नहीं आती, उसमें व्यवहारका पक्ष नहीं आता। जिज्ञासु देव–शास्त्र–गुरुकी भक्ति करता है तथापि व्यवहारका पक्ष नहीं आ जाता। उसमें सर्वस्व माने तब व्यवहारका पक्ष आता है।

जिनको भेदज्ञान प्रगट हुआ है ऐसे आचार्य धवलादि शास्त्रोंकी रचना करते हैं, कोई अध्यात्म-शास्त्र रचते हैं, तो उसमें पक्ष आ जाता है? पद्मनंदी आचार्यने भक्तिके शास्त्र रचे हैं, तो उसमें व्यवहारका पक्ष नहीं आ जाता, वहाँ भी भेदज्ञानकी धारा साथमें वर्तती है। जिज्ञासुने निर्णय किया है कि इन सब विभावोंसे पृथक् मैं चैतन्यद्रव्य हूँ; वह भले-ही बुद्धिपूर्वक निश्चय किया है तथापि उसे भक्तिके भाव आये और उन कार्योंमें संलग्न हो उससे कहीं भक्तिके कार्यसे व्यवहारका पक्ष नहीं आ जाता। २३९.

प्रश्न :—*जिज्ञासु शुभभावको हेय समझता है और शुभभाव आये बिना रहते भी नहीं; तो ऐसा किसप्रकार वह इन दोनों बातोंको समझता है?*

समाधान :—हाँ, जिज्ञासु ऐसा समझता है। उसे श्रद्धा है कि शुभभाव तो हेय हैं तथापि बीचमें आये बिना नहीं रहते। शुभभावोंके आनेसे श्रद्धामें भूल हो ऐसा नहीं है। अधिक भक्ति करता हो उसे व्यवहारका पक्ष हो गया है ऐसा नहीं है। जिज्ञासु अंतरमें स्वयं जानता है; उसकी श्रद्धामें होता है कि गुरुने कहा है कि तेरा शुद्धात्मा जुदा है, शुभभाव तेरा स्वरूप नहीं है। यह उसने स्वयं भी निर्णय किया है, इसलिये उसकी श्रद्धामें भूल नहीं होती। २४०.

प्रश्न :—*जिज्ञासु महिमा तो ऐसी ही करता है कि गुरुदेव! आपने ही सब कुछ—सर्वस्व दिया है?*

समाधान :—गुरुदेव ! आप ही सर्वस्व हो; आपने ही हमें सब कुछ दिया है; आप यहाँ पधारे—आपने मार्ग बतलाया तो हम जागृत हुए; आपने हमें पुरुषार्थ करना सिखाया है;—तदनुसार सब विनयकी भाषा बोलता है, किन्तु अंतरसे समझता है कि करना तो मुझे है। गुरुदेवका परम परम उपकार है ऐसा वह समझता है। हमारी दिशा बदली हो तो आपने ही बदलायी है—ऐसा वह उपकारबुद्धिसे कहता है, उसके शुभभावमें ऐसा ही आता है। २४१.

प्रश्न :—*श्री 'समयसार'की ३८वीं गाथामें अप्रतिहतभावकी बात आयी थी। पूज्य गुरुदेवश्री कई बार कहते थे कि—बहिनश्रीके जातिस्मरणज्ञानमें जोड़नी क्षायिककी बात आती थी। तो कृपा करके हमें समझायें कि जोड़नी क्षायिक सम्यक्त्वका अर्थ क्या है? वह किसे प्रगट होता है?*

समाधान :—जोड़नी क्षायिक तो उसे प्रगट होता है जिसे अप्रतिहत धारा होती

है। शुद्धात्म-साधनाकी विशेष-विशेष पर्यायें जुड़ती जाएँ तो अप्रतिहत धारारूप जोड़नी क्षायिक प्रगट होता है।

मुमुक्षु :—अब भी स्पष्ट नहीं हुआ, इसलिये विशेष स्पष्टता करनेकी कृपा करें।

बहिनश्री :—वह क्षयोपशम (क्षयोपशम सम्यक्त्व) ऐसा अप्रतिहत होता है कि जो गिरता नहीं है। उसकी समस्त पर्यायें अप्रतिहतभावसे प्रगट होती हैं। जोड़नी क्षायिकमें धारा ही ऐसी अप्रतिहतधारासे प्रगट होती है। २४२.

प्रश्न :—*पात्र शिष्यके मुख्य लक्षण सम्बन्धी थोड़ा स्पष्टीकरण कीजिये।*

समाधान :—पात्र शिष्यको अंतरसे आत्माकी ही लगन लगी होती है कि 'मुझे एक चैतन्य ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं चाहिये।' उसके प्रत्येक कार्यमें आत्माका ही प्रयोजन होता है, अन्य सब प्रयोजन उसे गौण रहते हैं। एक आत्माकी मुख्यता सहित ही उसके सर्व कार्य होते हैं। शुभभावके कार्योंमें भी उसे एक आत्माका प्रयोजन होता है, अन्य कोई बाह्य प्रयोजन नहीं रहता। शुभभावमें देव-शास्त्र-गुरुकी प्रभावना कैसे हो वैसे भाव आते हैं और आत्माका प्रयोजन साथ होता है, अन्य कोई प्रयोजन नहीं होता। लौकिक प्रयोजनसे अत्यन्त न्यारा होता है। उसे तो एक आत्माकी ही लगन लगी है। लौकिकका, बाह्यका या बड़प्पनका कोई प्रयोजन नहीं रहता। 'मेरे आत्माको कैसे लाभ पहुँचे' वह एक ही प्रयोजन आत्मार्थीको होता है। श्री जिनेन्द्रदेव, जिन्होंने साधना प्रगट की है ऐसे उपकारी गुरु, तथा शास्त्रकी प्रभावना कैसे हो ऐसी उसे प्रीति होती है। जिन्होंने आत्माका मार्ग बतलाया, उसकी प्राप्ति हेतु मार्गदर्शन दिया और जिनका परम उपकार है उनकी प्रभावना कैसे हो, वैसा हेतु पात्र शिष्यको होता है, अन्य कोई हेतु नहीं होता। यह पात्र जीवका लक्षण है। २४३.

प्रश्न :—*धार्मिक संस्थाके कार्य करनेमें क्या प्रयोजन होना चाहिये? कार्योंमें भाग लेना या नहीं?*

समाधान :—धार्मिक कार्योंमें देव-शास्त्र-गुरुकी प्रभावना होती हो, अपनेको उसका विकल्प आता हो, तो उनमें भाग लेते हैं। देव-शास्त्र-गुरुकी प्रभावनार्थ एवं अपने आत्मार्थके लिये उनमें जुड़ते हैं। अन्य कोई प्रयोजन नहीं होता। २४४.

प्रश्न :—*उसमें आत्मा ही मुख्य होता है?*

समाधान :—आत्मा ही मुख्य होता है। मेरे आत्मामें संस्कार कैसे पड़ें, उन

संस्कारोंकी दृढ़ता कैसे हो, मैं चैतन्य न्यारा हूँ—ऐसा ही उसका प्रयोजन है। स्वयंको धर्मकी प्रीति है, इसलिये धर्मकी प्रभावना कैसे हो, गुरुदेवकी प्रभावना कैसे हो, गुरुके धर्मकी शोभा कैसे बढ़े, लोग इस मार्गको जानें—ऐसा शुभभावका विकल्प आता है। जिसे अपने स्वभावकी प्रीति है उसे गुरुके बताये हुए मार्गकी तथा गुरुकी भक्ति आये बिना नहीं रहती, इसलिये शुभकार्योंमें जुड़ता है, परंतु उनमें उसका 'हेतु' आत्माका है। २४५.

प्रश्न :—*एक समयकी ज्ञानकी पर्यायको कभी तो शास्त्रमें ज्ञेयरूप कहते हैं, कभी पर्याय है इसलिये हेय है ऐसा कहा जाता है और कभी उसे प्रगट करने हेतु उपादेय कहा गया है। ऐसे एक पर्याय सम्बन्धी अनेक प्रकार शास्त्रोंमें आते हैं, तो भेदज्ञान ज्योति प्रगट करने हेतु किस बातकी मुख्यता करें? हेय-ज्ञेय-उपादेय कैसे करें? कृपया समझायें।*

समाधान :—अखंड स्वभावपर दृष्टि करनेसे जो पर्यायें प्रगट होती हैं वे आत्माका मूल स्वरूप नहीं हैं, इसलिये दृष्टि अपेक्षासे उन्हें हेय कहा जाता है। ज्ञानकी अपेक्षासे उन्हें जाननेयोग्य कहा जाता है; परन्तु जो अपूर्ण साधनाकी पर्यायें हैं वे बीचमें आये बिना नहीं रहती, वे ज्ञानमें जाननेयोग्य हैं और वे प्रगट करनेकी अपेक्षासे आदरणीय हैं। ज्ञान, दर्शनकी जो अपूर्ण पर्यायें हैं वे एक समयमें पूर्ण नहीं होती, चारित्र भी एकसाथ परिपूर्ण प्रगट नहीं होता, इसलिये उसे साधना करनी रहती है, स्वरूपमें लीनता करनी रहती है, इसलिये उन पर्यायोंको ज्ञान आदरणीय भी जानता है।

निश्चय-व्यवहारकी संधि जैसी है वैसी समझे तो साधनामें आगे बढ़ता है। दृष्टिमें एक ज्ञायकको मुख्य रखकर अपूर्ण-पूर्ण पर्यायको भी गौण किया जाता है। अपूर्ण-पूर्ण पर्याय जितना मैं नहीं हूँ, मैं तो अखंड ज्ञायक हूँ। केवलज्ञानकी पर्याय प्रगट हो तथापि वह पर्याय है। मैं तो अखंड एक द्रव्य हूँ। सम्यग्दर्शनसे लेकर जो भी निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं वे सब साधनाके बीचमें आती हैं, इसलिये वे प्रगट करनेकी अपेक्षा उपादेय हैं। साधना करते हुए केवलज्ञान-पर्याय प्रगट होती है, उस अपेक्षासे वह उपादेय है; परन्तु दृष्टिकी अपेक्षासे उसे हेय कहा जाता है। २४६.

प्रश्न :—*क्या प्रगट करनेकी अपेक्षासे पर्यायको उपादेय कहनेमें आता है?*

समाधान :—हाँ, पर्यायको प्रगट करनेकी अपेक्षासे उपादेय कहा है, उसमें उसे पुरुषार्थ करना रहता है। साधकको स्वानुभूतिकी दशा प्रगट हुई है, उस स्वानुभूतिमें प्रतिक्षण वृद्धि हो और फिर स्वयं स्वानुभूतिरूप ही हो जाय अर्थात् जैसा आत्मा है उस रूप ही स्वयं हो

जाय ऐसी दशा अभी प्रगट नहीं हुई है, इसलिये पर्याय प्रगट करनेकी अपेक्षा आदरणीय है।

मुनि छठवें–सातवें गुणस्थानमें झूलते–झूलते अंतर्मुहूर्तमें अंतरमें जाते हैं और बाहर आते हैं तथापि अभी पर्याय अपूर्ण होनेसे साधनाकी परिणति चलती ही रहती है। छठवें–सातवें गुणस्थानकी दशामें 'मैं प्रमत्त नहीं हूँ या अप्रमत्त नहीं हूँ' ऐसी दृष्टि होनेपर भी मुनि उस साधनाकी पर्यायमें झूलते हैं। उसमें वृद्धि होनेपर श्रेणि चढ़कर केवलज्ञान प्रगट करते हैं। उस साधनामें परिणतिकी डोर अपने स्वभावकी ओर है, ज्ञान ज्ञानको खींचता हुआ अपनी ओर जाता है। साधनामें ऐसा होता है तथापि दृष्टि एक आत्मापर है, दृष्टि सबको हेय करती है, दृष्टि सबको गौण करती है। २४७.

प्रश्न :— *'ज्ञान ज्ञानको खींचता हुआ' ऐसा आपने बतलाया उसका भाव क्या है? वह समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—ज्ञान अर्थात् पुरुषार्थका लगाव वह, जो परिणति विभावकी ओर जाती थी उसे स्वभावकी ओर खींचता है, साधनाको बढ़ाता है और भेदज्ञानकी धाराको उग्र करता जाता है।

दृष्टि प्रगट होनेके पश्चात् कुछ करना ही बाकी नहीं रहता ऐसा नहीं है। दृष्टि होनेके बाद सम्यग्दर्शन–ज्ञान प्रगट हुआ, अभी उसमें लीनता प्रगट करनी बाकी है। भेदज्ञानकी धाराको उग्र करके दृष्टिका बल बढ़ाता जाता है, अपनी परिणतिको एकदम अपनी ओर मोड़ता रहता है, विभावकी ओर जानेवाली परिणतिको स्वभावकी ओर खींचता रहता है। दृष्टिमें पर्यायको हेय मानता है, तथापि पुरुषार्थकी डोर चालु है। 'मैं तो अखंड हूँ' तथापि यह विभावकी पर्याय हो रही है, स्वभावकी पर्याय अपूर्ण है वह सब जानता है और पुरुषार्थकी डोर अपनी ओर खींचता जाता है। २४८.

प्रश्न :—*शास्त्रभाषामें कहा जाता है कि पर्याय प्रगट करनेकी अपेक्षासे उपादेय है; परन्तु आपने जो कहा उससे बहुत अच्छी तरह स्पष्टीकरण हुआ है। साधनामें साधकको ऐसे परिणाम आते हैं, यह बात आपने बहुत अच्छी बतलायी। इसे विशेष समझायें।*

समाधान :—साधनामें ऐसे परिणाम साथ होते ही हैं। उसकी दृष्टि ज्ञायकपर स्थापित रहती है; दृष्टि ज्ञायकसे हटती नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसे ज्ञायकका जो अस्तित्व ग्रहण किया है; विभावसे न्यारा, अपूर्ण या पूर्ण पर्याय जितना भी मैं नहीं तथा गुणके भेद भी मुझमें नहीं;—ऐसी जो दृष्टि ज्ञायकपर स्थापित हुई वह दृष्टि वहाँसे खिसकती ही नहीं है। तथापि उसे

ज्ञानमें है कि—यह विभाव खड़ा है, पर्याय अभी अपूर्ण है, स्वभावका वेदन अंशतः होता है, स्वानुभूतिकी दशा प्रगट हुई है, ज्ञायककी सविकल्पधारामें अंशतः शान्तिका वेदन होता है परंतु अभी वह पूर्ण नहीं, अपूर्ण है; विकल्प और विभावका समूह अभी मौजूद है ऐसा वह जानता है और उस विभावसे अपनी परिणतिको पृथक् करता हुआ पुरुषार्थ करता रहता है। दृष्टिके साथ विभावसे छूटनेके पुरुषार्थकी डोर अपने साथ ही साथ रखता है। विभावमें एकत्व नहीं होता और उसकी जितनी उग्रता होती है तदनुसार पुरुषार्थ करता जाता है।

इसप्रकार पुरुषार्थ करते-करते उसकी भूमिका बदल जाती है। चौथी भूमिकाके पश्चात् पाँचवीं, फिर छठवीं-सातवीं भूमिकामें वह अपने स्वभावकी डोर ज्यादा खींचते रहनेसे ज्ञानकी उग्रता, ज्ञाताधाराकी तीक्ष्णता एवं विरक्ति बढ़ती जाती है। स्वभावकी निर्मलता विशेष होती रहती है और स्वानुभूतिकी दशा बढ़ती जाती है। उसकी दृष्टि बराबर बनी हुई है और पुरुषार्थकी डोर भी साथ ही साथ चल रही है। २४९.

प्रश्न :—*ज्ञानका फल विरति है तो मुमुक्षुकी भूमिकामें विभावसे अल्प अंशमें रहित तो होना चाहिये न?*

समाधान :—यथार्थ ज्ञान प्रगट हो, ज्ञायककी धारा प्रगट हो उसका फल विरति है, इसलिये जिसे ज्ञायककी धारा प्रगट हो उसे विरक्ति आ जाती है, वह विभावसे भिन्न हो जाता है, अनन्तानुबंधी कषायें टूटकर अंशतः स्वरूपरमणता प्रगट होती है। ज्ञानका फल विरति है। अतः ज्ञायककी धारा प्रगट होती है, उसमें उसे अमुक अंशमें विभाव छूट जाते हैं।

मुमुक्षु भूमिकामें जहाँ जिज्ञासा प्रगट हुई वहाँ वह विचार-पठन करे उसके साथ उसे अमुक वैराग्यादि होते ही हैं; नहीं तो उतनी रुचि ही नहीं है। आत्माके प्रति रुचि जाये और विभावका रस न छूटे तो उसे तत्त्वकी रुचि ही नहीं। विभावका रस छूटना ही चाहिये। ज्ञायककी धारा प्रगट हो, वह यथार्थ विरति है। जिज्ञासुको अभ्यासकालमें आत्माकी रुचि जगे उसे विभावका रस छूटना ही चाहिये। वह तत्त्वविचार करे, स्वाध्याय करे परंतु अंतरसे इतना वैराग्य न आये तो यथार्थ रुचि ही नहीं है। रुचिके साथ ही उसे अल्प विरक्ति और अंतरसे विभावका रस छूट जाना चाहिये। २५०.

प्रश्न :—*श्रीमद् राजचंद्रजीने कहा है कि—"सर्वभावसे विरामकी प्राप्तिरूप संयम वह द्रव्यानुयोग परिणमित होनेका मूल है, यह किसी भी कालमें भूलना नहीं।" वहाँ क्या तात्पर्य है?*

समाधान :—जिसको द्रव्यानुयोगका यथार्थ परिणमन हो गया है उसे संयम

अनुक्रमसे आ ही जाता है। उसको स्वरूपरमणता होकर चारित्र प्रगट होता है। मुमुक्षुदशामें उसे अमुक प्रकारसे बाह्य रुचि छूट जाती है, वैराग्य आ जाता है। २५१.

प्रश्न :—*अर्पणता किसे कहते हैं?*

समाधान :—अर्पणतामें सब आग्रह छूट जाने चाहिये। आग्रहोंकी पकड़ ढीली हो जाय तब अर्पणता हो। अर्पणतामें सब आग्रह कि—मैं कुछ जानता हूँ वह सब छूट जाना चाहिये। किसी प्रकारकी पकड़ नहीं रहनी चाहिये। २५२.

प्रश्न :—*निर्णय तो करते हैं, किन्तु कभी-कभी वह निर्णय छूट जाता है उसका क्या कारण है?*

समाधान :—रुचि नहीं हो तो निर्णय होकर छूट जाता है। रुचि प्रबल हो तो निर्णय ज्यों का त्यों स्थिर रखे और उसका निर्णय आगे बढ़कर कार्य करे कि यह मैं हूँ, यह मैं नहीं। इसप्रकार रुचि हो तो उसका निर्णय दृढ़तापूर्वक कार्य किया करे। ऐसा उसे प्रथम अभ्यासरूप होता है। वह अभी यथार्थ नहीं है, परन्तु उसका अभ्यास करते-करते यथार्थ होनेका अवकाश है। २५३.

प्रश्न :—*शास्त्रीय ज्ञानका विकास हो उसे क्या मंथन नहीं कहते?*

समाधान :—नहीं, वह मंथन नहीं है। मूल तत्त्वका मंथन-चैतन्यका मंथन, वह आंतरिक मंथन है; फिर उस मंथनमें ज्यादा टिक न सके तो शास्त्रके विचार आयें वह बात अलग है। प्रयोजनभूत तत्त्वके विचार आयें कि मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय कैसे हैं? मैं सबसे न्यारा हूँ तो कैसे न्यारा होऊँ? अंतरमें यह भेदज्ञान कैसे प्रगट हो? आदि विचार आते हैं।

जैसे भगवान् और गुरुके आँगनमें टहेल (चक्कर) मारे उसी प्रकार ज्ञायकको ग्रहण करनेके लिये चक्कर मारा करे, उसका बारम्बार अभ्यास करता रहे। भगवान्‌के दर्शन हेतु उनके द्वारपर टहेल मारता हो, गुरुके दर्शन हेतु उनके आँगनमें टहेल मारता हो,और ज्यों ही भगवान्‌के द्वार खुलें और भगवान्‌के दर्शन हों, गुरुके दर्शन हों; उसी प्रकार चैतन्यके प्रांगणमें टहेल मारा करे कि चैतन्यके दर्शन कैसे हों? मेरे चैतन्यका स्वभाव क्या ? उसकी महिमा क्या? इसप्रकार यदि निरन्तर टहेल मारे और अभ्यास करे तो चैतन्यके द्वार खुल जाएँ और दर्शन हों।

यदि भगवान्‌के द्वारसे हट, थक जाय तो दर्शन न हों। वैसे ही यहाँ अंतरसे थकना

नहीं, निराश न होना। गुरुकी महिमा लगे तो गुरुके आँगनमें टहेल मारते रहनेपर उनके दर्शन हों; वैसे ही चैतन्यके प्रांगणमें बारम्बार टहेल मारा करे, चैतन्यका विचार–अभ्यास किया करे और उसीका रटन करते रहना चाहिये।

चैतन्यका ग्रहण नहीं होता इसलिये उसका रटन छोड़ना नहीं चाहिये। अंतरमें जो संस्कार डाले हुए हैं वे भीतरमें कार्य किये बिना रहेंगे ही नहीं। २५४.

प्रश्न :—*हमारे गाँवमें दिगम्बर जिनमन्दिर नहीं है, श्वेताम्बर मंदिर है; तो क्या वहाँ जानेसे हमें नुकसान होगा?*

समाधान :—यथार्थ तत्त्वकी समझ होनेपर बाह्यमें क्या करना वह अपने आप समझमें आ जायगा। मैं ज्ञायक हूँ, चैतन्यस्वभावी हूँ, यह विभाव मेरा स्वभाव नहीं है और शरीर भिन्न है, ऐसी भेदज्ञानकी बात समझनेपर फिर सच्चे देव–शास्त्र–गुरु कैसे होते हैं और अन्यत्र जानेसे क्या हानि होती है वह अपने आप समझमें आ जायगा।

मूल प्रयोजनभूत ज्ञायकको समझो, उसीमें सच्चे देव–शास्त्र–गुरु आ जाते हैं। देव कैसे होते हैं? कि वे वीतरागी होते हैं, समवसरणमें विराजते हैं, उन्हें विकल्प नहीं है, स्वरूपमें पूर्णतया लीन हो गये हैं, उनकी नासाग्रदृष्टि है। भगवान् वीतरागी हैं तो प्रतिमा भी वैसी होनी चाहिये। प्रतिमामें फेरफार करना ठीक नहीं है; इसलिये क्या करना सो अपने आप समझ लेना।

भावमें सच्चापन हो तो बाह्यमें नमस्कार भी सच्चेको होता है; यह सब यथार्थ तत्त्व समझनेसे समझमें आ जायगा।

जो ज्ञायकको समझते हैं उनका व्यवहार भी सच्चा होता है। वे ही देव–शास्त्र–गुरुको समझते हैं। जैसे भगवान् हैं वैसी ही प्रतिमाजीकी स्थापना होती है और उन्हीं प्रतिमाजीको नमन होता है। तत्त्व समझनेपर अपने आप समझमें आ जायगा कि क्या करना चाहिये। जब अपने भावमें निश्चय–व्यवहार समझमें आयेगा, तब अपने आप मिथ्या मान्यता छूट जायगी। नहीं छूटे तबतक विचार करते रहना कि सत्य क्या है? वह जब समझमें आ जायेगा तो उनको (जो सच्चे नहीं हैं उन्हें) माननेसे क्या नुकसान है, वह अपने आप समझमें आयगा और वह छूट जायगा। २५५.

प्रश्न :—*हम स्वानुभूति प्रगट करनेके लिये क्या करें?*

समाधान :—निर्विकल्पदशा प्रगट हो तब स्वानुभूति होती है। उससे पूर्व मैं ज्ञायक हूँ.....ज्ञायक हूँ—ऐसे बारम्बार ज्ञानमें रटन करते रहना। यह विकल्प आते हैं वे मेरा स्वरूप नहीं हैं; मैं विकल्पोंसे भी पृथक् हूँ; जो मन्द या तीव्र विभाव आते हैं उन सबसे पृथक् मैं चैतन्य हूँ—इसप्रकार बारम्बार उसकी महिमा, लगन तथा अंतरमें रटन रहना चाहिये। मैं ज्ञायक हूँ; विकल्परहित निर्विकल्पतत्त्व हूँ; विकल्पोंके छूट जानेसे मैं कहीं शून्य नहीं हो जाता, परन्तु जो अंतरमें भरा है वह प्रगट होता है। मुझमें अर्थात् ज्ञायकमात्र आत्मामें सब परिपूर्ण भरा है—इसप्रकार बारम्बार उसकी भावना–रटन–विचार–पठन करने जैसा है। ज्ञायकके प्रांगणमें टहेल लगाने जैसी है। २५६.

प्रश्न :—*शास्त्र-स्वाध्याय एवं विचार करते हुए भेदके मार्गपर चले जाते हैं; अनादिकी आदत है न?*

समाधान :—भेदके मार्गपर चले जाते हो तो बारम्बार लक्ष्य अपनी ओर करते रहना। जबतक अंतरमें लीन नहीं हुआ, अंतर्दृष्टि नहीं हुई तबतक विकल्प कहीं न कहीं तो फिरा करते हैं; बाह्यमें कहीं खड़ा तो रहता है; परन्तु श्रद्धा और रुचि तो यही रखनी कि ज्ञायकमें सर्वस्व है, उन सबमें रुकने जैसा नहीं है। ज्ञायकमें नहीं रहा जाता इसलिये (विकल्प) आये बिना नहीं रहते, बीचमें आते हैं, परन्तु श्रद्धा तो ज्ञायककी ही रखनी कि निर्विकल्प शुद्धात्मतत्त्व ही मैं हूँ। २५७.

प्रश्न :—*मुझमें सब कुछ है, किन्तु कौन जाने क्यों विश्वास नहीं आता! बाह्यमें जवाहिरात आदिका विश्वास आता है!*

समाधान :—बाहरका तो सब दिखता है और यह दिखाई नहीं देता इसलिये विश्वास नहीं आता। किन्तु अपनेमें सब कुछ है। गुरुदेव कहते हैं और स्वयं भी विचार करके निश्चय करे कि ज्ञायकमें ही सब भरा है। गुरुदेव कहते थे कि जैसे छोटी पीपरको घिसते–घिसते उसमेंसे तीखापन प्रगट होता है; वैसे ही 'ज्ञायक हूँ–ज्ञायक हूँ, उसीमें सब भरा हुआ है और उसमेंसे स्वभाव प्रगट होता है' ऐसे निश्चय करना।

जिसप्रकार दहीको बारंबार बिलोया करे तो मक्खन पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार बारम्बार भेदज्ञान करनेसे—बारम्बार 'मैं भिन्न हूँ, भिन्न हूँ'—ऐसे ज्ञानमें अभ्यास करे तो पृथक् है वह प्रगटरूपसे पृथक् हो जाता है। २५८.

प्रश्न :—*प्रयत्न करनेपर भी परकी रुचि नहीं छूटती, तो कृपया बतलाईये कि परकी रुचि छूटकर आत्माकी रुचि कैसे हो?*

समाधान :—परकी रुचि तोड़ते–तोड़ते उसे पसीना आ जाता है। ऊपरी रुचि होती है कि आत्माका ही करने जैसा है, परन्तु एकत्वबुद्धि तोड़नेमें मुश्किल पड़ती है; अनन्तकालका अभ्यास है; इसलिये प्रयास कर–करके थक जाता है, खेद होता है; करनेका तो यही है परन्तु पुरुषार्थकी कमीके कारण उसका विश्वास डगमगा जाता है। स्वयं है तो जुदा,परन्तु मोटे रस्सेकी भाँति एकत्व कर रखा है। स्वयं अनन्तकाल परके साथ एकत्वपनेके अभ्यासमें रहा है; परन्तु अब उस अनन्तकालके सामने भेदज्ञानका अभ्यास करनेपर सुलझनेमें अनन्तकाल नहीं लगता। धीरे–धीरे अभ्यास करे तो थोड़ा अधिक समय लगता है तथा उग्र अभ्यास करे तो (ज्यादासे ज्यादा) छह महीने लगते हैं। अंतरमें भले ही आत्माकी रुचि हो, परन्तु एकत्वबुद्धि तोड़ते–तोड़ते उसे मुश्किल पड़ती है और वह बाहर चला जाता है।

अपने और परके लक्षणको पहिचानकर यह द्रव्य–गुण–पर्याय मेरे हैं और यह पुद्गलके हैं—इसप्रकार बराबर भेदज्ञान करनेपर, सूक्ष्म संधिस्थानको देख, प्रज्ञाछैनी चारों ओर घूम जाती है जिससे किसी जगह संधि नहीं रहती, बराबर दो विभाग हो जाते हैं। सूक्ष्मतासे लें तो गुणभेद, पर्यायभेद या किसी भी प्रकारके रागमिश्रितभाव जो–जो भाव आयें उन सबसे पृथक् हो जाता है। ज्ञानमें सब जानता है, परन्तु जहाँ–जहाँ एकत्वबुद्धि हो वहाँ सबसे भिन्न पड़ जाता है। शुभभाव कि जहाँ अपनेको बहुत रस लगता है वैसे भाव, गुण–पर्यायके भेद आदि जो–जो सूक्ष्मभाव आते हों उन सबमें चारों ओर फिरकर प्रज्ञाछैनी स्पष्ट दो भाग कर देती है। एक चैतन्यका भाग और दूसरा विभावका भाग—ऐसे दो भाग कर देती है। २५९.

प्रश्न :—*श्री 'समयसार'की १७वीं तथा १८वीं गाथामें क्या ऐसा बतलाया है कि भगवान् आत्मा सबको अनुभवमें आता होनेपर भी अपनेको आत्मज्ञानका उदय नहीं होता उसमें दृष्टिकी भूल है?*

समाधान :—हाँ, दृष्टिकी भूल बतलानी है कि उसकी दृष्टि बाहर जाती है। जैसे कोई आदमी दूसरोंकी गिनती कर रहा हो कि—यह है, यह है, परन्तु स्वयं अपनेको गिनना भूल जाता है; उसीप्रकार स्वयं सब कुछ बाह्यमें देख रहा है, परन्तु 'मैं चैतन्यद्रव्य हूँ' ऐसे अपनेको ही भूल रहा है। उसे अपने अस्तित्वकी तथा आनन्दकी अनुभूति नहीं है। स्वयं अनुभूतिस्वरूप होनेपर भी आनन्दकी अनुभूति नहीं है। ज्ञान ऐसा असाधारण लक्षण

है कि जिस लक्षण द्वारा स्वयं अपनेको पहिचान सकता है। उस ज्ञायकताका नाश नहीं हुआ। ज्ञान ज्ञानरूपसे परिणमित हो रहा है परन्तु स्वयं ज्ञायकतारूप नहीं हुआ इसलिये उसकी ओर दृष्टि करे, उसका ज्ञान करे, आचरण करे, तो उसे आनन्दकी अनुभूति प्रगट हो। २६०.

प्रश्न :—*वहाँ तो प्रथम आत्माको जाननेके लिये कहा है, तो क्या आत्माकी श्रद्धा बादमें करनी ?*

समाधान :—जब स्वयं अपनी ओर जाये तब पहले यथार्थ ज्ञानसे पहिचाने। इसलिये प्रथम यथार्थ ज्ञान करना, फिर प्रतीति और उसके बाद आचरण करना—-ऐसा क्रम लिया है। अनादिसे अपनेको सच्ची समझ ही नहीं हुई, इसलिये प्रथम ऐसा कहा जाता है कि—तू ज्ञान यथार्थ कर तो श्रद्धा यथार्थ हो। वास्तवमें तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र वह मोक्षमार्ग है। यथार्थ प्रतीति हो तभी मोक्षमार्गका प्रारम्भ होता है। परन्तु पहले यथार्थ ज्ञान करे तो फिर श्रद्धा हो—ऐसा कहा है। २६१.

प्रश्न :—*पहले क्या होता है—श्रद्धा या ज्ञान?*

समाधान :—सच्ची समझके बिना यथार्थ श्रद्धा नहीं होती और यथार्थ श्रद्धाके बिना ज्ञान यथार्थ नहीं होता। २६२.

प्रश्न :—*तब फिर हमें ज्ञान और श्रद्धा दोनों करने होंगे?*

समाधान :—ज्ञान और श्रद्धा साथ ही हैं। श्रद्धा यथार्थ हो तो ज्ञान यथार्थ हुए बिना नहीं रहता। जिसे यथार्थ ज्ञान हो उसको श्रद्धा भी यथार्थ होती है। २६३.

प्रश्न :—*जैनदर्शनमें श्रद्धाकी प्रधानता है?*

समाधान :—हाँ, श्रद्धाकी प्रधानता है। श्रद्धा करे उसमें ज्ञान बीचमें आता है, इसलिये प्रथम ज्ञान करना ऐसा कहा जाता है, परन्तु श्रद्धा यथार्थ हो तभी मुक्तिके मार्गकी शुरुआत होती है। २६४.

प्रश्न :—*क्या मुमुक्षुको आत्मप्राप्ति करनेमें देव–शास्त्र–गुरुके प्रति शुभभाव आता ही है?*

समाधान :—हाँ, मुमुक्षुकी भूमिकामें वैसे भाव आते हैं। सम्यग्दर्शन होनेपर मुक्तिमार्गका प्रारम्भ होता है; पश्चात् चारित्रदशा हो तब भी देव–शास्त्र–गुरुके शुभ विकल्प साथ होते हैं। जबतक वीतरागदशा नहीं हुई है तबतक शुभभाव होते हैं। मुमुक्षुको तो ऐसा

लगता है कि देव–शास्त्र–गुरुकी समीपता हो, उनकी वाणीका श्रवण–मनन हो—आदि भावनायें आती हैं। सम्यग्दृष्टिको, चारित्रवान् मुनिको भी देव–शास्त्र–गुरुकी सान्निध्यताके शुभभाव आये बिना नहीं रहते, बीचमें साथ होते हैं। अणुव्रत–महाव्रतके शुभपरिणाम आते हैं उसके साथ देव–शास्त्र–गुरुके सान्निध्यके शुभपरिणाम भी आते हैं। बाह्य योग कितना होता है वह बात अलग है, परन्तु उसकी भावना तो ऐसी होती है। २६५.

प्रश्न :—*पात्र शिष्यको सम्यग्दर्शन प्राप्त करने हेतु कैसा चिंतन–मनन करना चाहिये कि जिससे उसे शीघ्र प्रयोजनकी सिद्धि हो?*

समाधान :—उसके निरन्तर ज्ञायकका चिन्तवन होना चाहिये। मुझे तो ज्ञायक ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं। सर्व शुभाशुभ विभावभाव हैं उनमें कहीं शान्तिका अनुभव नहीं होता। मेरा ज्ञायकभाव ही सुखरूप एवं आनन्दरूप है। इसप्रकार ज्ञायकका चिन्तन–मनन हो और उस हेतु बारम्बार उसीका अभ्यास, उसी प्रकारके श्रुतका चिन्तवन करता रहे। द्रव्य–गुण–पर्याय क्या हैं? निमित्त–उपादान क्या हैं? ऐसे प्रयोजनभूत तत्त्वोंका विचार अनेक प्रकारसे करता रहे। मैं ज्ञायक हूँ; परपदार्थोंका मैं कर्त्ता नहीं हूँ; प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है।—ऐसा सर्व चिन्तन ज्ञायककी सिद्धि हेतु करे।

मेरा ज्ञायक ज्ञायकरूपसे कैसे परिणमित हो जाय ऐसी भावना निरन्तर वर्तती है। बारम्बार उसीका चिन्तन–मनन होता है। प्रतिक्षण ज्ञायकका चिन्तन–मनन रहे ऐसा उसका प्रयत्न होता है, उसमें उसे थकान नहीं लगती; प्रयत्न चालू ही रखता है। २६६.

प्रश्न :—*दो द्रव्योंकी भिन्नता तो पूज्य गुरुदेवके तथा आपके प्रतापसे कुछ–कुछ समझमें आयी है; किन्तु द्रव्य–गुण–पर्यायकी कैसे भिन्नता करके अनुभव करें तत्सम्बन्धी मार्गदर्शन दीजिये।*

समाधान :—एक द्रव्यसे दूसरा द्रव्य अत्यन्त जुदा है, उनके प्रदेशभेद हैं। और विभाव वह अपना स्वभाव नहीं है। इसलिये शास्त्रमें भेदज्ञान करनेको कहा है कि विभावसे विभक्त हो परन्तु गुण–पर्यायसे भेदज्ञान करनेका नहीं कहा है। आत्माके गुण–पर्यायोंके लक्षणोंको पहिचानकर, उनका ज्ञान करके, उनके भेदमें नहीं रुकते हुए एक अखंड चैतन्यपर दृष्टि रखनेसे उसमें जो अनन्तगुण हैं उनकी शुद्धपर्याय प्रगट होती है। गुण–पर्यायोंसे भेदज्ञान करनेका नहीं रहता, परन्तु उनका ज्ञान करना रहता है।

आत्मा अनन्तगुणोंसे गूँथा हुआ अभेद तत्त्व है। उसमें अनन्तगुण किस जातिके हैं कि—ज्ञानका लक्षण जानना, आनन्दका लक्षण निराकुलता, चारित्रका लक्षण स्थिरता; ज्ञान जाननेका कार्य करे, आनन्द आनन्दका कार्य करे।—इसप्रकार गुणोंको उनके कार्य और लक्षणसे पहिचाना जा सकता है। उन्हें पहिचानकर गुणभेदमें रुकना वह रागमिश्रित विकल्प है। वह बीचमें आये बिना नहीं रहता। परन्तु एक अखंड चैतन्यपर दृष्टि करके वहाँ स्थिर हो तो उसे स्वानुभूति प्रगट होती है। विकल्प तोड़कर मैं निर्विकल्प तत्त्व हूँ, इसप्रकार सामान्य अस्तित्वपर निःशंकदृष्टि करके, उसमें स्थिरता–लीनता–आचरण करे तो स्वानुभूति प्रगट होती है। दो द्रव्य जुदे हैं वह तो दिखाई देता है, तथापि भेदज्ञान तो परसे तथा विभावसे करना रहता है और गुण–पर्यायका ज्ञान करनेका है। आत्मा अनन्तानन्त शक्तियोंसे परिपूर्ण है; अनन्त द्रव्य उसके निकट हैं; तथापि अपना अस्तित्व सँभाले रखता है। उसके अनन्त गुण–धर्म हैं, उन सबका ज्ञान करनेके लिये उनके लक्षण और कार्योंको पहिचानना। फिर उनके भेदविकल्पमें नहीं रुकना है। गुण तो अपना स्वरूप है, वे अपनेसे जुदे नहीं हैं। इसलिये उनका ज्ञान करके गुण-भेदोंमें या पर्यायभेदमें न रुककर चैतन्यपर दृष्टि रखना। उन्हें जानना कि यह गुण है, यह पर्याय है, परन्तु विकल्पमें रुकनेका कोई प्रयोजन नहीं है, मात्र जाननेका प्रयोजन है। पश्चात् स्वयं अपनेमें स्थिर हो तो स्वानुभूति प्रगट होती है।

उच्चसे उच्च शुभभाव भी विभाव है, अपना स्वरूप नहीं है; इसलिये उससे अपनेको पृथक् करता है। फिर वह जानता है कि पर्याय वह अंश है और गुण है वह भी एक–एक भेदरूप है—ऐसा जानकर अखंड सामान्य चैतन्यपर दृष्टि देता है जिससे विशेष पर्यायें प्रगट होती हैं, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट होते हैं। 'सर्व गुणांश सो सम्यक्त्व'—सर्व गुणोंके अंश प्रगट होते हैं। चैतन्यमें विशेष लीनता होनेपर मुनिदशा आती है और अन्तर्मुहूर्त–अन्तर्मुहूर्तमें निर्विकल्पदशा होती है।—स्वरूपमें बारम्बार जम जाते हैं और उसीमेंसे पूर्ण वीतरागदशा प्रगट होती है। २६७.

प्रश्न :—*हम ज्ञानसे पृथक् करते थे ऐसी हमारी भूल होती थी; तो क्या ज्ञायकको ज्ञानसे भिन्न नहीं मानना?*

समाधान :—मैं अपूर्ण ज्ञान जितना नहीं हूँ, पूर्ण शाश्वत हूँ। मति–श्रुत–अवधि–मनःपर्ययज्ञान वे सब क्षयोपशम ज्ञानके भेद हैं, वह मेरा पूर्ण स्वभाव नहीं है। पूर्ण स्वभावको ग्रहण करना है, अपूर्णको नहीं। राग और निमित्तके कारण जो पर्यायें होती हैं

उन्हें ग्रहण न करके जो पूर्ण स्वरूप है उसे ग्रहण करना चाहिये। यह सब अपूर्ण पर्यायें हैं उनका ज्ञान करना है। वे चैतन्यकी साधनामें प्रगट होनेवाली पर्यायें हैं, उनसे भेदज्ञान नहीं करना है। २६८.

प्रश्न :—*द्रव्यकी कोटि उच्च है और पर्यायकी निम्न है, वह प्रमाणकी अपेक्षासे कहा जाता है या नयकी?*

समाधान :—वह नय अपेक्षासे बराबर है। द्रव्यकी कोटि उच्च ही है। द्रव्य शाश्वत, अनादि-अनंत है, द्रव्यमें अनन्तगुण भरे हैं तथा अनन्त शुद्ध पर्यायें प्रगट करनेकी शक्ति भी उसमें है, इसलिये द्रव्यकी कोटि उच्च है। पर्याय प्रतिक्षण पलटती है, इसलिये उस अपेक्षा पर्यायकी कोटि निम्न है।

पर्यायका वेदन होता है, द्रव्यका वेदन नहीं होता। द्रव्य दृष्टिमें आता है और पर्याय वेदनमें आती है तथा पर्यायमें केवलज्ञान प्रगट होता है, उस अपेक्षासे पर्याय पूजनीय एवं वन्दनीय कही जाती है।

द्रव्यकी कोटि उच्च है, क्योंकि द्रव्य अनन्तशक्तियोंसे परिपूर्ण है, द्रव्यकी दृष्टि करनेसे मुक्तिका मार्ग शुरू होता है, उसके बिना मुक्तिमार्गकी शुरुआत नहीं होती, उस अपेक्षासे द्रव्यकी कोटि उच्च है।

पर्याय प्रगट वेदनमें आये तथा वह प्रगट हो, तब द्रव्य जैसा है वैसा अपने वेदनमें आता है। इसलिये कभी-कभी पर्यायकी मुख्यता कही जाती है, परन्तु वस्तुस्थितिसे देखें तो द्रव्यकी कोटि उच्च है। २६९.

प्रश्न :—*आप बारम्बार कहते हैं कि देव-शास्त्र-गुरुको हृदयमें स्थापित करके मुक्तिकी ओर प्रयाण करना, और श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव पर्यायको गौण करनेको कहते हैं; तो इन दोनों बातोंकी सन्धि कैसे की जाय?—हमें उलझन होती है।*

समाधान :—देव-गुरु-शास्त्रको हृदयमें रखनेका अर्थ ऐसा है कि जो स्वयं आगे बढ़ना चाहता है उसे देव-शास्त्र-गुरु क्या कह रहे हैं, उन्होंने क्या मार्ग बतलाया है, उसे हृदयमें रखकर—उसका आशय ग्रहण करके—मुक्तिकी ओर प्रयाण करते रहना; परन्तु उससे शुभभावमें अटक जाना ऐसा उसका अर्थ नहीं है। स्वयं द्रव्यदृष्टिपूर्वक स्वरूपमें लीन होता हो तब शुभविकल्पमें रुक जाना ऐसा उसका अर्थ नहीं है। देव-शास्त्र-गुरु ही बतला रहे

हैं कि शुभविकल्प वह विभाव है और तू सबसे निराला निर्विकल्पतत्त्व है। तू हमारे ऊपरसे भी दृष्टि हटा ले, रागका भाव छोड़ दे और वीतराग हो जा;—ऐसा देव–शास्त्र–गुरु स्वयं बतला रहे हैं; इसलिये प्रयोजन तो वीतरागता करनेका है। परन्तु साधक है इसलिये पहलेसे वीतरागता पूर्ण नहीं हो जाती और उसका उपयोग बाहर आता है। भेदज्ञानकी धारा चलती हो तब भी शुभके अनेक प्रकारके विकल्प होते हैं; इसलिये शुभभावमें देव–शास्त्र–गुरुको अपने साथ रखना। तू अपने आप—अपनी मतिकल्पनासे मार्ग मत ढूँढ़ना। देव–शास्त्र–गुरु क्या कह रहे हैं उसका तू आशय समझकर उस मार्गपर चलना–मुक्तिका प्रयाण चालू रखना। देव–शास्त्र–गुरु क्या कहते हैं उस आशयको समझकर फिर स्वभावके साथ मिलान करके, स्वयं अपनेसे निर्णय करके, निश्चित् करके मुक्तिका प्रयाण चालू रखना। अपनी मति-कल्पनासे मार्गपर मत चलना ऐसा तात्पर्य है।

पर्यायके ऊपरसे दृष्टि छूटकर, मैं शुद्ध हूँ, मैं अशुद्ध हूँ—ऐसे नयपक्षके विकल्प तथा गुणभेदके विकल्प भी छूट जाते हैं तब द्रव्यदृष्टि होती है, वह मुक्तिका मार्ग है—ऐसा देव–शास्त्र–गुरु बतलाते हैं। इसलिये वे क्या कह रहे हैं उस आशयको समझकर मुक्तिकी ओर प्रयाण चालू रखना ऐसा कहनेका आशय है।

पुनश्च, क्षपकश्रेणि चढ़कर बारहवें गुणस्थानमें पहुँचे उससे पूर्व बीचमें द्रव्य–गुण–पर्यायके अबुद्धिपूर्वक विचार आते हैं, श्रुतके विचार आते हैं, वे विचार टूटकर पूर्ण वीतराग हो तब केवलज्ञान होता है। वे श्रुतके विचार वस्तुस्थिति अनुसार होते हैं, अन्य प्रकारके नहीं होते। इसलिये जिस मार्गपर महापुरुषोंने प्रयाण किया उसी मार्गपर चलना ऐसा उसका तात्पर्य है। २७०.

प्रश्न :—*जैनदर्शन सत्य है, यह बात मुझे बैठती है—ऐसा आप कहती थी, तो वह किस प्रकार बैठती थी?*

समाधान :—मुझे अंतरसे ऐसा आता था; परन्तु यह बात सम्यग्दर्शनके बादकी है। उससे पूर्व तो मैंने खूब विचार–मंथन करके निर्णय किया था। जब प्रश्नोत्तर तथा चर्चा होती तब उसमें—यही स्वभाव हो सकता है, जाननेवालेका स्वभाव ऐसा ही हो, जो स्वभाव हो वह आकुलता रहित हो, जो विभाव है वह आकुलतारूप है, जो दुःखरूप हो वह अपना स्वभाव नहीं होता।—ऐसे अनेक प्रकारसे विचार करके निश्चित् किया हुआ था। तत्पश्चात् अंतरमें धारा प्रगटी और अनुभूति हुई उसके अर्थमें मैंने लिखा था कि—जैनदर्शन सत्य है

वह मुझे बैठता है। मुझे तो गुरुदेवसे मार्ग प्राप्त हुआ था, उसपर विचार करके तदनुसार प्रयत्न करनेपर अनुभूति हुई। पीछे वैसा संक्षेपमें लिखा था। दृष्टि, प्रयत्न आदि सब गुरुदेवके प्रतापसे हुए हैं। २७१.

प्रश्न :—*सम्यग्दर्शनसे पूर्व क्या भावना होती है?*

समाधान :—पहले ऐसी भावना होनी चाहिये कि मैं ज्ञायकतत्त्व हूँ, यह सब कुछ मैं नहीं हूँ। सम्यग्दर्शनका उपाय भेदज्ञानकी धारा एवं स्वानुभूति है, वह कैसे प्रगट हो वैसा प्रयत्न होना चाहिये। ज्ञायककी ओर कैसे दृष्टि जाय? भेदज्ञानकी धारा कैसे प्रगटे? स्वानुभूति कैसे हो?—ऐसी भावना, श्रुतका चिन्तन-अभ्यास-सत्समागमकी भावना यह सब पहले होते हैं। ज्ञायककी महिमा, ज्ञायकस्वभाव कैसे ग्रहण हो उसकी भावना-गहरी जिज्ञासा, तथा प्रतिक्षण 'मुझे आत्मा ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं', 'मुझे आत्मा बगैर चैन नहीं पड़ता' ऐसा शुरूमें लगना चाहिये। २७२.

प्रश्न :—*विकल्प कैसे दूर हों?*

समाधान :—अपनी पर्याप्त तैयारी हो तब विकल्प दूर होते हैं। अनादिकालसे एकत्वबुद्धिका अभ्यास है, शरीरके प्रति एकत्वबुद्धि है। प्रतिक्षण शरीर सो मैं और मैं सो शरीर, विभाव सो मैं और मैं सो विभाव—ऐसी एकत्वबुद्धि है। वह एकत्वबुद्धि टूटे और स्वभावकी महिमा आये कि 'मैं तो एक ज्ञायक हूँ'—इसप्रकार स्वभावकी लगन लगे, अंतरसे छटपटी लगे तो विभावका रस झर जाता है, उतर जाता है। यद्यपि पीछे अमुक विभाव खड़ा रहता है, परन्तु उसका सब रस फीका पड़ जाता है और उसे अपने स्वभावकी महिमा-प्रेमके बिना कहीं नहीं रुचता—इतनी तैयारी हो तब ज्ञायककी दृष्टि होती है। ज्ञायककी दृष्टि कब हो?—स्वभावकी महिमा आये बिना तथा विभावका रस उतरे बिना ज्ञायककी दृष्टि नहीं होती। बाह्यमें दृष्टि जाती है उसका सब रस उतर जाये और स्वभावकी महिमा आये तो विभावका रस टूट जाय। स्वभावकी लगन लगे तो विभावका रस निरस हो, और विभावका रस निरस हो तो स्वभावकी दृष्टि प्रगट हो और विकल्प टूटें। २७३.

प्रश्न :—*प्रारम्भ तो विकल्पसे ही करना पड़ता है न?*

समाधान :—मैं शुद्ध हूँ, ज्ञायक हूँ, ऐसे विकल्प प्रारम्भमें हुआ करते हैं, परन्तु

विकल्पके पीछे निर्विकल्पतत्त्व है ऐसा उसका ध्येय होना चाहिये। (विकल्प तो बीचमें आते हैं।) तथापि विकल्पमात्रसे नहीं होता, 'मैं तो निर्विकल्पतत्त्व हूँ' ऐसा ध्येय होना चाहिये। 'ज्ञायक हूँ' ऐसे विकल्प आयें वह मैं नहीं हूँ, मैं तो निर्विकल्पता एवं आनन्दादि गुणोंसे भरपूर ज्ञायक हूँ वह ध्येय होना चाहिये। विकल्पमात्र करनेसे 'मैंने सब कर लिया' ऐसी दृष्टि नहीं होनी चाहिये; अभी तो गहराईमें पहुँचना बाकी ही है। २७४.

प्रश्न :—*क्या पूजा-पाठ करनेसे संसारका रस कम होता जाता है?*

समाधान :—ऐसा नहीं है। अंतरमें भगवान् जिनेन्द्रदेवकी महिमा आये, उन्होंने जो वीतरागता प्रगट की ऐसी वीतरागता मुझमें भी है—ऐसे वीतरागताकी महिमा आये और उसका रस लगे तो संसारका रस कम हो। वैसे तो पूजा-पाठ रूढिके अनुसार करे तो उससे रस कम नहीं होता। अपनेको वीतरागताकी महिमा आये तो रस कम हो। भगवान् निष्क्रियरूपसे स्वयंमें स्थिर हो गये हैं! अहो प्रभु! आपने जो प्रगट किया है वह मुझे भी प्रगट हो!—ऐसी भावनापूर्वक पूजा करनेसे संसारका रस कम होता है। मुझे कुछ नहीं चाहिये, बस आपके समीप रहकर आपकी पूजा-महिमा और गुणगान करता रहूँ—ऐसी भावनाके साथ 'मुझे आत्मा ही चाहिये' ऐसी रुचि हो तो सांसारिक रस कम होता है। पूजा-पाठसे रस कम नहीं होता, परन्तु भावना वीतरागताकी हो तो रस कम होता है। अशुभ परिणामोंसे बचनेके लिये पूजा-पाठ बीचमें आते हैं। स्वर्गके इन्द्र भी भगवान्‌की ऐसी पूजा और महिमा करते हैं कि देखनेवालोंको आश्चर्य लगे! तथापि वह सब भावोंपर आधारित है, क्रियापर नहीं। अपनी (अपने स्वरूपकी) 'भावना' करे तो संसारका रस कम हो। "जिन प्रतिमा जिन सारखी"—जिनेन्द्रभगवान्‌की प्रतिमा देखकर हे भगवान्! मैं आपको साक्षात् जिनेन्द्रदेव ही देखता हूँ, समवसरणमें जैसे भगवान् हैं वैसे आप हैं और तैसा ही मेरा आत्मा है! ऐसे कुछ और ही प्रकारकी भावना आये तो संसारका रस कम हो। २७५.

प्रश्न :—*स्वाध्याय अधिक करें या मंथन?*

समाधान :—जिसमें रस आये वह करना। चिंतनमें नहीं टिके तो स्वाध्याय करें और विशेष समझनेके लिये चिन्तवन करें, चाहे सो करें, समझपूर्वक शास्त्र पढ़े तो उसमें सब आ जाता है। अकेला चिन्तवन अधिक समय न चले तो शास्त्र साथ रखना। शास्त्र

साथमें रखनेसे चिन्तवन विशेष दृढ़ होता है। आत्मा सम्बन्धी कुछ भी करें जिसमें रस टिके, अपनी परिणति स्थिर रहे वह करना। अपनेको जिसमें रस आये वह करना। एकदम ध्यानका प्रयत्न करनेसे स्वानुभूति नहीं होती। प्रथम ज्ञान करनेपर सच्चा ध्यान होता है। पहले ज्ञायकता पहिचाननेमें आये और फिर प्रतिक्षण मैं भिन्न हूँ, भिन्न हूँ, इसप्रकार दृष्टि ज्ञायकपर जमे तब स्वानुभूति होती है। अंतर्दृष्टि जमे बिना किसके आधारसे स्वानुभूति प्रगट हो ? सर्व प्रथम दृष्टि ज्ञायकमें स्थापित करनी चाहिये। २७६.

प्रश्न :—*प्रथम यह बात श्रद्धामें बैठानी चाहिये ?*

समाधान :—सर्व प्रथम बुद्धिपूर्वक श्रद्धामें यह बैठाये कि 'यह मैं चैतन्य हूँ, मैं यह जाननेवाला ज्ञायक हूँ, मैं एक ज्ञाता तत्त्व हूँ। जगत्के इन समस्त तत्त्वोंमें मैं शाश्वत शुद्धात्मतत्त्व हूँ। मुझमें कोई कलंक नहीं, मैल नहीं ऐसा मैं शुद्धात्मा हूँ। अनन्तकाल बीता तो भी मैं स्फटिकरत्न जैसा निर्मल हूँ।' पीछे अपने तत्त्वको पहिचानकर उसमें दृष्टि जम जाय, तो निर्विकल्पता प्रगट हो। स्फटिकमें जिस प्रकार लाल-पीले रंग झलकते हैं वे सब ऊपर-ऊपर हैं, उसी प्रकार मुझमें जो कोई विभाव होते हैं वे मेरे मूलस्वभावमें नहीं हैं; मैं तो स्फटिक समान निर्मल हूँ।

पानीमें जो मलिनता हो वह निर्मली औषधिसे दूर होती है; उसी प्रकार ज्ञानरूपी सम्यक् औषधिसे रागादि मलिनता दूर हो जाती है। यह तो दृष्टान्त है, उसी प्रकार अपनेको पृथक् करनेका प्रयत्न करे, उस हेतु चिन्तवन करे, शास्त्र-स्वाध्याय करे। अनेक प्रकारके शुभभाव आते हैं, परन्तु स्वभावको जाननेका विशेष निमित्त स्वाध्याय एवं चिन्तवन है। अधिक समय तक चिन्तवन एवं शास्त्र-स्वाध्याय नहीं हो सकते इसलिये जिनेन्द्रदेवकी महिमा आती है और उसमें रुकता भी है, परन्तु उसके साथ सच्चा ज्ञान होना चाहिये। ज्ञानपूर्वक महिमा आनी चाहिये। २७७.

प्रश्न :—*जीवनके कर्तव्य सम्बन्धी कुछ कहनेकी कृपा करें।*

समाधान :—आत्मा आनन्दका सागर है, उसे ग्रहण करनेसे आनन्दका सागर प्रगट होता है। उसे ग्रहण करनेके लिये निरन्तर-प्रतिक्षण अभ्यास करे तो अंतरमेंसे आनन्दसागर प्रगटता है। वह कहीं दूर नहीं है, कहीं ढूँढ़ने जाना पड़े ऐसा नहीं है, अपने पास ही है। सबके ऊपरसे दृष्टिको वापस खींचकर अपनेमें दृष्टि करे तो वह प्रगट हो।

यह जो बाह्यदृष्टि है उसे वहाँसे उठाकर अर्थात् स्थूल पदार्थोंपरसे, शुभभावों परसे तथा क्षणिक भावोंपरसे दृष्टि उठा कर अंतरमें जो पूर्णानंदका सागर है जहाँ कि अनन्तगुण-रत्नसमूह भरे हैं, वहाँ उसे ले जाय तो वह आनन्दसागर प्रगट होता है। यही करनेका है। अपने पुरुषार्थकी कमीके कारण स्वयं अटकता है, इसलिये निरन्तर देव–शास्त्र–गुरुको हृदयमें रखकर सतत उसीका ही अभ्यास जीवनमें हो अन्य कुछ न हो ऐसी भावना रखनी। एक ज्ञायकका अभ्यास करना और देव–शास्त्र–गुरुको हृदयमें रखना वही जीवनका कर्तव्य है। २७८.

प्रश्न :—*कार्य होता क्यों नहीं?*

समाधान :—जितना कारण दे उतना कार्य हो। कारणकी कचाससे कार्यकी कचास है। पूरा कारण न दिया जाये तबतक कार्य नहीं आता। कारण न दिया जा सके तबतक उसकी भावना करनी, भेदज्ञानकी धाराका अभ्यास करते रहना, निर्विकल्प आत्माकी दृष्टि (रुचि) करनी। जबतक पूरा कारण नहीं दिया जाये तबतक कार्य नहीं आता—ऐसा सिद्धान्त है। कार्य न हो तो समझना कि कारण कमती है अतः कार्य नहीं आता। इसलिये कारणकी तीव्रता करनी, प्रतिक्षण उसका अभ्यास करते रहना वही करनेका है।

मुमुक्षु :—क्षण–क्षण तो अभ्यास नहीं होता।

बहिनश्री :–वह कहाँसे हो? विभावका अभ्यास सहज हो गया है; प्रतिक्षण विभावोंका स्मरण आता है, इसलिये यहाँ कारण कमती है तो कार्य कहाँसे आये? वैसे तो स्वयं ही है, कोई दूसरा नहीं है और बाहर कुछ लेने जाना नहीं है। स्वयं अंतरमें नहीं जाता, अपने ऊपर दृष्टि नहीं करता। मात्र विचार करे, भावना करे और फिर छूट जाता है। कारण पूरा दे तो कार्य जल्दी आये, कारण अल्प देता है इसलिये देर लगती। जितना विलम्ब हो वह कारणकी खामी है। २७९.

प्रश्न :—*अनुभव ज्ञानसे उद्धार है। तो क्या किसीको अनुभव हुआ हो और उसने शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया हो, तो भी चल सकता है?*

समाधान :—अनुभव ज्ञानमें शास्त्र आ जाते हैं। शास्त्रोंका जो रहस्य है वह अनुभूतिमें आ जाता है; तथापि बीचमें शास्त्राभ्यास किया हो तो वह हानिकारक नहीं है। उसे कदाचित् शास्त्रोंके विशेष शब्द न आते हों, तथापि उसमें शास्त्रोंका रहस्य आ

जाता है। शास्त्रमें कहते हैं कि द्रव्यदृष्टि कर, भेदज्ञान कर तथा अनुभूति कर तो जिसे अनुभूति हो गई है उसमें उसे (शास्त्रज्ञानका) रहस्य आ जाता है, क्योंकि भेदज्ञान द्वारा, द्रव्यदृष्टि द्वारा ही अनुभूति होती है। शास्त्रज्ञानका प्रयोजन भी उसमें आ जाता है। भगवान्‌की दिव्यध्वनिमें मुक्तिमार्ग आता है और अपनी अनुभूति हुई उसमें सब आ जाता है। ज्ञायकस्वभावको पहिचाननेसे अनुभूति होनेपर शास्त्रोंका रहस्य उसमें आ जाता है। युक्ति, आगम, अनुभव सब उसमें एकसाथ आ जाता है। शिवभूति मुनि कुछ नहीं जानते थे। गुरुने कहा 'तुषमाष भिन्न'—वह भी भूल गये। वहीं कोई स्त्री दाल और छिलके अलग कर रही थी, उसपरसे उन्होंने भेदज्ञानका आशय ग्रहण कर लिया और भीतर ज्ञायकमें उतर गये तो अंतर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। उन्होंने अर्थ ग्रहण कर लिया; गुरुने जो कहा था उसका रहस्य ग्रहण कर लिया; उसमें सब शास्त्र आ गये। २८०.

प्रश्न :—*ज्ञायक ज्ञानसे ग्रहण होता है, पकड़में आता है वह क्या बराबर है?*

समाधान :—स्वयं अपनेको नहीं जानता इसलिये असाधारण गुणसे गुणी पकड़में आता है ऐसा कहा जाता है; परन्तु गुणसे गुणीका ग्रहण होता है वह भी भेद है। गुणीको स्वयं सीधा ग्रहण करना चाहिये। जो अनादिसे अनजान है वह गुणी, गुणके भेदसे पकड़में आता है ऐसा कहा जाता है; परन्तु विशेष गुणको नहीं पकड़ना है, पकड़ना है तो गुणीको; द्रव्यको पकड़ना है उसमें बीचमें गुण-लक्षण आता है। २८१.

प्रश्न :—*सम्पूर्ण आत्मा एक अरूपी घन पदार्थ है—ऐसा क्या खयालमें आता है?*

समाधान :—आत्मा अरूपी होनेपर भी एक वस्तु है कि जिसमें वर्ण-गंध-रस-स्पर्श नहीं हैं। घन अर्थात् द्रव्यरूपसे पूर्ण घन है तथापि उसमें अनन्त गुण एवं अनन्त पर्यायें हैं। घन अर्थात् उसमें कोई गुण या पर्यायें नहीं हैं ऐसा वह नहीं है। घन अर्थात् वह अनन्त गुणोंसे भरा हुआ अभेद है, उसमें किसी प्रकारके भेद नहीं हैं। यह सब तो स्वानुभूति होनेपर उसे वेदनमें आते हैं, उसका घनरूप अभेदभाव तथा गुण-पर्यायके भेद आदि सब उसके ज्ञानमें आ जाते हैं। द्रव्यपर दृष्टि होनेपर अभेद और भेद सब जाननेमें आ जाते हैं। पहले लक्षणसे पहिचान करे, पीछे लक्षणसे श्रद्धा करे और स्वानुभूति होनेपर सब वेदनमें आ जाता है। निर्विकल्पदशा होनेपर यह चैतन्य पदार्थ कैसा है वह पूरा वेदनमें आ जाता है। २८२.

प्रश्न :—*विशेषका खयाल तो आता है परन्तु सामान्यका नहीं आता। विशेषके आधारसे लगता है कि सामान्य ऐसा होना चाहिये। तो क्या यह ठीक है?*

समाधान :—सामान्यका खयाल आता है और विशेषका भी आता है। सामान्य-विशेष स्वयं वस्तु ही तो है। इसलिये दोनोंका खयाल आता है। विशेष अनुभवमें आता है, परन्तु उससे सामान्यका ज्ञान नहीं होता ऐसा नहीं है। सामान्य-विशेष दोनों खयालमें आते हैं।

विशेषपरसे सामान्य खयालमें आये इसलिये सामान्य खयालमें ही नहीं आता ऐसा नहीं है। स्वयं नहीं जानता इसलिये प्रथम विशेषके आधारसे गुण-गुणीके भेद करके समझाया जाता है, परन्तु जब विकल्प छूट जाते हैं और स्वयं अपनेको जानता है उसमें सामान्य-विशेष दोनों खयालमें आ जाते हैं। उसमें कहीं ऐसा नहीं रहता कि विशेष पहले खयालमें आये और सामान्य बादमें; उलटा सामान्य उसे मुख्य हो जाता है। सामान्यपर दृष्टि जानेसे वह मुख्य हो जाता है और ज्ञान उपयोगात्मक होकर स्वयं अपने सामान्य तथा विशेष—दोनोंको जानता है। २८३.

प्रश्न :—*वर्ण गुण दिखाई नहीं देता परन्तु उसकी लाल-पीली पर्यायसे उसका खयाल आता है। तो क्या पर्याय अथवा गुणभेदके द्वारा द्रव्यस्वभावका खयाल आता होगा?*

समाधान :—जो नहीं जानता उसे पर्यायसे सामान्यका ज्ञान कराया जाता है, परन्तु उससे सामान्य सीधा खयालमें न आये ऐसा नहीं है। सामान्य सामान्यसे खयालमें आता है। जैसे वर्णसे पुद्गल ज्ञात होता है, वैसे ही विशेषके ज्ञानसे आत्माका खयाल करानेपर वह सीधा जाननेमें न आये ऐसा नहीं है। प्रथम उसे अनुमान ज्ञान होता है इसलिये विशेषसे सामान्यका खयाल कराते हैं; परन्तु जहाँ सामान्यपर दृष्टि गई वहाँ सामान्य सामान्यसे ज्ञात होता है, स्वयं अपने अस्तित्वसे ज्ञात होता है। सामान्यस्वरूप स्वयं अपनेमें अस्तित्वरूप है, नास्तिरूप नहीं है; इसलिये स्वयं अपने अस्तित्वसे अभेदरूप ज्ञात होता है। स्वयं चैतन्य है, इसलिये स्वयं अपने सामान्यस्वरूपको जानता है। विशेषसे सामान्यको जाननेपर लक्षण-लक्ष्यका भेद पड़ता है; फिर भी ज्ञानी सामान्यस्वरूपको स्वयं अपनेसे जानता है कि यह मैं हूँ, यह मैं चैतन्य हूँ—ऐसे स्वयं गुणके भेद किये बिना, अभेद स्वरूपसे श्रद्धा करता है और ज्ञानमें जानता है। जैसे प्रत्यक्ष केवलज्ञान हो वह सीधा सामान्यको जानता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि भी सामान्यको स्वयं अपने अनुभवमें जानता है; मैं अस्ति-स्वरूप हूँ ऐसा जानता है। सामान्य ज्ञात न हो ऐसा नहीं है, अपने अस्तित्वसे अपनेको जाननेमें आता है। २८४.

प्रश्न :—*विचार और ध्यानमें क्या अन्तर है?*

समाधान :—आत्माके विचार हैं वह ज्ञानकी पर्याय है। द्रव्य कैसा है? गुण कैसे हैं?—ऐसे विचारमें अनेक भेद पड़ते हैं। और ध्यान अर्थात् एकाग्रता, आत्मामें एकाग्र होना। एक अग्र आत्माको लक्ष्यमें लेकर—मूल वस्तुको ग्रहण करके—उसमें एकाग्रता करनी उसका नाम ध्यान है।

विचारमें तो अनेक प्रकारके भेद पड़ते हैं—गुणभेद, पर्यायभेद आदि सबके विचार आते हैं; परन्तु ध्यानमें तो आत्माको लक्ष्यमें लेकर, परसे तथा विभावसे जुदा एवं क्षणिक पर्याय जितना भी मैं नहीं—ऐसे भेदज्ञान करके, बस एक चैतन्यमें लीनता-एकाग्रता करता है। भेदज्ञान करके उसमें एकाग्रता करनी वह ध्यानका लक्षण है। २८५.

प्रश्न :—*आत्मामें राग होता है, तथापि राग नहीं होता ऐसा क्यों कहा जाता है?*

समाधान :—आत्मा तो शाश्वत अपने स्वभावरूप है और जो राग है वह तो विभाव है, इसलिये उसमें राग कहाँसे हो? द्रव्यमें राग नहीं है। द्रव्य अपेक्षासे 'राग नहीं है' वह कथनमात्र नहीं है, किन्तु राग वास्तवमें मेरे स्वभावमें नहीं है। मेरे मूल स्वरूपमें राग नहीं है। मैं तो ज्ञायकस्वरूपसे जैसा हूँ वैसा अनादि-अनन्त हूँ; परन्तु पर्यायमें राग है उससे दूर कैसे होऊँ? इसलिये पुरुषार्थ करना रहता है।—ऐसे विचार करे तो इन दोनों अपेक्षाओंमें विरोध नहीं है। द्रव्य अपेक्षासे मुझमें राग नहीं है; द्रव्यस्वरूप देखुँ तो राग मुझमें नहीं है; मैं तो ज्ञायक-शुद्धात्मा हूँ। यह जो सब विभावभाव हैं वे ऊपर-ऊपर रहे हुए हैं, अंतरके मूल(स्वरूप)में नहीं हैं। रागकी परिणति है वह मेरे मूलस्वरूपमें नहीं है तो वह हटे कैसे?—इसप्रकार साधकको उसे टालनेका तथा अपने शुद्धात्मस्वरूपको प्रगट करनेका प्रयत्न रहता है। साधककी रुचिमें आया है कि मैं तो ज्ञायक हूँ, मुझमें यह राग है ही नहीं; तो फिर यह सब आया कहाँसे?—तो कहते हैं कि मेरी अपनी परिणति, पुरुषार्थकी मन्दतासे वर्तमान उस रूप परिणमित हो रही है इसलिये वह आया है। २८६.

प्रश्न :—*राग मुझमें होता है—ऐसा जानते हुए भी ज्ञानी किस प्रयोजनसे विचारता है कि राग मुझमें नहीं है?*

समाधान :—ज्ञानी प्रयोजनपूर्वक विचारते हैं कि राग मेरे स्वभावमें नहीं है। उन्हें रुचि-प्रतीतिमें तो ऐसे है कि राग मेरे स्वभावमें नहीं है, तथापि यह राग है तो अवश्य!

अब वह दूर कैसे हो?—ऐसे विचारकर वे उसे टालनेका प्रयत्न करते हैं। मैं तो अनादि-अनन्त ज्ञायक ही हूँ, राग मेरे स्वभावमें नहीं है इसलिये मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। इसप्रकार अंतरमें वे दोनों अपेक्षायें समझते हैं इसलिये उन्हें दोनोंमें विरोधाभास नहीं लगता। मूलस्वरूपमें राग नहीं है इसलिये वह दूर हो जाता है। यदि मूलमें राग हो तो वह टले कैसे? यदि मूलमें राग हो तो वह आत्माका स्वभाव हो जाय और तब वह कभी दूर न हो। एवम् राग दुःखरूप है और अपना स्वभाव दुःखरूप नहीं होता; इसलिये यह परके लक्ष्यसे उत्पन्न हुई उपाधिरूप परिणति है और वह चली जानेपर मेरा स्वभाव है वह प्रगट हो जाता है। इसप्रकार उनकी रुचि अपने स्वभावकी ओर रहती है। मैं ज्ञायक हूँ और यह सब रागादि हैं वे कैसे दूर हो—ऐसा उन्हें रुचि और भावनामें रहता है। २८७.

प्रश्न :—*श्रद्धा दृढ़ होनेपर भी वर्तन क्यों नहीं होता? चारित्रमें विलम्ब क्यों होता है?*

समाधान :—ज्ञानीके प्रयत्नकी कचास है; यद्यपि उसको अमुक अंशमें तो चारित्र है। जहाँ श्रद्धा यथार्थ होती है वहाँ ज्ञायककी परिणति अमुक प्रकारसे तो प्रगट हो जाती है और इसलिये अमुक प्रकारसे भिन्न हो जाती है। तथापि चारित्र बाकी है, वह उसके प्रयत्नकी कमी है तथापि श्रद्धामें इतना बल है कि वह प्रयत्न करके अवश्य सफल होनेवाला ही है। ज्ञानीका प्रयत्न चालू रहता है, वह कभी नहीं छूटता। जो विभाव परिणति प्रतिक्षण उत्पन्न होती है उसके सामने उसका इतना जोरदार प्रयत्न बना रहता है कि विभावमें एकत्व नहीं होता। श्रद्धाके बलसे तथा ज्ञायककी परिणतिसे वह प्रतिक्षण परिणतिको अपनी ओर खींचता हुआ खड़ा रहता है। उसके प्रयत्नमें जितना बल है उतना बल सहजरूपसे रहता है। उसे अमुक (चारित्रके) प्रयत्नकी कचासके कारण देर लगती है, तो भी ज्ञायककी धारा प्रतिक्षण उपस्थित ही रहती है; इसलिये परके साथ एकत्व नहीं होता। श्रद्धाके बलसे इतना प्रयत्न उसे प्रगट है अर्थात् उसका प्रयत्न इतना जोरदार है कि विभावके या परके साथ एकत्व होता ही नहीं। विभावके साथ अनादिका जो एकत्व था वह एकत्व अब नहीं होता, प्रत्येक कार्यमें पृथक् का पृथक् ही रहता है। स्वानुभूतिकी दशा प्रगट हुई तबसे किसी भी क्षण विभावके साथ एकत्व नहीं होता। उसका ऐसा सहज प्रयत्न चलता है कि परके किसी कार्यमें या शुभाशुभके किसी विकल्पमें एकत्व नहीं होता। ऊँचेसे ऊँचा शुभ विकल्प हो तो भी एकत्व नहीं होता; इससे विशेष प्रयत्न नहीं होनेके कारण उसे चारित्रदशामें विलम्ब होता है। २८८.

प्रश्न :—*मार्गकी शुरुआत ही कठिन है या सारा मार्ग ही ऐसा पुरुषार्थ अपेक्षित है?*

समाधान :—श्रीमद्जीने कहा है कि—प्रथम भूमिका विकट होती है। अनादिसे एकत्वबुद्धि गाढ हो रही है; उसमेंसे पार होना उसे विकट लगता है। पीछे तो उसे मार्ग सहज और सुगम है। अपने सहज स्वभावको जिसने पहिचाना और स्वभाव प्रगट हुआ उसे फिर मार्ग सहज और सुगम है। प्रथम भूमिका जितनी कठिन होती है वैसी प्रत्येक भूमिका कठिन नहीं होती। पुरुषार्थकी धारा तो सबमें चालू ही रखनी पड़ती है, परन्तु प्रथम भूमिका विकट होती है। २८९.

प्रश्न :—*क्या सम्यग्दर्शनको टिकाये रखना विकट है?*

समाधान :—सम्यग्दर्शन प्राप्त करना विकट है और टिकाये रखनेमें भी पुरुषार्थ चाहिये। प्राप्तिके पश्चात् उसे टिकाये रखनेकी अपेक्षा उसे प्राप्त करना अधिक विकट है। समकित पानेके बाद उसे टिकाये रखना सो विकट है; परन्तु जिसका पुरुषार्थ चलता हो उसे विकट नहीं है। जिसका पुरुषार्थ छूट जाता हो उसे टिकाना विकट है। जो अबाधित-अप्रतिहत धारासे चला हो, चारों ओरसे गतिमान् हो तो उसे टिकाना विकट नहीं है, परन्तु जो सब तरफसे गतिशील न हो उसके लिये विकट है। तथापि प्रथम भूमिका विशेष विकट है। अनंत जीवोंने भेदज्ञान प्रगट किया, चारित्रदशा प्रगट की और मोक्ष गये, क्योंकि अपना स्वभाव है। अपना स्वभाव होनेसे, विकट होनेपर भी, नहीं बन सके ऐसा नहीं है। स्वयं पुरुषार्थ करे तो हो सके वैसा है। २९०.

प्रश्न :—*क्या सम्यग्दर्शन होनेसे पहले स्वभावकी महिमा आती ही है?*

समाधान :—स्वभावकी यथार्थ महिमा तो विकल्पोंके टूटनेपर आती है, परन्तु उससे पूर्व भी विचार करके निर्णय करे तो उसमें भी महिमा तो आती है। यथार्थ महिमा तो स्वरूपमें लीनता हो, स्वानुभूतिकी दशा प्रगटे तब आती है; तथापि स्वयं विचारकर निर्णय करता है तब भी महिमा आती है। २९१.

प्रश्न :—*क्या उसे प्रयत्न चालू रखना चाहिये?*

समाधान :—प्रयत्न तो करते ही रहना चाहिये। जो चारों ओरसे नहीं चला हो तथा किसी कारणवश चला हो उसे पुरुषार्थ मन्द पड़नेका कारण बनता है। जो हर तरफसे

गतिमान् हो उसे पुरुषार्थकी धारा चलती है; तथापि उसे पुरुषार्थ तो अन्त तक अक्षुण्ण–अप्रतिहतधारासे करना चाहिये। २९२.

प्रश्न :—*क्या आत्मप्राप्तिके लिये तीव्र पुरुषार्थ जरूरी है?*

समाधान :—हाँ, तीव्र पुरुषार्थ जरूरी है। जिसे होता है उसे अन्तर्मुहूर्तमें होता है और न हो तो उसके लिये तीव्र पुरुषार्थकी जरूरत है। पुरुषार्थ करे तो होता ही है, न हो ऐसा नहीं है, परन्तु स्वयं नहीं करता है; अनन्त जीव पुरुषार्थ करके मोक्ष गये हैं। पर एवं विभावके साथ एकत्वबुद्धि दिन–रात बनी रहती है; उससे पृथक् होकर अमुक ढंगसे ज्ञायकका अभ्यास करता है परन्तु उसका अभ्यास अंतरसे सतत करे तो होता है। सतत अभ्यास कब होता है? कि अंतरसे लगन लगे तो होता है। २९३.

प्रश्न :—*क्या हठ या उतावलसे काम नहीं चलता?*

समाधान :—उतावल एवं हठ काम नहीं आते। अंतरसे स्वयंको सहज लगना चाहिये तब होता है। काम नहीं होता इसलिये उतावल या हठ करे, आकुलता या उलझनमें पड़ जाये तो कुछ नहीं होता। उसे भावना हो और भावना होनेपर भी मार्ग दिखाई नहीं देता इसलिये उलझन भी हो; फिर भी ऐसी उलझन नहीं होनी चाहिये कि स्वयं हताश हो जाय। २९४.

प्रश्न :—*जब आत्मा हाथ न आये तब कौनसा प्रेरक बल काम आता है? वह क्या काम करता है?*

समाधान :—जबतक आत्मा हाथ न आये तबतक बारम्बार प्रयास करते रहना चाहिये। 'मैं तो जुदा हूँ' ऐसे विचार करते रहना। प्रेरणाके लिये करनेका यह एक ही है, दूसरा कुछ नहीं। उसकी महिमा न आये तो महिमा लानेका तथा स्वभावको पहिचाननेका प्रयत्न करना। जिनेन्द्रदेवने क्या कहा है? गुरुने क्या कहा है?—उस उपदेशको याद करना। गुरुदेवने पुरुषार्थ प्रगट हो ऐसी बहुत प्रेरणा दी है। तदुपरान्त शास्त्रस्वाध्याय और विचार करना। परन्तु करना तो अंतरमें है। बाह्यमें अल्प स्वाध्याय तथा विचार–पठन करके ऐसा माने कि मैंने बहुत किया है तो कुछ नहीं होगा, क्योंकि करनेका तो अंतरमें है। गुरुदेवका उपदेश तो प्रबल पुरुषार्थ जागृत हो ऐसा प्रेरणादायक था। तू जोर कर....! इसप्रकार जोरदार सिंहगर्जना करते थे। निमित्त तो बलवान् था, परन्तु स्वयंने ही नहीं किया। अपने आलस्यसे

आप चैतन्यको नहीं देखता। ''अपने नयनोंके आलससे रे, मैंने न देखा नयनोंसे हरि।'' अपने आलस्यके कारण स्वयं नहीं देखता, किन्तु है तो स्वयं ही। २९५.

प्रश्न :—*सब मुमुक्षुओंको यह करनेकी भावना है, इसीलिये तो दौड़ करके बारंबार आते हैं न ?*

समाधान :—भावना है, पुरुषार्थ नहीं। भावना करते रहते हैं किन्तु अंतरमेंसे पुरुषार्थ करके मार्ग प्रगट नहीं करते। मात्र भावना करते रहते हैं। २९६.

प्रश्न :—*भावना करनी सरल पड़ती है, पुरुषार्थ करना कठिन पड़ता है?*

समाधान :—पुरुषार्थ कठिन लगता है, जैसा वस्तुका स्वरूप है तदनुसार कार्य करना चाहिये। फिर भी आता है न ? कि 'मुझे बंधन है....बंधन है'....ऐसे विचार किया करे तो बंधन नहीं टूटता; बंधनको तोड़े तो बंधन टूटता है। २९७.

प्रश्न :—*बंधन तोड़नेके लिये तो सब आपके पास आते हैं।*

समाधान :—बंधन तोड़ना वह अपने हाथकी बात है, दूसरा कोई तोड़ नहीं देता। शास्त्रमें आता है कि—''कर्मसे बँधे हुएको बंध सम्बन्धी विचारकी श्रृंखला मोक्षका कारण नहीं है।'' मैं भिन्न हूँ, भिन्न हूँ—ऐसे भावना करे, विचार-श्रृंखला चलती रहे उससे बंधन नहीं टूटता। भले-ही अन्य भावनाओंकी अपेक्षा 'मैं भिन्न हूँ, भिन्न हूँ' ऐसे विचार एवं भावना करता रहे सो ठीक है; परन्तु भिन्न होनेका प्रयत्न करे तो भिन्न हो। जैसे बेड़ीका बंधन है,....बंधन है....और उसे तोड़ना है, ऐसे विचार करता रहे तो बंधन नहीं टूटेगा; परन्तु तोड़नेका कार्य करे तभी टूटता है। उसी प्रकार मुमुक्षुता होनेसे भावना करता रहे कि 'मैं भिन्न हूँ, यह मेरा स्वरूप नहीं है, स्वरूप कब प्रगट हो?'—ऐसे विचार करता रहे, परन्तु मात्र विचारसे कुछ नहीं होता। विचार तो उसे एक बाह्य साधनके रूपमें होता है; परन्तु तोड़ना तो अपने हाथकी बात है और तोड़े बिना बंधन नहीं टूटता। २९८.

प्रश्न :—*आता है न? कि ज्ञानीका एक शब्द कानोंमें पड़नेसे अंतरपरिवर्तन हो जाता है?*

समाधान :—अपने पुरुषार्थसे परिवर्तन होता है, बिना पुरुषार्थके नहीं; इसलिये सर्वत्र अपना उपादान है। गुरुदेव कहते हैं न? कि कईबार भगवान् मिले, परन्तु अपनी

खामीके कारण पलटा नहीं खाया। भगवान्‌का निमित्त तो बलवान् था, गुरुदेवका निमित्त भी जोरदार था; परंतु स्वयं पलटा नहीं खाता। २९९.

प्रश्न :—*पलटा खानेकी भावना तो है, किन्तु क्या करें पुरुषार्थ नहीं उपड़ता?*

समाधान :—जो बेड़ीसे अकुलाया हो वह बेड़ीको तोड़नेका मार्ग ढूँढ़े बिना रहता ही नहीं। स्वयं अकुलाया है कि यह बेड़ी कैसे टूटे? तब किसी भी प्रकार उसका मार्ग निकालकर तथा साधन एकत्रित करके उसे तोड़े बिना नहीं रहता। वैसे ही जो सचमुच अकुलाया हुआ हो, वह छूटे बिना रहता ही नहीं। अंतरसे सच्ची लगी नहीं, तीव्र छटपटी नहीं है। सचमुच लगे तो स्वयं ही तोड़नेका प्रयत्न करता है। ३००.

प्रश्न :—*ऐसा लगता है कि पूज्य गुरुदेवका तथा आपका सत्संग और सुयोग प्राप्त हुआ है तो बारम्बार आपका परिचय करें, आपके सान्निध्यमें श्रवण-पठनादि करें, परन्तु यह पलटा खानेकी बात कठिन पड़ती है।*

समाधान :—अंतरमें उसे धीर होकर, सूक्ष्म होकर गहराईमें जाना पड़ता है सो नहीं जाता और अनादिसे वही का वही किया करता है इसलिये कठिन पड़ती है। स्वयं अंतरमें विचार करके देखे कि किस कारणसे रुका हुआ है, वह तो स्वयं ही पकड़ सकता है। स्वयं रुका हुआ है, दूसरा कोई नहीं रोकता। ३०१.

प्रश्न :—*पलटना इतना अधिक कठिन है कि पलटा होता ही नहीं।*

समाधान :—अनादिका दूसरा अभ्यास है, इसलिये कठिन लगता है; किन्तु कठिन नहीं, सहज है। अपने आलस्यके कारण जगता ही नहीं है। वैसे तो जागना अपने हाथमें है। गुरुदेवकी वाणीने सबको जागृत कर दिया है और सबको आत्माके प्रति रुचि उत्पन्न हुई है, परन्तु अब पुरुषार्थ करना अपने हाथकी बात है। संसार निःसार है, आत्मा ही एक सारभूत है। कितने ही जीवोंको रुचि हुई है, परन्तु अब आगे बढ़ना तो अपने हाथकी बात है। ३०२.

प्रश्न :—*किस प्रकार चला हुआ जीव आगे बढ़ सकता है?*

समाधान :—अन्य किसी हेतुसे—किसी बड़प्पन आदिके प्रयोजनसे—नहीं चला हो, किन्तु सब यथार्थ समझकर अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्यायका यथार्थ स्वरूप समझकर एक आत्माके प्रयोजनसे चला हो वह आगे बढ़ सकता है। प्रत्येक पहलू-चारों ओरसे समझपूर्वक

द्रव्य–गुण–पर्यायका स्वरूप समझकर, तथा मुझे तो एक आत्महित ही करना है, यह सब दुःखरूप है, आत्मा ही सुखरूप है—इसप्रकार अनेक रीतिसे यथार्थ रूपसे चला हो तो वह आगे जाता है। किसी प्रकारकी आशा–कीर्तिकी पिपासाके प्रयोजनके बगैर और समझपूर्वक चला हो वह आगे जाता है। ३०३.

प्रश्न :—*आश्रयभूत तत्त्वका अवलम्बन लेनेसे सम्यग्दर्शनसे लेकर केवलज्ञान तककी पर्यायें प्रगट होती हैं। तो यह अवलम्बन साधकदशामें ही होता है या सिद्धदशामें भी बना रहता है?—यह समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—साधकदशामें ज्ञायकका अवलम्बन रहता है वही अवलम्बन सिद्धदशामें परिणतिरूप रह जाता है। उसमें उन्हें प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं रहती। साधकदशामें वह प्रयत्नरूप है। आत्माका अवलम्बन सम्यग्दर्शनसे लेकर केवलज्ञान तक लिया उसमें आत्मा ही उन्हें मुख्यरूपसे दृष्टिमें रहा है, उसके आश्रयमें रहे हैं। सिद्धदशा तक उन्होंने बलवानूरूपसे आत्माको ग्रहण किया, फिर उन्हें प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं है। उस आलम्बनमें मुख्यरूपसे द्रव्यपर जो तीक्ष्ण दृष्टि थी वह ज्यों की त्यों सहज परिणतिरूप हो जाती है, फिर वहाँ आलम्बन लेनेकी जरूरत नहीं है। जो आश्रय लिया वह आश्रयरूपसे स्वयं परिणमित हो जाता है।

सम्यग्दर्शन या साधकदशामें आत्मा ही उन्हें आश्रयभूत है। उन्हें आत्माके आश्रयसे ही संवर–निर्जरा होती है, दर्शन–ज्ञान–चारित्र सब आत्माके आश्रयसे होते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शनके आश्रयमें आत्मा है, सम्यग्ज्ञानके आश्रयमें आत्मा है और चारित्रके आश्रयमें भी आत्मा ही है; सबमें आत्मा है। यद्यपि बाह्य भूमिकानुसार अणुव्रतके और पंचमहाव्रतके शुभभाव हों, परन्तु अंतरमें जो यथार्थ चारित्र प्रगट होता है वह आत्माके आश्रयसे ही प्रगट होता है। चारित्रमें, संवरमें, प्रत्याख्यानादिमें आत्माका आश्रय है। वास्तवमें अंतरमें सब आत्माके आश्रयसे ही होता है। आत्माका जो आलम्बन लिया वह अन्त तक रहता है। श्रेणि चढ़कर केवलज्ञान और कृतकृत्यदशा हो जाय फिर कुछ करना शेष नहीं रहता। वह अवलम्बन सहज परिणतिरूपसे—आत्मामें आत्मारूपसे—परिणमित हो जाता है। जैसा स्वरूप है वैसा प्रगटरूपसे सिद्धदशामें परिणमित हो जाता है। उसके पश्चात् आलम्बनका प्रयत्न करना नहीं रहता; आलम्बन सहजरूपसे परिणमित हो जाता है। ३०४.

प्रश्न :—*साधक आत्माओंको तो विश्वास आ गया है कि ज्ञायकके आश्रयसे ही सम्यग्दर्शन होता है; परन्तु जो साधकदशाको प्राप्त नहीं हुए हैं उन जीवोंको उसे प्राप्त करने हेतु क्या करना?*

समाधान :—जो साधकदशाको प्राप्त नहीं हुए उन्हें उसका अभ्यास करना। आत्माका आश्रय लेंगे तभी सम्यग्दर्शन हो, ऐसा जाने और आश्रय करे तब स्वानुभूति हो। वस्तुस्वरूप उसके ज्ञानमें आये तो निर्णय करके उस प्रकारका प्रयत्न करे। आत्माके आश्रयसे सम्यग्दर्शन होता है, अन्य किसी प्रकारसे सम्यग्दर्शन नहीं होता; इसलिये आत्माका आश्रय कैसे लिया जाय तदर्थ प्रयत्न करे। उस प्रकारका वैराग्य लाये, महिमा लाये, तत्त्वका विचार करे, उसकी जिज्ञासा करे—यह (प्राथमिक) भूमिकाके लिये है। जिनको प्रगट हो गया है उनको कैसे प्रगट हुआ? उनको कैसी स्वानुभूति हुई?—वह जानकर उसकी महिमा लाये और उस मार्गपर जानेका प्रयत्न करे। जिज्ञासुका कर्तव्य है कि वह विभावसे पृथक् हो, वैराग्य प्रगट करे, तत्त्वके विचार करे, तत्त्वका निर्णय करे, द्रव्य-गुण-पर्यायके विचार करे और आत्माका आलम्बन ले। आलम्बनमें द्रव्य है और उसके साथ पर्यायकी परिणति प्रगट होती है। पर्यायका वेदन होता है और द्रव्यका आश्रय होता है।—ऐसे स्वयं विचार करके, निर्णय करे और पश्चात् तद्रूप पुरुषार्थ करे। ३०५.

प्रश्न :—*साधक और जिज्ञासु जीव:—दोनोंके लिये एक ही मार्ग है?*

समाधान :—हाँ, दोनोंके लिये एक ही मार्ग है। जिज्ञासुको भी ध्येय एक ही रखना है। आत्मार्थीका ध्येय तो एक ही होना चाहिये कि सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो? सम्यग्दृष्टिको आत्माका आश्रय होता है वह मुझे कैसे प्रगट हो? ऐसी भावना-जिज्ञासा करना। सबको चलना तो एक ही मार्गपर है। जिज्ञासुको भी वही करना है कि भवका अभाव कैसे हो, सम्यग्दर्शन कैसे हो? वह जबतक न हो तबतक अशुभभावसे बचनेके लिये शुभभावमें देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा लाये, शास्त्राभ्यास करे, परन्तु ध्येय एक ही रखे कि सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो? आत्माका आश्रय कैसे प्रगट हो? भवका अभाव किस प्रकार हो?—ध्येय एक ही होना चाहिये। शुभभावसे पुण्य बँधता है, परन्तु ऐसा पुण्यका हेतु उसे नहीं होता। भवका अभाव कैसे हो? आत्माका आश्रय कैसे प्रगटे? शुद्धात्मा कैसे प्रगट हो?—ऐसा ही जिज्ञासुका हेतु होना चाहिये। ३०६.

प्रश्न :—*राग और ज्ञान भिन्न हैं—इतना जान लेना ही पर्याप्त होगा? या द्रव्य और पर्यायका भेदज्ञान भी करना पड़ेगा?*

समाधान :—राग और ज्ञान भिन्न हैं; क्योंकि ज्ञायकभाव अपना स्वभाव है और राग अपना स्वभाव नहीं है, विभाव है; जब कि पर्याय है वह किसी अपेक्षासे अपनी है। वह पर्याय कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है, उसका स्वरूप जैसा है वैसा जानना चाहिये। द्रव्य–गुण–पर्यायको जानना अवश्य, परन्तु पर्यायकी कोटिको पर्यायरूपसे जानना और विभावसे जिस प्रकार भिन्नता है उस प्रकारसे भिन्नता जानना। विभावको सर्वथा भिन्न जानना कि वह मेरा स्वभाव नहीं है, तथा पर्यायका जैसा कथंचित् भिन्न और अभिन्न स्वरूप है वैसा जानना। अपने प्रयत्नमें जैसा विभाव और स्वभावका भाग करता है वैसा भाग सर्वथा पर्यायके साथ नहीं करता। अपने ज्ञानमें वह पर्यायको जानता है; द्रव्यको मुख्य करता है और पर्यायको गौण करता है; परन्तु पर्याय सर्वथा भिन्न है ऐसा भेदज्ञान उसमें नहीं आता। वह पर्यायको गौण करता है और द्रव्यको मुख्य करता है; जैसा विभाव एवं स्वभावके बीच भेद पड़ता है वैसा भेद पर्याय एवं स्वभावके बीच नहीं पड़ता, क्योंकि पर्याय कथंचित् अभिन्न है। जो जैसा हो वैसा जानना पड़ता है। ३०७.

प्रश्न :—*चौथे गुणस्थानवाला निर्विकल्पदशामें हो और पाँचवें गुणस्थानवाला सविकल्पदशामें हो, तो आनन्दका विशेष वेदन किसे होता है?*

समाधान :—निर्विकल्पदशामें आनन्दका वेदन अलग ही होता है, उसकी तुलना सविकल्पके साथ नहीं की जा सकती। तुलना तो सविकल्पके साथ सविकल्पकी की जाती है; निर्विकल्प–सविकल्पकी तुलना ही नहीं होती। चौथे गुणस्थानकी सविकल्पदशाकी अपेक्षा पाँचवें गुणस्थानकी सविकल्पदशामें शुद्धि–निर्मलता–शान्ति–समाधि विशेष होती है। सविकल्पके साथ सविकल्पकी और निर्विकल्पके साथ निर्विकल्पकी तुलना की जाती है। यदि निर्विकल्प सविकल्प जैसा हो गया तो निर्विकल्प कोई अलग रहा ही नहीं; निर्विकल्प स्वानुभूतिका कोई अन्य प्रकार ही नहीं रहा; या पाँचवें गुणस्थानका सविकल्प और चौथे गुणस्थानका निर्विकल्प दोनों एक जैसे हैं, ऐसा नहीं होता।—निर्विकल्पदशा कोई अलग रही ही नहीं। ज्ञानीको सविकल्पमें रागकी आकुलताका वेदन तथा साथ ही शान्तिका वेदन वर्तता है; और निर्विकल्पदशामें मात्र आनन्दका वेदन वर्तता है, इसप्रकार तफावत है। जिसमें आकुलता बिलकुल अबुद्धिपूर्वक है उसका स्वयंको खयाल भी नहीं आता; (निर्विकल्पदशामें)

एकमात्र अपने आनंदका वेदन रहता है, अकेली निराकुलता, अकेले आनन्दका वेदन होता है। ऊपरकी भूमिकावालेको सविकल्पमें भले ही शान्ति विशेष हो, परन्तु आकुलता एवं निराकुलता दोनों मिश्रित हैं। वह मिश्रित वेदन और मात्र निर्विकल्पवेदन, उनमें अन्तर है।

मुमुक्षु :—दोनोंकी जाति ही जुदी हो जाती है।

बहिनश्री :—सविकल्पदशा रागमिश्रित है। निर्विकल्पदशामें मात्र आनन्द है।—ऐसा अन्तर है। विभाव और स्वभावके बीच जैसा भेद है वैसा भेद नहीं है। ज्ञानी सविकल्पदशामेंसे निर्विकल्पदशामें तो कहाँसे कहाँ चला गया! अलग देशमें चला गया, आत्मामें डूब गया, स्वानुभूतिमें अंतर्लीन हो गया, यह दशा और सविकल्पदशा जो कि आकुलता सहित है; उनमें अन्तर है।—दोनोंके बीच तुलना हो नहीं सकती। चतुर्थ गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टिकी भूमिका जघन्य है और दशा ऊँची हो गई है ऐसा भी नहीं है; तथापि उसके वेदनमें उसी क्षण अन्तर है।

मुमुक्षु :—सविकल्पदशामें परिणतिके साथ आकुलता रहती है?

बहिनश्री :—आकुलताके साथ परिणतिमें शान्ति भी है। उपयोग बाहर जाता है उसमें आकुलता साथ ही रहती है। प्रशस्त या अप्रशस्त जो भी भाव हो परन्तु उसके साथ आकुलता है; रागका विकल्प है। अकेली निर्विकल्प-विकल्प रहित निवृत्तिमय परिणति, अकेली शान्तिमय परिणति, जहाँ अन्य कोई विकल्प नहीं उठता, अरे! जहाँ सूक्ष्म अबुद्धिपूर्वकका विकल्प भी एकदम गौण है; मानो है या नहीं है—ऐसी दशा! उस दशाके साथ सविकल्पताकी तुलना नहीं की जा सकती। वर्तमान भूमिका भले चाहे जो हो। ३०८.

प्रश्न :—*श्रद्धाका बल मन्द क्यों हो जाता होगा?*

समाधान :—उस सबका कारण आप ही है, अन्य कोई कारण नहीं। "कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई"—अपनी ही भूल है, अन्य कोई कारण नहीं है। आप ही प्रमादके कारण कहीं न कहीं रुक जाता है। अपना प्रमाद है इसलिये नहीं हो सकता, पुरुषार्थ नहीं चलता और इसीसे कहीं रुक जाता है। किंतु जब अपनेको लगे कि 'करने जैसा तो यही है'—ऐसा अंतरसे संवेग आये तो स्वयं पलट जाता है। परंतु मात्र आकुलता या अति खेद करनेसे भी नहीं होता। अतिशय दुःख और आकुलता करे कि प्रमाद क्यों होता है? तब भी नहीं होता। कहीं-कहीं अकुलाकर घबराहट हो तब भी नहीं होता।

वह तो सरलतापूर्वक उसके मार्गका विचार करे कि मार्ग यही है; स्वयं ज्ञायक है, उस एक ज्ञायकको ही ग्रहण करनेका है; वह ग्रहण न होनेका कारण मेरी अपनी कमी है। बाहरमें सर्वत्र रुक रहा हूँ इसलिये मेरी श्रद्धाका कार्य नहीं आता। ३०९.

प्रश्न :—*जैसे बाहरसे अलग-अलग व्यक्तियोंको पहिचान सकते हैं, वैसे ही अंतर पुरुषार्थ करें तो अपना आत्मा स्पष्ट पहिचाननेमें आ सकता है?*

समाधान :—हाँ, आत्माको पहिचाना जा सकता है। स्वयं ही है। ज्ञान ज्ञानको पहिचान सकता है। ऐसा सूक्ष्म भेद कर सकता है। स्पष्ट पहिचान सकता है। जिस प्रकार बाह्यमें उसे शंका भी नहीं पड़ती; कोई तर्क करे कि यह वह व्यक्ति नहीं है, तो कहेगा कि यह वही है। विचारे बिना, तर्क किये बिना स्वयं निर्णय कर लेता है कि यह वही व्यक्ति है, दूसरे सब जो कहते हैं वह असत्य है। उसी प्रकार अपना भी निर्णय कर सकता है कि यह मैं ही हूँ, यह मेरा ही अस्तित्व है। बिना किसी तर्कके निःशंकरूपसे अपनेको ग्रहण कर सकता है कि यह मैं ही हूँ, दूसरा कोई मैं नहीं हूँ; रागादि मैं नहीं हूँ—इसप्रकार निःशंकरूपसे ग्रहण कर सकता है, परन्तु पुरुषार्थ नहीं करता। ३१०.

प्रश्न :—*बाह्य निवृत्ति तो ले ली, परन्तु अंतर् निवृत्ति लेनी चाहिये ऐसा आप कहते हैं; तो हमें अंतर्निवृत्तिका अर्थ समझाईये।*

समाधान :—अंतर्-निवृत्ति अर्थात् अंतरमें अनेक प्रकारके विकल्प-चक्रमें रुकता हो उसमेंसे स्वयं छूटकर, बारम्बार चैतन्यकी ओर जाना सो अंतर्-निवृत्ति है। अनेक प्रकारके जंजालमें फँसता हो उसे चैतन्यकी ओर मुड़कर चैतन्य संबंधी विचार करना, यह मैं हूँ ऐसे अपना ग्रहण करना। विकल्प-जालकी प्रवृत्ति बारम्बार आड़े आनेसे चैतन्यके विचार गौण हो जाते हैं, इसलिये विकल्पजालकी प्रवृत्तियाँ कम करके अपनी ओरका अभ्यास बढ़ाये वह अंतर्-निवृत्ति है। यथार्थ निवृत्ति तो वह है कि जब ज्ञायक ज्ञायकरूपसे परिणमित हो जाय। ३११.

प्रश्न :—*उलझन हो तो अपने आप मार्ग निकाल सकता है?*

समाधान :—स्वयं मार्ग निकालता जाता है। जैसे बाहरी कठिनाईयोंमेंसे मार्ग निकालता है वैसे ही अंतरमें भी स्वयं मार्ग निकालता जाता है। किसी विकल्प-जालमें न उलझकर स्वयं मार्ग निकालकर चैतन्यका अभ्यास कैसे बढ़े वह प्रयत्न करना। ३१२.

प्रश्न :—*ज्ञानी होनेके बाद यह खबर पड़ती है कि अब फिर कब निर्विकल्पदशा आयगी?*

समाधान :—निर्विकल्पदशा इस समय होगी अथवा कब होगी? ऐसे विकल्प होते ही नहीं। अपनी परिणतिको स्वयं अन्तर्मुख करके स्वरूपकी लीनताका प्रयास करता है उसमें उसका ध्यान कालके ऊपर अथवा कब होगी ? उस पर नहीं होता। उसका लक्ष्य अपनी परिणतिको न्यारी करने और ज्ञाताधाराकी उग्रता करनेकी ओर होता है। निर्विकल्पदशा कब होगी? ऐसा विकल्प नहीं होता। वह तो अपनी परिणतिको न्यारी करता जाता है। उस न्यारी परिणतिमें सहजधारा उभरनेपर निर्विकल्पदशा होती है। ३१३.

प्रश्न :—*आप किसके बलपर कहती थी कि सम्यग्दर्शन इतना दूर है.....इतना दूर है?*

समाधान :—ज्ञायकके बलपर कहती थी, ज्ञायकके जोरसे कहा जाता था। ज्ञायकके जोरसे ऐसा लगता था कि सम्यक्त्व निकट है। यह परिणति ऐसी है कि अन्त तक पहुँचकर ही रहेगी, यह पुरुषार्थकी धारा ऐसी है कि वह अंत तक जरूर पहुँचेगी। अपनी उग्रताके आधारसे कहती थी। कब होगा? कोई निश्चित नहीं लगता था और ऐसी कोई खबर भी नहीं थी; परन्तु ज्ञायककी अंतर उग्रतासे, अपनी भावनासे, पुरुषार्थके बलसे कहती थी। ३१४.

प्रश्न :—*चौथे गुणस्थानमें ध्यानमें बैठे तभी निर्विकल्पदशा हो, यह ठीक है?*

समाधान :—ध्यानमें बाहरसे बैठे या न बैठे; कभी बाहरसे बैठे और ध्यान होता है, कभी बाहरसे न बैठे तब भी ध्यान होता है। ज्ञाताका अस्तित्व जो उसने ग्रहण किया है, ज्ञायककी धारा जो वर्तती है उतनी एकाग्रता तो उसे चल ही रही है, इसलिये उस प्रकारका ध्यान तो उसको है ही। ध्यान अर्थात् एकाग्रता। तो उस प्रकारकी एकाग्रता तो उसे छूटी ही नहीं है, अमुक प्रकारकी एकाग्रता तो उसे वर्तती ही है। बाहरसे शरीर ध्यानमें बैठे तब ही एकाग्रतामें कोई विशेषता होती है ऐसा नहीं है, ऐसा कोई बंधन नहीं है। ३१५.

प्रश्न :—*एकबार निर्विकल्पदशा आनेके पश्चात् अमुक काल उसकी राह देखनी पड़े ऐसा तो नहीं है?*

समाधान :—उसकी कुछ राह देखनी नहीं पड़ती। जिसे अंतर-भेदज्ञानकी दशा चल रही है उसे अमुक समयपर वह दशा हुए बिना रहती ही नहीं। समयका बन्धन नहीं

है, अंतरकी दशा है। भेदज्ञानकी धारा वर्तती ही है इसलिये उसे हुए बिना रहती ही नहीं। जो अंतरसे न्यारा हुआ, उसका उपयोग यदि बाहर गया हो वह पुनः अंतरमें आये बिना रहता ही नहीं; क्योंकि उपयोगको बाह्यमें कहीं सर्वस्व नहीं है। भेदज्ञानकी धारा वर्तती है और स्वयं प्रतिक्षण न्यारा वर्तता है। न्यारी परिणति तो थी ही, उपयोग पलट जाता है। जैसी परिणति हो वैसा उपयोग होकर पुनः आये बिना नहीं रहता। उपयोग बाहर जाता है तो परिणतिकी डोर उसे अपनी ओर खींचे बिना नहीं रहती।

ज्ञायकरूपसे भेदज्ञानधाराकी परिणति उसे निरन्तर प्रतिक्षण सहजरूपसे चलती रहती है। उस परिणतिकी डोर न्यारी है। वह उपयोगको वहाँ (बाह्यमें) टिकने नहीं देती, अमुक समयपर उसे वापस खींच ही लाती है और स्वरूपमें लीनता—निर्विकल्पदशा—हुए बिना रहती ही नहीं। ३१६.

प्रश्न :—*ज्ञानीकी अंतरंग दशा इतनी बलवान् होती है कि उपयोगकी लाचारी नहीं करनी पड़ती?*

समाधान :—ज्ञानीको उपयोगकी लाचारी नहीं करनी पड़ती। उसकी दशा ही ऐसी है कि उसे अमुक प्रकारकी शान्ति एवं उष्मता रहती ही है। स्वयं एकत्वबुद्धिसे नहीं वर्तता, न्यारा ही वर्तता है; उसकी न्यारी परिणति ही उपयोगको वापस खींच लाती है, वह अधिक समय तक बाहर नहीं टिक सकता। वह उपयोग पुनः अपने स्वरूपमें लीन हुए बिना रहता ही नहीं; उसकी न्यारी परिणति ही उसे वापस ले आती है। उसे निर्विकल्पदशाकी वाट देखकर बैठना नहीं पड़ता; उसे कोई शंका नहीं पड़ती। परिणति ही उपयोगको वापस खींच लाती है। ३१७.

प्रश्न :—*निर्विकल्पदशा विशेष हो तो विशेष दृढ़ता आये ऐसा है?*

समाधान :—परिणति जोरदार हो तो निर्विकल्पदशा आती है। ३१८.

प्रश्न :—*ज्ञानी चौवीसों घन्टे आत्मामें रहते हैं?*

समाधान :—ज्ञानीको आठों प्रहर आत्मस्वरूपका अवलम्बन है। उपयोग बाह्यमें एकमेक होता ही नहीं, वह बाहर जाय फिर भी न्यारा ही रहता है। वह फिर स्वरूपमें स्थिरता किये बिना रहता ही नहीं। उसकी रुचि–परिणति ही उसे वापिस खींच लाती है। सब सहजस्वरूप है। ३१९.

प्रश्न :—*प्रयोजनकी सिद्धि हेतु विभावको अपना स्वभाव नहीं मानना, अथवा उसे निमित्तमें डाल देना, यह ठीक है?*

समाधान :—प्रयोजनकी सिद्धि तो इसमें है कि तू जुदा है और जो विभाव होते हैं वे जुदे हैं, इसलिये उन्हें निमित्तमें डाल देना। यद्यपि विभाव पुरुषार्थकी मन्दतासे तुझमें होते हैं उस अपेक्षासे चेतनमें होते हैं इसलिए तू उन्हें पुरुषार्थद्वारा दूर कर दे। वे जुदे हैं ऐसा भेदज्ञान करनेके पश्चात् जो अस्थिरता रहती है उसे भी तुझे तोड़नी है। इसलिए पुरुषार्थ–भेदज्ञान करनेका प्रयोजन है। प्रयोजनको मुख्य रखना। किसी अपेक्षासे विभावोंको जडके कहे जाते हैं और चेतनकी अपेक्षा चेतनके कहे जाते हैं। चेतनकी अपेक्षा, अपने पुरुषार्थकी मन्दतासे, चेतनमें होते हैं; उसमें निमित्तकी गौणता होती है तथा जडके ओरकी–निमित्तकी बात आये तो विकार जीवका है उसकी गौणता है। विभाव और जडको निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिए तुझे उनसे पृथक् होकर भेदज्ञान करनेका प्रयोजन है।

वृथा वाद–विवादमें अटकना नहीं, प्रयोजन सिद्ध करना। अध्यात्मदृष्टिमें एक भेदज्ञान करनेका प्रयोजन है। आचार्योंका तथा गुरुदेवका कहना है कि तू भेदज्ञान कर। विभाव तेरा स्वभाव नहीं है इसलिए वे जडके हैं। यदि वे एकान्तरूपसे जडके हों तथा तुझमें नहीं होते हों तो तुझे पुरुषार्थ करना नहीं रहता, इसलिये उस अपेक्षासे तुझमें ही हुए हैं।—ऐसे दोनों अपेक्षासे मिलान करके निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध किस प्रकार है उसे जानना। किसी अपेक्षासे किसीकी मुख्यता और किसीकी गौणता होती है। प्रयोजन तो एक भेदज्ञानका रखना। वाद–विवादमें अटकना नहीं।

भेदज्ञान करके अंतरमें चैतन्य आत्मा अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है उसे प्रगट करना है। विभाव विपरीत स्वभाव है, दुःखरूप है और दुःखका फल है; आत्मा उनसे भिन्न है ऐसा भेदज्ञान करना। जडसे भेदज्ञान करनेका है तथा विभावसे भी भेदज्ञान करनेका है। विभाव तेरा स्वभाव नहीं है, वे दुःखरूप हैं, दुःखके फल हैं, इसलिये तू उनसे पृथक् हो। ज्ञानमें अकेला ज्ञान ही दिखता है और क्रोधमें क्रोध दिखता हैं, क्योंकि दोनों भिन्न हैं, दोनोंके स्वभावभेद हैं। ३२०.

प्रश्न :—*वचनामृतमें आता है कि कार्योंकी गिनती करने जैसी नहीं है; तथापि परिणामोंमें कार्योंकी गिनती हो जाती हो वहाँ मुख्य कारण क्या बनता होगा? उससे बचनेके लिये प्रयोगात्मक रीतिसे क्या करना?*

समाधान :—कार्योंकी गिनती न करके आत्माको मुख्य रखना। बाह्यमें उस

प्रकारका राग होनेसे कार्योंकी गिनती होती है; उसके लिये तो एक आत्माकी ही लगन लगाये तो दूसरोंकी महिमा छूट जाती है। कार्योंकी क्या महिमा है? मेरे लिये तो आत्मा ही सर्वस्व है और आत्मामें ही सर्वस्व है। ऐसे आत्माको मुख्य रखे और उसकी महिमा आये तो अन्य सब गौण हो जाता है, किसी प्रकारकी गिनती नहीं रहती। जिसे आत्माकी ही महिमा, लगन है, तथा उस ओरका सर्वस्व रहता है उसे ऐसी गिनती नहीं होती कि मैंने इतना किया फिर भी कुछ होता नहीं, मैंने इतने विचार किये, इतना पढ़ा, इतनी स्वाध्याय-भक्ति करता हूँ फिर भी कुछ नहीं होता; परन्तु उसे आत्मा ही मुख्य रहता है कि मुझे आत्मा ही सर्वस्व है। बाहरसे जो यह सब होता है उसकी अपेक्षा अंतरमें भेदज्ञानकी धारा प्रगट करूँ, ज्ञायकको ग्रहण करूँ, उसमें लीनता कैसे हो, उसीपर उसकी दृष्टि होती है। ३२१.

प्रश्न :—*देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा क्या आत्माकी महिमाके लिये है?*

समाधान :—जिनेन्द्रदेवने आत्मा प्रगट किया है, और केवलज्ञानमें पूर्णरूपसे बिराज रहे हैं। गुरु साधना करते हैं और शास्त्रोंमें भी वह सब आता है। उन्होंने चैतन्यका स्वरूप प्रगट किया है, और अपनेको उस स्वरूपकी रुचि है, इसलिये उनकी महिमा आती है। वह रुचि ऐसी होनी चाहिये कि वह स्वरूप मुझे प्रगट हो। मात्र रूढ़िगत महिमा आये ऐसा नहीं, किन्तु उन्होंने जो प्रगट की वह आदरणीय अनुपम वस्तु मुझे चाहिये ऐसी रुचि होनी चाहिये। इसलिये आत्माकी रुचि और देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा दोनों परस्पर मिले होते हैं। जिसे समझपूर्वक महिमा आये उसे आत्माकी रुचि साथ ही होती है। कोई बिना समझे करता हो वैसे नहीं; समझपूर्वक महिमा आये उसमें रुचि साथ होती ही है कि यह स्वरूप मुझे चाहिये! विभाव अच्छा नहीं है, किन्तु स्वभाव अच्छा है। देव-शास्त्र-गुरुने जो प्रगट किया उसकी महिमा आती है। और वह मुझे चाहिये ऐसी रुचि साथ होती ही है।

देव-शास्त्र-गुरु आदरणीय क्यों हैं? कि उन्होंने आत्मस्वरूप प्रगट किया है वह कोई अपूर्व है, इसलिये उनका अपनेको आदर है। उसमें अपने आत्माका आदर अंतरमें आ जाता है। ३२२.

प्रश्न :—*ज्ञानीको विकल्पसे इतनी अधिक पृथक्ता लगती होगी मानो दूसरा कोई विकल्प कर रहा हो?*

समाधान :—दूसरा कोई विकल्प करता है इतनी पृथक्ता नहीं, परन्तु मेरा स्वभाव विकल्पोंसे पृथक् है। पुरुषार्थकी मंदतासे वे मुझमें होते हैं, परन्तु वह मेरा स्वभाव

नहीं है। उससे भिन्न भेदज्ञान–ज्ञाता-परिणति वर्तती है। वह स्वभावसे एकत्व एवं विभावसे विभक्त है। जो विभावसे विभक्त हुआ, वह शरीरसे विभक्त हो ही गया है। द्रव्यकर्म–भावकर्म–नोकर्म हैं; उनमें जो भावकर्मसे न्यारा वर्तता है वह द्रव्यकर्म तथा नोकर्मसे पृथक् ही वर्तता है। कोई स्थूलतासे कहे कि मैं शरीरसे भिन्न हूँ–भिन्न हूँ, किन्तु अंतरसे भिन्न नहीं हुआ है तो वह वास्तवमें भिन्न हुआ ही नहीं है। कोई स्थूलतासे कहे कि मैं शरीरसे भिन्न हूँ, किन्तु यदि विकल्पसे भिन्न परिणमित नहीं होता तो शरीरसे भिन्नताकी बात मात्र अभ्यासरूप है। ३२३.

प्रश्न :—*सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होनेमें क्या श्रद्धाका ही दोष है?*

समाधान :—सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होनेमें श्रद्धाका ही दोष है। चारित्रका दोष वह श्रद्धाको नहीं रोकता। श्रद्धाको श्रद्धाका ही दोष रोकता है। अनन्तानुबंधी कषायका संबंध श्रद्धाके साथ है; जिसकी श्रद्धा बदले उसके अनन्तानुबंधी कषाय टल ही जाते हैं। अनन्तकालसे श्रद्धाका दोष है। ३२४.

प्रश्न :—*आत्मार्थमें संयम और न्याय–नीतिको बीचमें लाना या नहीं?*

समाधान :—जिसे आत्माकी रुचि लगे, जिसे आत्मा ही चाहिये, दूसरा कुछ नहीं चाहिये, उसके न्याय–नीति सब होते हैं। अमुक पात्रता तो उसके होती ही है। जिसकी श्रद्धा पलट जाती है उसे अमुक प्रकारकी, श्रद्धाके साथ जिसका संबंध है वैसी, पात्रता होती है। पात्रताके बिना श्रद्धा नहीं होती। ३२५.

प्रश्न :—*अविनाभावीपना कहें तो क्या आपत्ति आयगी?*

समाधान :—अविनाभावीपना तो है, इसलिये अमुक प्रकारकी पात्रता उसको होती है। उसकी रुचि जहाँ बदलती है, जहाँ आत्मार्थिता होती है, और जहाँ एक आत्माका ही प्रयोजन है वहाँ उसके कषाय मंद होते हैं। उसे विषय–कषायोंकी गृद्धि टूट जाती है। एक आत्मा ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं चाहिये, ऐसी उसकी अंतरपरिणति हो जाती है। उसे न्याय–नीतिके साथ संबंध होता है। ३२६.

प्रश्न :—*सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् उनको नीतिका विशेष उद्भव होता है। यह सच है?*

समाधान :—सम्यग्दर्शनके साथ जितना नीतिका संबंध हो उतनी नीति होती है। व्यवहारसे अयोग्य हो ऐसी अनीति उसे नहीं होती। सम्यग्दर्शनके साथ नीतिको संबंध

होता है। सम्यग्दर्शनके पूर्व भी नीतिके साथ संबंध होता है। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् कोई अनीतिके कार्य करे ऐसा नहीं है। उसको चाहे जैसा आचरण होता ही नहीं। अंतरमें इतनी मर्यादा आ गई है कि स्वरूपाचरणचारित्र एवं भेदज्ञानकी धारा वर्तती है, और ज्ञायककी धारा प्रगट हो जानेसे जो विभावका कर्ता नहीं होता, उसको बाह्य विभावोंकी मर्यादा आ ही जाती है। जिसके अंतरमें मर्यादा हुई वह ज्ञायकको छोड़कर कहीं नहीं जाता। ज्ञायककी धाराके सिवा कहीं उसकी परिणति एकत्व नहीं करती। इसलिये उसके प्रत्येक कार्यमें मर्यादा होती है। उसको मर्यादा रहित कुछ नहीं होता। उसकी भूमिकाके योग्य ही सब होता है। ३२७.

प्रश्न :—*वचनामृतमें आपने कहा है कि तीक्ष्ण एवं उग्र पुरुषार्थ करना चाहिये, तो हम अधिक पढ़ें, सत्संग करें या ध्यान धरें?*

समाधान :—अंतरकी परिणतिका विशेष पुरुषार्थ करें। उसमें जहाँ रुचि लगे वह करें। परिणतिको यदि पठन लाभदायी लगे तो पढ़नेमें लगें। विचारमें अधिक लाभ दिखाई दे तो उसमें लगें, और सत्संगमें लाभ हो तो सत्संग करें। अंतरमें पुरुषार्थकी—ज्ञायकधाराकी—उग्रता कैसे हो, अपने चैतन्यके प्रति मेरी परिणति कैसे दृढ़ हो? मेरी प्रतीति दृढ़ हो कि यह मैं चैतन्य ही हूँ। यह मैं नहीं हूँ।—यही एक उसके पुरुषार्थका ध्येय है। उस ध्येयपूर्वक जहाँ-जहाँ अपने परिणामको ठीक लगे, जहाँ परिणाम स्थिर हो सके और उनमें वृद्धि हो—ऐसे कार्योंमें युक्त होना। ध्यानमें ठीक लगता हो तो ध्यान धरना; परन्तु यथार्थ ध्यान तो ज्ञानपूर्वक होता है। अपने स्वभावको विचार करके पहिचाने कि यह जो ज्ञायक सो मैं हूँ। फिर उसमें एकाग्र होनेका प्रयत्न करना। एकाग्रता वह उसका ध्यान है। यदि ध्यानसे उग्रता होती हो तो ध्यान करना, परन्तु वह ध्यान ज्ञानपूर्वक होना चाहिये। बिना समझे ध्यान करे या विकल्प छोड़नेका प्रयत्न करे, अर्थात् कहाँ खड़े रहना है, उसके भान बिना और अपने अस्तित्वको ग्रहण किये बिना ध्यान करे तो लाभ नहीं होता। पहले समझकर ध्यान करे कि यह चैतन्य सो मैं हूँ। यह मैं नहीं हूँ। फिर उसमें एकाग्र होनेका तीक्ष्ण पुरुषार्थ करे तो एकाग्रताका लाभ हो। वह यथार्थ समझपूर्वक होना चाहिये। यथार्थ ज्ञान करनेके लिये प्रथम विचारके साथ पठन, सत्संग हो, फिर एकाग्रताके लिये ध्यान करना। परन्तु वह ध्यान समझपूर्वक होना चाहिये। ३२८.

प्रश्न :—*पुरुषार्थकी मंदतामेंसे तीव्रता करनेके लिये क्या करना?*

समाधान :—पुरुषार्थकी तीव्रता स्वयंको ही करनेकी है। स्वयंकी जरूरत स्वयंको ही ज्ञात होती है कि मुझे अपने स्वभावकी ही जरूरत है, दूसरी कोई जरूरत नहीं है। यह सब है वह अनावश्यक है। मुझे तो स्वभाव चाहिये उसमें सब भरा है। यदि इसप्रकार उसकी जरूरत लगे तो उसके पुरुषार्थकी तीव्रता हो। इस मनुष्य भवमें गुरुदेव मिले! अब मुझे पलटना ही है!—ऐसे अपनी जरूरत लगे, तो उसकी रुचि तीव्र हो। जिज्ञासुको अभी भले एकत्वबुद्धि नहीं टूट रही है, परन्तु वारंवार तोड़नेका अभ्यास करे तो स्वयं जागृत हुए बिना रहता ही नहीं। बच्चा जब चलनेका सीख रहा हो, तब इधर उधर गिरता है परन्तु वारंवार अभ्यास करता है। वैसे ही स्वयं अपनी ओर जानेके लिये वारंवार अभ्यास करना कि मुझे यह कुछ नहीं चाहिये। गुरुदेवने कहा है कि तू चैतन्य है। और चैतन्यको पहिचान, उसमें लीन हो। वह करने योग्य कार्य है। यदि उसकी जरूरत लगे तो वारंवार अभ्यास करता ही रहे। यथार्थ अभ्यास करे तो उसका फल आये बिना रहता ही नहीं। ३२९.

प्रश्न :—*मेढक जैसे तिर्यंचको भी क्षणमें सम्यक्त्व हो जाता है। यह तो चमत्कार ही कहा जायेगा?*

समाधान :—उसकी परिणति इतनी जोरदार उपड़ती है कि अंतर्मुहूर्तमें पलट जाती है। भले ही मेढक तिर्यंच है। किन्तु अंतर्मुहूर्तमें ऐसी उग्र परिणति होती है कि अंतर्मुहूर्तमें पलट जाती है। कितनोंको अभ्यास करते-करते पलटती है। चैतन्यचक्रकी दिशा परकी ओर थी वह दिशा अंतर्मुहूर्तमें पूरी पलट जाती है। अंतरमें चैतन्यकी कोई अद्भुत शक्ति है! अचिंत्य चैतन्यदेव ही ऐसा है कि पलटे तो अपनेसे अंतर्मुहूर्तमें पलटता है। और नहीं पलटे तो अनन्तकाल बीत जाये ऐसा है। ३३०.

प्रश्न :—*वचनामृतमें आता है कि सम्यग्दृष्टिको राग रहता है, किन्तु रागका रस निथर जाता है। कृपया उसका आशय समझायें।*

समाधान :—सम्यग्दृष्टिको अस्थिरताका राग बाकी है, किन्तु राग पर प्रीति नहीं है। यह राग आदरणीय नहीं है। वह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो वीतरागस्वरूप हूँ। ऐसा ज्ञानीको भान होनेसे रागका रस निथर गया है। अर्थात् उसे एकत्वबुद्धि-स्वामित्वबुद्धि टूट गई है, रागसे अत्यंत जुदी परिणति रहती है। ज्ञानीको राग मौजूद होनेपर भी रागका राग

नहीं, राग रखने योग्य नहीं, राग मेरा स्वरूप नहीं—ऐसी ज्ञायकदशा उसे प्रतिक्षण वर्तती ही है। उसे रागका रस उतर गया है, परन्तु अस्थिरताके कारण उसमें जुड़ता है, किन्तु रूखे भावसे जुड़ता है। भेदज्ञानकी परिणति प्रगट होनेसे वह भिन्न भावसे जुड़ता है। ३३१.

प्रश्न :—*आत्मामें सुख भरा पड़ा है तो उसका निर्णय करनेकी रीति क्या है?*

समाधान :—आत्मामें ही सुख है—ऐसा आचार्यदेवने तथा गुरुदेवने जीवका स्वभाव बतलाकर अनेक युक्तियों एवं तर्कोंसे कहा है। तदुपरांत हम स्वानुभूति करके कहते हैं कि आत्मामें ही सुख है। गुरुदेवने तो उपदेशमें अत्यंत स्पष्टता करके सब सूक्ष्मरीतिसे–अपूर्व ढंगसे समझा दिया है। कोई जा रहा हो तो कोई उसे मार्ग बतलाये, किन्तु चलना तो स्वयंको ही है, निर्णय स्वयंको ही करना है।

किन्हीं भी भावोंमें, किसी भी रागमें, किन्हीं भी कार्योंमें सुखकी कल्पना करनेवाला सुख मानता है; परन्तु वह स्वयं ही सुखस्वभावी है, सहज आनंदस्वभावी है, उसकी दृष्टि अपनी ओर नहीं है, इसलिये जहाँ सुख नहीं वहाँ सुखकी कल्पना करता है। कल्पना करके सुखका वेदन करता हूँ, ऐसा मान रहा है। जो स्वयं सुखस्वभावी है वह परमें सुख मान रहा है। जड नहीं मानता। सुखस्वभाव स्वयंका है। तथापि जहाँ–तहाँ आरोप करके सुखकी कल्पना स्वयं करता रहता है। स्वयं सुखका भंडार है फिर भी अन्यमें सुखकी कल्पना करता है। विपरीत दृष्टि होनेके कारण बाह्यमें सुख माना है। अंतरमें स्वतःसिद्ध अनादि–अनन्त सुखस्वभाव अपना है। जैसे ज्ञान अपना है वैसे ही सुखस्वभाव सहजरूपसे अपना है। तथापि जहाँ–तहाँ कल्पना करके शांति और सुख माना है। ऐसा आप ही मान रहा है। परन्तु सुख अपनेमें है। गुरुदेव तो कई बार कहते हैं कि मृगको अपनी नाभिमें स्थित कस्तूरीकी सुगंध आती है, तथापि उसे विश्वास नहीं होनेसे वह चारों ओर ढूँढ़ता है। उसी प्रकार सुखस्वभावी स्वयं जहाँ–तहाँ बाह्यमें सुखकी कल्पना कर रहा है। सुखका भंडार स्वतःसिद्ध आनंद वस्तु स्वयं ही है, फिर भी स्वयं जहाँ–तहाँ सुख मान रहा है! ३३२.

प्रश्न :—*सुख कहीं दूर नहीं है?*

समाधान :—अपने सहज स्वभावमें ही सुख है। विकल्पका जाल अर्थात् विभावको छोड़े, वहाँसे विमुख होकर भेदज्ञान करे, और स्वयं निर्विकल्प स्वरूपमें जाय तो सुख—जो कि सहज स्वभाव है, वह सुखका सागर—अपनेमेंसे प्रगट हो ऐसा है। परन्तु बाहर कल्पना करता है। सुख कहीं दूर नहीं है। ३३३.

प्रश्न :—*उपदेशमें आता है कि अपने छोटेसे अवगुणको पर्वत समान गिनना, और दूसरोंके छोटेसे गुणको महान् देखना तथा ऐसा भी आता है कि पर्यायकी पामरताको गौण करके, अपनेको परमात्मस्वरूप देखना।—ऐसे दोनों कथनका तात्पर्य क्या है?*

समाधान :—चैतन्य द्रव्य जो कि अखंड परिपूर्ण और शाश्वत है; उसकी दृष्टि करनी; तथा पर्यायमें अपूर्णता है, उसका ज्ञान करना। साधक दशामें दृष्टि और ज्ञान साथ होते हैं। द्रव्यदृष्टिसे मैं पूर्ण हूँ, अनादि-अनन्त परिपूर्ण प्रभुता स्वरूप हूँ—इसप्रकार प्रभुतास्वरूप आत्माको लक्ष्यमें रखकर, मैं पर्यायमें अपूर्ण हूँ, ऐसा अपूर्णताका ज्ञान साधकको रहता है। पर्यायमें पुरुषार्थ कैसे हो? स्वरूपमें लीनता कैसे हो? स्वानुभूतिकी विशेष-विशेष दशा कैसे हो? अंतरमें ज्ञायककी विशेष परिणति कैसे हो? तदर्थ मैं पर्यायमें पुरुषार्थ करूँ। पर्यायमें मैं पामर हूँ, वस्तुस्वभावसे मैं पूर्ण हूँ।—इसप्रकार साधकदशामें दृष्टि और ज्ञान साथ ही रहते हैं। मैं दृष्टिसे पूर्ण और पर्यायसे अपूर्ण हूँ। ये दोनों साथ होते हैं।

दूसरोंके गुण देखना वह अपने लिये लाभका कारण है और दूसरोंके दोष देखना वह हानिकारक है। इसलिये दूसरोंके गुणको मुख्य करके, उनके दोषको गौण करता है। अपनेको पुरुषार्थ करना है इसलिये अपने अल्प दोषपर भी नजर है तथा मुझे पुरुषार्थ करना बहुत बाकी है, ऐसा वह जानता है। स्वयं अपने दोषको लक्ष्यमें रखकर गुणको गौण करता है। दूसरोंके दोष देखनेमें अटकना, वह साधकका कर्तव्य नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र परिणमित होती है। ज्ञायकका ज्ञाता स्वभाव है, इसलिये ज्ञातारूपसे जानते रहना। अपनी साधकदशामें, अपने गुणको गौण करके, जो दोष-अपूर्णता हो उसे मुख्य करके, मुझे अभी बहुत करना बाकी है, ऐसा स्वयं देखता है, वैसा पुरुषार्थ करता है। वह दूसरेके गुणको मुख्य करके, उसके दोषको गौण करता है, क्योंकि दूसरेके दोषसे उसका कोई प्रयोजन नहीं है, और स्वयं अपनेमें आगे बढ़नेके लिये उसके गुणको ग्रहण करता है। स्वयं स्वभावपर दृष्टि रखकर, मैं स्वभावसे पूर्ण हूँ, ऐसा स्वीकार करके अपने दोष तथा दूसरोंके गुण ग्रहण करता है। वैसे तो स्वयंमें कितनी ही अल्पता है, उस अल्पतापर लक्ष्य देकर पुरुषार्थ कैसे हो? वीतराग कैसे होऊँ? मेरी साधकदशा कैसे आगे बढ़े?—ऐसी भावना उसे रहती है; इसलिये अपने गुणोंको गौण करके अपने दोषोंको देखता है। आत्मार्थियोंको भी यही प्रयोजन रखना चाहिये। दूसरोंके गुणोंका ग्रहण करना, किन्तु दोषोंको नहीं। दूसरोंके दोषोंको गौण, तथा गुणोंको मुख्य करके ग्रहण करे। अपनी भूल कहाँ हो रही है, स्वयं कहाँ अटक रहा है, ऐसे अपने

दोषोंको देखते हुए पुरुषार्थको आगे बढ़ाए। स्वयं स्वभावसे पूर्ण है, उसका खयाल रखे, और स्वयंको अभी बहुत पुरुषार्थ करना बाकी है, ऐसी खटक रखे।

मुनि भी वीतराग कैसे होऊँ, ऐसी भावनापूर्वक पंचपरमेष्ठीके गुणोंपर दृष्टि रखकर आगे बढ़ते हैं। साधक मुनिराज भी जो साधना करके पूर्ण हुए उनकी भक्ति करके, तथा अपने पुरुषार्थकी डोर शुद्धात्मासे बाँधकर आगे बढ़ते हैं। अतः एक शुद्धात्मामें प्रवेश करना ही मुख्य कर्तव्य है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हम तुझे आगे बढ़नेको कहते हैं, तीसरी भूमिकामें जानेको कहते हैं। अशुभमें जानेको नहीं कहते, किंतु तीसरी भूमिका कहकर आगे बढ़नेको कहते हैं। तीसरी भूमिकामें—निर्विकल्पदशामें—स्थिर नहीं हुआ जाता है और उपयोग बाहर आये तो शुभभाव—पंचपरमेष्ठी भगवंतोंकी भक्ति, गुण ग्राहकता वह सब आता है, और अपने दोषोंकी ओर दृष्टि (लक्ष्य) जाती है, जिससे अपने पुरुषार्थकी डोर बढ़ाकर आगे जाते हैं। द्रव्यसे पूर्ण होनेपर भी पर्यायमें अपूर्णता है, ऐसा उन्हें खयाल रहता है; इसलिये पुरुषार्थकी गतिको विशेष लीनताकी ओर जोड़ते हैं और आनंदानुभूति एवं चारित्रकी दशामें विशेष वृद्धि करते हैं। ३३४.

प्रश्न :—*अज्ञानीकी अपेक्षा ज्ञानी, गुरुका विशेष विनय करे और उनके प्रति भक्ति उल्लसित होनेपर कहें कि आप मेरे लिये अनन्त तीर्थंकरोंसे भी अधिक हो, फिर भी उन्हें एकत्वबुद्धि नहीं होती?*

समाधान :—ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि यहाँ आपका जन्म नहीं होता तो हम जैसे पामरोंका क्या होता?—इसप्रकार ज्ञानी अधिक विनय करते हैं; क्योंकि अपने अंतरमें जो स्वभाव प्रगट हुआ है, उस स्वभावकी उन्हें इतनी महिमा है कि, जिन्होंने वह स्वभाव प्रगट किया और समझाया, उनके प्रति भी उन्हें महिमा आती है। जो शुभभाव है उसके साथ अंतरमें भेदज्ञान वर्तता है। तथापि साथमें शुभभाव भी उल्लसित होता है। अपनी परिणति प्रगट करनेमें मुझे गुरुदेवका उपदेश निमित्त है, ऐसा ज्ञानमें होनेसे, उनके प्रति भक्ति उल्लसित होती है। दूसरोंकी अपेक्षा उन्हें अधिक उत्साह एवं भक्तिभाव आता है। बाहरसे किसीको ऐसा लगे कि मानो एकत्वबुद्धिसे यह सब करते हैं। परन्तु शुभभावसे तो उन्हें भेदज्ञान वर्तता है। उन्हें शुभभावका जो उल्लास आता है वह भी और ही जातिका आता है। ३३५.

प्रश्न :—*ज्ञानीको शुभभाव आता है और उसी काल उसे भेदज्ञान भी वर्तता है। उसका मेल कैसे है?*

समाधान :—ज्ञानीको भेदज्ञान वर्तता है। और ऐसा भी (महिमाके) भावमें उल्लास आनेपर कहे कि गुरुदेवने ही सर्वस्व दिया है। और वह असत्य भी नहीं बोलता, ऐसा भाव सहज आता है और उसी काल उस भावके साथ भेदज्ञान है, दोनों साथ हैं। उस (महिमाके) भावसे अंतरसे भिन्न रहनेपर भी दूसरे (अज्ञानी)की अपेक्षा ज्ञानीको देव–गुरुके प्रति खूब भक्ति आती है। भेदज्ञान और सच्चे देव–शास्त्र–गुरुकी भक्तिके मेल है।

जितने साधनाके तथा पूर्णताके बाह्य साधन हों उन सब पर उल्लास आता है; तथापि उसी क्षण भेदज्ञान वर्तता है। ज्ञायककी तथा शुभभावकी—दोनों परिणति अलग–अलग कार्य करती हैं। ३३६.

प्रश्न :—*वचनामृतमें अनेकवार 'गहरी जिज्ञासा'की बात आती है, तो वह गहरी जिज्ञासा किस प्रकारकी होगी? हमें वह क्यों नहीं प्रगट होती?*

समाधान :—जिसे गहरी जिज्ञासा हो उसे कहीं चैन नहीं पड़ता, उसकी परिणति अंतरमें गये बिना नहीं रहती। ऐसी अंतरमेंसे उग्र परिणति प्रगट हो और वह अखंडित धारावाही रहे तब सम्यक्त्व प्रगट होता है। ऐसी गहरी जिज्ञासा प्रगट होनेपर किसीको एक अंतर्मुहूर्तमें सम्यक्दर्शन हो वह बात अलग है; अधिकांशको तो अभ्यास करते–करते होता है। ३३७.

प्रश्न :—*क्या ऐसा वेदन होना चाहिये कि जबतक अंतरमें कार्य न हो तबतक चैन न पड़े?*

समाधान :—हाँ, चैन न पड़े, ऐसा वेदन अंतरसे आना चाहिये। अपना स्वभाव ग्रहण करे, किन्तु वह मंद–मंद रहे, और उग्रता न आये, तबतक प्राप्त नहीं होता; परन्तु उसका वेदन उसे अंतरसे ऐसा प्रगट हो कि वह प्राप्त न हो तबतक चैन ही नहीं पड़े। अंतरसे उग्र आलंबन एवं उग्र परिणति अपनी ओर जाये तो, प्रगट हुए बिना रहता ही नहीं। आकुलतारूप नहीं किंतु अंतरवेदन ही ऐसा हो कि परिणति बाह्यमें टिकनेके बदले, एकत्वबुद्धि तोड़कर अंतरमें ज्ञायककी परिणति हो जाय, ऐसी उग्रता होनी चाहिये। विशेष लीनताकी बात तो आगेकी रही परन्तु यह एक ज्ञायककी परिणति पृथक् होकर, एकदम परिणमनरूप हो ऐसा उग्र वेदन अंतरसे आना चाहिये। ३३८.

प्रश्न :—*उग्र वेदनके लिये क्या करना?*

समाधान :—उसका अभ्यास अंतरमें करते रहना। उसमें उग्रता कैसे हो वैसी भावना वारंवार करते–करते पुरुषार्थ उग्र हो तो कार्य आये, परन्तु अभ्यास करते हुए थकना नहीं। अभ्यास तो करते ही रहना। उसे छोड़ना नहीं। उसकी सन्मुखताका प्रयत्न नहीं छोड़ना। ३३९.

प्रश्न :—*अज्ञानीके तथा ज्ञानीके इन्द्रियज्ञानमें कोई अंतर होता है?*

समाधान :—बाहरका जाननेकी अपेक्षा दोनोंका ज्ञान समान है। परन्तु दोनोंकी दिशायें भिन्न हैं। ज्ञानीको यथार्थ ज्ञान है, इसलिये उसे भेदज्ञानपूर्वक ज्ञान होता है, कहीं एकत्व नहीं होता, इसलिये वह स्वकी दिशामें रहकर अर्थात् स्वको साथ रखकर परको जानता है, स्वको नहीं छोड़ता, इसप्रकार उसकी दिशा भिन्न है, स्वकी ओरकी है। जब कि अज्ञानी मानो बाहर चला गया हो, इसप्रकार परको जानता है। बाहरका जानना जैसे कि यह किवाड़ है, यह है, वह है, वह जाननेकी अपेक्षा दोनोंका ज्ञान समान है। परंतु उसकी (ज्ञानीकी) दिशा जुदी है। वह जुदी (स्वकी) दिशामें खड़ा रहकर जानता है। और अज्ञानी जुदी दिशामें–परमें एकत्व करके जानता है। इसप्रकार देखने–देखनेमें अंतर है। ज्ञानीको अतीन्द्रियज्ञानकी परिणति प्रगट हुई है, किंतु उसके साथ अभी अपूर्णता है, इसलिये उपयोग बाहर जाता है; जाननेमें उसे इतना इन्द्रियोंका तथा मनका आश्रय आता है; जब कि अज्ञानीको अकेला इन्द्रियज्ञान ही है, उसे स्वका ज्ञान नहीं है। ज्ञानीकी दिशा ही जुदी है। उसकी परिणति स्वकी ओर रहती है और जब उपयोग परकी ओर जाय तब वह परको पृथक् रहकर जानता है। इसप्रकार जाननेकी पूरी दिशा जुदी है। इसलिये ऐसा भी कहा जाता है कि ज्ञानीकी सब परिणति ज्ञानरूप ही परिणमन करती है, और अज्ञानीका जाना हुआ सर्व ज्ञान अज्ञान कहलाता है, क्योंकि वह स्वको नहीं जानता है और परमें एकत्व करके जानता है। ज्ञानी ऐसा नहीं मानता कि मुझे इन्द्रियोंसे लाभ होता है, मैं उनके आश्रयसे जानता हूँ। वह पृथक् रहकर जानता है, स्वयं अपने स्वतः परिणमनको जुदा रखकर जानता है। ३४०.

प्रश्न :—*ज्ञानीके इन्द्रियज्ञान वृद्धिगत होता दिखाई देता है, और अज्ञानीके इन्द्रियज्ञान वृद्धिगत होता हो ऐसा दिखाई नहीं देता?*

समाधान :—इन्द्रियज्ञानका क्या प्रयोजन है? वह वृद्धिगत हो या न हो,

अतीन्द्रिय ज्ञानकी परिणतिमें वृद्धि हो, वह वृद्धि है, साधनाकी वृद्धिमें वृद्धि वही वृद्धि है। बाह्यका इन्द्रियज्ञान वृद्धिगत दिखाई देता है, वह तो सब बाहरसे देखना है, उसकी वृद्धि हो उसका कोई अर्थ नहीं है। अंतरकी–अतीन्द्रियज्ञानकी परिणति बढ़ती जाय, स्वानुभूति–भेदज्ञानकी धारा अंदरमेंसे वृद्धि हो वह सच्ची वृद्धि है। बाह्य वृद्धि सो वृद्धि नहीं। बाह्यमें (क्षयोपशम) बढ़ता दिखाई दे या दिखाई न दे, उसे देखना ही नहीं है; बाहरसे इतना सुना, इतना पढ़ा, इतना धारण किया—ऐसे उससे कोई परीक्षा नहीं होती। बाह्य वृद्धि तो अज्ञानीके भी दिखाई दे; परन्तु अंतरंग परिणतिमें वृद्धि हो वह सच्ची वृद्धि है। बाह्य वृद्धि वह कोई वृद्धि नहीं है। अंतर परिणतिकी वृद्धि होना ही सच्ची वृद्धि है।

इन्द्रियज्ञान बढ़े उसका कोई महत्त्व नहीं है। उसका महत्व भी नहीं मानना, वह परीक्षाका योगफल नहीं है। अंतरकी परिणति क्या कार्य कर रही है सो देखनेका है। अंतर श्रद्धा–ज्ञान–लीनताकी परिणति क्या कार्य करती है उसे देखना है।

मुमुक्षु :—लोगोंको बाहरका विस्मय होता है। और धर्मात्माको अंतरका।

बहेनश्री :—अंतर-परिणति ही सच्ची है। मुक्तिका मार्ग सब अंतरमें है। अनादिकालसे बाहर देखनेकी दृष्टि है, इसलिये बाहर देखता है। परन्तु बाहरका विस्मय लगे उससे सच्ची परीक्षा नहीं होती। भगवान् समवसरणमें विराजमान हों, उन्हें देखकर कहते हैं कि आपकी शोभा अद्भुत है! इसप्रकार भक्तिमें सब आता है, परन्तु अंतर देखनेकी दृष्टि अंतरमें है। भक्तिमें वाणीकी महिमा करते हैं, शरीरकी महिमा करते हैं। वैसे ही गुरुदेवका प्रभावना योग कैसा है! उनकी मुद्रा कैसी है! वे तीर्थंकर-द्रव्य हैं—आदि सब भक्तिसे कहते हैं परन्तु अंतरमें परीक्षा करके कहे वह बात ही अलग है। ३४१.

प्रश्न :—*कहा जाता है कि तू ज्ञान लक्षणको ढूँढ़ ले, परन्तु हमारे पास तो वर्तमानमें इन्द्रियज्ञान ही है, तो कैसे ढूँढ़ें ?*

समाधान :—दृष्टिको अन्तर्मुख करना पड़ता है। इन्द्रियज्ञान भले हो, किन्तु स्वयं है न! अपना कहीं नाश नहीं हुआ है। और इन्द्रियज्ञान कहीं अंतरमें प्रविष्ट नहीं हो गया है। स्वयंने मान रखा है; परन्तु अपने ज्ञानमें कहीं परद्रव्य प्रविष्ट नहीं हो गया है और अपना अस्तित्व नष्ट नहीं हुआ है। इसलिये अपनी परिणतिको अंतर्मुख करके तू स्वयं कौन है वह ढूँढ़ ले। बीचमें मन और इन्द्रिय आते हैं उन्हें गौण करके तथा अपने ज्ञानको मुख्य करके

तू ज्ञान-लक्षणसे पूरा ज्ञायकको पहिचान ले। तू इन्द्रियोंको साथ रखता है इसलिये इन्द्रियोंसे जाननेमें आया ऐसा तुझे लगता है; परन्तु तुझे अपने ज्ञानसे जाननेमें आता है। उस ज्ञान-लक्षणसे तुझे अपने अंतरमें देखना है। इन्द्रियाँ साथ होती हैं इसलिये ऐसा कहा जाता है कि इन्द्रियज्ञानसे जाना, परन्तु अंतर्दृष्टि कर न! तू स्वयं ही है, तू कहीं खो नहीं गया है। स्वयं ही अपना साधन है। अन्य साधन क्या हो सकता? (नहीं है)। अपना कहीं नाश नहीं हुआ है।

मुमुक्षु :—अपनी सत्ताका स्वीकार क्यों नहीं करता?

बहिनश्री :—तू स्वयं अपनेसे देखनेका कार्य कर रहा है, परन्तु अपनेको नहीं देखता इसलिये तुझे ऐसा लगता है कि मुझे तो इन्द्रियसे–आँखसे देखना है, मनसे विचारनेका है, अन्य कोई साधन नहीं है। परन्तु तू स्वयं ही है। (वह तो तेरे क्षयोपशमज्ञानसे ज्ञात होता है।) वे इन्द्रियाँ कहाँ तुझे बतलाती हैं? तू अपने ज्ञानको अपनी ओर मोड़, तो तू स्वयं ही तुझे ज्ञात होगा। इससे जाना जाता है, इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है—ऐसा लक्ष्य किसलिये करना? तेरा अस्तित्व है उसे तू खोज ले; ज्ञानलक्षणसे ज्ञायकको ढूँढ़ ले; उसमें सब बाह्य आलंबन और साधन गौण हो जाते हैं। वे होते हैं किन्तु तू अपनेको मुख्य कर ले। साधनोंको गौण करना वह तेरे हाथकी बात है।

तू निरालंबन ही है, तेरा नाश नहीं हुआ है। तू अपनेको मुख्य करके उस ओर जा तो तू स्वयं ही है। पुरुषार्थ कर तो तू स्वयं ही है। तू अपनेको मुख्य कर ले कि मैं ज्ञायक ही हूँ, मैं स्वयं ही ज्ञाता हूँ, मेरा कहीं नाश नहीं हुआ है। इसप्रकार ज्ञानलक्षणको मुख्य करके तू ज्ञायकको पहिचान ले तो बाह्य आलंबन गौण हो जायँगे। तू अपना आलम्बन ले ले। जब भी प्रयत्न कर तब बाह्य आलंबनोंको गौण करनेका ही है और वह तुझे ही करना है। वह बिना प्रयत्नके पहलेसे हुआ नहीं होता, जब भी करे तब तुझे ही गौण करना है, और तुझे ही मुख्य होना है। इसलिये तू अपनेको मुख्य करके तथा बाह्य आलंबनोंको गौण—ढीला—करके अपनेको खोज ले। पहले दूसरा आलम्बन लेकर करना पड़ेगा ऐसा नहीं है। तू स्वयं ही है। जब करे तब अपनेसे ही करना है। ज्ञानलक्षणको मुख्य तुझे स्वयं ही करना है। उसे मुख्य करके तू अपने ज्ञायकको पहिचान ले। अन्य आलम्बनोंको किसलिये मुख्य करता है? वे आलम्बन कहाँ जानते हैं? जाननेवाला तो तू है। आलंबन बीचमें आता है किन्तु वह मन या आँख कहाँ जानते हैं? इसलिये उनकी महत्ता करके उन

आलंबनोंको किसलिये मुख्य करता है? और बाहर जाता है? अतः तू अपनी ओर मुड़ जा और द्रव्यको ढूँढ़ ले।

अपनेको जिसे खोजना है वह तो स्वयं हाजिर ही है। स्वयं हाजिर है और स्वयंको ही खोजनेका है; उसमें आलंबन तुझे कहाँ रोकते हैं? तू स्वयं रुका हुआ है; भिन्न पड़कर भीतर जा। अंतरमें तद्रूप परिणमित होनेपर तू निरालंबन होगा। जो भी निरालंबन हुए हैं, वे सब गौण करके हुए हैं। पलटना वह तेरे हाथकी बात है। ज्ञानको पकड़नेका प्रयत्न करना है। तू स्वयं अपनेसे जान रहा है, उस ज्ञानको स्वसन्मुख कर दे। आता है न? कि,

"आलंबन साधन जे त्यागे, परपरिणतिने भागे रे,
अक्षय दर्शन–ज्ञान वैरागे, आनंदघन प्रभु जागे रे"

आलंबनको छोड़कर निरालंबी होना वह अपने हाथकी बात है। संसारमें सबको छोड़कर अपने मनका कार्य करता है न! वहाँ तो अपना मन माना करता है। यद्यपि वह सब तो उदयाधीन है, तथापि ऐसा निर्णय करता है। स्वयं निश्चय करे कि मुझे यही करनेका है, तो स्वयं दूसरेका आलंबन छोड़ देता है; परन्तु यहाँ अज्ञानी आलंबनको नहीं छोड़ता और आलंबन.....आलंबन.....करता रहता है।

देव–गुरु–शास्त्रकी आज्ञानुसार करना। उन्होंने कहा है कि तू निरालंबी है, तू निरालंबी बन। तुझे ही निरालंबी होना है। ३४२.

प्रश्न :—*आत्माको प्राप्त करनेमें कैसी उग्रता चाहिये?*

समाधान :—स्वरूप ग्रहणकी ऐसी उग्रता चाहिये कि कहीं चैन न पड़े। विकल्पोंके जालमें भी चैन न पड़े, कहीं सुख न लगे—इतनी उग्रता अंतरमें होनी चाहिये। मुझे इन भावोंमें बड़ा आनन्द आता है, बहुत रस पड़ता है, ऐसा लगे वह सब विकल्प ही है, विकल्पोंका ही आनन्द है। आनन्द तो चैतन्यद्रव्यके अस्तित्वमेंसे आना चाहिये, वह सहज आनन्द है। जहाँ सब विकल्प छूट जाते हैं वहाँ सहज आनन्द प्रगट होता है; जो अंतरमेंसे भिन्न हो जाता है, उसीको सहज आनन्द आता है, वहाँ कोई कृत्रिमता नहीं होती कि मुझे बड़ा आनन्द आया, तथा उसकी दृष्टि आनंदपर भी नहीं होती।

जो अपने अस्तित्वको ग्रहण करता है उसे अंतरमेंसे सहज आनन्द प्रगट होता है;

विकल्प करके आनन्दका वेदन नहीं करना पड़ता। विकल्पोंकी दिशा है वह सारी दिशा पलटकर विकल्पोंसे छूटे तो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

पहले ऐसा भेदज्ञान प्रतिक्षण होना चाहिये कि मैं विकल्पोंसे भिन्न हूँ। पहले ज्ञायककी धारा हो, तब निर्विकल्पदशा आती है। ३४३.

प्रश्न :—*द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म—इन तीनोंसे एक साथ भिन्न होता है?*

समाधान :—अंतरमें जहाँ विभावके साथ एकत्वबुद्धि है वहाँ समस्त परपदार्थोंके साथ भी एकत्वबुद्धि है। ऐसे स्थूलरूपसे सबके साथ एकत्व नहीं मानता, परन्तु एक भी परपदार्थ या विभावके साथ जिसे एकत्वबुद्धि है उसे सबके साथ एकत्वबुद्धि है ही, वह भिन्न नहीं हुआ है। द्रव्यकर्मके निमित्तसे भावकर्मरूप स्वयं परिणमता है, किन्तु वह अपना स्वभाव नहीं है। द्रव्यदृष्टिसे देखे तो विभाव भी अपनेसे भिन्न है तथापि उसके साथ जिसे एकत्वबुद्धि है वह परकी ओर दृष्टि करके खड़ा है।

किसीको ऐसा लगे कि मैं सबसे भिन्न पड़ा हूँ और मात्र विभावके साथ एकत्वबुद्धि है, इतना ही बाकी रहा है। परन्तु यदि वह एक विभावमें भी एकत्वबुद्धि कर रहा है तो उसे सबके साथ एकत्वबुद्धि बनी हुई ही है। और जब विभावसे छूटता है तब सबसे छूट जाता है। ३४४.

प्रश्न :—*क्या आपका यह कहना है कि जबतक विभावभावमें दृष्टि है, तबतक परमें ही दृष्टि लगी है?*

समाधान :—हाँ, परकी ओर दृष्टि लगी है, उसकी दृष्टिकी दिशा ही परकी ओर है, दृष्टिकी दिशा स्वकी ओर आयी ही नहीं; स्वको ग्रहण किया ही नहीं, उसने दृष्टिकी दिशा नहीं बदली है। यदि दृष्टिकी दिशा परकी ओर है तो उसमें समस्त पर आ जाते हैं। ३४५.

प्रश्न :—*परपदार्थ मेरे नहीं हैं। ऐसा विचार करके निर्णय तो किया है; फिर भी परपदार्थोंसे सच्चा भेदज्ञान क्यों नहीं होता?*

समाधान :—यह सब घर-आवास-कुटुम्बादि मेरे नहीं हैं, ऐसा वैराग्य तो जीवने अनेकबार किया है तथा शरीरादि समस्त परपदार्थ मेरे नहीं हैं, पर हैं—ऐसा भी विचार किया है, वह विचार करके भिन्न होता है किन्तु उसकी परिणतिकी परके साथ एकता हो रही है तबतक एकत्वबुद्धि खड़ी ही है; और विकल्पके साथ एकत्वबुद्धि है तो सबके साथ भी

एकत्वबुद्धि है। उसे शरीरमें कुछ होता है तो वह विचारता है कि मैं शरीरसे भिन्न हूँ.....भिन्न हूँ; परन्तु सहज भेदज्ञान रहना चाहिये वह नहीं रहता। इसप्रकार विचारसे भिन्न होता है, किन्तु वास्तविक भेदज्ञानकी परिणति उसके नहीं है। ३४६.

प्रश्न :—*आत्मा अनन्त शक्तियोंका पिंड है, परन्तु अभी ज्ञानगुण खयालमें नहीं आता, तो ऐसी स्थितिमें कार्य कैसे होगा?*

समाधान :—आत्मामें अनन्तशक्ति है। ज्ञानगुण लक्ष्यमें नहीं आता क्योंकि स्वयं यथार्थ रीतिसे नहीं देखता है। स्वयं अपनेको ग्रहण कर सके ऐसा है। अपनेको ग्रहण करनेकी अनन्त शक्ति उसमें है; परन्तु ग्रहण नहीं होनेका कारण दृष्टि और उपयोग परकी ओर हैं। यदि आप अपनेको ग्रहण करे, स्वयं अपनेमें परिणमे तो स्वयं अपनेरूप हो जाय। पहले अंशतः हो, पश्चात् पूर्ण हो जाय। ऐसा अनन्त बल उसमें भरा है। आत्मामें अनन्तगुण हैं वे सब एक चैतन्यका ग्रहण होते ही स्वभावरूप परिणमने लगते हैं। प्रत्येक गुण अपनी ओर परिणमता है। ३४७.

प्रश्न :—*क्या उसे ऐसा विश्वास आ जाता है कि अपनी इस वस्तुके आधारसे मुझे स्थायी शान्ति-संतोष-आरामका अनुभव होगा? फिर कभी वहाँसे लौटना नहीं पड़ेगा—ऐसी प्रतीति आ सकती है?*

समाधान :—हाँ, ऐसी प्रतीति आनी चाहिये कि यह ज्ञायक ही सत्यार्थरूप है, कल्याणरूप है तथा अनुभवने योग्य है, उसमेंसे ही तृप्ति एवं आनन्द आयेगा। 'समयसार'में आता है न कि,

"इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा सन्तुष्ट रे;
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे।

जिसमेंसे तृप्ति होगी, जिसमेंसे बाहर निकलनेका मन नहीं हो—ऐसे तृप्तस्वरूप, सन्तोषस्वरूप आत्माको ग्रहण कर।

तू सब बाहर खोजता है, परंतु भीतरमेंसे सर्वस्व प्रगट होगा। तुझे आनंद या ज्ञानके लिये बाहर व्यर्थ भटकना नहीं पड़ेगा, अंतर्दृष्टि होनेपर ज्ञान-आनन्द अपने आप स्वयं परिणमित होंगे। जिसमें कोई थकान नहीं है। कष्ट नहीं है, ऐसा आत्मा सहज ही प्रगटरूपसे परिणमित होगा। किन्तु प्रारंभिक भूमिकामें पलटा खानेमें मुश्किल पड़ती है और कठिन लगता है। ३४८.

प्रश्न :—*पहले ऐसा भासित होता था कि मेरा जीवन पराश्रित है। अब स्वभाव समझनेके पश्चात् तो ऐसा लगेगा कि मेरा जीवन मेरे आधारसे है?*

समाधान :—मैं किसीके आधारसे नहीं हूँ। मैं परसे टिकता हूँ या परसे मेरा जीवन है ऐसा नहीं है; परन्तु मैं स्वयं अपने अस्तित्वसे टिका हुआ हूँ, मैं स्वयं एक ज्ञायक पदार्थ हूँ। किन्हीं अन्य पदार्थों (साधनों)से टिके ऐसा मेरा तत्त्व नहीं है। मुझे किसी परपदार्थके आश्रयकी जरूरत नहीं है—ऐसा स्वरूप होनेपर भी स्वयं एकत्वबुद्धि करके अटक गया है।

स्वतःसिद्ध स्वभाव उसे कहा जाता है कि जिसे परके आश्रयकी जरूरत न हो। जो स्वतःसिद्ध स्वभाव हो वह स्वयं परिणमता है और वह स्वभाव अमर्यादित होता है; इसलिये ज्ञान–आनन्दादि अनन्तगुणोंका जो स्वभाव है उसकी कोई मर्यादा नहीं है, वह अनन्त ही है। ऐसे स्वभावकी महिमा आये तो वह अपनी ओर जाता है।

बाह्यसे तथा विभावोंकी परिणतिसे—विकल्पोंकी हारावलिसे—उसे थकान लगे तो अपने चैतन्यका आश्रय ग्रहण करे। यदि वह बाहरसे नहीं थकता तो उसे अपना आश्रय लेना कठिन पड़ता है। जब थकान लगे कि यह विभावपरिणति तो कृत्रिम है, सहज नहीं है तथा कष्टरूप–दुःखरूप है तब उसे अपने सहजस्वभावका आश्रय ग्रहण करनेकी अंतरसे जिज्ञासा–भावना हुए बिना नहीं रहती। ३४९.

प्रश्न :—*पूज्य गुरुदेवने वस्तुस्वरूपका ऐसा विवेचन किया है कि विभावोंमें खड़े रहनेका मन ही न हो, और इधर जो भगवान् आत्मा विराज रहा है उसका आकर्षण बना ही रहे। इसमें आपको क्या कहना है?*

समाधान :—आलोचना पाठमें आता है कि मेरे गुरुने मेरे हृदयमें उपदेशकी ऐसी जमावट की है कि जिसके आगे इस पृथ्वीका राज्य तो क्या, तीन लोकका राज्य भी मुझे इष्ट नहीं है। वैसे ही अपने गुरुदेवने उपदेशकी ऐसी जमावट की है कि अन्यत्र कहीं भी रुचि नहीं लगे। गुरुदेवने जिस उपदेशकी वर्षों तक जमावट की है उसे यदि स्वयंने ग्रहण की हो तो चित्त कहीं अन्यत्र नहीं लगे। महाभाग्य हो तभी गुरुदेवका उपदेश वर्षों पर्यंत प्राप्त हो! ऐसे कालमें, ऐसे गुरुका मिलना और वर्षोंतक उनके उपदेशका श्रवण वह महाभाग्यकी बात है! कोई गहराईसे समझे या नहीं समझे, किन्तु वाणीमें हरएकको अपूर्वता लगती कि सबसे कुछ और ही निराली बात कह रहे हैं!! ३५०.

प्रश्न :—*वचनामृतमें आता है कि स्वभावकी बात सुनते ही हृदयमें आरपार उतर जाय, तो उसमें क्या कहना है?*

समाधान :—यह और ही कुछ कह रहे हैं और मैं तो इन विभावोंके साथ एकत्वको प्राप्त हो रहा हूँ!—इसप्रकार भीतरसे स्वरूपकी ओर जानेका कोई निराला ही झटका लगे जो आरपार उतर जाय। अबतक यह परिभ्रमण किया और आज भी उसीमें खड़ा हूँ—ऐसा झटका लगे और अंतरसे स्वसन्मुखताका पुरुषार्थ उभर पड़े। गुरुदेवकी वाणीका प्रबल निमित्त था; वाणी सुननेपर अपूर्वता लगे, तो भेदज्ञान हो जाय ऐसी चोट लगे कि अंतरसे स्वयं भिन्न हो जाय। जिसका उपादान तैयार हो उसे भेदज्ञान हुए बिना नहीं रहता, वैसा उनका निमित्त था। ३५१.

प्रश्न :—*कषायकी मन्दता हो वहाँ शान्तिका वेदन हो जाता है तथा पंचेन्द्रियके विषयोंमें सुख-शान्तिका आभास होता है, आत्मामें सुख है ऐसा नहीं लगता; तो आगे कैसे बढ़ा जाय?*

समाधान :—एक आत्माके सिवा बाह्यमें कहीं सुख नहीं है। इतनी दृढ़ता और प्रतीति अपने अंतरमें आ जाय तो परिणति स्वसन्मुख हो जाय। ज्ञायककी महिमा आये तथा आत्मामें ही सुख है, अन्यत्र कहीं सुख नहीं है, ऐसा प्रतीतिका बल आये तभी पुरुषार्थ स्वसन्मुख होता है। अनादिका अभ्यास होनेसे उसे बाह्यमें शान्ति लगती है और वह जहाँ तहाँ रुक जाता है। कुछ न हो—विकल्प भी न आयें—और मात्र चैतन्यका अस्तित्त्व हो, वही मुझे चाहिये, उसीमें सब भरा है—ऐसी प्रतीतिका बल अंतरसे आये तो आगे बढ़ता है। ३५२.

प्रश्न :—*बाह्य प्रवृत्तिमें अशुभमेंसे शुभमें जाय तो वहाँ ऐसा रुक जाता है कि आत्माको ग्रहण करनेका एक ओर रह जाता है। वह कदाचित् पुरुषार्थ करे तो कुछ दिन चलता है फिर छूट जाता है; तो क्या किया जाय?*

समाधान :—अनादिसे विभावोंका प्रवाह चल रहा है, इसलिये परिणतिको अपनी ओर पलटाना बहुत कठिन पड़ता है और यों ही मन्द कषायमें चला जाता है। परिणतिको पलटानेके लिये तीव्र पुरुषार्थ करे तो होता है। वैसे तो जिसे हो उसे अन्तर्मुहूर्तमें होता है, किन्तु अधिकांश तो प्रयत्न करते-करते होता है। बारम्बार पुरुषार्थ करता रहे, उसे छोड़े नहीं, थकान न लगे, तो उसमें कभी तीक्ष्ण पुरुषार्थका प्रसंग बननेपर प्राप्ति होती है। ३५३.

प्रश्न :—*बहिनश्री! हम निर्विकल्प होकर ध्यान करें तो किसका करें?*

समाधान :—आत्मा निर्विकल्पस्वरूप ही है; उसकी प्रतीति पहले करे और मैं विकल्पोंसे भिन्न हूँ ऐसा भेदज्ञान करे तो निर्विकल्प हुआ जाता है। प्रथम सच्चा ज्ञान करे, पश्चात् सच्चा ध्यान होता है। मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय और दूसरेके द्रव्य-गुण-पर्याय भिन्न भिन्न हैं।—इसप्रकार अपनेको पहिचाने, सच्ची प्रतीति-ज्ञान करे तो निर्विकल्प हुआ जाता है। ३५४.

प्रश्न :—*मस्तिष्कमेंसे सब विचार निकाल दें और ध्यान धरें कि "मैं एक अखंड आत्मा हूँ" तो ध्यान होगा?*

समाधान :—ऐसा मनमें विचार आये, सब विचारोंको निकाल दूँ, परन्तु अंतरमेंसे छूटना मुश्किल पड़ता है। प्रथम तो मैं ज्ञायक हूँ—ऐसा अपना अस्तित्व ग्रहण होना चाहिये। अपनी ज्ञायकताका भास अंतरसे होना चाहिये। यह रहा... चैतन्य आत्मा, यह ...रहा मैं—ऐसा लगना चाहिये। 'जैसे शरीर मैं हूँ' ऐसा लगता है वैसे ही 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा लगना चाहिये। इसप्रकार ज्ञायककी सच्ची प्रतीति और ज्ञान होनेके पश्चात् विकल्प छूटते हैं। प्रारंभमें अप्रशस्त विकल्प छोड़कर जिनेन्द्रदेवके, शास्त्रके, गुरुके तथा मैं आत्मा ज्ञायक हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ, मैं विभाव नहीं हूँ—ऐसे विचार आते हैं। वे विचार कब छूटते हैं कि जब अंतरमें ज्ञायकमें लीन हो तब छूटते हैं। पहलेसे विचार छोड़ने जाय तो अंतरमें एक प्रकारकी शून्यता जैसा हो जाय। पहलेसे विचार नहीं छूटते। सच्चा ज्ञान हो तो सच्चा ध्यान होता है। पहले विकल्प छूटे न हों और अंतरमें ऐसा लगे कि छूट गये हैं। अंतरमें विकल्प पड़े हों उन्हें भले ही बदल दे परन्तु पहले विकल्प छूटना कठिन होता है। (छूट नहीं सकते।)

पहले सच्चा ज्ञान करना चाहिये। मैं चैतन्य भिन्न हूँ और यह सब भिन्न है—ऐसा अंतरमें भेदज्ञान करना। यह सब भिन्न ही है ऐसा निर्णय करनेके पश्चात् वैसा कार्य होना चाहिये। प्रत्येक कार्यमें मैं भिन्न हूँ...भिन्न हूँ—ऐसा प्रतिक्षण लगना चाहिये। खाते-पीते, चलते-फिरते, बोलते अथवा किसी भी कार्यमें स्वयं भिन्न ही भासित हो तो विकल्प छूटकर निर्विकल्प स्वानुभूति हो। परन्तु हर समय स्वयं निराला लगना चाहिये। पहले भेदज्ञानका अभ्यास करे तो स्वानुभूति हो। ३५५.

प्रश्न :—*पूज्य गुरुदेवके टेप प्रवचन सुनते हुए तथा आत्मधर्म पढ़ते हुए गहराईसे ऐसा लगता है कि किसी प्रकार आत्मा प्राप्त कर ही लेना है; किन्तु फिर प्रयत्न नहीं चलता!*

समाधान :—आत्मा प्राप्त न हो तबतक प्रयास करते ही रहना चाहिये, थकना

नहीं। पठन–मनन, महिमा करना और बारम्बार उसका अभ्यास करना कि मैं चैतन्य भिन्न हूँ।

जैसे भगवान्‌के मन्दिरके द्वार नहीं खुलते तबतक मन्दिरके बाहर घूमता रहता है, घूमना नहीं छोड़ता; तब मन्दिरके द्वार खुलनेपर भगवान्‌के दर्शन होते हैं। वैसे ही मैं चैतन्य हूँ, अन्य कोई नहीं हूँ—ऐसा बारम्बार अभ्यास करे तो अवश्य ही आत्माके दर्शन होते हैं। जबतक आत्माके दर्शन नहीं हों तबतक उतावल या आकुलता नहीं करना परन्तु उसकी महिमा करना। ३५६.

प्रश्न :—*कुछ लोग तो तीन दिनमें आत्मा देनेकी बात करते हैं, तो वह क्या होगा ?*

समाधान :—आत्मा किसीसे दिया नहीं जा सकता, स्वयं ही पुरुषार्थ करे तो प्राप्त होता है; अपनेको अपनेसे ही आत्मा ग्रहण होता है। किसीकी भूल न रहे इसप्रकार गुरुदेवने मार्गको अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। ऐसी भेदज्ञानकी बात करनेवाले कोई नहीं हैं। आत्मा शरीरसे एवं शुभाशुभ विकल्पोंसे भिन्न है, ऐसी बात गुरुदेवने स्पष्ट करके कही है। उन्होंने कहा है कि कहीं चूक मत जाना, एक चैतन्यको ग्रहण कर लेना। कार्य थोड़ा हो उसमें हानि नहीं है, परन्तु मिथ्यामार्गपर मत चलना। "कर सके यदि प्रतिक्रमणादि ध्यानमय करना अहो!" और न हो सके तो उतावल मत करना, थोड़े शुभभावमें नहीं मान लेना कि मुझे आत्माकी प्राप्ति हो गई है। आत्मप्राप्ति न हो, तबतक श्रद्धा बराबर रखना कि मार्ग तो यही है; अन्य मार्ग ग्रहण नहीं करना। श्रीमद्‌जीने कहा है न कि,

यमनियम संजम आप कियो, पुनि त्याग बिराग अथाग लह्यो।
वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।।

तूने यम, नियम, ध्यान, उपवास, मौन, हठयोग आदि सब कुछ किया, किन्तु करनेका तो कुछ और ही बाकी रह गया है। इसलिये सद्‌गुरु बतलाते हैं उस मार्गपर तू चलना। वह मार्ग कोई अलग ही है।

आत्मा प्राप्त न हो तो भावना करनी। मैं भिन्न हूँ–भिन्न हूँ, चैतन्य हूँ, यह रागादि कोई मेरे नहीं हैं, मैं तो शाश्वत हूँ, ऐसी भावना रखना ; परन्तु उतावल नहीं करना। ध्यानमें मुझे प्रकाश दिखाई दिया ऐसा कोई मार्ग ग्रहण नहीं करना।

जगत्में अनेकानेक भ्रमणाएँ हैं। किसीके देनेसे सम्यग्दर्शन नहीं मिलता। सम्यग्दर्शन होना अनन्तकालसे दुर्लभ है, वह दूसरा कोई दे सके ऐसा नहीं है। अपनेको अंतरसे लगन लगे और स्वयं ही अंतरसे पृथक् हो और भेदज्ञानकी उग्रता हो तभी सम्यग्दर्शन होता है। वह नहीं हो तो उसकी अपूर्वता और महिमा करना। महिमा करेगा तो निकट आ जायगा, उतावल करनेसे तथा अन्यत्र कहीं मानलेनेसे उलटा नुकसान होगा।

गुरुदेवसे सबने श्रवण किया है। उन्होंने कोई अपूर्व बात कही है। सम्यक्त्व दुर्लभ है किन्तु पुरुषार्थ करे तो सुलभ है और क्षणमें हो सकता है। पुरुषार्थ करे तो वह उत्कृष्टसे उत्कृष्ट छह मासमें प्राप्त होता है। वह न हो तो उतावल नहीं करना, अन्य मार्गपर नहीं जाना। श्रद्धा यथार्थ करना। ३५७.

प्रश्न :— *''वो ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जीव मुक्ति लहे''—इसमें क्या कहा है?*

समाधान :—जो ज्ञानके भेद हैं उन्हें ग्रहण न करके एक ज्ञानमात्र ज्ञायकको ग्रहण करना। सूर्यके प्रकाशकी किरणें जो हीनाधिकतायुद्य१७८द्म हैं वह कोई मूल सूर्य नहीं है। वैसे ही कर्मके निमित्तसे जो मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान ऐसे पाँच भेद दिखाई देते हैं वह मूल तल नहीं है, मूल तल तो ज्ञायक है। उस ज्ञायकको–ज्ञानपदको ग्रहण करना। ''वो ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जीव मुक्ति लहे'' मति–श्रुतादि तो भेद हैं किन्तु उनका मूल क्या है? प्रकाशकी किरणें दिखाई देती हैं परन्तु सम्पूर्ण सूर्य कहाँ है? उस सूर्यको ग्रहण करने जैसा है। जो किरणें दिखाई दे रही हैं, उनके पीछे पूर्ण अस्तित्व क्या है? वैसे ही इन पाँच भेदोंके पीछे जो पूर्ण ज्ञायकता विद्यमान है—चैतन्यता विद्यमान है—उसे ग्रहण करना है। ३५८.

प्रश्न :— *आप बारम्बार भेदज्ञानका अभ्यास करनेको कहते हैं, तो वह अभ्यास कैसे करना?*

समाधान :—स्वयंको बाह्यमें शरीरके प्रति, विभावके प्रति एकत्वबुद्धि हो रही है, उसे तोड़कर मैं तो चैतन्य हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ—ऐसी 'भावना' बारम्बार होनी चाहिये। वह बारम्बार कब हो? कि जब इतनी अंतरसे लगन लगी हो, जरूरत लगी हो तब। अनादिकी 'परमें' एकत्वबुद्धि है उसे तोड़कर बारंबार 'मैं चैतन्य हूँ, चैतन्य हूँ' ऐसा प्रारंभमें विकल्परूपसे होता है, किन्तु जब सहजधारा चले तब यथार्थ परिणमन होता है; परन्तु तबतक भावनारूप विकल्प होता है।

बाह्यमें कहीं चैन न पड़े, एकत्वबुद्धिके कालमें भी चैन न पड़े तो अपनेको खोजकर अपना आश्रय ले। वह न हो तबतक श्रुतका चिन्तन करे, देव–शास्त्र–गुरुमें चित्त लगाये। विचार करे कि मैं तो चैतन्य हूँ, चैतन्य हूँ, परन्तु उस भावनामें निरन्तर रहा नहीं जाता क्योंकि वह सहज भावना नहीं है। सहज नहीं है इसलिये विचार अन्यत्र जाते हैं, श्रुतके तथा द्रव्य–गुण–पर्यायके चिन्तनमें लगता है। 'मैं भिन्न हूँ, मैं भिन्न हूँ' ऐसे एकके एक विकल्पमें, विकल्पयुक्त उपयोग होनेसे, टिक नहीं सकता। इसलिये भावना ऐसी रखना कि 'मैं तो चैतन्य हूँ, चैतन्य हूँ'.....और बारंबार अभ्यास भी करता रहे। उपयोग एकमें स्थिर नहीं रह सकता, और एक ही एक विकल्पयुक्त चिन्तन रूखा हो जाता है, इसलिये श्रुतके चिन्तनके विचारोंमें लगता है; तथापि करनेका तो एक ही है कि भेदज्ञान करके चैतन्यको ग्रहण करना। मेरा स्वभाव विकल्पोंसे भिन्न है ऐसे एक चैतन्यको ग्रहण करनेका है। ३५९.

प्रश्न :—*तीक्ष्ण उपयोगका अर्थ क्या है?*

समाधान :—तीक्ष्ण अर्थात् तीव्र उपयोग। स्थूल उपयोगसे चैतन्यका ग्रहण नहीं होता, किन्तु तीक्ष्ण उपयोगसे यह चैतन्य ही मैं हूँ, ज्ञायक ही मैं हूँ—ऐसा पकड़में आता है। अनेक विकल्प आये, परन्तु उनमें जाननेवाला वही मैं हूँ, ऐसा तीक्ष्ण उपयोग करके चैतन्यकी प्रतीति करे, उसका आश्रय ले, उसमें दृढ़ता करे तो वह पकड़में आता है। उपयोगको तीक्ष्ण एवं सूक्ष्म करके अपने स्वभावको ग्रहण करनेका है। ३६०.

प्रश्न :—*यथार्थ रुचिका क्या लक्षण है? वह कृपा करके समझायें।*

समाधान :—यथार्थ रुचि, तीक्ष्ण रुचि, उग्र रुचि हो तो बारंबार स्वसन्मुख पुरुषार्थ चलता है। यथार्थ रुचि है या नहीं वह स्वयंको विचारना है। रुचि मन्द हो जाय तो उसमें उग्रता नहीं होती, इसलिये उपयोग बाहर टिका रहता है, पुरुषार्थ बाहर जाता है, अंतर्मुख नहीं होता। ३६१.

प्रश्न :—*'ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ'—ऐसा विचार करते रहनेमें रस नहीं आता और एकाग्रता नहीं होती, तो क्या करना?*

समाधान :—एक ही एक विकल्पमें रस नहीं जमता इसलिये सब विकल्पात्मक हो जाता है। अंतरमें ऐसी लगन होनी चाहिये कि मैं चैतन्य हूँ। हृदयमें ऐसी विरक्ति हो जाय कि यह विभावभाव मैं नहीं हूँ, तो विभावका रस टूट जाय और चैतन्यका रस लगे।

बारंबार विकल्प करे तो वह रटने जैसा हो जाता है, परन्तु अंतरमें रसपूर्वक मैं चैतन्य हूँ— ऐसी अपनी महिमा और रस आना चाहिये। ऐसा रस लगना चाहिये कि फिर वहाँसे हटना मुश्किल पड़े। ३६२.

प्रश्न :—*आपने तो छोटी उम्रमें सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया और हम गुरुका इतना उपदेश सुनते हैं तब भी अंतरमें कार्य नहीं होता तो क्या रुचिमें कमी है?*

समाधान :—पुरुषार्थ करना वह अपने हाथमें है। चैतन्यका रटन बारंबार करते रहना, उसमें थकना नहीं, उसीमें ही लगा रहे तो भीतर प्रवेश होनेका अवकाश है। सम्यग्दर्शन न हो तबतक थकना नहीं; बारंबार उसकी भावना–रुचि, श्रुतका चिन्तन, तत्त्वके विचार, विभावोंसे विरक्ति, चैतन्यकी तथा देव–गुरु–शास्त्रकी महिमा करते रहना। कार्य न हो तबतक चैतन्यको ध्येयमें रखकर उसीमें लगा रहे और उसीका मंथन करता रहे, किन्तु थकना नहीं चाहिये। बहुत समय हो गया और अंतरमें कुछ हो नहीं रहा है इसलिये उसका रस उड़ जाय ऐसा नहीं करना। बारंबार उसीकी भावना करते रहना, उसके समीप ही रहना। ३६३.

प्रश्न :—*अपने शुद्धस्वरूपका विकल्पात्मक यथार्थ ज्ञान हो, उससे चैतन्यकी विशेष महिमा आती है?*

समाधान :—विकल्पात्मक ज्ञान अधिक हो तो शुद्धस्वरूपकी विशेष महिमा आये ऐसा नहीं है। उसे द्रव्य–गुण–पर्यायका अधिक ज्ञान हो तो अधिक महिमा आये ऐसा नहीं है। महिमा वह स्वयं जुदी परिणति है और (विकल्पात्मक) ज्ञान वह जुदा है। महिमामें ज्ञान बाह्य साधन बनता है, परन्तु अधिक ज्ञान हो तभी महिमा आये ऐसा नहीं होता। कितने ही लोगोंको ज्ञान अल्प हो और अंतरमें महिमा तथा परिणतिमें चैतन्यकी ओरका झुकाव बहुत अधिक हो जाय। महिमा आनेसे पलटना हो जाता है। भले ज्ञान अल्प हो, परन्तु अपने अस्तित्वका ग्रहण करे, साथ ही इतना हो कि 'मैं परसे भिन्न हूँ' तो उसे अंतरंग महिमा आकर तथा विभावोंकी महिमा छूटकर अंतरसे विरक्ति आ जाये। ज्ञान अल्प होनेपर भी पलट सकता है। ज्ञान महिमा लानेमें साधन बनता है; परन्तु ज्ञान अधिक हो तभी महिमा आये ऐसा नहीं है। ३६४.

प्रश्न :—*मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ ऐसा निर्णय करके ज्ञायकमें प्रयोग करने जाते हैं तो रूखापन हो जाता है, रसात्मक नहीं लगता। तो कैसा पुरुषार्थ करना चाहिये, वह समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—ज्ञायक अर्थात् उसमें मात्र जानना है ऐसा रूखा ज्ञायक नहीं है। ज्ञायक वह कोई अनुपम ज्ञायक है, कोई अनूठा ही ज्ञायक है। ज्ञायक अनन्तानन्त गुणोंसे भरा हुआ है। उसका ज्ञानस्वभाव अनन्त–अगाध है। ऐसा जाननेका जिसका अचिंत्य स्वभाव है, वह स्वयं ज्ञायक है। परको जानता है इसलिये ज्ञायक नहीं है, स्वयं ज्ञायक है। उस ज्ञायकमें अनन्तता भरी है। ज्ञायक उसे कहते हैं कि जो एक समयमें संपूर्ण जान सके। एक समयमें स्वयं सर्वत्र पहुँच जाय और स्वयं अपने क्षेत्रमें रहकर सबको जाने ऐसी ज्ञानकी कोई अचिंत्य शक्ति है। उस ज्ञानके साथ आनन्द-गुण भी है। ज्ञायक आनन्दसागरसे भरपूर है। बाह्यमें जिस आनन्दकी मान्यता है वह सच्चा आनन्द नहीं है। स्वयं ही आनन्दका सागर है। ऐसा कोई अनुपम ज्ञायक है उसकी प्रतीति आनी चाहिये, तो उसे ज्ञायक रसात्मक लगे। यदि ज्ञायककी यथार्थ प्रतीति न आये तो मात्र रूखा ज्ञान हो जाय। उसे अंतरसे ज्ञायककी ऐसी प्रतीति आनी चाहिये कि ज्ञायक कोई अपूर्व है। जिनेन्द्रदेवने केवलज्ञानकी जैसी अपूर्व दशा प्रगट की वैसी अपूर्व दशा प्रगट हो वैसी शक्ति मेरे ज्ञायकमें विद्यमान है—इसप्रकार उसकी महिमा आनी चाहिये। ज्ञायककी प्रतीति अंतरसे आनी चाहिये कि मेरा ज्ञायक कोई अनूठा–अपूर्व है। उस ज्ञायकके बिना मुझे चल ही नहीं सकता। ज्ञायकके आश्रय–ज्ञायकके तलको ग्रहण किये बिना मुझे चल ही नहीं सकता—ऐसी ज्ञायककी महिमा उसको अंतरमेंसे आनी चाहिये।

प्रतिक्षण मुझे ज्ञायक ही चाहिये, मैं ज्ञायकका आश्रय और ज्ञायकका आँचल पकड़े रहूँ, मुझे निरंतर ज्ञायकका ही आश्रय रहे, उसका दामन छूटे ही नहीं—ऐसी महिमा आनी चाहिये। वैसी महिमा, ज्ञायकका बारंबार अभ्यास करनेसे प्रगट होती है और तब ज्ञायक रसमयात्मक लगता है।

बाह्यमें–शुभभावोंमें जैसे देव–शास्त्र–गुरुका आश्रय लेता है वैसे ही अंतरमें ज्ञायकका आश्रय आना चाहिये। अंतरमें ज्ञायकदेव परमात्मा है, वह चैतन्यचमत्कारसे भरा हुआ है; वह प्रगट हो तो उसका अचिंत्य चमत्कारी स्वरूप ज्ञात होता है। उसकी प्रतीति ऐसी आये कि ज्ञायकके विना चले ही नहीं, तो ज्ञायक रसमयात्मक लगे और तब उसका पुरुषार्थ आगे बढ़े। ३६५.

प्रश्न :—*आत्माको प्रसिद्ध करनेवाला द्रव्यविशेष (पर्याय) है, तो द्रव्यविशेषकी महिमा क्यों नहीं आती?*

समाधान :—द्रव्यसामान्य और द्रव्यविशेष दोनों अनादि वस्तु हैं। सामान्यकी

महिमा है वैसे ही विशेषकी भी महिमा है। सामान्यकी महिमा इसलिये है कि वह अनन्त शक्तियोंसे परिपूर्ण है, उसमेंसे पर्यायें प्रगट होती हैं। अनादिसे जीवने सामान्यका आश्रय नहीं किया है। द्रव्य अनन्त शक्तियोंसे भरा है, उसका आश्रय करे तो उसमेंसे पर्यायें प्रगट होती हैं। द्रव्य शक्तियोंका भंडार है, इसलिये उसकी महिमा की जाती है।

पर्यायकी भी महिमा होती है। केवलज्ञानकी महिमा, मुनिदशाकी महिमा तथा स्वानुभूतिकी महिमा होती है। पंचपरमेष्ठी पूजने योग्य हैं, आदरणीय हैं, नमस्कार करने योग्य हैं; उन्होंने द्रव्यदृष्टिपूर्वक अंतरमेंसे वीतरागताकी पर्याय प्रगट की है, इसलिये वे पूजनीय हैं। इसलिये विशेषकी भी महिमा होती है।

सामान्यके आश्रयपूर्वक जो विशेष प्रगट हो वह विशेष भी पूज्य है। सब अपेक्षायें समझनी चाहिये।

मुमुक्षु :—एकान्त करने जैसा नहीं है?

बहिनश्री :—एकान्त करने जैसा नहीं है। अनादि कालसे द्रव्यकी दृष्टि प्रगट नहीं की है, सामान्य जो कि आदरणीय है उसका आश्रय नहीं लिया और मात्र स्थूल व्यवहारमें रुक गया है। सामान्यके आश्रय बिना व्यवहारमें रुक गया, किन्तु ऐसा व्यवहार छोड़ने योग्य है। उस व्यवहारकी दृष्टि छोड़कर, शक्तियोंके भंडार ऐसे सामान्यकी दृष्टि कर। अनन्त गुणभंडार सामान्यकी दृष्टि करे तो सामान्यकी महिमा आये ही। उसके साथ साधनाकी पर्यायकी महिमा भी शास्त्रोंमें आती है। पंचपरमेष्ठी व्यवहारसे पूजनीय कहे जाते हैं, ऐसा न हो तो उनका कथन शास्त्रोंमें आता है वह निष्फल सिद्ध होगा। पंचपरमेष्ठी भगवान् पूजने योग्य हैं, साधकदशामें ऐसे शुभभाव आते हैं। इसलिये पर्याय और द्रव्य दोनोंका विवेक करनेका है। ३६६.

प्रश्न :—*सामान्यकी ओर जानेमें बीचमें व्यवहार तो आता है; उतना व्यवहार तो रखना चाहिये न?*

समाधान :—व्यवहार रखना ऐसा नहीं, व्यवहारका यथार्थ ज्ञान होता है। अपनी ओर दृष्टिका ध्येय रखना और बीचमें जो व्यवहार आता है वह जानने योग्य है। व्यवहारका यथार्थ ज्ञान बीचमें होता है। जैसा है वैसा यथार्थ प्रतीति करनेकी है। व्यवहारके स्थानपर व्यवहार योग्य है, निश्चयके स्थानपर निश्चय योग्य है।

"ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समझवुं तेह"—निश्चयके स्थानपर निश्चय, व्यवहारके स्थानपर व्यवहार; जहाँ जैसा है वैसा समझना। जहाँ जो योग्य हो वहाँ उसका आचरण करना। सामान्यको मुख्य रखकर, व्यवहारको हेय गिननेमें आता है अर्थात् भूतार्थदृष्टिसे व्यवहारको अभूतार्थ कहा है। तथापि जो अभूतार्थ है वह व्यवहार, स्वयं अपनेसे है। निश्चय भूतार्थ है उस अपेक्षासे व्यवहार अभूतार्थ है; परन्तु उससे पर्याय नहीं है ऐसा नहीं है। जहाँ जो अपेक्षा योग्य है वहाँ तदनुसार यथायोग्य समझना। ३६७.

प्रश्न :—*वचनामृतके बोलमें आता है कि पुरुषार्थ करनेके उपायकी सूझ आ जाय तो मार्गकी उलझन दूर हो जाय; पीछे उस उपायसे कमाये। "धनसे धन कमाये, और धन कमाये तो ढेर हों।" इस सम्बन्धमें आपका क्या कहना है?*

समाधान :—'यह चैतन्य ही मैं हूँ' ऐसी यथार्थ ज्ञानकी कल अर्थात् पुरुषार्थ करनेकी कला अंतरसे सूझ जाय तो मार्गकी उलझन मिट जाय। परन्तु वह ज्ञानकी कला, पुरुषार्थ करनेकी कला कब सूझे? कि 'मैं कौन हूँ? यह विभाव क्या है?' ऐसे निर्णय करके, विभावसे न्यारा हो तब। उसे कहीं भी चैन न पड़े; बस... मुझे एक आत्मा ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं; एक आत्माके सिवा जगत्की किसी वस्तुकी विशेषता नहीं लगे; एक आत्मा ही विशेष और सर्वोत्कृष्ट है; इतनी आत्माकी जरूरत लगे तो, पुरुषार्थ करनेकी कला सूझे।

'चैतन्य आत्मा कोई अनुपम पदार्थ है' इसप्रकार आत्माकी विशेषता लगे, तो पुरुषार्थ करनेकी कला सूझे। पश्चात् 'यह आत्मा विभावसे जुदा है' ऐसे करके पुरुषार्थ द्वारा आगे बढ़े तो, जैसे 'धन कमाये तो ढेर हों' तदनुसार पुरुषार्थ हो। धन प्राप्त होना वह पुण्यके आधीन है, धनकी प्राप्ति अपने हाथकी बात नहीं है; परंतु यह पुरुषार्थ तो अपने स्वभावमेंसे प्रगट होता है। स्वभावपर दृष्टि रखकर अस्तित्वको ग्रहण करे अर्थात् अनन्तगुणऋद्धिसे भरपूर आत्मामें जाय तो आत्मामें जो भरे हैं वे दर्शन, ज्ञान और लीनता प्रगट हों, दर्शन–ज्ञान–चारित्रादि अनेक गुणोंकी निर्मलता प्रगट हो। जैसे धन कमाये तो ढेर हों, वैसे ही पुरुषार्थ करे तो आत्माकी अनेक प्रकारकी निर्मलतायें प्रगट हों।

जिसे कल (उपाय) सूझी और आत्मा हाथ आ गया उसे आत्मामेंसे अनन्तगुणोंकी निर्मलतायें प्रगट होती हैं; स्वसे एकत्व और परसे विभक्त ऐसी परिणति अंतरमें प्रगट होती

है। स्वयंको दृष्टिका जोर है और भेदज्ञानकी धारा है तो कभी विशेष पुरुषार्थ करनेसे धन कमाये और ढेर हों वैसा हो जाता है। ३६८

प्रश्न :—*परिणति विशेष हो तो कल हाथ आ जाती है?*

समाधान :—परिणति विशेष हो तब कल (उपाय) हाथमें आये ऐसा नहीं, सम्यग्दर्शन हुआ वहीं कल हाथमें आ जाती है। मुक्तिका मार्ग प्रगट हुआ, स्वानुभूति प्रगट हुई वहीं कल हाथमें आ गई। आत्माका अस्तित्व ग्रहण किया, मुक्तिके मार्गपर चला और स्वरूपकी धारा प्रगट हुई वह कल (उपाय) है। फिर उसमें अमुक प्रकारकी निर्मलतायें यथायोग्य प्रगट होती हैं। ज्ञान-दर्शन प्रगट होनेपर कितनीक स्वरूप-रमणता प्रगट होती है, फिर आगे बढ़े तब भूमिकामें वृद्धि होती है उसका चारित्रके साथ सम्बन्ध है। चारित्रदशा केवलज्ञानको लानेवाली है। चारित्रदशामें अनेक प्रकारकी विभूतियाँ प्रगट होती हैं।

जिसे मुक्तिका मार्ग हाथ आ गया है, जिसने अपना अस्तित्व ग्रहण किया है, उसको ज्ञायककी धारा प्रगट हो गई है। फिर उसकी विरक्ति बढ़ जाती है जो ज्ञायककी धारामें आगे पुरुषार्थ होनेमें कारण है, दूसरा कोई कारण नहीं है। कल (उपाय) सूझनेमें सम्यग्दर्शनकी बात है; सम्यग्दर्शन होनेपर अब उसे कोई उपाय सूझना बाकी नहीं है। जिसे मुक्तिका मार्ग प्रगट हुआ उसे कल सूझ ही जाती है। चारित्रदशा तो सहज है। यद्यपि ज्ञाताधाराकी उग्रता होनी वह तो उसके पुरुषार्थ पर निर्भर है, परन्तु अब कोई अन्य उपाय सूझे तब वह आगे बढ़े ऐसा नहीं है। उसे अब किसी प्रकारकी मार्ग सम्बन्धी उलझन नहीं है।

मुमुक्षु :—पुरुषार्थकी उग्रता हो तो आगे बढ़ सकता है?

बहिनश्री :—हाँ, पुरुषार्थकी उग्रता हो तो आगे बढ़ता है और पुरुषार्थकी मन्दता हो तो वहीं खड़ा रहता है, परन्तु उसे कल सूझने या मार्ग (सम्बन्धित) कोई उलझन नहीं है। ज्ञानी गृहस्थाश्रममें खड़ा है सो पुरुषार्थकी मंदताके कारण खड़ा है, फिर भी गृहस्थाश्रममें अमुक प्रकारका पुरुषार्थ होता ही रहता है, क्योंकि कल उसके हाथमें है, अब कल सूझना बाकी नहीं है। उसका यदि उग्र पुरुषार्थ हो तो निर्मलताके ढेर लग जायें। उसके हाथमें ऐसा कल्पवृक्ष आया है कि उसमें पुरुषार्थकी धारा बढ़े तो धनके (निर्मलताके) ढेर लग जायें और वह उसके हाथकी बात है। कितना आगे बढ़ना वह स्वयंके हाथकी बात है। किसीको मतिज्ञानकी निर्मलता, किसीको श्रुतज्ञानकी निर्मलता, किसीको अवधिज्ञानकी निर्मलता,

किसीको मनःपर्ययज्ञानकी निर्मलता—ऐसे अनेक प्रकारकी ऋद्धियाँ प्रगट होती हैं। अनेक प्रकारकी निर्मलतायें अंतरमें हैं, वे सभी सबको प्रगट होती ही हैं ऐसा नहीं है। किसीको ऐसी निर्मलता नहीं भी प्रगट हो और एक चारित्रदशा प्रगट हो तो उसमेंसे केवलज्ञान हो जाता है। किसी-किसी साधकको बीचमें सब आता है। जैसे धन कमाये और ढेर लग जायें वैसे ही अनेक प्रकारकी ऋद्धियाँ प्रगट होती हैं। ३६९.

प्रश्न :—*सम्यग्दृष्टिको भी पुरुषार्थकी जरूरत लगती है?*

समाधान :—हाँ, उसे पुरुषार्थकी जरूरत लगती है। जिज्ञासुकी भूमिकामें भी (सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके लिये) पुरुषार्थकी जरूरत लगती है और सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके पश्चात् भी पुरुषार्थकी पूरेपूरी जरूरत लगती है। उसने सभी प्रकारसे एक आत्माको सर्वस्व जाना है और श्रद्धामें नव-नव कोटिसे एक आत्माको ग्रहण किया है जिससे अन्य सब श्रद्धामेंसे निकल गया है, तथापि अभी पुरुषार्थकी मन्दतासे श्रद्धा एवं चारित्रमें अन्तर है इसलिये उसे भी पुरुषार्थकी जरूरत है-मुख्यता पुरुषार्थकी है। सम्यग्दृष्टिको पुरुषार्थकी जरूरत लगने पर भी पुरुषार्थमें मन्दता है; चारित्रकी अपेक्षा पुरुषार्थकी मन्दता कही जाती है। यद्यपि श्रद्धाकी अपेक्षा आत्माको यथार्थरूपसे ग्रहण किया है और यदि एक क्षणमें केवलज्ञान होता हो तो मुझे और कुछ नहीं चाहिये—ऐसी उग्रता भी अंतरपरिणतिमें है, तथापि पुरुषार्थकी मन्दता है। स्वयं गृहस्थाश्रममें रहकर पश्चात् मुनिदशा अंगीकार करता है परन्तु उसमें पुरुषार्थकी मन्दता है फिर भी पुरुषार्थकी जरूरत नहीं लगी है, ऐसा अर्थ वहाँ नहीं होता। उसकी दृष्टि ही सम्पूर्ण पलट गई है—अपनी ओर चली गई है, उसकी सम्पूर्ण दिशा बदल गई है। उसकी आत्मपरिणति आत्माकी ओर ही है, आत्माको ही देख रही है, वह विभावसे विमुख हो गया है, तथापि पुरुषार्थकी मन्दतासे अंतरमें परिपूर्ण लीन नहीं हो सकता, इसलिये बाहर आ जाता है। ३७०

प्रश्न :—*सम्यग्दृष्टि धर्मात्माके प्रति सच्ची अर्पणता हो तो कार्य हो जाये न? उस अर्पणताका मर्म क्या है वह कृपया आप समझायें।*

समाधान :—पूज्य गुरुदेवने आत्माका अपूर्व स्वरूप समझाया है कि आत्मा जुदा है, शरीर जुदा है, विकल्प जुदा है—ऐसा भेदज्ञान करके तू द्रव्यदृष्टि कर। गुरुने जो बतलाया है और धर्मात्मा जो कहते हैं उन सबका उसे स्वीकार है। जिसने अन्तरसे गुरुको स्वीकार किया उसके भवका अभाव हुए बिना नहीं रहता।

मूल प्रयोजनभूत जो स्वरूप है वह गुरुदेवने बतलाया है। जो भगवान्‌के द्रव्य–गुण–पर्यायको जाने वह आत्माको जाने और जो आत्माको जाने वह भगवान्‌को जाने। वैसे ही जिसने गुरुको स्वीकार किया वह अपनेको स्वीकारता है और जो अपनेको स्वीकारता है वह गुरुको स्वीकारता है। ऐसी अर्पणता अंतरमेंसे आये तो उसको विकल्पका स्वामित्व छूट जाता है। मैं विकल्पसे भिन्न हूँ, विकल्प मेरा स्वरूप नहीं है, मैं विकल्पका स्वामी नहीं हूँ। यदि सच्ची अर्पणता हो तो पूज्य गुरुदेव कहते हैं वैसी अपनी परिणति हो जाती है। बुद्धिसे नहीं, किन्तु जो अंतरसे हो जाती है वह अर्पणता भिन्न प्रकारकी होती है। उसे समस्त विकल्पोंमें पूरी अर्पणता ही होती है। ३७१

प्रश्न :—*तत्त्वकी बातमें अर्पणता होती है या व्यवहारकी बातमें भी अर्पणता होती है?*

समाधान :—अर्पणता सबमें होती है; तथा उसमें वायदे भी नहीं होते। अर्पणतामें वायदे या कायदे नहीं होते। तत्त्वकी ही अर्पणता हो और दूसरी अर्पणता न हो तो व्यवहारकी बातोंमें स्वयं चतुर हो गया; व्यवहारकी बातें मैं जानता हूँ और तत्त्वकी बातें गुरु जानते हैं, ऐसी चतुराई रहने दे! गुरु कहें दिन है तो दिन है और रात है तो रात।—ऐसी अर्पणता होनी चाहिये।

जो मुक्तिके पथपर चला, जिनकी परिणति मुक्तिके पथपर गई उन ज्ञानीके विकल्प और परिणति सब यथार्थ हैं। उसे ग्रहण करनेमें स्वयंको लाभ है। जो साधकदशामें स्थित हों उनके बाह्य तथा अंतरका सब स्वीकार्य है। आत्मार्थीके सब आग्रह छूट जाते हैं, उसे किसी प्रकारका आग्रह नहीं रहता कि व्यवहारमें ऐसा होता है और निश्चयमें ऐसा। आत्मार्थीको मन–वचन–कायसे सब छूट जाता है। ३७२

प्रश्न :—*आज नूतनवर्षके प्रारंभमें हमें कुछ मंगल सीख दीजिये।*

समाधान :—देव–शास्त्र–गुरु और शुद्धात्मा मंगलरूप हैं। एक शुद्धात्माका ध्येय रखकर, शुद्धात्मा कैसे प्रगट हो? निर्मल पर्याय कैसे प्रगटे? नवीन पर्याय कैसे प्रगट हो?—वह भावना रखने योग्य है।

मेरे भावमें, मेरे ध्यानमें, मेरे समस्त वर्तनमें ज्ञायकदेव होओ। ज्ञानमें ज्ञायकदेव, दृष्टिमें ज्ञायकदेव, लीनतामें ज्ञायकदेव—सर्वत्र ज्ञायकदेव होओ। आता है न? कि "मेरे ध्यानमें,

मेरे भावमें जिनवैन होओ।'' वैसे ही मेरे ध्यानमें, मेरे भावमें, मेरे मनके भीतर ज्ञायकदेव होओ, शुद्धतामें ज्ञायकदेव होओ और शुभभावमें देव-शास्त्र-गुरु होओ, ऐसी भावना, ऐसा रटन, ऐसी जिज्ञासा... वह सब करने योग्य है। एक शुद्धात्माको लक्ष्यमें रखनेसे-उसके ध्येयको पहिचाननेसे नवीन पर्यायें प्रगट हों वही नवीनता है। यह जो नूतनवर्ष कहलाता है वह तो व्यवहारसे है, परन्तु अंतरमें नूतन पर्यायें प्रगट हों वह सच्ची नवीनता है। इसलिये शुद्धात्माका-ज्ञायकदेवका ध्यान रखना, वही जीवनका कर्तव्य है; शेष सब गौण है। सारभूत हो तो एक आत्मा है। सर्वोत्कृष्ट, अनुपम ज्ञायकतत्त्वकी पहिचान करने योग्य है, यही सच्चा कर्तव्य है; बस...! इसीमें सब आ जाता है। ३७३

प्रश्न :—*जब आत्मामें अन्तर्मुखताका प्रयोग करें तब सर्व वस्तुओंको प्रकाशित करनेवाले दीपकके उदाहरणसे करें अथवा दर्पणमें पड़नेवाले प्रतिविम्बके उदाहरणसे?—वह प्रयोग किस रीतिसे आत्मामें करें?*

समाधान :—अंतर प्रयोग करनेमें 'मैं किस प्रकार जानता हूँ' ऐसा प्रयोग करनेकी अपेक्षा, अपने अस्तित्वको ग्रहण करना अर्थात् ज्ञायककी ओर दृष्टि करना ही प्रयोग है। मैं दीपक जैसा हूँ या दर्पण जैसा—ऐसे विचारना कोई प्रयोग नहीं है, वह तो जाननेकी एक रीति है। मैं कैसे जानता हूँ? दीपककी भाँति या दर्पणकी भाँति? सो जाननेकी बात है। जाननेकी परिणति जैसे होती है वैसे होती है; स्वयं अपने ज्ञायकका अस्तित्व ग्रहण करना वह प्रयोग करनेका है। प्रयोग स्वयंको करनेका है कि 'मैं यह चैतन्य हूँ और यह विभाव मैं नहीं, यह विभावपरिणति मेरा स्वभाव नहीं, मैं विभावस्वरूप नहीं हूँ, किन्तु मैं एक ज्ञायक हूँ' ऐसे अस्तित्वग्रहणका प्रयोग करना।

मैं किस प्रकार जानता हूँ—वह जानना सो कोई प्रयोग करनेकी वस्तु नहीं है, जाननेकी वस्तु है। प्रयोग तो 'मैं एक ज्ञायक हूँ' वह करनेका है। स्वयं कहीं बाहर जानने नहीं जाता और अन्यमें एकत्व भी नहीं होता, एकत्वबुद्धि स्वयं कर रहा है। स्वयं अन्यद्रव्यरूप नहीं होता, परन्तु एकत्व मान रहा है वह अपनी भूल है; इसलिये 'मैं तो अन्य द्रव्योंसे भिन्न एक ज्ञायक हूँ' ऐसे ग्रहण करनेका है।

अपनी ज्ञान-परिणति मानो कोई काम नहीं करती और प्रतिबिम्ब बलात् आकर अंतरमें पड़ता है, ऐसा कुछ नहीं है। ज्ञानपरिणति अपनी है; स्वयं कोई कूटस्थ है ऐसा अर्थ नहीं है। ३७४.

प्रश्न :—*दीपकके दृष्टान्तसे मानो स्वयं बाहर जाता हो और दर्पणके दृष्टान्तसे मानो बाहरसे भीतर कुछ आता हो, ऐसा लगता है; तो क्या वह ठीक है?*

समाधान :—बाहर कुछ नहीं जाता और भीतर कुछ नहीं आता। जो अपने ज्ञानकी परिणति परिणमती है वह बाहर जाकर परिणमित नहीं होती, ज्ञानकी परिणति ज्ञानमें रहकर परिणमती है। स्वयं स्थिरबिम्ब है और ज्ञेय बलात् आकर गिरते हैं ऐसा नहीं है। अपना ज्ञायकस्वभाव अपनेको ग्रहण करना है। उसमें, 'मैं कैसे जानता हूँ' इस प्रकार प्रयोग होता ही नहीं। उस परकी ओरसे चैतन्यको ग्रहण करनेका कोई अर्थ नहीं है। मैं दीपककी भाँति जानता हूँ अथवा दर्पणकी भाँति जानता हूँ, वह ज्ञान करनेकी बात है। मैं परको जानता हूँ वह ठीक, लेकिन उसे अपने ज्ञानकी परिणतिसे जानता हूँ, बाहरसे कुछ भीतर आता है अथवा मैं बाहर जाता हूँ, ऐसा कुछ है ही नहीं। स्वयं भी बाहर नहीं जाता और बाहरसे कुछ भीतर आता भी नहीं, स्वयं ज्ञानरूप परिणमता है। स्वयं स्व-परप्रकाशक है इसलिये स्वयं अपनेको जानता है और परको भी जानता है। अपनी कोई क्रिया नहीं है और परसे जबरन् कोई क्रिया होती है या अपनी क्रिया स्वयं बाहर लेने जाता है ऐसा नहीं है। बाहर कुछ लेने नहीं जाता और बाहरसे कुछ आता भी नहीं है। ज्ञान परिणतिरूप स्वयं परिणमता है। जो ज्ञेय हैं उन्हें जाननेवाली अपनी ज्ञानरूप परिणतिसे स्वयं परिणमता है, उसे कोई परिणमाता नहीं है। तथा जाननेके लिये कोई प्रयोग अपनेको नहीं करना पड़ता, वह तो स्वयं जानता है। केवलज्ञान हो उसे जाननेके लिये प्रयोग नहीं करना पड़ता, ज्ञान स्वयं ज्ञानरूप परिणमता है, उसका परिणामी स्वभाव है। ३७५.

प्रश्न :—*ज्ञानकी परिणतिमें क्या मात्र ज्ञायकभावका अस्तित्व ग्रहण करना है?*

समाधान :—हाँ, ज्ञायकका अस्तित्व ग्रहण करना है। मैं कैसे जानता हूँ? मैं किस प्रकार जानता हूँ?—वह कोई दृष्टिका विषय नहीं हैं। 'मैं किस प्रकार जानता हूँ', उसमें परके ओरकी बात आयी, वह दृष्टिका विषय नहीं है। दृष्टिका विषय तो स्वयं ज्ञायक है। 'मेरी ज्ञानपरिणति परको या अपनेको कैसे जानती है' वह ज्ञान करनेकी बात है। दृष्टिके विषयमें ऐसा नहीं आता कि मैं बाहरसे जानता हूँ। दृष्टिके विषयमें कोई भेद नहीं है। अपना अस्तित्व ग्रहण करना वह दृष्टिका विषय है। गुणभेद या स्व-परप्रकाशकका भेद दृष्टिके विषयमें नहीं आता।

दीपक या दर्पण कोई बाहर नहीं जाते। दर्पण भीतर रहे और दीपक बाहर जाय

ऐसा नहीं है। दीपकका प्रकाश बाहर जाये इसलिये दीपक बाहर गया ऐसा लगता है परन्तु बाहर नहीं जाता है। अपनेको ज्ञेयका आधार नहीं है तो बाहर कहाँ लेने जाना है? स्वयं ज्ञाताको दूसरा कौन ज्ञान कराये? और भीतर प्रतिबिम्ब कहाँसे आ गिरे? स्वयं ज्ञाता है, प्रतिबिम्ब ज्ञेयके ओरकी अपेक्षासे कहा जाता है। ज्ञेय बीचमें आ जाता है, परन्तु ज्ञेयका अवलम्बन उसे लेना पड़े ऐसा नहीं है। आप स्वयं ज्ञानाकार है और ज्ञेयाकाररूप परिणमे ऐसा स्वरूप है। ३७६.

प्रश्न :—*एक ओर कहता है कि ज्ञेयोंके साथ सम्बन्ध नहीं है, और फिर सम्बन्धका विचार करता है?*

समाधान :—ज्ञेयके साथ सम्बन्ध नहीं होनेपर भी स्वयं स्व-परप्रकाशक है ऐसा उसका स्वभाव है। शास्त्रमें आता है कि मेरुपर्वत, स्वर्गलोक आदि दूर क्षेत्रमें स्थित पदार्थ ज्ञानमें ज्ञात हों...वहाँ कहाँ प्रतिबिम्ब होते हैं और स्वयं कहाँ उस क्षेत्रमें जाता है?—आप स्वयं ज्ञानस्वरूप आत्मा, ज्ञानरूप परिणमता है। दूर या निकट रहे हुए पदार्थोंको अपने निर्मल ज्ञानमें जाननेका स्वभाव है, परन्तु वे निकट स्थित हों तब ऐसा लगता है कि मुझमें इनका प्रतिबिम्ब पड़ता है। ऐसा भ्रान्तिके कारण लगता है, वह उसकी भूल है। वह क्षयोपशमज्ञानकी परिणति है, वह एकत्व है इसलिये ऐसा लगता है मानो यह सब मुझमें आ रहा है और मैं बाहर जाता हूँ। ३७७

प्रश्न :—*ज्ञानके ऊपरसे ज्ञायक पर्यंत तो ज्ञान लंबाता है, परन्तु आत्मा अनन्त शक्तिवान् है यह ज्ञानके ऊपरसे निर्णय करना कठिन पड़ता है?*

समाधान :—ज्ञानगुण और गुणी आत्मा, वह गुण-गुणीका भेद है। उस भेदपर दृष्टि नहीं रखनी है। ज्ञान तो प्रत्येक मनुष्यको ग्रहण हो ऐसा है; क्योंकि वह असाधारण गुण है न...। ज्ञानके ऊपरसे ज्ञायक पकड़में आता है, परन्तु कहीं अनन्त शक्ति पकड़में नहीं आती। वह तो विचारमें निर्णय करनेकी बात है। उसे अनन्त शक्ति दिखाई नहीं देती। दृष्टिका विषय तो एक ज्ञायक ही है। ज्ञायकमें अनन्त गुण आ ही जाते हैं। वह ज्ञायक कैसा है?—महिमावन्त है, अनन्त गुणोंसे भरपूर है। शास्त्रोंमें आता है कि ज्ञायक अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है। वह युक्तिसे निश्चित होता है और अनुभूतिमें भी आता है। परन्तु वह अपनेको प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, वह तो केवलज्ञानगम्य है। उसके भाव अनुभूतिमें आते हैं और अनुमान-प्रमाणसे जाना जा सकता है। अनन्त शक्तिओंके ऊपर अलग-अलग लक्ष्य

नहीं देना पड़ता कि—यह ज्ञान है, यह चारित्र है, प्रभुत्व है, विभुत्व है। कितनेही गुणोंका वर्णन शास्त्रोंमें आता है, समस्त गुणोंका तो नहीं आता; तथापि सबके ऊपर अलग-अलग लक्ष्य देकर, भिन्न-भिन्न विकल्प करके अटकना नहीं पड़ता; एक अभेद ज्ञायकका ग्रहण हुआ उसमें सब आ जाता है। अनुमानसे तथा युक्तिसे अनन्त गुण जाने जा सकते हैं। श्रुतज्ञान द्वारा समस्त गुण जाननेमें आते हैं। ३७८.

प्रश्न :—*पुद्गलकी शक्ति दिखाई देती है, परन्तु आत्मामें अनन्त शक्ति है वह कैसे खयालमें आये?*

समाधान :—पुद्गल इन्द्रियज्ञानसे दिखाई देता है, इसलिये उसमें शक्ति है ऐसा खयाल आता है। परन्तु आत्मामें अनन्त शक्तियाँ हैं। उसका एक ज्ञानगुण लें तो वह अपने क्षेत्रमें रहकर समस्त लोकालोकको जान सकता है, ऐसी उसमें अपूर्व शक्ति है। स्वयं बाहर कुछ लेने नहीं जाता, बाहरसे कुछ भीतर नहीं आता और उसे कोई कुछ कहता नहीं है तथापि ज्ञान—कि जिसे मर्यादा नहीं है वह—अपने क्षेत्रमें रहकर जानता है। ऐसा ज्ञानका अपूर्व अनन्त सामर्थ्य है। वह अपने क्षेत्रमें रहकर—जगत्में अनन्त जीव हैं, अनंता पुद्गल हैं, नरक हैं, स्वर्ग हैं आदि समस्त लोकालोक है उसे तथा भूतकाल, भविष्यकाल—सर्वको एक समयमें ज्ञानमें जान लेता है; जिसमें अन्तर्मुहूर्त काल भी नहीं लगता और क्रम भी नहीं पड़ता। केवलज्ञानीका ज्ञान एक समयमें सब जान सकता है ऐसी ज्ञानकी शक्ति है; परन्तु अपनेको प्रत्यक्ष नहीं दिखता इसलिये उसका विश्वास आना मुश्किल पड़ता है। ज्ञान एक समयमें अनन्त परमाणुओंको जान ले ऐसी ज्ञानकी अनन्त शक्ति है।

मुनिराज छठवें-सातवें गुणस्थानमें झूलते हैं उनमेंसे किसीको अंतरमें ऐसा मनःपर्ययज्ञान प्रगट होता है कि स्वयं अपने क्षेत्रमें रहकर ढाई द्वीपके जीवोंके मनकी बात जान लेते हैं।—ऐसी अनेक शक्तियाँ आत्मामें विद्यमान हैं परन्तु उनका विश्वास अपनेको आना चाहिये। आत्मा स्वयं क्षेत्रान्तर करके एक समयमें ऊर्ध्वलोक-सिद्धालयमें पहुँच जाता है वैसी उसमें शक्ति है। विचार करे तो आत्मामें अनन्त शक्तियाँ हैं वह खयालमें आता है। उसका अस्तित्वगुण ऐसा है कि लोकालोकके चाहे जितने द्रव्य एकत्रित हो जाएँ तब भी उसका नाश नहीं होता, इतनी अस्तित्वगुणकी शक्ति है। निगोदमें गया वहाँ सुईकी नोंक जितने क्षेत्रमें कीतने ही जीव रहते हैं तथापि निज अस्तित्व नष्ट नहीं होता। इसीप्रकार ज्ञानगुणकी भी ऐसी शक्ति है कि उसकी ज्ञायकताका (ज्ञानरूप रहनेका) नाश नहीं होता। ऐसी एक-एक गुणकी अनन्त शक्तियाँ हैं और संख्यामें भी अनन्त गुण हैं। २७९.

प्रश्न :—*सम्यग्दृष्टिके ज्ञानमें समस्त गुणोंकी अनन्त शक्तियाँ है ऐसा खयाल आ जाता है या कोई गुण बाकी रह जाता है?*

समाधान :—सम्यग्दृष्टिके ज्ञानकी गंभीरता है। वह एक-एक गुणको गिन-गिनकर, पृथक्-पृथक् करके देख नहीं सकता, परन्तु उसकी महिमा आ जाती है। एक-एक गुणको भिन्न-भिन्न तो केवलज्ञानी जानते हैं। किंतु सम्यग्दृष्टिको अनुभूतिमें पूरी गम्भीरता आ जाती है। वह एक-एक गुणको भिन्न कर-करके प्रत्यक्ष नहीं देखता परन्तु ज्ञानमें अनन्त शक्ति है, चारित्रमें अनन्त शक्ति है, अस्तित्वमें अनन्त शक्ति है—ऐसा सब जान सकता है। उसे अपने महिमावन्त ज्ञायकस्वभावकी कोई अपार महिमा आती है, उसमें उसे शंका नहीं पड़ती।

आत्मा सर्वको ज्ञेय करनेवाला-जाननेवाला है। जड स्वयं अपनेको नहीं जानता; ज्ञान स्वयं अपनेको जानता है और परको भी जानता है। भूतकालके प्रसंग अथवा पिछले भवके सर्व प्रसंग जो कि बीत गये हैं तथापि वर्तमानमें उनका ज्ञान हो सकता है ऐसी ज्ञानकी शक्ति है। किन्हीं-किन्हीं मुनियोंको भी वैसी ज्ञानशक्ति प्रगट होती है।

स्वयं भेदज्ञान करके, ज्ञायकस्वभाव अनन्त महिमावन्त है उसकी प्रतीति लाकर, अंतरमें स्वानुभूति प्रगट कर सकता है। उसे अनन्तगुण दिखाई नहीं देते; परन्तु एक ज्ञायकके ग्रहणमें सब आ जाता है। ज्ञायककी महिमा आनी चाहिये।

गुरुदेवने तो सम्पूर्ण मार्ग प्रकाशित किया है। वे पहले स्थानकवासीमें थे, वहाँ विचार करके, निर्णय किया और परिवर्तन करके यह स्वानुभूतिका मार्ग बतलाया है। चारों ओरसे मार्ग दर्शाया है, पूर्ण निर्णीत करके यह मार्ग प्रकाशित किया है। गुरुदेवके बतलाये हुए मार्गको ग्रहण कर ले। अपनेको सब समझमें न आये तो प्रयोजनभूत निश्चित करके स्वयं आगे बढ़ सकता है। गुरुदेव कहते थे कि किसीकी दुकानमें रुपये रखने जाय तब वह प्रयोजनभूत बात जानकर स्वयं निर्णय करता है कि यह दुकान अच्छी चलती है। परन्तु वह ऐसा सोचे कि इस दुकानका सब कुछ जान लूँ, पीछे निर्णय करूँगा, तो ऐसे जानना नहीं हो सकता। वैसे ही प्रयोजनभूत जानकर आगे बढ़ना चाहे तो स्वयं आगे जा सकता है। ३८०.

प्रश्न :—*स्वजनके देहावसान प्रसंगपर मुमुक्षु अपना दुःख व्यक्त करते हैं कि— स्वजनकी बहुत याद आती है, बड़ी आकुलता होती है, शान्ति नहीं लगती; क्या करूँ?*

समाधान :—संसारमें तो यह सब होता ही रहता है; संसार तो ऐसा ही है, दुःखोंसे भरा हुआ है। उसपर लक्ष्य करनेसे आकुलता और दुःख होता है।

मुमुक्षु :—बड़ी आकुलता होती है, बहुत याद आती है।

बहिनश्री :—याद आये तो विचार बदल डालें। याद आये तब अच्छे-अच्छे प्रसंगोंका स्मरण करें। गुरुदेवके प्रसंगोंको स्मरणमें लायें। गुरुदेव मिले उससे विशेष और क्या है? उन्हें याद करें। गुरुदेव मिले और उनका ऐसा उपदेश मिला; उसे याद करनेमें ही मनुष्यजीवनकी सफलता है। बाकी वैसा तो संसारमें सब होता ही रहता है। इस जीवने ऐसे अनन्त जन्म-मरण किये हैं—स्वर्गके, तिर्यंचके, नारकीके और मनुष्यके अनन्त भव किये हैं। तिर्यंचमें भी अनन्त बार जा आया और वहाँ भूख-प्यास-रोग सम्बन्धी अनेक प्रकारके दुःख सहन किये। नरकमें भी कितने दुःख सहन किये! ऐसे दुःख सहन कर-करके यह मनुष्यभव अति दुर्लभतासे प्राप्त हुआ है। उसमें ऐसा प्रसंग बना तो अपने मनको बदल डालें कि मुझे तो अपने आत्माका कार्य कर लेना है। गुरुदेव मिले हैं तो स्वाध्याय, विचार, देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा—वे सब करने जैसे कार्य हैं। जो प्रसंग बन चुका है उसमें शान्ति रखनेके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है, इसलिये शान्ति ही रखनी चाहिये, आकुलता करनेसे तो कर्मबन्ध होते हैं, इसलिये शान्ति रखना ही सुखदायक है।—इसप्रकार मनको बदल डालें।

गुरुदेवके टेप-प्रवचन सुनना, शास्त्र पढ़ना, जिसमें अपनेको रस पड़े और जो समझमें आये उसका पठन करना और चित्तको उसमें लगा देना, यही कर्तव्य है। चाहे जैसे दुःखद प्रसंगपर वैराग्यमें जुट जाना वही आत्मार्थीका कर्तव्य है। वही एक अपनेको श्रेयरूप एवं सुखदायक है। यों तो ऐसे अनन्त जन्म-मरण किये हैं। लोकके जितने परमाणु हैं वे सब ग्रहण किये और छोड़े; लोकके समस्त क्षेत्रोंमें जन्म-मरण कर चुका; अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी कालके एक-एक समयमें अनेक बार जन्म-मरण कर चुका है; तथापि भवका अभाव नहीं हुआ। गुरुदेवके बताये हुए मार्गपर चले; उसका ग्रहण करे, तो भवका अभाव हो। ऐसी भावना करनी कि अब ऐसे कोई प्रसंग ही न आयें। बस, आत्मा स्वरूपसे अशरीरी है, तो अब शरीरकी प्राप्ति ही न हो; आत्मा अकेला चैतन्य ज्ञायक है वह पहिचाननेमें आ जाय और उसकी महिमा आये, वही करने योग्य है। आत्मा स्वयं ज्ञायक है, अपूर्व आनन्दसे

भरा हुआ है; आनन्द-सुख सब आत्मामें हैं। उसका स्मरण करें, अन्य किसीका स्मरण आये तो विचार बदल डालें।

बाह्यके स्मरणसे अशुभ कर्मबन्धन होता है, इसलिये विचारोंको बदल डालें। समस्त शुभ प्रसंगोंका स्मरण करें। बने हुए प्रसंगको अधिक बढ़ा-चढ़ाकर याद ही न करें; उसका विस्मरण करके, स्मरण करने योग्य देव-शास्त्र-गुरु और तत्सम्बन्धी प्रसंगोंको याद करें, महापुरुषोंके चरित्र याद करें। ऐसे प्रसंग तो चौथे कालमें भी बनते थे। राम-लक्ष्मण-सीता जैसोंको भी वनमें जाना पड़ा था। सीताजीकी अग्नि परीक्षा हुई थी। यह तो पंचमकाल है, इसमें तो ऐसी घटनायें होती ही रहती हैं; इसलिये शान्ति रखना ही सुखदायक है।

मुमुक्षु :—बच्चे छोटे-छोटे हैं इसलिये अधिक याद आती है।

बहिनश्री :—सबके पुण्य सबके पास हैं, इसलिये इनकी चिन्ता नहीं करना। अपने रागके कारण विकल्प आते हैं परन्तु आकुलता नहीं करना।

मुमुक्षु :—शास्त्र पढ़नेसे बड़ा समाधान होता है।

बहिनश्री :—पढ़ते रहें, और हिम्मत रखें।

मुमुक्षु :—शान्ति रखते हैं; परन्तु फिर याद आ जाती है।

बहिनश्री :—शान्ति बहुत रखी है। परन्तु विशेष पुरुषार्थ करें। वर्तमानमें धर्म करनेका समय आया है। सब संयोग हैं वे पुण्य-पापके उदयके कारण हैं, वह अपने हाथकी बात नहीं है। जिस कालमें जो होना हो वही होता है; उसमें किसीकी चतुराई काम नहीं आती। जब, जिस समय, जैसे, जहाँ, देहान्त होना हो तब वहाँ किसीकी चतुराई काम नहीं आती। विचार आते हैं; परन्तु जब आयु पूर्ण होनी हो तब किसीका कुछ नहीं चलता। किसीके विकल्प काम नहीं आते। आयुष्य हो तो चाहे जैसे संयोगमें दवा लग जाती है, किन्तु आयु पूर्ण हो गई हो वहाँ कोई दवा लागू नहीं होती। किसी भी प्रकारके दुःखके प्रसंगमें शान्ति रखें। संसार तो ऐसा है, संयोग सब क्षणिक हैं। कैसी भी परिस्थितिमें गुरुदेवके एक मंत्रका स्मरण करनेसे बहुत समाधान हो सकता है। शुभभावमें देव-शास्त्र-गुरु शरण हैं; अंतरमें ज्ञायक जुदा है वह शरणभूत है।

मुमुक्षु :—गुरुदेवकी बहुत याद आती है।

बहिनश्री :—गुरुदेव तो गुरुदेव ही थे!! वे कैसे विस्मृत हों? कुदरतके सामने

किसीका उपाय नहीं। ऐसे महापुरुष तो शाश्वत विद्यमान रहें ऐसी भावना होती है; परन्तु कुदरतके आगे किसीका वश नहीं। गुरुदेवने जो उपदेश दिया है उसकी अंतरमें जमावट करके आगे बढ़ना, वह एक ही उपाय अंतरमें करनेका है।

पद्मनंदि आचार्य कहते हैं कि मेरे गुरुने मेरे अंतरमें जिस उपदेशकी जमावट की है उसके समक्ष मुझे कुछ भी प्रिय नहीं लगता; पृथ्वीका राज्य भी प्रिय नहीं है। पृथ्वीका राज्य तो क्या बल्कि तीनलोकका राज्य मिले तो भी मुझे वह प्रिय नहीं है। मेरे गुरुने जिस उपदेशकी जमावट की है उसके प्रति मुझे इतनी भक्ति है कि मेरे हृदयमें किसी अन्यकी रुचि ही नहीं है। इस जगत्में क्या अपूर्व है? कुछ अपूर्व नहीं है। जीवको अनन्तकालमें सब कुछ प्राप्त हो चुका है। उसे स्वर्गलोकके पद प्राप्त हुए, बड़ी-बड़ी पदवियाँ मिल चुकी हैं, परन्तु उनमें जीवको कहीं शान्ति प्राप्त नहीं हुई।

गुरुदेवने तो वर्षों पर्यंत वाणी बरसायी है और अनेक भक्तोंको तैयार किये हैं। उसके आगे समस्त बाह्य ऋद्धियाँ तुच्छ हैं, सर्व बाह्य संयोग तुच्छ हैं।

जैसे पूर्वभवका सब विस्मृत हो गया है वैसे ही इस भवमें जो बना वह सब भूल जायें। अब नया जीवन प्रारम्भ करनेका है। पूर्व भव जैसे गया वैसे ही इस भवमें जो हुआ उसका भी विस्मरण करके मानों अब नवजीवनका प्रारम्भ करना है ऐसा विचार करें। ३८१

प्रश्न :—*आप अनेकबार 'सहज' कहते हैं, तो 'सहज'का अर्थ क्या? आत्मा पुरुषार्थके बिना सहज साध्य है?*

समाधान :—ज्ञायक स्वभाव सहज है; परन्तु पुरुषार्थ करें। परिणमनको पलटना वह कहीं अपने आप हो जाय अथवा कोई करा दे ऐसा नहीं है। तत्त्व सहज है, ज्ञायक तत्त्व सहज है, परन्तु उसका निर्णय करना कि यह तत्त्व सो मैं और यह विभाव सो मैं नहीं, वह तो अपने पुरुषार्थसे होता है। ''यत्न साध्य नहीं'' अर्थात् कृत्रिमता नहीं है, विकल्प कर-करके अपनेको साध्य करना पड़े ऐसा नहीं है, परन्तु अपने सहज प्रयत्नसे साध्य है। परिणति अपनी है और स्वयं पुरुषार्थ करके पलटता है; उसके साथ काललब्धि आदि साथमें मिल जाते हैं। काललब्धि अर्थात् सब बाह्य संयोग साथमें सहज एकत्रित होना। परन्तु यत्न तो स्वयंको करनेका रहता है। ''यत्न साध्य'' अर्थात् कोई कृत्रिम विकल्प करके यत्न करना ऐसा नहीं, परन्तु स्वयंको भावना आती है कि मैं पुरुषार्थ करूँ, यह मुझे नहीं चाहिये, मुझे यह चाहिये—ऐसी भावनाकी उग्रता करके अपने पुरुषार्थसे पलटता है। तत्त्व सहज है, परन्तु

उसके लिये पुरुषार्थ स्वयंको करना होता है। वह कृत्रिम विकल्प द्वारा नहीं हो सकता। अपने पुरुषार्थकी गतिका—अपनी परिणतिकी गतिका—परिवर्तन स्वयं करता है। ३८२.

प्रश्न :—*ऐसा पुरुषार्थ निरपेक्षरूपसे होता है इसलिये सहज कहा है?*

समाधान :—हाँ, ऐसा पुरुषार्थ निरपेक्षरूपसे होता है, इसलिये सहज कहा है। सहज कहा उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पुरुषार्थ कोई कर दे अथवा अपने आप हो जाय। अपनी परिणति पलटा खाती है उसमें उसकी भावना ऐसी ही होती है कि इस एकत्वबुद्धिको तोड़ूँ, भेदज्ञान करूँ, मैं पुरुषार्थ करूँ, मेरी परिणति कैसे पलटे? किन्तु अपने आप हो जायगा—यत्नसाध्य नहीं है—ऐसी भावना नहीं होती। जिसकी भावना पुरुषार्थ करनेकी होती है उसीकी परिणति पलटा खाती है। ऐसी भावना जिसे न हो और अपने आप होगा ऐसा माने उसकी परिणति कभी पलटती ही नहीं। जिसे ऐसी भावना हो कि मुझे यह नहीं चाहिये, मुझे विभावोंसे पृथक् होना है, भेदज्ञान करना है, मुझे ज्ञायकको पहिचानना है—ऐसी पुरुषार्थकी भावना जिसे हो उसीकी परिणति पलटा खाती है। ऐसी भावनाका सम्बन्ध पुरुषार्थके साथ है। जिसकी ऐसी भावना हो कि अपने आप हो जायगा, यत्नसाध्य नहीं है, तो उसकी परिणति पलटती ही नहीं। भावनाका सम्बन्ध पुरुषार्थकी गतिके साथ है। ३८३.

प्रश्न :—*पुरुषार्थ करनेकी भावनामें कहीं कर्तृत्वबुद्धि हो जानेका डर बना रहता है, उसके लिये क्या किया जाय?*

समाधान :—उसमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं आती। भावनाके साथ कर्तृत्वबुद्धि नहीं आती। जो यथार्थ स्वभावको पहिचाननेवाला है उसके कर्तृत्वबुद्धि कैसे हो? जो पुरुषार्थका सच्चा स्वरूप पहिचानता है उसे—मैं परद्रव्योंको करूँ, विकल्पोंका कर्ता होऊँ—ऐसी कर्तृबुद्धि कैसे आये? ज्ञायकपना कैसे प्रगटे, ज्ञायकका पुरुषार्थ किस प्रकार हो और कर्तृबुद्धि कैसे होती है? वह तो जिसे अंतरसे सच्ची लगन लगी है वह पहिचान लेता है। जिसका पुरुषार्थ सहज होता है उसे कर्तृबुद्धिका डर नहीं लगता। पुरुषार्थ करते-करते मुझसे भूल हो जायगी तथा कर्तृत्वबुद्धि आ जायगी—ऐसा भय, अंतरंग जिज्ञासुको नहीं होता। मेरी भावना ज्ञायकको प्रगट करनेकी है, उसमें कर्तृबुद्धि कहाँसे आ जाय? उसका हृदय निःसंशयरूपसे पुरुषार्थ करता है, उसे कर्तृत्वबुद्धिका भय नहीं लगता। जिसे अंतरंग भावना जागृत हो उसे कर्तृबुद्धि नहीं आती। ३८४.

प्रश्न :—*क्रमबद्ध तो पर्याय है, तो गुरुदेव पर्याय ऊपरसे द्रव्यदृष्टिपर किस प्रकार ले जाना चाहते हैं?*

समाधान :—द्रव्यके ऊपर दृष्टि कर और जो पर्याय है उसकी कर्ताबुद्धि छोड़ दे। परद्रव्यके साथ तेरी जो कर्ताबुद्धि है उसे छोड़ दे, ऐसा गुरुदेवका कहना है। उसकी जो पर्यायें परिणमित होनी हैं, वे परिणमित होती हैं, इसलिये तू उनकी भी कर्ताबुद्धि छोड़ दे। परद्रव्यका मैं कर सकता हूँ, ऐसे तू स्वयं परका स्वामी बनकर उनका करना चाहता है, ऐसी स्वामित्वबुद्धि–कर्ताबुद्धिको तोड़कर तू अपने द्रव्यपर दृष्टि कर। जो तेरा द्रव्य है उसके ऊपर दृष्टि दे। जो पर्यायें परिणमित होती हैं उनका कर्ता तू नहीं है, ऐसे कहनेका तात्पर्य है। क्रमबद्ध कर्ताबुद्धि छुड़वाता है परन्तु क्रमबद्ध है वह पुरुषार्थपूर्वक होता है। क्रमबद्धका सम्बन्ध पुरुषार्थके साथ होता है। जो पर्याय परिणमित होनेवाली हो वह परिणमती है, परन्तु स्वकी ओर स्वयं पुरुषार्थ करता है—स्वभावकी ओरका पुरुषार्थ करता है—उस पुरुषार्थके साथ क्रमबद्ध संलग्न है। स्वभावकी प्राप्ति हो उसमें पुरुषार्थ साथ ही जुड़ा होता है। पुरुषार्थरहित अकेला क्रमबद्ध नहीं होता। तू द्रव्यके ऊपर दृष्टि कर, कर्ताबुद्धि छोड़, ज्ञाता हो जा। पीछे जो पर्याय जैसे परिणमन करनेवाली हो वैसे परिणमित होगी; किंतु उसमें द्रव्यदृष्टि करनेका पुरुषार्थ साथ आता है। द्रव्यदृष्टि तो तुझे ही करनेकी है। जैसा होना होगा वैसा होगा—ऐसे करनेसे अपने आप द्रव्यदृष्टि नहीं हो जाती। पुरुषार्थ करे तो द्रव्यदृष्टि होती है इसलिये क्रमबद्ध पुरुषार्थके साथ जुड़ा हुआ है। पर्याय क्रमबद्ध है, परन्तु द्रव्यदृष्टि करवा कर, कर्ताबुद्धि छुड़ायी है—ऐसा गुरुदेवका कहना है। क्रमबद्ध ऐसा नहीं है कि उसका पुरुषार्थके साथ कोई सम्बन्ध ही न हो। भगवान्ने जैसा देखा वैसा होगा, परन्तु भगवान्ने ऐसा नहीं देखा कि जो द्रव्यदृष्टि हो वह प्रयत्नके बिना हो जायगी। जो आत्मार्थी हो उसका लक्ष्य पुरुषार्थपर होता है। तू परका कुछ कर नहीं सकता इसलिये तू परपदार्थके ओरकी अपनी कर्ताबुद्धि छोड़ दे। अपने द्रव्यपर दृष्टि करके अपनी परिणतिकी गति बदलनी वह तेरे पुरुषार्थकी बात है, वह कहीं बिना पुरुषार्थके नहीं होता। गुरुदेवने तो अनेक रीतिसे समझाया है और इसमें उनका आशय पुरुषार्थको मुख्य करनेका है। गुरुदेवने ही सब समझाया है। ३८५.

प्रश्न :—*'सर्वज्ञने देखा होगा वैसा होगा' ऐसा कोई कहे तो गुरुदेव कहते थे कि 'पहले तूने सर्वज्ञकी सत्ताका स्वीकार किया है?' तो उसमें गुरुदेवका क्या आशय रहा है?*

समाधान :—जिसने क्रमबद्धको नहीं माना उसने सर्वज्ञको नहीं माना। जो स्वयं

द्रव्यदृष्टि करता है उसने सर्वज्ञको माना है। 'भगवान्ने जैसा देखा होगा वैसा होगा', उसका स्वीकार करे वह स्वयं भी ज्ञाता हो जाता है, ऐसा गुरुदेवका कहना है। सर्वज्ञको किसने माना है? कि जो ज्ञाता हो जाय उसने। जो ऐसा मानता है कि स्वयं मैं कर सकता हूँ, मुझसे सब होता है, वह सर्वज्ञको–भगवान्को नहीं मानता; 'भगवान्ने जैसा देखा होगा वैसा होगा' वह भी नहीं मानता। जो ज्ञायक हो जाय उसने भगवान्का स्वीकार किया है। तू ज्ञाता हो जा।

जिसने द्रव्यदृष्टि की उसीने ही क्रमबद्ध माना है, दूसरे किसीने नहीं। जिसने द्रव्यदृष्टि की उसने सर्वज्ञको माना है, उसने क्रमबद्ध माना है। जो मात्र सूखी बातें करता है उसने क्रमबद्धको नहीं माना। ३८६.

प्रश्न :—*सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेपर अंतरमें क्या होता है?*

समाधान :—चैतन्य जो कि भिन्न था वह भिन्न स्वरूपसे परिणमित हो गया, संसारसे पृथक् हो गया। उसकी सम्पूर्ण परिणति ही दुनियासे न्यारी हो गई। विभाव तथा स्वभावदशामें अंधकार–प्रकाश जितना अन्तर हो गया।

जो मार्ग सूझ नहीं रहा था वह मिल गया। मार्ग तो मिल गया, परन्तु करनेका अभी बाकी है। अभी अंतरमें स्वयं अपनेरूप–पूर्णतारूप सहज परिणमित हो जाय वह करना बाकी है। ३८७.

प्रश्न :—*क्या ज्ञानी आत्माको सम्पूर्ण मार्गकी सूझ आजाती है या प्रारम्भकी यह रीति है और इस रीतिसे पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त हो जायगा?*

समाधान :—ज्ञानीने पूरा मार्ग जान लिया है कि यह जो अंश प्रगट हुआ है इसी मार्गसे आगे बढ़ना है। ज्ञायकका जो मार्ग प्रगट हुआ, ज्ञायक ज्ञायकरूपसे परिणमित हो गया उसी मार्गपर चलनेसे पूर्णता प्राप्त होगी। जो अंश प्रगट हुआ उसी मार्गपर चलनेसे पूर्णता होगी।

साधकको अंतरसे मार्ग स्पष्ट हो गया है, इसलिये अब मार्गको खोजने नहीं जाना पड़ता; किसीसे पूछना नहीं पड़ता। उसे अंतरसे मार्ग सहज ही दिखाई दे गया है। उसी मार्गपर गति करके पूर्णता–केवलज्ञान प्राप्त करेगा। ३८८.

प्रश्न :— *'धवल' ग्रन्थमें आचार्यदेव कहते हैं कि मतिज्ञान केवलज्ञानको बुलाता है; तो वहाँ क्या आशय है?*

समाधान :—मतिज्ञान केवलज्ञानको बुलाता है; वहाँ आचार्यदेवके कहनेका ऐसा आशय है कि मति–श्रुतज्ञान जो कि ज्ञानका अंश है वह, पूर्णज्ञान–केवलज्ञानको बुला रहा है। जो एक अंश प्रगट हुआ है वह केवलज्ञानको देख रहा है। जैसा यह अंश है वैसा ही केवलज्ञान है; वह केवलज्ञान पूर्ण है और यह मति–श्रुत एक अंश है, तथापि उस अंशमें इतना सामर्थ्य है कि वह केवलज्ञानको लेकर ही रहेगा।

जो एक अंश प्रगट हुआ उसने—द्रव्यका कैसा स्वरूप है, उसकी पूर्णतामें केवलज्ञान कैसा होता है, साधकदशा पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ आदि गुणस्थान कैसे होते हैं, उन सबको जान लिया है। एक स्वानुभूति हुई उसमें दृष्टि, ज्ञान और चारित्र सम्बन्धी सब जान लिया है अर्थात् केवलज्ञानकी पूर्णता तकको जान लिया है; इसलिये ज्ञायककी जो परिणति तथा भेदज्ञानकी जो धारा है उसे वह बढ़ाता जाता है, द्रव्यमें विशेष लीनता करता जाता है। एकत्वबुद्धि तो टूट ही गई है, इसलिये अब स्वरूपमें विशेष लीनता करनी बाकी है; इसलिये ध्यानकी धारा वृद्धिगत होनेपर आगे बढ़ता है। ध्यान अर्थात् एकाग्रता, उस एकाग्रताकी पूर्णतामें केवलज्ञान प्रगट होता है। ३८९.

प्रश्न :—*क्या सम्यग्दृष्टिको कोई स्पृहा ही नहीं रही?*

समाधान :—जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उसकी एकत्वबुद्धि टूट जाती है इसलिये उसे जगत्की कोई स्पृहा नहीं है, बाह्यकी कोई अपेक्षा नहीं है; रागके किसी विकल्पमें रस नहीं है, जगत्के किसी पुण्यतत्त्वके प्रति रस नहीं है; स्पृहा मात्र छूट गई है।

ज्ञानीको एकत्वबुद्धिपूर्वक किसी प्रकारकी स्पृहा नहीं है। यद्यपि पुरुषार्थकी मन्दताके कारण आचरणमें अल्प स्पृहा रहे वह अलग बात है; परन्तु श्रद्धामें तो पहलेसे उसने नव–नवकोटिसे सर्वका त्याग किया है। नव–नव कोटिसे विभाव मुझे नहीं चाहिये; उच्चसे उच्च शुभभावके विकल्पोंको भी मन–वचन–कायासे छोड़ता हूँ। मुझे वे नहीं चाहिये, नहीं चाहिये।—इसप्रकार पहले श्रद्धामेंसे, पश्चात् आचरणमेंसे भी विकल्प छूट जाते हैं।

अस्थिरताके कारण ज्ञानी भले ही किन्हीं बाह्य आचरणोंमें खड़े हों, परन्तु वे सर्व आचरण तिलांजलिरूप हैं। मुझे उनके प्रति कोई स्पृहा नहीं है, किसी विकल्पका अंश मात्र

भी मेरा नहीं है। स्वरूपके गुण-पर्यायोंके विचारोंमें रुकना भी मुझे नहीं पुसाता। ३९०.

प्रश्न :—*क्या ज्ञानीको 'मुझे आत्मा चाहिये' ऐसा विकल्प नहीं है?*

समाधान :—ज्ञानीको किसी प्रकारका एकत्वबुद्धिका विकल्प नहीं रहता। जबतक अस्थिरताके विकल्पमें खड़े हैं तबतक आकुलता है; परन्तु जहाँ परिणति आत्माकी ओर गई वहाँ विकल्प नहीं है। जिस आत्माको मैंने ग्रहण किया है वह मैं स्वयं ही हूँ। 'यह मैं हूँ' ऐसे विकल्पोंमें भी वह नहीं रुकता। 'मैं हूँ सो हूँ' श्रद्धामें तो ऐसा ही है। सहज स्वरूप-कुदरत स्वरूप-आत्मा, सहजरूपसे कुदरती (स्वाभाविक) परिणमित हो जाता है। अनंतगुण अद्भुत और चमत्कारिक हैं, तद्रूप स्वयं सहज परिणमित हो जाता है। सहज आनन्द, सहज ज्ञान, सहज दर्शन आदि जो अनुपम एवं अपूर्व गुण हैं उनका अंशतः परिणमन है, वह लीनता बढ़नेपर पूर्णरूप परिणमित हो जाता है।

साधकदशामें श्रुतज्ञानके तथा द्रव्य-गुण-पर्यायके विचार, देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति आदिके विकल्प आते हैं। अंतरमें पूर्ण स्थिर नहीं हो सकता और जब स्वानुभूतिमेंसे बाहर आता है तब भक्तिके विकल्प आते हैं; परन्तु चैतन्यका निवास स्थान बदल गया है। ज्ञानीकी लीनताकी सम्पूर्ण दिशा बदल गई है, अरे! उसकी सम्पूर्ण दुनिया ही बदल गई है। उसके रहनेका स्थान भी आत्मा, बैठनेका स्थान भी आत्मा, आसन भी आत्मा, सब आत्मामय ही हो गया है। उसका समूचा जगत् बदल गया है अर्थात् जगत् तो जो है सो है, परन्तु स्वयं बदल गया इसलिये सब बदल गया है, आत्मामय हो गया है। ३९१.

प्रश्न :—*बहिनश्री! 'जागता जीव खड़ा है वह कहाँ जाय'? कृपया इस वचनामृतका मर्म समझाईए।*

समाधान :—जागता जीव जागृत ही है, उसका नाश नहीं हुआ है, वह सो नहीं गया है। ज्ञानस्वभाव जागृत ही है, वह कहाँ जाय? वह परभावमें एकत्वको प्राप्त नहीं होता, मूल वस्तुस्वभाव कहीं जाता ही नहीं है। अनन्तकाल निगोदमें बीता, एकेन्द्रिय हुआ और ज्ञान अति अल्प हो गया फिर भी वह तो जैसे का तैसा ही है। जागता जीव कहाँ जाय? अनन्तकाल भटका और जन्म-मरण किये, तथापि स्वयं तो ज्यों का त्यों ही रहा है। चाहे जगता हो, सोता हो, स्वप्नमें हो, तथापि वह सत् है और सत्का नाश नहीं होता। जो विद्यमान है, जागृत है वह कहाँ जाय? जागता जीव विद्यमान है, विद्यमान वस्तु कहाँ जाय?

जागृत जीव सदैव जागृत ही है। जागृत है अर्थात् चैतन्यस्वरूप है। और वह जागृत है तो कहाँ जाय? विभाव होनेपर भी उसका नाश नहीं होता। अनन्तकालसे शरीरके साथ एक क्षेत्रमें रहते हुए भी उसका नाश नहीं हुआ है।

विद्यमान सदा विद्यमान ही है; जागृत सदा जागृत ही है; वह स्वर्गलोकमें गया, नरकमें गया, फिर भी आत्मा तो जैसे का तैसा ही रहा; उसका एक अंश भी नष्ट नहीं हुआ; वह लबालब भरा हुआ तत्त्व है, उसका कोई कर्ता नहीं है, उसकी उत्पत्ति भी नहीं है और उसका कोई नाश करे ऐसा कोई तत्त्व भी नहीं है, ऐसा सत् तत्त्व है, तो सत्का कौन नाश कर सकता है? ३९२.

प्रश्न :— *'मैं ज्ञायक ही हूँ' ऐसी भावना भले ही विकल्परूपसे निरन्तर न रहे; परन्तु उसकी प्राप्ति नहीं होती उसकी खटक तो निरन्तर बनी रहनी चाहिये न?*

समाधान :—जिज्ञासुको विकल्परूपसे भावना सतत नहीं रहती; परन्तु उसे उसकी खटक तो रहा ही करती है। जो भी प्रसंग बने, विभावकी कोई परिणति हो तब उसे खटक बनी रहती है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो इनसे भिन्न हूँ। किंतु भिन्न हो नहीं सकता, उसकी खटक रहा करती है तो एकत्वबुद्धिका रस मन्द पड़ जाता है। 'मैं तो भिन्न हूँ' ऐसे प्रज्ञाछैनीसे दो भाग नहीं हुए; किन्तु एकत्वका रस मन्द पड़ जाता है। मैं तो जुदा हूँ, ज्ञायक हूँ ऐसी 'खटक' तो जिज्ञासुको प्रतिक्षण बनी ही रहती है। ३९३

प्रश्न :—*द्रव्य विद्यमान है, फिर भी दिखाई क्यों नहीं देता?*

समाधान :—द्रव्य तो सदा व्यक्त ही है, परन्तु स्वयं उसपर दृष्टि नहीं डालता इसलिये दिखाई नहीं देता। अनादिसे परकी ओर दृष्टि है इसलिये और सब दिखाई देता है, किन्तु स्वयं अपनेको नहीं देखता।

द्रव्य विद्यमान है तथापि अनादिकालीन भ्रान्तिके कारण उसे नहीं दिखता। स्वयं ही है, तब स्वयं अपनेसे छुपा कैसे रहे? स्वयं अपनेसे छुपा नहीं है। वह स्वयं है, साक्षात् है, ज्ञायक स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं।

यह तो उस जैसी बात है कि स्वयं अपनेको नहीं देखता! कोई कहे कि मैं अपनेको नहीं देखता; परन्तु जो ज्ञाता है वह स्वयं ही है। यह सब कौन देख रहा है? जो-जो कार्य होते हैं, जो सब विकल्प आते हैं उन्हें कौन जानता है? भूतकालमें, वर्तमानमें तथा

भविष्यमें जो प्रसंग बने हैं, बनते हैं और बनेंगे उनका अपने अंतरमें स्मरण रहता है, स्मृति बनी रहती है, तो 'स्वयंका अस्तित्व है' ऐसा निश्चित होता है। मैं कौन हूँ? मैं तो शाश्वत टिकनेवाला आत्मा हूँ। बाहरका सब पलट जाता है और मैं स्वयं तो शाश्वत रहता हूँ।

ज्ञाताकी डोर ज्यों की त्यों चालु ही रहती है। एक के बाद एक पर्यायको ग्रहण न करके, उसमें जो शाश्वत है वही स्वयं है; परन्तु भ्रान्तिके कारण भूल गया है कि मैं अपनेको दृष्टिगोचर नहीं होता। स्वयं ही अपनी शंका करे यह आश्चर्यकी बात है! अज्ञानके कारण स्वयं अपनी उपस्थितिको–अस्तित्वको भूल गया है। ३९४

प्रश्न :—*आत्मप्राप्ति हेतु तत्त्वका सर्वांगी अभ्यास ही कार्यकारी है या अन्य कोई विशेष आवश्यकता है?*

समाधान :—तत्त्वका सच्चा ज्ञान तो होना ही चाहिये। जीव अभ्यास तो करता है, परन्तु अभ्यासके साथ अंतरमें उसे आत्माकी लगन, महिमा, विरक्ति आदि सब हों तो प्राप्ति होती है।

कोई मात्र अभ्यास ही करे और वह भी लूखा, शुष्क हो तो कुछ नहीं होता। उसे अंतरसे चैतन्यकी महिमा हो कि चैतन्यद्रव्य कितना सामर्थ्यवान् है! यह सब निःसार है, सारभूत तत्त्व तो एक आत्मा ही है, ऐसा अंतरसे लगना चाहिये। उसकी लगन लगनी चाहिये; विभावोंमें उसे कहीं अच्छा न लगता हो; मेरा स्वभाव ही आनन्ददायक एवं सुखरूप है;—ऐसा उसे यदि अंतरसे लगे तो वह आगे बढ़ता है।

मात्र अभ्यास ही करता रहे तो नहीं होता, किन्तु सच्चा ज्ञान ही उसका उपाय है। सच्चे ज्ञानके बिना आगे बढ़ा नहीं जा सकता। द्रव्य किसे कहते हैं, पर्याय किसे कहा जाता है, वह नहीं जाने तो, मार्गको जाने बिना, आगे जा नहीं सकता साथ ही तत्त्वको जानकर अंतरसे इतनी लगन लगनी चाहिये कि चैतन्य द्रव्यके बिना उसे चैन न पड़े—ऐसा लगना चाहिये—तब आगे बढ़ सकता है। ३९५

प्रश्न :—*शास्त्राभ्याससे सब प्राप्त नहीं हो सकता?*

समाधान :—अकेले शास्त्राभ्यासमेंसे कुछ नहीं निकलता। अभ्यास तो मात्र साधन (निमित्त) होता है, किन्तु उससे सर्वस्व नहीं मिल सकता। अंतरमें स्वयंको अपनी महिमा आनी चाहिये। आत्मा सारभूत है, ऐसा स्वयंको लगना चाहिये। अभ्यास सब कुछ

ला नहीं देता। ऐसा अभ्यास तो जीवने अनेकबार किया है। नव पूर्व और ग्यारह अंग तक पढ़ा, परन्तु उतने मात्रसे कुछ होता नहीं, बहिर्लक्ष्यी (अभ्यास)के साथ स्वयंकी अंतरंग रुचि चाहिये। मात्र लूखा अभ्यास कार्यकारी नहीं होता। रुचिपूर्वक अभ्यास हो तो विभाव टूटकर स्वभावकी प्राप्ति हो। ३९६.

प्रश्न :—*यह परद्रव्य है, ऐसा जाननेके पश्चात् उसका त्याग करता है; तो क्या सच्चा ज्ञान होनेके पश्चात् उसे रखनेका भाव रहता ही नहीं?*

समाधान :—"ये ओरका है जानकर, परद्रव्यको नर तजे।"—जहाँ जाना कि यह मेरा है ही नहीं, वहाँ सच्चा ज्ञान होते ही, उसे परद्रव्यकी ममताका भाव आता ही नहीं। मैं यह ज्ञायक हूँ, परद्रव्य तो मेरे हैं ही नहीं, मैं और परद्रव्य दोनों बिलकुल जुदे हैं, विभाव वह मेरा स्वभाव नहीं है—ऐसे अंतरसे दृढ़ प्रतीति-ज्ञान हो तो विभावोंसे भिन्न हो जाय; ऐसा भेदज्ञान होना चाहिये।

ऐसी प्रतीति हुई और सच्चा जाना कि ये (परद्रव्य) मेरे नहीं हैं, तो फिर वह उनमें खड़ा ही किसलिये रहेगा? इसलिये सच्चा ज्ञान होनेपर परद्रव्यकी ममता छूट ही जाती है। शास्त्रमें धोबीके कपड़ेका दृष्टान्त आता है कि ज्यों ही पता चला कि यह वस्त्र मेरा नहीं है यह तो पराया है, वहाँ वस्त्रका त्याग हो जाता है, ममत्व छूट जाता है। यह तो अंतरंग विरक्ति आये और आत्माकी महिमा हो तो परकी ममता छूटे। ज्ञान करे और परकी ममता न छूटे तो वह ज्ञान ही सच्चा नहीं है। महिमावन्त पदार्थ तो आत्मा ही है, अन्य कोई महिमावन्त नहीं है। बाहरका तो सब तुच्छ है। ३९७.

प्रश्न :—*पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचनमें आया था कि आत्मा सुखदेव संन्यासी है, तो कृपया समझाईए कि सुखदेव संन्यासीका क्या अर्थ है?*

समाधान :—पूज्य गुरुदेवश्री कहते हैं कि आत्मा सुखदेव-संन्यासी है। अर्थात् सुखसे पूरा भरा हुआ आत्मा है। वह सुखका देव है-सुखकी दिव्यतासे परिपूर्ण देव है। और संन्यासी है अर्थात् विभावसे भिन्न संन्यासी है। उसमें विभावका अभाव है और सुखसे भरा हुआ दिव्यदेव है। ३९८.

प्रश्न :—*संन्यासीका क्या अर्थ है?*

समाधान :—संन्यासी अर्थात् त्यागी। आत्मा विभावोंका तथा परद्रव्योंका त्यागी

है। विभावोंका त्यागी और सुखसे भरपूर सुखदेव-संन्यासी आत्मा है। बाहरसे तो सब संन्यास लेते हैं, त्यागी, व्रती बनते हैं, हठ पूर्वक कष्ट सहते हैं, दुःख सहते हैं, परन्तु ऐसा संन्यासी आत्मा नहीं है, वह तो सुखदेव-संन्यासी है।

लोग त्याग-व्रत धारण कर लेते हैं फिर उनका जबरन् पालन करते हैं और बहुत कष्ट सहन करते हैं; परन्तु यह आत्मा वैसा संन्यासी नहीं है। यह तो सुखसे भरपूर है। कैसा है आत्माका संन्यास? सुखसे भरा हुआ संन्यास है; जिसमें दुःखका अभाव है और सुखकी सीमा नहीं है ऐसा यह संन्यास है। आत्मा अंतरमें आनंदका भंडार है और विभावका त्यागी है। चैतन्यदेव ऐसा सुखदेव-संन्यासी है।

अनादिसे आत्मामें परद्रव्यका प्रवेश नहीं हुआ है और विभावका अंश भी उसका नहीं है। उन सबसे उसे संन्यास है। जब साधना प्रगट होती है तब सहज सुखसे भरपूर आत्मा प्रगट होता है। जिसके आश्रयसे सहज साधना प्रगट होती है ऐसा वह सुखरूप है। जो कुछ है वह आत्मा है। संन्यासी आत्मा, त्यागी आत्मा, सुखसे परिपूर्ण आत्मा, आनन्दका भण्डार आत्मा, ज्ञानसे भरपूर ज्ञानी आत्मा—ऐसा आत्मा! दुःखमय नहीं है; वह सुखसे लबालब, सुखमय, संन्यासी है। ३९९.

प्रश्न :—*कोई अपूर्व दिव्यमंत्र बतला दीजिये।*

समाधान :—गुरुदेवने मंत्र बतलाया है कि—ज्ञायकदेवको पहिचानो। ज्ञायकदेव सुखसे भरपूर है, उसकी पहिचान करो। ज्ञायक द्रव्यकी प्रतीति, उसका ज्ञान, उसमें लीनता करो तो बेड़ा पार हो जायगा। ऐसा महिमावन्त ज्ञायकदेव है। ४००.

प्रश्न :—*अनादिकालके यह भववन्धन टूट जाय और मोक्षकी प्राप्ति हो—ऐसा मार्ग बतलानेकी कृपा करें।*

समाधान :—मुझे कर्मोंका बन्धन है ऐसा विचार करनेसे कहीं बन्धन नहीं टूटता। शास्त्रमें आता है कि जो बेड़ीसे बँधा हुआ है वह यदि स्वयं बेड़ी तोड़े तो बन्धन टूटे। मात्र उसका विचार करते रहनेसे बन्धन नहीं टूटता उसे तोड़नेका कार्य-पुरुषार्थ करे तो टूटता है। उसी प्रकार एकत्वबुद्धि तोड़नेका प्रयत्न करे तो वह टूटे। अनादिसे यह जो (परमें) एकत्वबुद्धि है वह कैसे टूटेगी?—ऐसी केवल विचार श्रृंखलासे वह नहीं टूटती। पहले विचार आते हैं, कार्य न हो तबतक विचार आते रहते हैं, परन्तु तोड़नेका कार्य तो स्वयंको करनेका है।

आत्मतत्त्वके विचार करे, महिमा करे, उसकी जिज्ञासा करे, रुचि करे और पठन-मननादि सब करे; परन्तु ध्येय तो कार्य करनेका ही होना चाहिये। स्वयं कारण दे तो कार्य सिद्ध हो। ४०१.

प्रश्न :—*मार्ग नहीं मिलता इसलिये उलझन होती है, उस उलझनमेंसे बाहर निकलनेका कृपया मार्ग बतलाईये।*

समाधान :—मार्ग तो स्वयंको निकालनेका है, पुरुषार्थ स्वयंको करना है, स्वयंको ही मार्गपर चलना है—सब कुछ स्वयंको ही करनेका है। आचार्यदेव कहते हैं कि छह महीने अभ्यास कर; फिर देख कि आत्मा स्वयं प्रगट होता है या नहीं? परन्तु वह अभ्यास कैसा?—उसका प्रकार और ही कुछ है।

जिसे आत्मा प्रगट होता है उसे तो अन्तर्मुहूर्तमें होता है, परन्तु नहीं हो तो आचार्यदेवने उत्कृष्ट छह महीनेका समय बतलाया है; परन्तु अभ्यास करे तब हो न? उग्र रूपसे, समझ करके, अंतरंग भावनासे तथा खटकपूर्वक अभ्यास करे तो कार्य हो। उस प्रकारसे अपने हृदय-सरोवरमें देख, तेरे अंतरमें तेजपुंज आत्मा विराज रहा है; और वह प्रगट होता है या नहीं सो तू देख! प्रयत्न करे तो वह प्रगट हुए बिना रहता ही नहीं। अनादिसे एकत्वबुद्धि और विकल्पोंके जालमें ऐसे उलझ गया है जैसे मकड़ी अपने जालमें फँस जाती है। मकड़ी जालके भीतर होनेपर भी वह उससे पृथक् ही है, उसी प्रकार जीव पृथक् है। प्रयत्न करे तो छूट सकता है, छूट सके ऐसा है। ४०२

प्रश्न :—*बहिर्लक्ष्यी ज्ञानमें सन्तुष्ट होकर मान लेता है कि तत्त्व मेरी समझमें आ गया, मैंने सब कुछ जान लिया, किन्तु वास्तवमें तो अभी प्रारम्भ भी नहीं होता। तो क्या करना?*

समाधान :—अंतरमें बहुत करनेका बाकी है। समझमें आ गया कब कहा जाय कि अंतरसे परिणमन हो तब; वह न हो तबतक समझ लिया ऐसा माने और भीतर वैसे विचार करता रहे तथापि उसकी समझमें नहीं आया है।

स्वयं दिखाई न दे ऐसा नहीं है; लक्षणके द्वारा देखा जा सकता है। अरूपी भी स्वयं ही है; कोई और नहीं कि उसे खोजने जाना पड़े। अरूपी स्वयं एक वस्तु है; अवस्तु नहीं है। अरूपी वस्तु भी लक्षणके द्वारा देखी जा सके ऐसी है; परन्तु यह देखता ही नहीं

इसलिये भ्रान्तिमें पड़ा है। बाह्यमें सर्वत्र देखा करता है, परन्तु अपने लक्षणको पहिचानकर स्वयंको नहीं देखता कि मैं कौन हूँ? बाह्यमें सब जगह रस आता है, अंतरमें उतना रस और महिमा नहीं आती इसलिये कहीं न कहीं अटक जाता है। पूज्य गुरुदेवने मार्ग बतलाया है कि तू आत्माको पहिचान। वह ज्ञायक आत्मा ज्ञान लक्षणके द्वारा पहिचाननेमें आये ऐसा है, उसे तू पहिचान ले, उसीमें सर्वस्व भरा है, बाहर कुछ नहीं है। अनन्तकालसे मार्गको जाना नहीं और पुरुषार्थ भी नहीं किया। स्वयं करे, कारण दे तो कार्य हो; परन्तु स्वयं नहीं करता। उसका लक्ष्य तो कार्य करनेके ऊपर ही होना चाहिये। ४०३

प्रश्न :—*ज्ञायकको किस प्रकार ग्रहण करना? उसकी चाबी (युक्ति) कृपया समझायें।*

समाधान :—ज्ञायककी लगन लगे, ज्ञायककी जिज्ञासा जगे और पुरुषार्थ बारम्बार उस ओर जाय कि यह 'ज्ञायक' जो जाननेवाला है वही 'मैं हूँ'। अंतरमें ज्ञान–दर्शन–चारित्रादि गुणभेदके विचार भी आयें; परन्तु 'मैं तो एक अखंड ज्ञायक हूँ' ऐसे उसमें स्थिर होनेके लिये बारम्बार उसीका विचार करे, अभ्यास करे; वह अभ्यास करते–करते अंदर जो स्वभाव है वह ग्रहण होता है। 'यह ज्ञानस्वभाव ही मैं हूँ', जो ज्ञानस्वभाव दिखता है वह रागके साथ मिश्रित दिखाई देता है, परन्तु वह पृथक् है। ज्ञान जो दिखाई देता है वह द्रव्यमिश्रित है अर्थात् द्रव्यके आधारसे वह स्वभाव है। इसप्रकार वहाँ दृष्टि जाय तो वह ग्रहण होता है। ४०४.

प्रश्न :—*'मैं ज्ञायक हूँ'—ऐसी दृढ़ता नहीं रहती, तो उसके लिये क्या करना?*

समाधान :—ज्ञायक स्वयं पुरुषार्थसे टिकता है। जैसे छाछमें मक्खन मिला रहता है और मथते–मथते वह पृथक् हो जाता है; उसी प्रकार अनादिसे ऐसी भ्रान्ति हो रही है कि मानो मैं विभावोंके साथ एकमेक हो गया हूँ, किन्तु तत्त्व तो अनादिसे पृथक् ही है। जो पृथक् है, वह भ्रान्तिवश एकमेक भासित होता है। स्वयं बारम्बार स्वभावको ग्रहण करके 'मैं भिन्न हूँ' ऐसी दृष्टि करे, प्रतीति करे तब उस ओरकी लीनताकी परिणति प्रगट हो, ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिये। वह न हो तबतक—मक्खनकी भाँति पृथक् न हो तबतक—बारम्बार उसका अभ्यास–मंथन करते ही रहना। ४०५.

प्रश्न :—*पूज्य गुरुदेव कहते थे कि सम्यग्दर्शनसे धर्मका प्रारंभ होता है; तो जिसे सम्यग्दर्शन हुआ हो वही सच्चा जैन कहलाये? वह न हो तबतक क्या करना?*

समाधान :—सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् ही सच्चा जैन कहलाता है। सम्यग्दर्शन

न हो तबतक भावना भाये, विचार करे कि मैं ज्ञायक हूँ, यह राग मेरा स्वरूप नहीं है, शरीर मैं नहीं हूँ, विभाव मेरा स्वभाव नहीं है, ऐसे उससे भेदज्ञान करे। ज्ञान–दर्शन–चारित्रके विकल्प बीचमें आते हैं परन्तु वह सब राग है; उस रागसे भी भिन्न मैं चैतन्य अखंड द्रव्य हूँ, ऐसे अपने ज्ञायकके भिन्न अस्तित्वका विचार करे। इस ज्ञायकमें अनन्त गुण हैं, उनकी पर्यायें परिणमती हैं। वैसे विचार करके ज्ञायकका निर्णय करे। जबतक सम्यग्दर्शन प्रगट न हो तबतक उसीका विचार, पठन, लगन एवं महिमा करता रहे, देव–शास्त्र–गुरुकी महिमा करता रहे। ४०६.

प्रश्न :—*अन्य कोई विकल्प न करके 'मैं चैतन्य हूँ' यही विचार करता रहे तो?*

समाधान :—दूसरे कोई विकल्प न करना चाहे, फिर भी वे आये बिना रहते ही नहीं; 'मैं चैतन्य हूँ', वह भी शुभभावका एक विकल्प है। विकल्प न आयें ऐसा नहीं होता; विकल्प पहलेसे नहीं छूटते—प्रथम 'मैं विकल्पोंसे भिन्न हूँ' ऐसी श्रद्धा–प्रतीति हो, अर्थात् पहले भेदज्ञान हो पश्चात् विकल्प छूटते हैं। प्रथम तो विभावोंकी कर्ताबुद्धि छोड़नी है कि किसी भी विभावका कर्ता मैं नहीं हूँ, मैं तो चैतन्य ज्ञायक हूँ। ४०७.

प्रश्न :—*'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसे विकल्प चलते रहें, वह क्या अंतरकी शान्ति नहीं कहलाती?*

समाधान :—वह अंतरकी शान्ति नहीं कहलाती। 'मैं ज्ञानमय हूँ, दर्शनमय हूँ' ऐसे शुभभावोंके कारण विकल्पोंकी मन्दता हो, आकुलता कम हो, इसलिये उसे शान्ति लगे; परन्तु वह कोई अंतरस्वभावकी शान्ति नहीं है; वह तो विकल्प मन्द हुए, कषाय मन्द हुए, शुभ भावका आश्रय लिया इसलिये शान्ति लगती है। अप्रशस्तमेंसे प्रशस्तमें आये इसलिये उसे देव–शास्त्र–गुरुके विकल्पमें शान्ति लगती है। उससे आगे बढ़े और श्रुतका चिन्तन करे कि 'मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ', तो ऐसे विचारोमें भी उसे शान्ति लगे; परन्तु वह अपनी स्वाभाविक शान्ति नहीं है। स्वभावकी शान्ति तो यथार्थ भेदज्ञान करनेवालेको होती है, तथा विकल्प छुटकर निर्विकल्पता हो तब सच्चा आनन्द आता है। 'मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ' वह तो विकल्पमिश्रित ज्ञान है, वह कोई निर्विकल्पदशा नहीं है। ४०८.

प्रश्न :—*चिड़ियाको सम्यदर्शन हो तो क्या उसे ऐसी खबर पड़ती होगी कि यह विकल्प है और यह सच्ची शान्ति है?*

समाधान :—चिड़ियाको खबर पड़ जाती है, नव तत्त्वोंके और ज्ञान–दर्शन–

चारित्रादिके नाम नहीं आते, परन्तु जो विचार आते हैं वह भी सब आकुलता है, 'मैं तो भिन्न हूँ' ऐसे अपने अस्तित्वको ग्रहण कर लेती है। उसे नामकी आवश्यकता नहीं होती, भाव ग्रहण कर लेती है। विकल्पमें कहीं सुख नहीं है, ऐसा भाव उसे प्रगट हो जाता है। विभावकी आकुलता भासित होती है और भीतरमेंसे भावभासन हो जाता है कि मैं कौन हूँ? यह विभाव क्या है? स्वभाव क्या है ? उसमेंसे उसे स्वभाव ग्रहण हो जाता है। 'चैतन्य सो मैं हूँ, यह जो रागादि हैं सो मैं नहीं हूँ' ऐसा भावभासन हो जाता है और चैतन्यको ग्रहण कर लेती है। समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म विकल्प भी आकुलतामय हैं; मेरा आत्मा विकल्प रहित है, उसीमें मुझे शान्ति एवं आनन्द है, ऐसी प्रतीति एवं भावभासन उसे हो जाता है। ४०९.

प्रश्न :—*मनुष्यकी अपेक्षा चिड़ियाकी शक्ति अधिक होती है कि उसे सम्यग्दर्शन हो जाता है?*

समाधान :—शक्ति अधिक नहीं है, किन्तु पूर्व भवमें श्रवण किया होता है, वे संस्कार पड़े हुए हैं, जिसके कारण आत्मा जाग उठता है। मनुष्यमें शक्ति अधिक है परन्तु जो पुरुषार्थ करे उसे भावभासन होता है। चिड़ियाको पूर्वके संस्कार हैं, पूर्व भवमें देव-गुरुके निकट सुना होता है उसमेंसे उसके संस्कार जाग उठते हैं और वह चैतन्यको ग्रहण कर लेती है, भावभासन होता है। ४१०.

प्रश्न :—*किसीको शास्त्र अभ्यास करनेकी शक्ति अधिक हो; किसीको अल्प हो परन्तु रुचिका भाव अधिक हो तो ग्रहण कर सकता है?*

समाधान :—किसीको अभ्यासकी शक्ति अल्प हो अर्थात् शास्त्रज्ञान अल्प हो तथापि यदि उसे रुचि अधिक हो तो भावभासन हो जाता है कि मैं यह चैतन्य हूँ। शास्त्रका अभ्यास अधिक करना पड़े ऐसा नहीं है; किन्हींको शास्त्र अभ्यास अधिक नहीं करना पड़ता और पुरुषार्थ एकदम प्रगट होता है। ४११.

प्रश्न :—*पुरुषार्थ करनेके पाँच कारण हैं। उनमें मुख्य कारण कौनसा लेना?*

समाधान :—काललब्धि आदि होते हैं परन्तु उन सबमें पुरुषार्थकी मुख्यता है। प्रत्येकमें पुरुषार्थ तो साथ होता ही है। अपना पुरुषार्थ कारण बनता है उसके साथ क्षयोपशम भी वैसा होता है, काल पक चुका होता है। अपना पुरुषार्थ मुख्य कारण होता है और शेष कारण सबमें साथ होते हैं। पुरुषार्थकी खामीसे सब खामी है।

तू तैयार हो, तेरा पुरुषार्थ तैयार हो तो सब कारण आ मिलते हैं, कोई कारण बाकी

नहीं रहते, अपने पुरुषार्थकी कमीसे कमी है। पुरुषार्थीको ऐसा नहीं लगता कि मेरा काल अभी नहीं पका है, मुझे कुछ सुननेको नहीं मिला—देशनालब्धि प्राप्त नहीं हुई। अपना पुरुषार्थ जागृत हो तो सब कारण तुझे अंतरसे आ मिलेंगे। यदि अपना ही पुरुषार्थ मन्द हो या अपने ही पुरुषार्थमें कमी हो तो सब कमी है। जिसे अंतरसे करनेकी तत्परता है उसे ऐसा नहीं लगता कि मुझे देशना प्राप्त नहीं हुई। मैं किये बिना रहनेवाला ही नहीं—ऐसी जिसे तत्परता हो, उसे देशना प्राप्त हुई होती है।

जिसका पुरुषार्थ उभरे उसे देशना, काल आदि सब पक ही चुके हैं। ऐसा पुरुषार्थके साथ प्रत्येक कारणका सम्बन्ध है। ४१२.

प्रश्न :—*अंतरमें ऐसा है कि बस, किसी भी प्रकार—मरकर भी—यह कर ही लेना है, दूसरा कुछ करना नहीं है।*

समाधान :—भावना होती है, परन्तु वह कार्यरूपमें परिणत न हो तबतक कुछ नहीं होता। वह ऐसा कहता है कि चाहे जिस प्रकार करना ही है, किंतु कार्यान्वित नहीं करता तो कैसे हो? ४१३.

प्रश्न :—*यह करना ही है ऐसी भावना तो दृढ़ है, परन्तु पुरुषार्थमें नहीं पहुँचा जाता?*

समाधान :—जिसने ऐसा निश्चित किया है कि यह प्रगट करना ही है तो उसका पुरुषार्थ पहुँचे बिना नहीं रहेगा। उसे समय लगे फिर भी वह ग्रहण किये बगैर रहेगा ही नहीं। जिसे अंतरसे जरूरत लगी है कि यह ग्रहण करना ही है, यह प्रगट करना ही है तो, उसका मन्द गतिसे ही सही, किन्तु पुरुषार्थ चलता है। जिसे अंतरसे दरकार है कि 'मुझे यही चाहिये, दूसरा कुछ नहीं', तो भले ही उसे समय लगे किन्तु प्राप्त किये बिना नहीं रहेगा। स्वयं ही है, अन्य नहीं है; इसलिये स्वयंको जरूरत लगी है तो पहुँचेगा ही। काल लगे, तथापि अंतरंग रुचि प्रगटे तो अवश्य पहुँचेगा। चाहे समय लगे, लेकिन भीतरमें जिसको लगन लगी वह पहुँचे बिना रहेगा ही नहीं। ४१४.

प्रश्न :—*पूज्य गुरुदेवने और आपने अनेक प्रकारसे स्पष्टता की है, तथापि पुरुषार्थ नहीं चलता इसका दुःख और शर्म लगती है। ऐसा लगता है कि कबतक प्रश्न पूछते रहेंगे?*

समाधान :—गुरुदेवने तो सब तैयार करके दे दिया है, कहीं खोजना या प्राप्त करना बाकी नहीं रहता। अपनेको एक पुरुषार्थ ही करना बाकी है। जगत्के अन्य जीवोंको

सत् खोजनेमें कठिनाई पड़ती है कि सत् क्या है? आत्मा क्या है? आत्माका सुख कहाँ है? ऐसे सत् ढूँढ़ना कठिन होता है। परन्तु गुरुदेवने खोजकर, तैयार करके, स्पष्ट कर-करके दिया है।

दृष्टि बाह्यक्रियामें थी, उसे छुड़ाकर, अंतरमें विभावभाव तेरा स्वभाव नहीं है, सूक्ष्मसे सूक्ष्म एवं उच्चसे उच्च शुभभाव हो वह भी तेरा स्वभाव नहीं है, तू भेदमें रुके वह भी तेरा मूल शाश्वत स्वरूप नहीं है, इसप्रकार दृष्टि अंतरमें एकदम गहरी उतर जाय इतना स्पष्ट करके, कहीं खोजना न पड़े, ढूँढ़ना न पड़े, ऐसा गुरुदेवने खोलकर मार्ग बतला दिया है। जगत्के सर्व जीवोंको सत्श्रवण नहीं मिलता इसलिये वे कहीं न कहीं फँस जाते हैं, तुझे तो कहीं ढूँढ़ने जाना पड़े ऐसा नहीं है, मात्र पुरुषार्थ ही करना बाकी रहता है। गुरुदेवने सब तैयार करके दे दिया है। ४१५

प्रश्न :—*हरएक आत्मा भिन्न-भिन्न है या सृष्टिमें एक ही आत्मा है और सब उसके अंश हैं?*

समाधान :—सभी आत्मायें भिन्न-भिन्न हैं, वे एक आत्माके अंश नहीं हैं, जगत्में प्रत्येक द्रव्य पृथक् है, स्वतंत्र है यदि सभी एक आत्माके अंश हों तो एकको दुःखके परिणाम होते हैं और दूसरेको दूसरे परिणाम होते हैं; अर्थात् सबके परिणाम एकसे नहीं होते।—ऐसा कैसे हो? यदि एक ही (आत्माके) अंश हों तो एकको दुःख होनेपर दूसरेको भी दुःख होना चाहिये; परन्तु कोई मोक्षमें जाता है, कोई स्वानुभूति करता है, कोई अंतरात्माको पहिचानता है, और कोई नहीं पहिचानता। किसीके जन्म-मरण खड़े हैं और किसीकी मुक्ति होती है।—ऐसे भेद प्रत्यक्ष हैं, अतः प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। किसीका अंश किसीमें नहीं है, हरएक आत्मा स्वतंत्र है। जो वीतराग होता है वह स्वतंत्ररूपसे राग-द्वेष छोड़कर होता है; फिर उसे विभाव होता ही नहीं। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। स्वयं राग-द्वेष करे उसमें भी स्वतंत्र और वीतरागता करे उसमें भी स्वतंत्र है। प्रत्येक पर्याय अपने पुरुषार्थसे करता है इसलिये प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। यदि सब एक ही आत्माके अंश हों तो कोई मोक्ष जाय, कोई संसारमें रहे—ऐसा नहीं हो सकता; अतः प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। ४१६.

प्रश्न :—*'मैं ज्ञायक ही हूँ'; क्या इसप्रकार परसे पृथक् होना है?*

समाधान :—विचारकी विधिमें कुछ भी आये, परन्तु उसे ग्रहण तो एक ज्ञायकको ही करनेका है। विचार-विधिमें क्रम पड़ता है कि ज्ञेय सो मैं नहीं हूँ, यह जो राग है सो मैं

नहीं हूँ, यह ज्ञान–दर्शन–चारित्रके भेद सो मैं नहीं हूँ। ज्ञान है वह ज्ञानरूप ही परिणमता है, पररूप नहीं; तथा गुण–गुणीके भेद भी होते हैं—इसप्रकार विचारकी विधिमें क्रम पड़ता है, किन्तु ग्रहण तो एक ज्ञायकको करनेका है। किसीको द्रव्य–गुण–पर्यायके विचार आयें, किसीको उत्पाद–व्यय–ध्रुवके विचार आयें और किसीको ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेयके भेदपूर्वक विचार आयें; किसी भी प्रकारसे, किन्हीं भी शब्दोंमें विचार आयें, परन्तु ग्रहण तो एकको करना है। ज्ञायकको ज्ञेयसे भिन्न करना, विभावसे भिन्न करना और गुणभेदसे–पर्यायभेदसे भी भिन्न करना, क्योंकि वास्तविक द्रव्यमें गुणभेद या पर्यायभेद नहीं हैं, मूल वस्तुमें भेद नहीं हैं। ग्रहण एकको करनेका है। विचार–विधिमें इसप्रकार आगे–आगे क्रम पड़ता है कि पहले स्थूल होते–होते, सूक्ष्म–सूक्ष्म होता जाता है। प्रथम ज्ञेयसे पृथक् हुआ वह स्थूल पृथक् हुआ। पीछे रागसे पृथक् हुआ वह थोड़ा उससे आगे बढ़ा (अर्थात् और सूक्ष्म हुआ); पश्चात् गुणभेद–पर्यायभेदसे पृथक् हुआ वहाँ उपयोग और सूक्ष्म हुआ और उससे भी सूक्ष्म एक द्रव्यको ग्रहण करे वह है। ४१७.

प्रश्न :—*स्वानुभूति करना आपको सहज लगता है, किन्तु हमें बड़ी उलझन होती है; इसीलिये तो बारम्बार यह प्रश्न उठता है कि प्रयत्न कैसे करें?*

समाधान :—ऐसे निराश होनेका कोई कारण नहीं है। भावना होनेसे ऐसे विचार आते रहते हैं। भावना हो तभी प्रश्न उठते हैं। जिसके अंतरमें जिज्ञासा हो उसे कैसे प्रयत्न करना? ऐसा प्रश्न उठता है। ४१८.

प्रश्न :—*भावना तो प्रबल है, परन्तु साथ ही रागमें एकत्व भी है।*

समाधान :—भावनाके साथ राग जुड़ा है तथापि भावनाके पीछे अंतरंग परिणति उग्ररूपसे अपनी ओर होती है कि 'मुझे तो आत्मा ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं।' ऐसी परिणति—ऐसी योग्यता—अंतरमेंसे प्रगट होती है। जिसे अंतरसे अपनी रुचि जागृत होती है कि 'मुझे यह कुछ नहीं चाहिये', उसकी रुचि अन्यत्र कहीं स्थिर नहीं होती, परन्तु एक आत्माकी ओर ही जाती है। वर्तमानमें राग है, किन्तु रागके साथ भावनाकी परिणति इतनी तीव्र होती है कि 'आत्मा ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं चाहिये।' अंतरमें आत्माकी ऐसी अपूर्वता लगे कि उसके बिना उसे कहीं शांति नहीं होती। जिसके अंतरमें ऐसी भावना हुई हो उसे (आत्मा) प्राप्त हुए बिना रहता ही नहीं। प्राप्त होता ही है। ४१९.

प्रश्न :—*खास पात्रताके लिये क्या करना चाहिये?*

समाधान :—अंतरमें ऐसी पात्रता होनी चाहिये कि आत्माको प्राप्त किये ही

छूटकारा। ऐसी रुचिकी परिणति पहले अपनी ओर जाती है और फिर वही परिणति अपनेको बलपूर्वक आत्माकी ओर खींच लाती है। 'मुझे रागरहित वस्तु चाहिये' ऐसी जिसकी भावना है वह स्वयं अंतरमेंसे अपनी परिणति प्रगट किये बिना नहीं रहता। पहले कहा है न? "जगत्को शून्य होना पड़े" परन्तु द्रव्यका नाश तो होता ही नहीं है; इसलिये अपनी बलवान् परिणति ही अपनेको प्रगट किये बिना नहीं रहती। ऐसा कुदरतका स्वभाव है। परिणति अपनेको अपनी ओर खींच ही लाती है। "जगत्को शून्य होना पड़े" अर्थात् स्वभाव स्वयं अपना कार्य किये बिना नहीं रहता। स्वयं अपनी परिणति प्रगट न करे तो वस्तु ही नहीं रहती। ४२०

प्रश्न :—*गहराईसे ग्रहण करनेका क्या अर्थ है?*

समाधान :—ज्ञायकस्वभाव विभावसे भिन्न है, उसे मूलमेंसे ग्रहण करने हेतु गहराईमें—उसके तलमें—जा। जैसे वृक्षमें शाखायें-पत्ते हैं। परन्तु उन्हें न देखकर उसके मूलमें जाना चाहिये; वैसे ही ऊपर-ऊपरसे विचार चलें तो (कार्य) नहीं होता; परन्तु स्वभावको ग्रहण करनेसे होता है।

मैं शुद्धात्मा अनादि-अनन्त हूँ, इन विभावों या अपूर्ण अथवा पूर्ण पर्यायों जितना भी मैं नहीं हूँ।—ऐसे दृष्टि करके, शुद्धपर्यायको प्रगट करनेका कार्य लाना है। कार्य न आये तो दृष्टि यथार्थ नहीं है। ४२१.

प्रश्न :—*दृष्टिका लक्ष्य कार्य पर होता है?*

समाधान :—दृष्टिका लक्ष्य कार्य पर नहीं है। यह पर्याय प्रगट हुई तथा यह पर्याय प्रगट हुई—ऐसा उसका लक्ष्य करके दृष्टि नहीं रुकती है। मैं तो परिपूर्ण भरा हुआ हूँ, पूर्ण पर्याय प्रगट हो उससे भी अनन्तगुना मेरे द्रव्यमें भरा है। एक वर्तमान समयकी पर्याय प्रगट हो तो, मुझे ऐसा प्रगट हुआ....ऐसे, उस पर्यायमें दृष्टि नहीं रुकती। क्योंकि उससे अनन्तगुना द्रव्यमें भरा है और दृष्टि उस द्रव्यपर है। केवलज्ञानकी पर्याय एक समयकी है, उससे अनन्त शक्ति द्रव्यमें भरी है। ४२२.

प्रश्न :—*विकल्प तोड़नेका उपाय क्या है?*

समाधान :—विकल्पसे भेदज्ञान करना कि विकल्प मैं नहीं हूँ; विभाव भिन्न हैं, मैं भिन्न हूँ; मैं निर्विकल्प ज्ञायकतत्त्व हूँ। पहले विकल्पसे भेदज्ञान करे और यथार्थ श्रद्धा करे कि मैं ज्ञायक हूँ। ज्ञायककी दृढ़ प्रतीति करके—भीतरमेंसे ज्ञायकको पहिचान करके—

उसे भिन्न करे कि मैं एक ज्ञायक हूँ। विकल्प मेरा स्वभाव नहीं है; मेरे पुरुषार्थकी मन्दतासे विकल्प होते हैं; लेकिन वह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं उनसे भिन्न हूँ—ऐसा विकल्पसे भेदज्ञान करे, फिर ज्ञायकमें लीनता करे तो विकल्प टूटते हैं। विकल्पोंके साथ एकत्वबुद्धि हो रही है वह एकत्वबुद्धि तोड़ देना। विकल्प मैं नहीं हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, जाननेवाला हूँ, ऐसा भेदज्ञान करना ही विकल्प तोड़नेका उपाय है। विकल्प विकल्पसे नहीं टूटता। इन विकल्पोंको तोडूँ–तोडूँ वह भी विकल्प है। मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ, ऐसी ज्ञायककी परिणतिको दृढ़ करना। ज्ञायककी परिणति दृढ़ करनेसे भेदज्ञान होता है। ४२३.

प्रश्न :—*"मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ" ऐसा तो घोखता ही रहता हूँ।*

समाधान :—ऐसा अंतरंगसे होना चाहिये। घोखनेसे तो भावनारूप (शुभ विकल्प) होता है। वह विकल्प मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक निर्विकल्प तत्त्व हूँ—ऐसा अंतरमेंसे ज्ञायकका बल प्रगट करना। विकल्पसे भेदज्ञान करना। ४२४

प्रश्न :—*ज्यों ज्यों स्वभावको ग्रहण करनेका अभ्यास बढ़ता जाय त्यों त्यों उसमें कौनसा बल आता होगा?*

समाधान :—वह अभ्यास अंतरसे होना चाहिये, अंतरसे अभ्यास हो तो बल आता है। अभ्यास होनेपर अपने आप उसे दृढ़ता आ जाती है कि मार्ग यही है। चाहे जितने उच्च विकल्प हों, परन्तु हैं तो वे विकल्प ही; उनसे मेरा स्वभाव भिन्न है। समस्त विकल्प आकुलतारूप हैं। शुभ विचार तो बीचमें आते हैं, परन्तु मेरा जो निराला अस्तित्व है वह तो जुदा ही है, ऐसा अपनेको ग्रहण होना चाहिये। ४२५.

प्रश्न :—*मैं सामान्य द्रव्य हूँ, इसीमें क्या सब आ जाता है?*

समाधान :—मैं सामान्य द्रव्य हूँ इसमें सब आ जाता है; परन्तु उससे क्या? स्वभाव ग्रहण होना चाहिये न? सामान्यरूपसे मैं हूँ, मैं हूँ, ऐसे आये; परन्तु मैं कौन हूँ? कैसे स्वभाववाला हूँ? मेरा स्वरूप क्या है?—वह ग्रहण होना चाहिये। अनादिसे शरीरमें अपना अस्तित्व माना है; परन्तु शरीर तो स्थूल है। उससे आगे बढ़े तो विकल्पमें अपना अस्तित्व मानता है; परन्तु मेरी ज्ञायकता जुदी ही है ऐसा नहीं मानता। क्षण–क्षणमें जो पर्यायें होती हैं उनमें अपना अस्तित्व मान रखा है, परन्तु मैं तो शाश्वत टिकाऊँ हूँ—ऐसे स्वभावका ग्रहण होना चाहिये। उसके लिये इतनी उसकी लगन हो, अंतरमेंसे

महिमा लगे, गहरे जा कर पुरुषार्थ करे तो ग्रहण हो। धीरे करे या जल्दी करे किन्तु करनेका तो यह एक ही (कार्य) है। वह न हो तबतक उसकी जिज्ञासा–तत्त्व-विचार, देव–शास्त्र–गुरुकी महिमा, श्रुतका चिन्तवन करते रहना, किन्तु करनेका एक ही है। अन्य लोग तो बाह्यमें कहीं अटके पड़े हैं। यहाँ तो गुरुदेवने मार्ग बतलाया है कि (कार्य) अंतरमें करनेका है। ४२६

प्रश्न :—*स्वानुभूतिमें जो उपयोग है वह प्रमाणस्वरूप है अथवा नयस्वरूप?*

समाधान :—स्वानुभूतिमें उपयोग प्रमाणस्वरूप है और वह सहजरूपसे है। दृष्टि स्वयं ज्यों की त्यों है और ज्ञान प्रमाणरूप है। वह सब निर्विकल्परूपसे है। वहाँ विकल्पात्मक नय–प्रमाण कुछ लागू नहीं होते। स्वानुभूतिके कालमें नयपक्ष तो कहीं चले जाते है; नयकी लक्ष्मी कहाँ चली गई वह दिखाई नहीं पड़ती, प्रमाण अस्त हो गया और निक्षेपोंका समूह कहाँ चला गया उसकी कुछ खबर नहीं पड़ती। राग युक्त सब नयके पक्षपात छूट जाते हैं, और सहज परिणति जो कि जीवका स्वरूप है वह ज्यों की त्यों रह जाती है। उस कालमें उपयोग द्रव्य–पर्याय सबको जानता है। उपयोग प्रमाणरूप और परिणति शुद्धनयरूप है। ४२७

प्रश्न :—*एक बार ज्ञानी हुआ और आनन्ददशा प्रगट हुई, उसे आनंद रुचा, आनन्द कैसा है उसका स्वाद आया, कैसे प्रगट होता है उसकी भी खबर पड़ी; तब फिर दूसरी बार शुद्धोपयोग आनेमें विलम्ब क्यों होता है?*

समाधान :—यह स्वरूप आदरणीय है, स्वरूपमें स्थिरता करने जैसी है; यह शुभाशुभभाव हेय हैं; ऐसा वहाँ श्रद्धाका बल है, परन्तु उतनी लीनता नहीं है। उस लीनताकी कमीके कारण उसे शुद्धोपयोग आनेमें विलम्ब होता है। वहाँ कोई कृत्रिमता करनेकी नहीं है। कृत्रिम लीनता करनेसे कहीं अंतरमें स्थिर नहीं हो सकता। बाहरका जो राग पड़ा है अर्थात् आसक्तियाँ पड़ी हैं उनसे अंतरमें भेदज्ञान तो हो गया है; परन्तु पुरुषार्थकी कमीके कारण शुद्धोपयोग आनेमें विलम्ब होता है।

गृहस्थाश्रममें सम्यग्दृष्टि पुरुषार्थकी मन्दताके कारण बाह्यमें रुका हुआ हो, बाह्य प्रवृत्तियोंके प्रपंचमें पड़ा हो, उसमेंसे उसकी परिणति निवृत्त होकर अन्तर्लीन हो जाय तब उसे पुनः अनुभूति होती है। पुरुषार्थकी मन्दताके कारण उसे इतनी देर लगती है। वह कृत्रिमता करके अंदर नहीं जाता। बाह्य गृहस्थाश्रम संबंधी अनेक प्रकारके कार्योंमें लगा हो, अनेक प्रकारके रागमें

रुका हुआ हो तब भी उसके अंतरमें भेदज्ञानकी धारा प्रवर्तती है। मैं पृथक् का पृथक्, उससे (रागांशसे) निरन्तर पृथक् ही हूँ—ऐसी पृथक्ताकी धारा प्रवर्तती है। उसी धाराके बलसे परके साथ एकत्वरूप नहीं होता, न्यारा ही रहता है। मेरा स्वरूप उससे जुदा है, मैं तो ज्ञाता हूँ, ऐसी भेदज्ञानकी धाराके कारण वह, चाहे जिस कार्यमें लगे वहाँ, कर्ता नहीं होता।

ज्ञानी अंतरमें स्थिर होना चाहता है परन्तु पुरुषार्थकी मन्दतासे बाह्यमें जुड़ता है। इसी समय पूर्ण वीतराग हो सके तो उसे यह कुछ नहीं चाहिये, इतना श्रद्धाका बल है; परन्तु पुरुषार्थकी गति इतनी नहीं होती इसलिये बाह्यमें रुकता है। यदि इसी समय पुरुषार्थकी गति चले तो उसे अंतरमें ही जाना है, ऐसी भावना है और तदर्थ निरन्तर पुरुषार्थ भी करता है। ज्ञातृत्वधाराको टिकानेके लिये तथा वृद्धि करनेके लिये उसके पुरुषार्थकी गति चालु है, उसका पुरुषार्थ प्रतिक्षण चलता ही है। ज्ञायककी ज्ञाताधारा एवं उदयधारा—उन दोनोंके बीच भेदज्ञानकी धारा तो चल ही रही है; परन्तु विशेष लीन होकर अंतरमें जानेके लिये उसके पुरुषार्थकी मन्दता है, इसलिये नहीं जा सकता।

सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् तुरन्त ही केवलज्ञान हो जाय ऐसा नहीं है। क्योंकि अनादिकालसे परिणतिमें जो कुछ अध्यवसानके अंश हैं उनसे भेदज्ञान तो हुआ, परन्तु भेदज्ञान होते ही समस्त राग नहीं छूट जाता, इसलिये उसे देर लगती है। अनन्तानुबन्धी कषाय टल गये हैं, स्वरूपाचरणकी परिणति प्रगट हुई है, परन्तु अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान ऐसे अल्प-अल्प कषाय हैं जिनके कारण अंतरमें विशेष स्थिर नहीं हो सकता, इतनी पुरुषार्थकी मन्दता है। ज्ञायककी धारा तो निरन्तर अविच्छिन्न गतिसे दिन-रात ज्यों की त्यों चलती ही रहती है; उसमें उसे किंचित् भी अवरोध नहीं आता ऐसी पुरुषार्थकी धारा चलती ही रहती है। उसे अंतरमें कोई अपूर्व आनन्द स्फुरित हुआ है, स्वानुभूति कोई अनूठी लगती है और अंतरस्थिरताका प्रयत्न वर्तता है, परन्तु स्थिर हो नहीं पाता। ४२८.

प्रश्न :—*निर्विकल्पदशाके कालमें ज्ञान द्रव्य-गुण-पर्याय—तीनोंको जानता है तथापि उसमें राग उत्पन्न नहीं होता?*

समाधान :—साधक तीनोंके भेद नहीं करता, निर्विकल्पदशामें भेद करनेको नहीं बैठता। वह तो उन्हें सहज जानता है। पर्यायका वेदन और द्रव्यका स्वभाव उसे अंतरमें सहज एकसाथ ज्ञात होता है; वह विकल्पसे भेद करने नहीं बैठता; उपयोग भेद किये बिना एकसाथ सब जान लेता है। ४२९.

प्रश्न :—*बुद्धिपूर्वक भेद करे तो राग उत्पन्न होता है?*

समाधान :—हाँ, परन्तु बुद्धिपूर्वक भेद नहीं करता कि यह गुण है और यह पर्याय है। वह तो सहज ज्ञात होते हैं, द्रव्य-गुण-पर्यायके भेद नहीं करता, उसके वेदनमें सहज आ जाते हैं। ४३०.

प्रश्न :—*ज्ञानीको सविकल्पदशामें अनेक प्रकारके विचार चलते हैं, तो उनमें उसे कर्तृत्व नहीं होता?*

समाधान :—उसका कोई विचार करनेका 'अभिप्राय' नहीं होता। उसे तो ज्ञायककी—निर्विकल्पस्वरूप आत्माकी—दृढ़ श्रद्धा है। यद्यपि उसे श्रुतके विचार आते हैं तथा गृहस्थाश्रममें होनेके कारण तत्सम्बन्धी विचार भी होते हैं, क्योंकि वह कोई मुनि तो हुआ नहीं है—बाह्याभ्यन्तर सर्वसंग परित्यागी नहीं हुआ है। उसे श्रद्धामेंसे सब छूट गया है इसलिये कोई सूक्ष्म विकल्प या उच्चसे उच्च शुभ विकल्प किसीकी इच्छा नहीं रखता। ऐसे सर्व प्रकारसे उसे ज्ञायककी परिणतिमेंसे सब छूट गया है। ऐसी उसकी ज्ञायककी धारा है। तथापि उसको गृहस्थाश्रम सम्बन्धी विचार आते हैं; परन्तु पुरुषार्थकी डोर हाथमें होनेसे किसी प्रकारके विचार मर्यादा छोड़कर—ज्ञायककी मर्यादाका उल्लंघन करके—नहीं आते, अनन्तानुबंध हो ऐसे कोई विचार नहीं आते। उसे प्रत्याख्यानीय एवं अप्रत्याख्यानीयरूप ही अस्थिरता सम्बन्धी विचार होते हैं। अशुभसे बचनेके लिये वह शुभमें आता है, परन्तु ज्ञायककी धारा तो उसे वर्तती रहती है। ४३१.

प्रश्न :—*ज्ञानीको मिश्रधारा वर्तती है; उसमें आस्रवके कर्ता-कर्मादि षट्कारक परिणमनमें कौन प्रवर्तता है?*

समाधान :—आत्मा स्वयं अपना कर्ता है, ज्ञानीको ज्ञानमें कर्ता-कर्मपना है, विभावका विभावमें है। उसे जो अस्थिरता है उसमें स्वामित्वबुद्धि नहीं है, उसका कर्तापना एकत्वबुद्धिसे नहीं है। कर्ता-कर्मपना अस्थिरताके परिणमनकी अपेक्षासे कहा जाता है। वास्तविक कर्ताबुद्धि-स्वामित्वबुद्धि छूट गई है। ४३२.

प्रश्न :—*सम्यग्दृष्टिको तीव्र या मन्द कैसे आस्रव होते हैं?*

समाधान :—तीव्र-मंद होते हैं, परन्तु वे कोई ऐसे नहीं होते कि उसका

सम्यग्दर्शन छूट जाय, ऐसे आस्रव उसके परिणमनमें नहीं होते। उसकी अंतरंग भूमिका कोई अन्य प्रकारकी होती है। किसी भी रागकी वह इच्छा नहीं रखता, रागको विषरूप मानता है। उसका राग मर्यादित होता है। ज्ञायक ही चाहिये, किसी भी तरह विभाव चाहिये ही नहीं; विभाव हेयबुद्धिपूर्वक है; उच्चसे उच्च शुभभाव भी अपना स्वरूप नहीं है—ऐसी जिसकी परिणति है वहाँ अशुभका उदय कहाँ असर कर सके! उसकी भेदज्ञान-धारा टूटे, ज्ञायककी परिणति टूट जाय, ऐसे कोई उदय उसके पास नहीं होते। उसके पुरुषार्थकी धारा चलती ही रहती है।

अमुक प्रकारकी भूमिका हो तभी सम्यग्दर्शन होता है और टिकता है, नहीं तो सम्यग्दर्शन टिक नहीं सकता। अन्तरमें वैसी पात्रता हो, भीतर विभावका रस छूट जाय, ज्ञायकका रस अन्तरंगसे प्रगट हो, ज्ञायककी ऐसी महिमा आये तभी सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। जहाँ सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ वहाँ उसकी ज्ञाताधाराको उदय क्या कर सके? (कुछ नहीं कर सकता) ४३३.

प्रश्न :—*उदय कमजोर (मंद) हो तभी तो लीनता विशेष करता है न?*

समाधान :—उदय कमजोर हो तब लीनता विशेष करे ऐसा नहीं, किन्तु लीनता विशेष हो तब उदय कमजोर ही होते हैं। उसके पुरुषार्थकी धारा ऐसी होती है कि उसके उदय मंद ही होते हैं, कर्मोंका मंद उदय हो तब (लीनता) कर सके ऐसा नहीं होता, किन्तु स्वयंका पुरुषार्थ इतना जोरदार है कि उदय कोई असर नहीं कर सकता। जितनी गृहस्थाश्रममें स्थिति है उतनी अपने पुरुषार्थकी मन्दताके कारण है। वह समझता है कि इसी क्षण छूटा जा सके तो मुझे सर्वस्वरूपसे अपना ज्ञायक ही आदरणीय है। सांसारिक कोई भी भाव उसे आदरणीय है ही नहीं; इतना श्रद्धाका बल है। अंतरश्रद्धामेंसे सब छूट गया है। यदि वह श्रद्धाका बल टूटे तो एकत्वबुद्धि हो जाय; परन्तु श्रद्धाका बल टूटता ही नहीं। ज्ञायककी परिणति इतनी बलवान् है। ४३४.

प्रश्न :—*ज्ञानी उदयसे निरपेक्ष अपनी ही धारामें रहता है?*

समाधान :—ज्ञानीको अमुक प्रकारके उदय आते हैं, परन्तु उनसे भिन्न स्वयं ज्ञायकरूप ही रहता है। उदय ऐसा प्रभाव नहीं करता कि ज्ञायककी परिणतिको तोड़ सके। उदय मर्यादामें होते हैं। ४३५.

प्रश्न :—*हम तो शुभपरिणामोंसे आगे बढ़ ही नहीं सकते, तो क्या करें?*

समाधान :—विकल्प बीचमें आते हैं अर्थात शुभभाव आते हैं; परन्तु शुभके पीछे अपनी गति ज्ञायककी ओर रहनी चाहिये, विकल्पोंमें स्थित है, इसलिये बीचमें विकल्प आते रहते हैं; परन्तु उनके पीछे शुद्धात्माका ध्येय होना चाहिये कि वह कैसे प्रगट हो? ऐसी परिणति अंतरमें प्रगट करनेका प्रयत्न करे तो होती है, वारंवार उसके पीछे पड़े तो होती है। न हो तबतक वैसा प्रयत्न करते रहना। मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, ऐसे शुभविकल्पोंके पीछे आत्माका ज्ञानस्वभाव है उसे ग्रहण करना। गुणभेदपर नहीं, एक अंखड द्रव्यपर दृष्टि करनी है; परन्तु अनादिसे वाह्य अभ्यास हो गया है इसलिये (ग्रहण) नहीं होता। मन्द-मन्द पुरुषार्थ करे तो नहीं होता, प्रतिक्षण वैसा उग्र पुरुषार्थ करे तो होता है। प्रतिक्षण अपना जीवन ज्ञायकमय हो जाय तो प्रगट होता है। ४३६.

प्रश्न :—*जीवके जैसा-जैसा कर्मोंका उदय आता है वैसा होता है उसमें स्वयं क्या कर सकता है?*

समाधान :—बाह्य संयोग—धन-सम्पत्ति आदि सब—मिलने, नहीं मिलनेमें पुण्य-पाप कारण हैं। परन्तु अंतरमें जो राग-द्वेष, संकल्प-विकल्प होते हैं उन्हें कर्म नहीं कराते; उनमें कर्म निमित्त हैं। कर्म यदि राग-द्वेष करायें तो स्वयं पराधीन हो गया। तब हम किसीसे यह नहीं कह सकते कि तू राग मत कर, द्वेष मत कर! फिर तो उपदेशका भी कोई अर्थ नहीं कि तू दोष मत कर, तू इनसे विमुख हो जा! ऐसे कैसे कहा जा सके? स्वयं ही दोष करता है और स्वयं ही उनसे विमुख होता है; इसलिये पुरुषार्थ करनेमें स्वयं स्वतंत्र है। अपने परिणाम जो होते हैं उन्हें करनेमें स्वयं स्वतंत्र है। अपने परिणाम कैसे करने सो अपने हाथकी बात है। परन्तु बाह्यमें जो उदय आते हैं, जैसे कि शरीरमें रोग आये, असातावेदनीयका उदय आये, किसीको धन मिले, किसीको न मिले—उन सबको स्वयं बदल नहीं सकता; किसीको व्यवसाय अच्छा मिले, किसीको न मिले उसको बदल नहीं सकता; परन्तु अपने भावोंको स्वयं कर सकता है; कितने राग-द्वेष करने और कैसा करने वे स्वयं कर सकता है; तो जैसे राग-द्वेष कर सकता है वैसे ही शान्ति भी स्वयं रख सकता है; चाहे जैसे संयोग आयें तथापि आकुलता नहीं करना, अधिक खेद नहीं करना।

उसे जैसा करना हो वैसा कर सकता है। स्वयं अपने स्वभावकी पहिचान करना, विभावसे पृथक् होना, आत्मामें जाना, वह सब स्वयं स्वतंत्ररूपसे कर सकता है। भाव कर

सकता है; परन्तु बाह्य क्रिया नहीं कर सकता। बाह्यमें जो कुछ हो सो सब पुण्याधीन है, परन्तु इन राग-द्वेषको टाल करके अन्तर्मुख होना वह स्वाधीन है। यदि जीव राग-द्वेष भी दूर नहीं कर सके तो पराधीन हो जाय। राग कर्म कराता है, द्वेष कर्म कराता है, अब मैं क्या करूँ? इसप्रकार यदि स्वयं कुछ नहीं कर सकता हो तो उपदेश निरर्थक हो जाय। आचार्य भी कहते हैं कि तू राग-द्वेष मत कर, विकल्प मत कर, शान्ति रख। यह सब उपदेश व्यर्थ हो जायगा। इसलिये स्वयं परिणाम कर सकता है, स्वयं शान्ति रख सकता है। कर्म ही सब कराता हो तो उपदेश किसलिये? कर्म जीवके भावको नहीं करा सकता। स्वयं राग-द्वेषमें जुड़ता है, वह अपने हाथकी बात है। मूल स्वभावको पहिचानकर पुरुषार्थ करनेमें स्वयं स्वतंत्र है। ४३७

प्रश्न :—*आत्माका साक्षात्कार करनेमें समय लगे, तो हमें क्या करना?*

समाधान :—जबतक राग-द्वेष-मोहमें रुका हुआ है तबतक समय लगता है; इसलिये गुरु एवं आचार्य चाहते हैं कि तू पुरुषार्थ करके अपनी ओर जा। तू भेदज्ञान कर। यह राग है वह तेरा स्वरूप नहीं है, द्वेष तेरा स्वरूप नहीं है, तू उनसे जुदा है। तू ज्ञाता है, रागादिका ज्ञाता हो जा, साक्षी बन जा; वह तेरा स्वरूप नहीं है; तू पुरुषार्थ करे तो जो विकल्प हैं वे शान्त हो जायेंगे। भेदज्ञान करके आगे बढ़। पहले राग-द्वेष नहीं छूट सकते; प्रथम उनसे भेदज्ञान हो और स्वभावको पहिचाने कि यह मेरा स्वभाव है, यह सब कषाय मुझसे पृथक् हैं, मैं उनसे पृथक् हूँ—ऐसा भेदज्ञान करे; पश्चात् धीरे-धीरे पुरुषार्थ करके उसमें लीनता करते-करते स्वानुभूतिकी उग्रता करता है। ४३८.

प्रश्न :—*आत्मसाक्षात्कारके लिये कुछ छोड़नेकी आवश्यकता है?*

समाधान :—बाह्यत्याग करना चाहिये ऐसा नहीं है। जब यथार्थ मुनिदशा आती है तब बाह्यमें सब छूट जाता है। उससे पूर्व उसे यथार्थ ज्ञान होता है। आत्माको पहिचाने, उसमें एकाग्र हो, वह सब गृहस्थाश्रममें होता है। वह अपनी रुचि बदल सकता है; क्योंकि भावोंको बदलना अपने हाथकी बात है। बाह्यमें गृहस्थाश्रम हो तब भी अंतरंग रुचिको बदल देना कि यह जो अनेक प्रकारके विकल्प आते हैं वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उनसे पृथक् हूँ। गृहस्थाश्रममें इतना करके अपने स्वभावको पहिचान सकता है। मैं चेतन हूँ, मुझमें आनन्द है, विभावमें आनन्द नहीं है, ऐसा भेदज्ञान करके, विकल्पको तोड़कर स्वानुभूति कर सकता है।—ऐसा गृहस्थाश्रममें कर सकता है; पश्चात् स्वानुभूति बढ़ते-बढ़ते उसे त्याग हो जाता

है। गृहस्थाश्रममें स्वानुभूति करके पहले तो अन्तरसे न्यारा हो जाता है। प्राचीन कालमें तो चक्रवर्ती गृहस्थाश्रममें रहकर आत्मानुभूति करते थे। उन्हें क्षणभर आत्माका ध्यान गृहस्थाश्रममें होता था। ४३९.

प्रश्न :—*आप अपने पूर्वभवोंके जाति स्मरणज्ञानके सम्बन्धमें कुछ कहनेकी कृपा करें।*

समाधान :—पूर्व जन्म है। यह जीव कहींसे आता तो है। कोई राजा होता है, कोई रंक होता है, किसीका जन्म राजाके घरमें और किसीका निर्धनके घरमें होता है; उसका कुछ कारण है। कुदरत कहीं अन्याय तो नहीं करती। कोई राजाके घरमें जन्मे, कोई रोगी होता है, कोई निरोगी होता है। ऐसी अनेक प्रकारकी विषमता देखनेमें आती है; इससे सिद्ध होता है कि यह जीव पूर्वभवमें था और वहाँसे आया है। यह सब जो विषमतायें हैं वे उसके पूर्व कर्मोंके कारणसे हैं। पूर्वभवोंमें जीव अनेक प्रकारके जन्म-मरण करते-करते यहाँ आया है। वह तो निर्विवाद है। व्यक्तिगत बात तो क्या कहें? पूर्वमें यह जीव था और कहींसे यहाँ आया है। पूर्वमें अनेक भव करते आया है, पूर्वमें देवके, मनुष्यके ऐसे अनेक भव करके यह भव धारण करते हुए यह जीव यहाँ आया है। उसके भावानुसार पुण्य-पापके उदय आते हैं। उसमें वर्तमानमें भरतक्षेत्रमें तो धर्मकाल वर्त रहा है। पूज्य गुरुदेव जैसे धर्मात्मा यहाँ विराजमान थे, उनके प्रतापसे इतना धर्मका प्रचार हुआ है। उन्होंने सर्वांग मार्ग बतलाया है।

इस जगत्में एक महाविदेह क्षेत्र है। वहाँ साक्षात् भगवान् विराज रहे हैं, और निरन्तर उनकी दिव्यध्वनि खिरती रहती है। अनेक जीव उस वाणीका श्रवण करते हैं, उनमेंसे कुछ जीव सम्यग्दर्शन-स्वानुभूति प्राप्त करते हैं तो कोई मुनिदशा अंगीकार करते हैं। साक्षात् भगवान् विदेहक्षेत्रमें केवलज्ञानरूपसे पूर्णदशामें विराजमान हैं। अभी इस भरतक्षेत्रमें तो बड़ी कठिनाई है; वर्तमानमें यहाँ संत पुरुषोंका सुयोग प्राप्त होना कठिन है। एक पूज्य गुरुदेव इस पंचमकालमें यहाँ विराजते थे। उनके द्वारा अनेक जीवोंको सच्चा मार्ग प्राप्त हुआ है। ४४०.

प्रश्न :—*श्रीमद् राजचंद्रजीके सम्बन्धमें दो शब्द कहनेकी कृपा करें।*

समाधान :—श्रीमद्जी सम्यग्दृष्टि थे। उन्होंने स्वानुभूति प्राप्त की थी। वे बचपनसे ही वैरागी थे। उनकी विचारशक्ति तीव्र थी, उनका ज्ञान भी बहुत था। वे गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी न्यारे थे। उन्हें गृहस्थाश्रममें ही स्वानुभूति प्रगट हुई थी। ४४१.

प्रश्न :—*क्या वर्तमान कालमें महाविदेहक्षेत्रमें नहीं जा सकते?*

समाधान :—वर्तमानमें तो नहीं जा सकते। परन्तु दो हजार वर्ष पूर्व यहाँ एक श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव हो गये; जिनके द्वारा रचे गये शास्त्र आज भी स्वानुभूति प्रगट होनेमें निमित्त हों ऐसे हैं। उनमें मूल मार्गकी प्ररूपणा है। उनके शास्त्रोंपर पूज्य गुरुदेवने प्रवचन किये हैं। वे श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव बहुत वर्ष पूर्व महाविदेहक्षेत्रमें गये थे। उन आचार्यदेवके ध्यानमें भगवान्‌के दर्शनकी ऐसी तीव्र अभिलाषा जागृत हुई कि अरे! वर्तमानमें यहाँ साक्षात् भगवान्‌के दर्शन नहीं हैं! वे किसी लब्धिसे महाविदेहक्षेत्रमें गये अथवा तो देव आकर उन्हें वहाँ ले गये। वहाँ वे आठ दिन रहे और भगवान्‌की वाणीका साक्षात् श्रवण करके यहाँ भरतक्षेत्रमें लौट आये। ऐसे महासमर्थ मुनिश्वर कुन्दकुन्द आचार्यदेव दो हजार वर्ष पहले महाविदेहक्षेत्रमें गये थे। ४४२.

प्रश्न :—*पहले देहादिसे भेदज्ञान करें या रागादिसे?*

समाधान :—सच्चा भेदज्ञान तो अंतरमें रागादिसे होता है। उसके क्रममें ऐसा कहा जाता है कि प्रथम शरीरसे भेदज्ञान करना और फिर रागादिसे। परन्तु वे दोनों एक साथ ही होते हैं। इस शरीरसे भेदज्ञान हो वह स्थूल है; अंतरमें रागादिकसे भेदज्ञान होना ही सच्चा—यथार्थ भेदज्ञान है। परन्तु अभी जहाँ स्थूलसे (शरीरादिसे) भेदज्ञान नहीं हुआ वहाँ रागादिसे भेदज्ञान कहाँसे हो? इसलिये प्रथम स्थूलसे भेदज्ञान करते हैं कि यह जो शरीरादि दिखाई देते हैं वे तो जड हैं, वे कुछ जानते नहीं हैं, इसलिये प्रथम उनसे पृथक् हो, पश्चात् रागादिसे पृथक् कराते हैं। ४४३.

प्रश्न :—*रागादिको पृथक् करनेका प्रयोगात्मक प्रकार समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—ज्ञानस्वभावको पहिचानना है। ज्ञानस्वभाव तो खयालमें आये ऐसा है। ज्ञानस्वभाव शान्तिसे भरपूर आनन्दमय है उसे लक्ष्यमें लेना। आनन्दका अनुभव भले ही नहीं है परन्तु उसे प्रतीतमें लेना। विचार करनेसे प्रतीतमें आ सकता है। आत्मा ज्ञानस्वभाव द्वारा प्रतीतमें लेने जैसा है। आत्मा कैसा है सो गुरुदेव बताते हैं, शास्त्रोंमें आता है—आत्मा ज्ञानलक्षणसे लक्ष्यमें आता है। राग रागको नहीं जानता। उसे जाननेवाला भिन्न है। भिन्न ज्ञाता शाश्वत रहनेवाला है। रागकी समस्त पर्यायोंका व्यय हो जाता है, किन्तु जाननेवाला तो ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है। ज्यों का त्यों रहनेवाला सो मैं हूँ, बचपनसे अभीतकके समस्त रागादि तो चले गये परन्तु जाननेवाला मौजूद है और वह जाननेवाला मैं

हूँ। इसप्रकार ज्ञाताको भिन्न करना। जो-जो राग-विकल्प आयें उन्हें पृथक् करना। उसका अभ्यास उग्र हो तो क्षण-क्षण रागको पृथक् करनेका अभ्यास होता है। बुद्धिसे एकबार रागको पृथक् किया और फिर ज्यों का त्यों हो जाय तो वह उसके अभ्यासकी त्रुटि है। रागसे पृथक् होनेका अभ्यास प्रतिक्षण ज्यों का त्यों बनाये रखे तो सहजदशा होनेका अवसर आये। प्रथम तो ज्ञानसे प्रतीतमें आता है। ४४४.

प्रश्न :—*भेदज्ञान करना चाहिये। परन्तु भेदज्ञान करना किस प्रकार? कि जिससे ध्यान प्रगट हो?*

समाधान :—उसे स्वयंको यथार्थ रुचि होनी चाहिये; तब भेदज्ञान होता है। अनन्त कालसे विकल्पों ही विकल्पोंमें चला जाता है, परन्तु उसकी रुचि यदि यथार्थ हो तो भेदज्ञान होता है। आत्माका ज्ञान यथार्थ करना चाहिये। अनादि-अनन्त मैं कौन हूँ? मेरा स्वभाव क्या है? उसमें जो अनेक प्रकारकी अवस्थायें होती हैं वे क्या हैं?वह सब अपनेको यथार्थ समझना चाहिये। उसकी यथार्थ रुचि होनी चाहिये। अंतरमेंसे ऐसी लगन लगे तो भेदज्ञान हो। दिन और रात आत्माके बिना चैन न आये, मुझे अपने आत्माकी प्राप्ति कैसे हो? मुझे स्वानुभूति-आत्माका कैसे साक्षात्कार हो? ऐसी लगन अंतरसे जागृत हो तो भेदज्ञान हो। उसकी लगन लगनी चाहिये, फिर तो स्वभावमेंसे ही स्वभाव प्रगट होता है। यह सब जो विकल्प हैं वे तो विभाव हैं। विभावमेंसे स्वभाव नहीं आता, स्वभावमेंसे स्वभाव आता है। जैसे लोहेमेंसे लोहा ही बनता है, सोनेमेंसे सोना ही बनता है, वैसे ही स्वभावमेंसे स्वभाव प्रगटे और विभावमेंसे विभाव ही प्रगट होता है। इसलिये अपने स्वभावका ग्रहण करना और तदर्थ रुचि प्रगट करनी चाहिये। प्रथम तो उसकी रुचि करे, प्रतिक्षण उसका भेदज्ञान करे कि यह जो विभाव है सो मैं नहीं हूँ, मेरा चेतन स्वरूप भिन्न है। इसप्रकार बारम्बार अभ्यास करनेसे उसमें एकाग्रता होगी; अन्यथा बिना समझका ध्यान यथार्थमें जमता ही नहीं। ४४५.

प्रश्न :—*आत्मसाक्षात्कार क्या है उसकी बातें तो सुनी हैं, परन्तु किंचित् झलक (अनुभूति) न हो तो उसमें मन कैसे प्रवृत्त होगा? बाह्यमें तो अशान्ति लगती है।*

समाधान :—इतना तो अपनेको महसूस होता है कि बाह्यमें कुछ भी सारभूत नहीं है, कहीं सुख दिखाई नहीं देता, यह सब चाहे जितना करो तब भी सन्तोष नहीं मिलता, तृप्ति नहीं होती। यहाँसे सुख मिलेगा, वहाँसे मिलेगा—इसप्रकार जीव दर-दरकी

ठोकरें खाता है किन्तु सन्तोष नहीं मिलता; उस परसे यह निष्कर्ष निकलता है कि सुखस्वरूप वस्तु और ही कुछ है जो अंतरमें है। बाह्यमें कहीं सन्तोष नहीं होता, और जो सुखका धाम है वह प्रगट होनेके पश्चात् अन्य कोई इच्छा ही नहीं होती ऐसी कोई वस्तु अंतरमें मौजूद है। वह कब प्रगट हो? कि जब जीव स्वयं पुरुषार्थ करे तब। पहलेसे किसीको झलक नहीं आती, परन्तु जिन महापुरुषोंने प्रगट किया है वे उसे बतलाते हैं कि तू भी यह कर, हम उसका अनुभव करके तुझे कहते हैं। फिर यदि वह उनका विश्वास करे तो उसे स्वानुभूति होती है। साक्षात्कार होता है। आत्मा सुखका धाम है उसका विश्वास कर। जैसे माता-पिता बच्चेको समझाते हैं तो बच्चा उनका विश्वास करता है, वैसे ही ज्ञानी समझाते हैं तो अपनी बुद्धिसे कुछ विचार करे, फिर जबतक अनुभव न हो तबतक उनके वचनोंपर विश्वास करते रहना। जैसे किसीकी दुकानपर रूपये रखने हों तो वहाँ वह पूरी दुकान नहीं देखता, परन्तु उसके अमुक लक्षणोंसे पहिचान लेता है कि यह दुकान अच्छी चल रही है। उसी प्रकार लक्षणसे पहिचान लेना चाहिये।

महापुरुष कहीं स्वानुभूति नहीं बतला सकते, परन्तु उसके लक्षण बतलाते हैं। लक्षणसे स्वयं विचार करना चाहिये; क्योंकि अपनेको सुख चाहिये, इसलिये इतनी तैयारी तो होनी चाहिये। 'बाह्यमें कहीं सुख नहीं है, सन्तोष नहीं है, मुझे कुछ और ही चाहिये', इतनी जिज्ञासा तो होनी ही चाहिये। फिर ज्ञानी पुरुष जो बतलाते हैं उसका विश्वास करके उस मार्ग पर पुरुषार्थ करना चाहिये, तब प्रगट होता है। झलक नहीं है तो स्वयं बुद्धिसे विचार करे, परीक्षा करे कि यह बात सत्य है, फिर विश्वासपूर्वक स्वयं आगे बढ़े। ४४६

प्रश्न :—*सत्पुरुष मिलनेसे क्या उसकी मार्ग सम्बन्धी उलझन मिट जाती है?*

समाधान :—सच्चे गुरु मिले हों और सत्य प्रतीति हुई हो तो उसकी प्रतीति दृढ़ ही रहती है। जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु मिलें और अंतरसे यथार्थ ग्रहण हुआ हो तो उसे विश्वास रहता है कि इसी मार्गसे आत्मसाक्षात्कार होना है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। अपने पुरुषार्थकी मन्दताके कारण मैं नहीं कर सकता, परन्तु अपनी रुचि उसीमें लगी रहे कि इसी मार्गपर चलना है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। बाह्यमें रुचि मन्द हो जाय और अंतरमें उसे सहारा (उष्मा) मिल जाय कि यही मार्ग है। सच्चे गुरु मिलें और अंतरसे विश्वास न आये ऐसा बन ही नहीं सकता। अतः अब भी यदि सच्चा विश्वास नहीं आता

तो उसने गुरुको पहिचाना ही नहीं है। परीक्षा करके गुरुको स्वीकार करे तो भटकना न पड़े। मार्ग निश्चित ही हो जाय; क्योंकि आत्मामें इतनी निर्णायक शक्ति है कि यही मार्ग सच्चा है। गुरु कहते हैं वही यथार्थ है ऐसा बुद्धिसे निर्णय कर सकता है।

यहाँ गुरुदेव विराजते थे; उनकी वाणीका प्रवाह ऐसा जोरदार था और उसमें ऐसी अपूर्वता थी कि श्रोताको निर्णय हो ही जाय कि मार्ग यही है। बुद्धिपूर्वक विचार करनेवालेको सच्चा मार्ग न मिले और निर्णय न हो ऐसा हो ही नहीं सकता। सच्चे गुरु मिलें उसे अंतरसे विश्वास एवं जोश आ जाता है, फिर उसे भटकनेका रहता ही नहीं। जिसे उष्मा (जोश) आ जाय उसे पीछे पुरुषार्थ भले मन्द हो या पुरुषार्थ नहीं कर सके, परन्तु उसकी रुचि बिलकुल बदल जाती है कि आत्मा जुदा है। भले ही मुझे मार्ग ग्रहण नहीं हो पा रहा है किन्तु मार्ग तो यही सच्चा है। भेदज्ञानके मार्गपर ही चलना है, मार्ग अंतरमें ही है, ऐसा उसे अंतरमेंसे विश्वास आ जाता है। सच्चे गुरु मिलें और स्वयं निश्चित करे तो फिर कहीं भटकनेका रहता ही नहीं। ४४७

प्रश्न :—*अनादिका अभ्यास होनेके कारण पृथक् करनेमें विकल्पात्मक प्रयत्नमें भी कठिनाई लगती है, तो करना क्या?*

समाधान :—अनादिका अभ्यास हो गया है, इसलिये उससे छूटना तथा परिणतिमें लाना कठिन पड़ता है। विचारके द्वारा निर्णय किया हो फिर भी पृथक् करनेके कार्यका क्रियान्वयन कठिन होता है। अनादिसे मिश्रित परिणति वर्तती है, यदि वह एक बार पृथक् हो जाय तो फिर उसे मार्ग सब सरल हो जाय। यद्यपि यह प्रथम भूमिका कठिन है क्योंकि अनादिसे एकत्वबुद्धि है; परन्तु स्वयं विचार-मंथन करते-करते आत्मा अंतरसे मार्ग निकाल लेता है। जिसे सच्ची जिज्ञासा-लगन हो वह अंतरसे मार्ग ढूँढ़ ही लेता है। ४४८.

प्रश्न :—*यह बात तो बैठती है कि यह किये बिना छुटकारा नहीं है; और साथ ही कठिन लगता है तो क्या उपाय है?*

समाधान :—विकल्पसे पृथक् होकर, एकत्वबुद्धि तोड़कर ज्ञायककी धारा प्रगट करना, यह एक ही उपाय है। द्रव्यको ग्रहण किया, द्रव्यपर दृष्टि की, परन्तु वह दृष्टि टिकाये रखनी चाहिये। मान्यतामें लिया, निर्णय किया कि मैं भिन्न हूँ, परन्तु तद्रूप कार्य हो तो सच्चा निर्णय किया कहा जाय। 'भिन्न हूँ' ऐसा निर्णय किया और फिर एकत्वबुद्धि हो जाय तो उसने यथार्थ निर्णय नहीं किया है। जिसे सच्चा निर्णय हो उसे भिन्न होनेका अंतर प्रयत्न

हुए बिना नहीं रहता। विचार-मंथन करते हुए सच्चा तो यही है, मार्ग यही है—ऐसी श्रद्धारूप परिणति होती है। विचारसे श्रद्धा होना वह अलग बात है। यह तो श्रद्धारूप परिणति होती है, परिणति कार्य करती है। पश्चात् विशेष चारित्र होता है। उस श्रद्धाके साथ अमुक प्रकारकी लीनता होती है और अनन्तानुबंधी छूट जाता है; ऐसी अमुक प्रकारकी परिणति मौजूद होती है। ४४९.

प्रश्न :—*(एक बच्चेका) :—भगवान् कैसे हुआ जाता है?*

समाधान :—पहले भगवान्‌को पहिचानना चाहिये। इस शरीरसे भिन्न आत्मा अंतरमें विराजमान है वह आत्मा भगवान् है; उसे पहिचाने तो भगवान् बन सकता है। सर्व राग-द्वेषसे मुक्त हो तब भगवान् बन सके। आत्मा जाननेवाला है, उसे पहिचान ले तो भगवान् हो सकता है। ४५०

प्रश्न :—*क्या गौतम स्वामीका अंतर पुरुषार्थ एकदम जागृत हो गया था?*

समाधान :—हाँ! अंतरमें एकदम आश्चर्य हुआ। मैं तो मानता था कि 'मेरे जैसा किसीको ज्ञान नहीं, मैं तो सर्वज्ञ हूँ'.....वैसा मानना गलत है!—ऐसा आश्चर्य हुआ। इतनी अंतरंग पात्रता होनेसे वे आश्चर्यचकित हो गये कि यह कौन हैं? यह महापुरुष कौन हैं? यह क्या भगवान् हैं?—ऐसा आश्चर्य अंतरसे लगा, और उनकी सभी मिथ्या मान्यतायें छूट गई, एकदम पात्रता जागृत हुई और परिणति तत्क्षण पलट गई, समस्त आग्रह एकदम छूट गये; अन्यमतकी जो मान्यता थी वह बिलकुल पलट गई और सम्यग्दर्शन, मुनिपना तथा चार ज्ञान भी तुरत प्रगट हो गये। आत्मा चैतन्य है न? साथ ही ऐसी पात्रता थी कि एकदम सब परिवर्तित होकर पुरुषार्थ स्फुरित हो गया। ४५१

प्रश्न :—*कार्य तो पर्यायमें होता है, तब फिर क्या पर्यायका महत्त्व द्रव्यसे अधिक नहीं कहा जाय?*

समाधान :—कार्य पर्यायमें होता है परन्तु वह स्वरूपके आश्रयसे होता है; इसलिये जिसका आश्रय हो उसका महत्त्व है। आत्मा अनंत शक्तियोंसे परिपूर्ण है और पर्याय तो एक क्षणवर्ती है, प्रतिक्षण नई-नई पर्यायें होती हैं; इसलिये महत्त्व द्रव्यका है जो कि अनन्त शक्तियोंसे भरपूर है। चाहे जितनी पर्यायें प्रगट हों तथापि स्वभावमें न्यूनता नहीं आती। ऐसे अनन्तानन्त स्वभावसे भरा हुआ द्रव्य है। अनन्तकाल तक आनन्द प्रगट होता

ही रहे तथापि वह आनन्द अनन्तका अनन्त ही रहता है। ज्ञान भी अनन्त है। एक समयमें लोकालोकको जाने तो फिर दूसरे समयमें क्या जानेगा? ऐसा नहीं है; ज्ञान कभी घटता नहीं कि इतना जान लिया, इसलिये अब ज्ञान कम हो गया। अनन्त शक्तिसे भरपूर सामर्थ्य द्रव्यमें है, इसलिये द्रव्यकी महत्ता है। साधनाकी तथा केवलज्ञानकी पर्यायें प्रगट होती हैं उन्होंने अपने स्वभावका आश्रय किया उस अपेक्षासे वे महत्वपूर्ण हैं; किन्तु द्रव्य तो अनन्त शक्तियोंसे परिपूर्ण है, इसलिये द्रव्य ही महामहिमावंत है। केवलज्ञानकी पर्यायसे भी द्रव्य विशेष महिमावंत है। ४५२

प्रश्न :—*तो क्या अपेक्षासे दोनोंकी महत्ता कहनेमें आती है?*

समाधान :—हाँ; अपेक्षासे दोनोंकी महत्ता है। द्रव्य अनंत शक्तियोंसे परिपूर्ण होनेके कारण वह महामहिमावन्त है। और शुद्धपर्यायें प्रगट होती हैं, साधकदशा, केवलज्ञान प्रगट होता है, इसलिये पर्याय भी महिमावन्त है। शुद्ध द्रव्यके आश्रयसे जो पर्यायें प्रगट होती हैं वे शुद्धरूप परिणमती हैं, वे पर्यायें भी महिमावन्त हैं। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र वह रत्नत्रय महिमावन्त है। वह जिसके आश्रयसे प्रगट होता है ऐसा द्रव्य महिमावन्त है। समस्त पर्यायोंका आश्रय एक द्रव्य ही है। ४५३

प्रश्न :—*क्या अंश और अंशी ऐसे दो भाग हैं?*

समाधान :—जैसे दो द्रव्योंके दो भाग हैं वैसे ही द्रव्य–पर्यायके दो भाग नहीं हैं, एक अंश, और एक अखंड अंशी, इतना भेद है। पर्यायको खोजने कहीं अन्यत्र नहीं जाना पड़ता; द्रव्यके आश्रयसे पर्याय प्रगट होती है।

जिसके आश्रयसे पर्याय प्रगट होती है वह द्रव्य कैसा है? उस द्रव्यका मूलस्वभाव लक्षणसे पहिचाना जाता है। अनादि कालसे विभावपर्यायके ऊपर दृष्टि होनेसे द्रव्यकी पहिचान नहीं होती और वह दूर लगता है; परन्तु द्रव्य दूर नहीं है, स्वयं ही है। भ्रान्तिके कारण दूर लग रहा है, परन्तु स्वयं ही है। वह बाहरकी वस्तु नहीं है कि उसे ढूँढ़ने जाना पड़े, स्वयं ही है और अंतरसे पहिचाना जा सके ऐसा है। द्रव्य–गुण–पर्याय सब द्रव्यका स्वरूप है। ४५४

प्रश्न :—*पहले क्या अस्तित्वका भावभासन होता है अथवा कुछ वेदनमें आता है?*

समाधान :—पहले वेदनमें नहीं आता; उसके लक्षणकी पहिचान होती है,

भावभासन होता है। 'जो ज्ञाता है वह मैं हूँ' ऐसा उसे भावका भासन होता है। पहले वेदन नहीं होता। जबतक सहजरूप दशा नही है तबतक प्रयत्न करता रहता है। सहजरूपदशा तो ज्ञायककी पहिचान होनेपर होती है। यह तो प्रयत्नरूप होता है; परन्तु वह प्रयत्न किये बिना सहज नहीं हो जाता, प्रयत्न करे तो सहज होता है। किसीको अन्तर्मुहूर्तमें हो जाय वह अलग बात है, वैसे प्रयत्न करनेपर ही आगे बढ़ता है। जो सहज स्वरूप है वह मैं हूँ—ऐसा ज्ञानमें लेता है, पश्चात् तद्रूप ग्रहण करनेका प्रयत्न करता है। ४५५.

प्रश्न :—*भावभासनमें जो ज्ञायक आया उसमें कोई अन्तर नहीं है, ऐसा विश्वास क्या अनुभवसे पूर्व हो जाता है?*

समाधान :—यह ज्ञायकका यथार्थ स्वरूप है और यही मेरा स्वरूप है, उसमें कोई अन्तर नहीं है, ऐसा निर्णय आता है। भले ही वह सहजरूप-सहजदशा नहीं है; परन्तु उसे विकल्प द्वारा वैसा निर्णय हो सकता है कि यह सत्य ही है, असत्य नहीं है। ४५६.

प्रश्न :—*ज्ञानीको सविकल्पदशामें जिसप्रकार दृष्टिमें ज्ञायक तैरता रहता है क्या वैसे ही अज्ञानीको रहता है?*

समाधान :—ज्ञानीको जिसप्रकार ज्ञायक नजराता है उसी प्रकार अज्ञानीको नहीं नजराता। ज्ञानीको तो सहजदशासे ज्ञायक दृष्टिमें तैरता है, उसे विचारना नहीं पड़ता अथवा विचारकर निर्णय नहीं करना पड़ता। उसे कर्ताबुद्धि छूटकर, ज्ञायककी ज्ञायकधारा सहजरूपसे निरन्तर-प्रतिक्षण-विचार किये बिना सहज परिणतिरूप चलती है। ज्ञानीकी दशा जुदी है। जैसे अज्ञानीको अज्ञानदशामें अनादिकी एकत्वबुद्धि, कुछ भी विचार किये बिना, सहज वर्त रही है; वैसे ही ज्ञानीको ज्ञानकी दशा सहजरूप वर्तती है। अज्ञानीने ज्ञायकका जो निर्णय किया है वह सहजरूप नहीं है, भले ही निर्णय सच्चा किया है तथापि तद्रूप ज्ञायकमें ज्ञानधारा नहीं चलती, बारम्बार विचार करना पड़ता है, विचारकर याद करना पड़ता है। उसने विचारकर निर्णय किया है कि 'यह जो ज्ञायक है वही मैं हूँ', तथापि एकत्वबुद्धि होनेके कारण, उसके सहज परिणति नहीं है। अज्ञानीने निर्णय किया है कि 'ज्ञान सो मैं, ज्ञायक सो मैं', परन्तु परिणतिमें—उसके कार्यमें—एकत्वबुद्धि हो रही है, इसलिये उसे बारम्बार विचार करना पड़ता है।

ज्ञानी जैसी सहजदशा अज्ञानीकी नहीं है। यद्यपि उसने निर्णय किया तब ऐसे लगे कि...'यह रहा ज्ञायक'....अर्थात् जब निर्णय किया तब मानो ज्ञायक नजरके सामने हो ऐसा लगे। फिर भी उसे, एकत्वबुद्धिकी परिणतिकी विद्यमानताके कारण, बारम्बार विचार करना पड़ता है। यद्यपि उसका प्रयत्न चालु है फिर भी उसे अभी सहजदशा प्रगटी नहीं है, तथापि वह सच्चा निर्णय कर सकता है। जिज्ञासुकी भूमिकामें, सच्चा आत्मार्थी हो वह, सच्चा निर्णय कर सकता है। यदि सच्चा निर्णय नहीं कर सके तो उसे सहज ज्ञानदशा नहीं आती। यह तो जिसे जिज्ञासा हो, आत्माका प्रयोजन हो तथा जो प्रयत्न करे उसे ही यह ज्ञानदशा सहजरूपसे आती है। उससे पूर्व निर्णय कर सकता है। जैसे कि यह सत्पुरुष ही हैं, ज्ञानी ही हैं—ऐसा निर्णय प्रथम कर सकता है। यह गुरु कोई अपूर्व बात बतला रहे हैं—ऐसा निर्णय आत्मार्थी हो वह कर सकता है। वैसे ही यह जो ज्ञायक है वही मैं हूँ, जो यह दुःखरूप वेदन हो रहा है वह आकुलतारूप वेदन है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। अपना स्वरूप अपनेको दुःखरूप होता ही नहीं—ऐसा निर्णय कर सकता है। ४५७

प्रश्न :—*जिज्ञासुके पास प्रगट तो विभाव ही है न?*

समाधान :—हाँ; प्रगट तो विभाव है, ज्ञायक प्रगट नहीं है; तथापि किसी अपेक्षासे स्वभाव प्रगट है, परन्तु उसे वह पहिचानता नहीं है। यद्यपि जिज्ञासु समझता है कि यह विभाव मेरा स्वरूप नहीं है, आत्माका शांत स्वरूप और ही कुछ है। आत्मार्थी हो उसे ऐसी जिज्ञासा होती है, ऐसे विचार आते हैं कि ऐसा दुःखमय स्वरूप आत्माका नहीं हो सकता, आत्माका स्वरूप और ही कुछ है, ऐसे विचार करके निर्णय करता है। पहले गुरुसे श्रवण करे कि आत्माका स्वरूप क्या है? तो उसे विचार करके निर्णय करनेका अवकाश है। ४५८.

प्रश्न :—*इसप्रकार आत्मार्थीपना तभी सच्चा प्रगट हुआ कहलाये कि जब आत्मा, आत्मारूपसे उसके ज्ञानमें आये?*

समाधान :—आत्मार्थी हो उसे सच्चा स्वरूप ज्ञानमें ग्रहण हुए बिना रहता ही नहीं। वह प्रथम विचारसे, युक्तिसे, गुरुकी वाणीसे निश्चित करता है और पीछे अंतर स्वभावको पहिचानकर निर्णय करता है। ५४९.

प्रश्न :—*यदि अज्ञानदशामें ज्ञानके वेदनको पकड़नेका प्रयत्न करे तो किंचित् आकुलतारहित भावका खयाल आता है। इतने खयाल परसे क्या अत्यंत मंद राग भी आकुलतारूप लगे?*

समाधान :—यह सब विभाव आकुलतारूप हैं, जो आकुलतारहित तत्त्व है उसे खोजनेका प्रयत्न करनेपर कषाय मंद होती हैं तथापि वह भी आकुलतारूप हैं, ऐसा वह निश्चित कर सकता है। स्वयं ही है, कोई अन्य नहीं। स्वयं ज्ञानस्वरूप होनेसे, आकुलता और ज्ञान अपने ही वेदनमें आते हैं, अतः निर्णय कर सकता है। गुरुदेवके प्रतापसे यह सब समझना सरल हो गया है। ४६०.

प्रश्न :—*विकल्पोंसे दूर होना चाहिये वह हुआ नहीं। खयाल है कि मार्ग एक ही है, ध्यानके बिना छुटकारा नहीं है, परन्तु ध्यान करना कैसे?*

समाधान :—प्रथम भेदज्ञान होना चाहिये, भेदज्ञान होनेके पश्चात् यथार्थ ध्यान होता है। एकाग्रता कब हो? कि जब मूल वस्तुको पकड़े–ग्रहण करे कि 'मैं जाननेवाला–ज्ञायक हूँ।'—इसप्रकार अंतरसे अपने अस्तित्वका ग्रहण करे तब ध्यान हो। पहले ऊपर–ऊपरसे बुद्धि द्वारा ग्रहण करे, तत्पश्चात् उसे अंतर् परिणतिसे ग्रहण करना चाहिये, वस्तुके अस्तित्वका ग्रहण करे तो उसकी श्रद्धा यथार्थ हो, और उसमें एकाग्रता हो सके। मूल वस्तुको ग्रहण किये बिना चित्त कहाँ स्थिर हो? मूल वस्तुको ग्रहण करे तो चित्त स्थिर हो सके।

मैं एक चैतन्य पदार्थ हूँ। जैसे अन्य सब पदार्थ दिखाई देते हैं वैसे ही चेतन भी एक पदार्थ है। वह अनंत गुणोंसे अर्थात् अनंत शक्तियोंसे भरा हुआ ऐसा चैतन्य पदार्थ है। उसे ग्रहण करे तो ध्यान हो।

उसे शरीर और विभावके साथ एकत्वबुद्धि हो रही है कि शरीर सो मैं, और मैं सो शरीर; विकल्प सो मैं, और मैं सो विकल्प; परंतु 'मैं भिन्न कौन हूँ' उस भिन्नका अस्तित्व उसे दिखाई नहीं देता; इसलिये प्रथम अपने भिन्न अस्तित्वको ग्रहण करना चाहिये। जिसे बुद्धिमें यथार्थ ग्रहण हो उसे यथार्थ ध्यान हो अतः प्रथम भेदज्ञान करना आवश्यक है। क्षण–क्षणमें ये जो विकल्प आते हैं वे मेरा स्वरूप नहीं हैं; मेरा स्वरूप तो जाननेवाला जो अंतरमें है सो मैं हूँ; ऐसे ज्ञाताके अस्तित्वका ग्रहण करनेपर ध्यान होता है। प्रथम यथार्थ रुचि हो, महिमा लाये और अंतर चैतन्यमें ही सर्वस्व है, अन्य कुछ सर्वस्व—सारभूत नहीं—ऐसे यथार्थ ग्रहण हो, तब ध्यान होता है। ऐसा वस्तुका स्वरूप है।

पानी स्वयं स्वभावसे निर्मल है, मलिनता कीचड़के कारण आयी है। उसमें निर्मली औषधी डाले तो पानी और कीचड़ भिन्न हो जाते हैं। उसीप्रकार आत्मा स्वभावसे निर्मल है, क्योंकि जो पदार्थ हो उसका स्वभाव कहीं मलिन नहीं होता, उसमें मलिनता विभावके कारण आयी है। जैसे पानीमें औषधी डालनेसे पानी निर्मल हो जाता है, वैसे ही ज्ञानरूपी औषधी द्वारा अपने स्वभावको—जो कि निर्मल है उसे—ग्रहण करे तो निर्मलता प्रगट हो। अतः प्रथम भेदज्ञान करना चाहिये। पहले यथार्थ ज्ञान करे तो यथार्थ ध्यान हो। ४६१.

प्रश्न :—*स्वानुभूतिमें कौन निमित्त होता है? और यदि वह प्रगट हो तो अपनेको खबर पड़ती है?*

समाधान :—गुरुदेवने सब बतलाया है। गुरुदेवका उपदेश अनुपम है। गुरुके उपदेश बगैर स्वानुभूति प्रगट नहीं होती; ऐसा उपादान-निमित्तका संबंध है। मार्ग अनादिकालसे अनजाना है; उसमें यदि भगवान्‌की वाणी अथवा गुरुकी साक्षात् वाणीका योग मिले तब ही अंतरमें स्वानुभूति प्रगट होती है। स्वानुभूति प्रगट हो तो वह कहीं छिपी रहती होगी? वह प्रगट होनेपर तो सारा जीवन पलट जाता है। जैसे अंधकार और प्रकाश प्रतिपक्षी हैं; वैसे ही पृथक् हो (भेदज्ञान हो) तब खबर पड़े बिना नहीं रहती। मिसरी और जहरके स्वादकी भिन्नता कहीं छिपी रहती होगी? वैसे ही समूचा जीवन परिवर्तित हो उसकी खबर पड़े बिना नहीं रहती।

अमृतचंद्राचार्यदेव फरमाते हैं कि अपने गुरुसे जो शुद्धात्माका अनुग्रहपूर्वक उपदेश प्राप्त हुआ है उससे मेरा आत्मवैभव प्रगट हुआ है, तथा वह वैभव निरंतर झरता हुआ—स्वादमें आता हुआ जो सुंदर आनंद है, उसकी मुद्रासे युक्त प्रचुर संवेदनस्वरूप है। वह किस प्रकार प्रगट हुआ?—मेरे गुरुके शुद्धात्मतत्त्वके अनुग्रहपूर्वक दिये गये उपदेशसे प्रगट हुआ है। मेरे गुरुने कृपापूर्वक जो उपदेश दिया उससे वह प्रगट हुआ है। कुंदकुंदाचार्यकी तो क्या बात करें! वे कहते हैं कि अपना जो ज्ञानवैभव प्रगट हुआ है उससे मैं 'समयसार' कहता हूँ। ऐसा वैभव प्रगट हो वह छिपा नहीं रहता। अंतरमेंसे आत्मा प्रगट हो वह कहीं छिपा रहता होगा?

गुरुदेवने तो यहाँ वर्षोंतक वाणी बरसायी है, धुआँधार उपदेश बरसाया है। स्वानुभूति किसे कहते हैं आदि सब समझाया है। गुरुदेवने वर्षोंतक शुद्धात्म-तत्त्वका अपूर्व

उपदेश दिया है। उस उपदेशसे कितने ही जीवोंका अंतर-परिवर्तन हुआ है। और यही (कार्य) करने योग्य है—ऐसा रुचि-परिवर्तन तो अनेकोंका हो गया है।

अनंतगुणोंसे भरपूर आत्मा, स्वयं भिन्न-भिन्न स्वभावोंमें रमता, झूलता, उनमें केलि करता प्रगट हो, वह कहीं छिपा नहीं रहता। भेदज्ञान प्रगट हो वह कहीं छिपा नहीं रहता। वह भेदज्ञान अपूर्व है, अनुपम है, उसे कोई उपमा लागू नहीं होती। ४६२.

प्रश्न :—*सम्यग्दृष्टिका उपयोग स्वमें हो तब तो धर्म होता है, परंतु परमें उपयोग हो तब उसे धर्म होता है या नहीं?*

समाधान :—धर्मीको स्वमें उपयोग हो तब धर्म हो और परमें उपयोग हो तब धर्म न हो ऐसा होता ही नहीं। धर्मका संबंध उपयोगके साथ नहीं है, धर्मका संबंध परिणति (दृष्टिके) साथ होता है। धर्मीकी दृष्टि तो स्वरूपमें जमी हुयी ही होती है। उसे ज्ञायकका ग्रहण तथा ज्ञाताकी धारा चालु ही रहती है। स्वरूपको नुकसान हो वैसे उसका उपयोग बाहर जाता ही नहीं। उपयोग बाहर जाये और स्वरूपकी परिणति टूट जाय ऐसा एकत्व उसे बाह्यमें होता ही नहीं। अनादिसे परिभ्रमण करनेपर भी द्रव्य मूल स्वभावरूप ही रहा है। उपयोग बाहर जाय तथापि द्रव्यका नाश नहीं होता, तो जिसने यथार्थरूपसे द्रव्यदृष्टि प्रगट की है, पुरुषार्थपूर्वक दृष्टि प्रगट की है, ज्ञाता-धारा प्रगटरूपसे वर्तती है, उसे कौन तोड़ सके? स्वयं पुरुषार्थपूर्वक स्वरूपमें स्थित है, इसलिये उपयोग बाहर जाता है फिर भी वह उपयोग अपनी परिणतिको तोड़ नहीं सकता। उसके भेदज्ञानकी धारा चालु ही रहती है।

जैसे कमल पानीमें निर्लिप्त रहता है, वैसे ही ज्ञानी सदा निर्लिप्त ही रहता है। वह चाहे जैसे बाह्यसंयोगोंमें खड़ा दिखाई दे, तथापि उसकी परिणति तो निर्लिप्त ही है। अनादिसे आत्मद्रव्य जड पदार्थोंके साथ मिश्रित हुआ ही नहीं, इसलिये वस्तुस्वभावसे तो निर्लिप्त ही है, परंतु यह तो ज्ञानीको पर्यायमें भी निर्लिप्तता प्रगट हुई है इसलिये वह निर्लिप्त ही रहता है। ज्ञानीको प्रगटरूपसे ज्ञाताधाराका परिणमन वर्तता है; इसलिये, जैसे कमल पानीमें निर्लिप्त रहता है उसीप्रकार, परिणति बिलकुल जुदी-निर्लिप्त ही रहती है।

ज्ञानीका उपयोग बाहर जाये तब धर्म छूट नहीं जाता, निर्मल परिणति चालु ही रहती है, उसे अंतरसे ज्ञान-वैराग्यकी शक्ति प्रगट हुयी है, उस शक्तिका परिणमन वर्तता

ही है, चालु ही है; इसलिये उपयोग बाहर जाये तब भी ज्ञानीको परके साथ एकत्व नहीं होता। वह बाहरसे गृहस्थाश्रमके कार्योंमें तथा शुभकार्योंमें दिखाई दे, तथापि उसकी परिणति परके साथ एकत्वको प्राप्त नहीं होती। बाहरसे देखनेवालोंको, ज्ञानीके अंतरंग परिणमनको देखना मुश्किल होता है। उसकी ज्ञान-वैराग्य शक्तिका सामर्थ्य अद्भुत है। उसे ज्ञाता-धारा सहज वर्तती है, अर्थात् उसे भूल जाय और याद करना पड़े वैसा नहीं है। उसके ज्ञाताधारा निरंतर चलती ही रहती है।

निर्विकल्पदशा कभी-कभी होती है सो अलग बात है; परंतु सविकल्पदशामें भी उसके ज्ञातापनेकी ज्ञानधारा चालु ही है। अज्ञानदशामें जो सविकल्पदशा थी और यह जो सविकल्पदशा है उन दोनोंकी जाति भिन्न है। चाहे जिस प्रसंगमें, बाहरी उपसर्ग-परीषह आयें तथापि, वह सदा न्यारा रहता है। उसकी ज्ञाताधाराको कोई खंडित नहीं कर सकता; अनुकूलताके ढेर हों अथवा अनेक प्रतिकूलतायें इकट्ठी हो जायें तो भी उसकी ज्ञाताधाराको कोई तोड़ नहीं सकता।—ऐसा पुरुषार्थ उसके चलता ही रहता है।

जिसे आत्माकी लगन है, आत्माके आनंदकी अनुपमता और आत्माकी महत्ता लगी है, उसे कोई भी बाह्यपदार्थ ललचा नहीं सकता, अथवा प्रतिकूलतामें वह खेदभिन्न हो नहीं जाता—ऐसा ज्ञान-वैराग्यका सामर्थ्य उसे प्रगट हुआ है। 'मैं तो ज्ञायकस्वभाव हूँ। यह परिग्रह मेरा स्वरूप नहीं। जो ये पुण्य-पापके भाव आते हैं उनसे भी मैं जुदा और न्यारा हूँ। मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ, मेरी ज्ञाताधाराको कोई खंडित नहीं कर सकता।'—ऐसे तीव्र पुरुषार्थपूर्वक वह मोक्षपथकी ओर बढ़ा सो बढ़ा—उग्र पुरुषार्थकी धारा चली सो चली—उसे अब कोई नहीं रोक सकता। ४६३.

प्रश्न :—*पूर्व पुण्यके उदयसे मनुष्यभव प्राप्त हुआ, जैनधर्म मिला, गुरुदेवका और आपका समागम मिला; अब ऐसा मंत्र दीजिये कि जिससे हमारे पुरुषार्थको वेग मिले और हम पार उतर जायें।*

समाधान :—मंत्र तो गुरुदेवने दिया है कि 'तू स्वयं भगवान् आत्मा है, उसे पहिचान।' यही कर्तव्य है। तू आप ही स्वयं भगवान् है। अनादिकालसे पर्यायमें अशुद्धता होने पर भी उसका प्रवेश तुझमें नहीं हुआ। तू द्रव्यस्वभावसे शुद्धात्मा है, उसे पहिचान। करनेका तो यह है। द्रव्य क्या है? पर्याय क्या है? शुद्धता क्या है? अशुद्धता क्या है?—उसे पहिचाननेका प्रयत्न कर। परंतु वह अंदर पुरुषार्थ करे तब हो। स्वयंको अंतरमें इतनी

लगन एवं जिज्ञासा होनी चाहिये। गुरुदेवने तो स्पष्ट मंत्र बतला दिया है कि 'तू भगवान् है, ज्ञायक है, तू शुद्ध है, उसे पहिचान। तू बाह्यमें अटक रहा है, परन्तु ये शुभाशुभभाव तेरा स्वरूप नहीं हैं। तू ज्ञाता है। कोई भी पर्याय हो, उसमें मत अटकना। तू शाश्वत द्रव्य है।' ४६४.

प्रश्न :— *'पूर्णताके लक्ष्यसे शुरुआत वही वास्तविक शुरुआत है' उसमें ऐसी आशंका उत्पन्न होती है कि कोई जीव इस भवमें 'मुझे सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है' इसप्रकार सम्यग्दर्शनका ध्येय रखकर, ज्ञायक आत्माका आश्रय करना चाहे, तो क्या उसे शुरुआत नहीं होती?*

समाधान :—सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका लक्ष्य रखे, उसकी भावना करे वह बराबर है; परंतु सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हेतु आगे बढ़नेपर सम्यग्दर्शन किसका आश्रय लेता है वह जब उसके खयालमें आता है वहाँ साथ ही पूर्णता और अंशका स्वरूप सब ज्ञानमें आये बिना नहीं रहता। अनादिकालसे सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं हुआ, परन्तु जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो उसे पूर्ण ध्येय (लक्ष्यमें) आये बिना नहीं रहता। उसकी प्राप्तिमें वह ध्येय आना ही है। भावना भले ही सम्यग्दर्शनकी करता हो, परन्तु उस सम्यग्दर्शनकी जो पर्याय प्रगट होती है उसमें पूर्णताका ध्येय और पूर्णताका आश्रय साथ आता है। ४६५.

प्रश्न :— *'परमागमसार'के एक बोलमें आता है कि 'अद्धरसे विकल्प चलते रहते हैं,' तो उसका क्या अर्थ है?*

समाधान :—स्वयं जहाँ रुकता हो वहाँ वैसे समाधानके लिये विकल्प आया करते हैं। जहाँ–जहां स्वयंको शंका पड़ती हो उसके विचार उसे आते रहते हैं, सुन लिया और जान लिया परंतु अंतरमेंसे उसे जो बैठना चाहिये वह जबतक भीतर गहराईसे न बेठे तबतक तत्सम्बन्धी, स्वयंको समाधान हो, वैसे विचार उसे आया करते हैं। जिस विषयमें स्वयंको शंका रहती हो, उसका बारम्बार विचार करके, उसकी दृढ़ता स्वयं ही किया करता है।

मुमुक्षु :—समाधान न हो तबतक उसे विकल्प आते ही रहते हैं?

बहिनश्री :—समाधान न हो तबतक विचार आते ही रहते हैं, विभाव क्यों हैं? राग होता है वह क्या है? उससे भिन्न किस प्रकार है?—ऐसे अनेक प्रकारके विचार

उसे आते हैं। अंतिम विकल्प कौनसा? उसका कोई नियम नहीं है, आत्मा सम्बन्धी विचार चलते हैं। विकल्प छूटनेके समय जो विकल्प हो उस विकल्पसे (विकल्पके कारण) नहीं छूटता; अपनी परिणतिसे छूटता है–द्रव्यके आश्रयसे छूटता है। ४६६.

प्रश्न :— *'गुरुदेवश्रीके वचनामृतमें' आता है कि— "पर्यायदृष्टि संसार है, और द्रव्यदृष्टि मोक्ष व वीतरागता है।" तो क्या पर्यायदृष्टिमें इतनी बड़ी सजा? क्या ककड़ीके चोरको फाँसी?*

समाधान :—ऐसा नहीं है, पर्यायदृष्टि संसार है, उसमें ककड़ीके चोरको फाँसीकी सजा जैसा नहीं है, अनादिकालसे पर्यायपर ही दृष्टि रखी है; पर्याय एकके बाद एक, क्षण–क्षणमें पलटती है, उसीपर दृष्टि रखी है, और जो शाश्वत द्रव्य है उसे नहीं पहिचानता; द्रव्यपर दृष्टि नहीं है, पर्यायपर दृष्टि है; इसलिये संसार है। वह ककड़ीके चोर जैसा नहीं है, किन्तु नासमझीकी घोर भ्रान्तिमें पड़ा हुआ है; वह महान् दोष है, सामान्य दोष नहीं है। सम्पूर्ण द्रव्यको भूल गया है, अर्थात् अपना मूल स्वरूप–मूल राजा उसे ही भूल गया है और जो पर्याय बाहर ऊपर–ऊपर है उसे ग्रहण की है, सो बड़ा भारी दोष है। अपना जो महिमावन्त स्वभाव है उसे छोड़कर–भूलकर, पर्यायकी ओर बाहर भटकता है, वह सबसे बड़ा दोष है। ४६७.

प्रश्न :— *'वचनामृत'के एक बोलमें आप फरमाते हैं कि मन्द पुरुषार्थ करे तो देर लगती है, तीव्र पुरुषार्थ करे तो जल्दी कार्य होता है। तो मन्द पुरुषार्थ किसे और तीव्र पुरुषार्थ किसे कहा जाता है? कृपया समझायें।*

समाधान :—पुरुषार्थ करते–करते ज्ञायकका स्मरण करे, फिर वह ढीला पड़ जाय और मन्द हो जाय; पुनः ज्ञायकको याद करे और फिर उसे भूल जाय वह सब मन्द पुरुषार्थ है। बाह्यमें एकत्वबुद्धि हो जाय, फिर पुनः विचार करके भेदज्ञान करे—ऐसे बारम्बार पुरुषार्थ मन्द और तीव्र होता है। परन्तु 'मैं तो जुदा हूँ, सो जुदा ही हूँ' इसप्रकार बारम्बार उग्ररूपसे प्रयास करे, एकत्वबुद्धि तोड़नेका उग्रतासे प्रयत्न करे और धारावाही पुरुषार्थ चले तो वह उग्र पुरुषार्थ है। 'मैं ज्ञायक, सो ज्ञायक ही हूँ, कर्ता नहीं; परद्रव्यके साथ मुझे कोई सम्बन्ध नहीं; विभावरूप जो विकल्प आये उससे मेरा स्वभाव निराला है; मैं तो निर्विकल्पस्वरूप हूँ; मेरी परिणतिमें रागादि होते हैं, परन्तु मैं उनसे भिन्न हूँ, मेरा स्वरूप भिन्न है'—इसप्रकार द्रव्यपर जोरदार दृष्टि करके जो तीव्रतासे–उग्रतासे

उछलता है, जिसकी चाल उग्रतापूर्वक है, उसका कार्य शीघ्र हुए बिना नहीं रहता परंतु यदि बीच-बीचमें पुरुषार्थ मंद पड़ जाय तो देर लगती है। जो पुरुषार्थ धारावाही चले वह उग्र पुरुषार्थ कहलाता है। ४६८.

प्रश्न :—*प्रारम्भमें पुरुषार्थ उग्र होकर फिर मन्द हो जाता है, तो उसमें एकरूपता बनी रहे उसके लिये क्या करना?*

समाधान :—शुरुआतमें पर्याप्त भावना आ जाय इसलिये, अथवा तो किसी वैराग्यके प्रसंगके कारण अंतरमें भावना आ जानेपर उग्र पुरुषार्थ हो जाता है। अहो! यह तो कोई नवीन ही है; गुरुदेवने उपदेश दिया उसमें कोई अपूर्व ही बात की है; गुरुदेवने कोई अलग ही मार्ग दिखाया है;—ऐसे उसे आश्चर्य लगनेपर अथवा वैराग्य होनेपर पुरुषार्थमें उग्रता आ जाती है; किंतु कुछ समय पश्चात् पुरुषार्थ वापस ढीला पड़ जाता है; निरंतर एकसी भावना या वैराग्य स्थिर नहीं रह पाता इसलिये पुरुषार्थ तीव्र-मन्द हो जाय वैसा होता रहता है, परन्तु यदि बारम्बार उसकी उग्रता धारावाही चलती रहे तो वह स्वानुभूति तक पहुँच सकता है। कभी विशेष महिमा आनेसे अथवा किसी वैराग्य प्रसंगके कारण उग्रता आ जाती है और फिर पुरुषार्थ वापस मंद पड़ जाता है; क्योंकि अनादिका ऐसा ही अभ्यास है; इसलिये मंदताकी ओर ढल जाता है। परन्तु बारम्बार उसके पीछे लगे तब एक सरीखा बना रहे वैसा प्रसंग बनता है।

आचार्यदेव मुनिसे कहते हैं कि—अपने जीवनके दीक्षाकालके तथा अन्य वैराग्य प्रसंगोंका स्मरण करना। दीक्षा लेते समय मेरे कैसे भाव थे उन्हें, और त्याग किया, मुनिपना अंगीकार किया, भावलिंगी श्रमण हुआ, तू जीवनके उन अच्छे प्रसंगोंको याद करना, एवं अपनी साधनाका स्मरण करना। वैसे ही गुरुने जो उपदेश दिया, कोई अपूर्व बात बतलायी उसकी तुझे अपूर्वता भासित हुयी तब कैसे भाव थे उन सर्व प्रसंगोंका तू स्मरण करना, अपने पुरुषार्थको उग्र बनाने हेतु वह सब याद करना। ४६९.

प्रश्न :—*'ज्ञाता हूँ' ऐसे अपने अस्तित्वका खयाल तो आता है, परन्तु परिपूर्ण अस्तित्वका खयाल क्यों नहीं आता?*

समाधान :—जो अस्तित्व हो वह पूर्ण होता है या अपूर्ण? जो द्रव्य हो वह खामीवाला हो तो वह द्रव्य कैसे कहलाये?

जो स्वतःसिद्ध वस्तु है वह खामीवाली नहीं होती। अस्तित्व परिपूर्ण न हो और अपूर्ण

हो तो वह अस्तित्व ही नहीं है। अस्तित्व तो सदा पूर्ण ही होता है। ४७०.

प्रश्न :—*आत्माको ज्ञान-लक्षणसे पहिचानना वह तो बराबर है; परंतु जो बाहरसे जाननेमें आता है उससे आत्माकी पहिचान नहीं हो सकती। तो हम क्या करे?*

समाधान :—मैं ज्ञान-लक्षणसे लक्षित ही हूँ। यह दिखता है–जाननेमें आता है इसलिये मैं हूँ, ऐसा नहीं; यह तो सब बाह्य लक्षण हैं। मैं स्वयं अपने ज्ञान-लक्षणसे लक्षित हूँ, ऐसा स्वयं अपना अस्तित्व पहिचाने तो होता है। करना स्वयंको है। गहरी रुचि और लगन लगाकर अंतरसे आत्माको पहिचाने तब हो। देव–शास्त्र–गुरुकी महिमा, रुचि तो है, परंतु अंतरसे विशेष पुरुषार्थ करना वह स्वयंके हाथकी बात है। ४७१.

प्रश्न :—*आकुलता मंद हो जाय इसलिये शान्ति लगती है; शुभ–अशुभका परिवर्तन तो होता ही रहता है। तो आगे बढ़नेके लिये क्या करें?*

समाधान :—अनादिसे जीवको अभ्यास है इसलिये शुभ और अशुभ चलते रहते हैं, अशुभ सहज ही छूट जाये और शुभमें पलटा खाये वह पुण्यबन्ध है, परन्तु अभी तीसरी भूमिका रह जाती है, जो कि शुद्धोपयोगकी भूमिका है। अशुभसे पलटा खानेपर शुभभाव आता है, परन्तु अंतरमें श्रद्धा रखे कि यह जो मैं कर रहा हूँ वह तो शुभभाव है, अभी अंतरमें करनेका (कार्य) बाकी है। शुभ–अशुभ दोनों विकल्पोंसे रहित—विकल्पोंसे अतिक्रान्त—दशा मुझे अभी प्रगट करनी बाकी है। शास्त्रोंमें आता है न कि: तुझसे न हो सके तो श्रद्धा तो बराबर करना कि अभी मुझे बहुत करना बाकी है। ऐसा मानेगा तो तुझे अंतरसे पुरुषार्थ करनेका अवकाश रहेगा; परन्तु तू शुभभाव करके ऐसा मान ले कि मैंने बहुत कर लिया, तो आगे बढ़नेका अवकाश नहीं रहेगा। इन सब विकल्पोंसे पार, इन सबसे अतिक्रान्त होकर, अंतरमें पहुँचना है। ४७२.

प्रश्न :—*आत्मप्राप्ति करनेमें धैर्य न टूटे और तीव्र लगन लगे उसके लिये कैसा प्रयास करना चाहिये।*

समाधान :—यह एक ही प्रयास करनेका है। अनादिकालसे सब बाहरका अभ्यास है अतः अंतरमें उतरनेके लिये प्रयास करना है। आत्माको पहिचाननेका ही प्रयास करना है। उस विचारमें अधिक समय न रहा जा सके तो शास्त्र-स्वध्याय करे, उसमें भी स्थिर न रह सके तो श्रवण करे—इसप्रकार शुभभावोंका प्रकार बदलता रहे; परन्तु

जबतक न हो तबतक शुभमें रहना, तथापि भावना तो शुद्धकी ही रखना। करनेका तो यही है। ध्यान करे तो उसमें शान्ति लगे किंतु अंतरकी शान्ति तो और ही कुछ है।

विकल्पोंके जालसे छूटकर अंतरमेंसे जो आत्मा प्रगट होता है वह आत्मा जागृत है। अन्यमति कहते हैं कि विकल्प छूटनेसे आत्मा शून्य हो जाता है, परन्तु वैसा नहीं है। विकल्प टूटनेसे तो विशेष जागृत होता है। आत्मामें अनंत गुण भरे हैं। चैतन्यतत्त्वमें अनंतता भरी है। उन आनन्दादि अनंतगुणोंका वेदन उसे स्वानुभवमें होता है। मैं विकल्प छोड़ूँ....विकल्प छोड़ूँ—ऐसे किया करे तो विकल्प नहीं छूटते; अपनी अन्तरंग योग्यता प्रगट हो तो विकल्प छूट जाते हैं। विकल्पोंसे अतिक्रांत होनेपर स्वानुभूतिकी दशा प्राप्त होती है। तभी यथार्थ शान्ति होती है।

जबतक सच्ची शान्ति प्राप्त न हो तबतक भेदज्ञानका अभ्यास करना कि यह जो विकल्प आते हैं उनसे मैं भिन्न हूँ। प्रतिक्षण यही अभ्यास करता रहे कि यह जो शुभाशुभभाव आते हैं उनका ज्ञाता मैं भिन्न हूँ। प्रयासकी शुरुआत भेदज्ञानके अभ्याससे होती है। चाहे जो विकल्प आयें, शुभाशुभभाव आयें वह मेरा स्वरूप नहीं है। जैसे सिद्धभगवान् हैं वैसा ही मैं हूँ। मैं तो शुद्ध निर्मल एकरूप तत्त्व हूँ।

जैसे स्फटिक निर्मल है वैसे ही मैं निर्मल हूँ, स्फटिकमें जो लाल-पीले आदि प्रतिबिंब पड़ते हैं वह उसका मूल स्वभाव नहीं है, उसी प्रकार मैं निर्मल हूँ। मेरे मूल स्वभावमें इन विभावोंका प्रवेश नहीं हुआ है। मैं तो शुद्ध ही हूँ, निराला हूँ। ऐसे निरालेपनेका—भेदज्ञानका—अभ्यास करना। यह प्रथम उपाय है।

'मैं ज्ञाता हूँ, ज्ञायक हूँ, यह शरीर मेरा नहीं है, जड है। यह मन भी मेरा नहीं है। यह जो विकल्प उठते हैं, वह भी मेरा स्वभाव नहीं है। भले ही वे मेरी पर्यायमें होते हैं, कहीं जडमें नहीं होते अथवा उन्हें जड नहीं कराता, वे मेरे पुरुषार्थकी कमजोरीसे होते हैं; तथापि मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो भिन्न ज्ञायक हूँ!' ऐसा ही अभ्यास करते रहना सो प्रथम उपाय है। जिसे अभी यह अभ्यास भी नहीं है उसको तो स्वानुभूतिका होना कठिन है।

यह अभ्यास एकान्तमें बैठकर करे तभी हो ऐसा नहीं है। यह अभ्यास तो चाहे जब हो सके ऐसा है। और उसे प्रतिक्षण करते ही रहना है; फिर भी ऐसा न हो तो

धीरे-धीरे करता रहे; परन्तु इसीप्रकारसे भेदज्ञानका अभ्यास करते रहना है।

जैसे पानी स्वभावसे शीतल है, वह अग्निके निमितसे उष्ण होता है, फिर भी उसका स्वभाव तो शीतल ही है। वैसे ही मैं तो स्वभावसे शीतल हूँ। मेरी अपनी कमजोरीसे कर्मके संयोगमें जुड़ना होता है, परन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है।

ऐसा भेदज्ञानका अभ्यास करनेसे ज्ञायकमें एकाग्रता हो तो आत्माकी स्वानुभूति होनेका अवसर आता है। ४७३.

प्रश्न :—*भेदज्ञानके अभ्यासमें विचार आते हैं कि—"मैं देह नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, वाणी नहीं हूँ," तथा ऐसे जो विचार आते हैं वह भी "मैं नहीं हूँ", तो अब आगे क्या करना? वह समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—अभ्यास तो भेदज्ञानका ही करनेका है। 'यह मैं नहीं, यह मैं नहीं'—ऐसे कहकर पर और विभावसे छुड़वाना है। तथापि भेदज्ञानके अभ्यासमें स्थिर नहीं रहा जा सके तो शास्त्र-स्वाध्याय करे, फिरसे भेदज्ञानका अभ्यास करे, निराला रहनेका अभ्यास करे, यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञाता हूँ, ऐसा अभ्यास करना है।

'मैं चैतन्य शाश्वत हूँ। मेरा विनाश नहीं होता। मैं निर्मल हूँ, मैं पवित्र हूँ।' ऐसा अभ्यास पहले तो विकल्पसे होता है, ऊपर-ऊपरसे होता है; परन्तु यथार्थ अभ्यास तो अंतरकी गहराईसे हो वह है, गहराई पहलेसे नहीं आती। अनादिसे बाहरका अभ्यास है और अशुभमें पड़ा है, उससे विमुख होनेके लिये बारम्बार अभ्यास करना। समझ न पड़ती हो तो सत्संग, स्वाध्याय, श्रवण करना; परन्तु भेदज्ञानके अभ्यासके पश्चात् ही स्वानुभूति होनेका प्रसंग आता है। सच्ची श्रद्धापूर्वक भेदज्ञानकी धारा प्रगट हो तो उसमें यथार्थ स्वानुभूति आनेका प्रसंग बनता है।

भेदज्ञान हुए बिना सच्ची अनुभूति होती ही नहीं। जो शरीरको पृथक् न माने, स्वयं अंतरमें भिन्न तत्त्व है उसे नहीं पहिचाने अर्थात् जो भिन्न तत्त्व है उसे अंतरसे भिन्न किये बिना सच्ची स्वानुभूति नहीं होती। विकल्प मन्द हो जाएँ जिससे शान्ति जैसा कुछ भासे, कुछ चमत्कार दिखाई दे; परन्तु अंतरसे विकल्प टूट कर जो आनंद आये वह नहीं आता। विकल्पोंको रोके, दबा दे परन्तु जबतक अंतरसे पृथक् नहीं होता तबतक सच्चा आनन्द नहीं आता। ४७४.

प्रश्न :—*आप हमें दिव्य शक्तिशाली मंत्र दीजिये। जिसे रटते रहनेसे कल्याण हो जाय।*

समाधान :—मैं तो एक ही मंत्र देती हूँ, एक ही कहना है कि ज्ञायकका करना। 'ज्ञायक हूँ...ज्ञायक हूँ' वह महामंत्र है। उसका रटन निरंतर करने योग्य है। उसे तत्त्वस्वभाव द्वारा पहिचानना सो मूल(भूत कार्य) है। वह न हो तबतक उसका रटन करना कि 'मैं ज्ञायक हूँ, मैं ज्ञायक हूँ'। 'यह शरीर सो मैं नहीं। विभावकी समस्त पर्यायें वे मेरा स्वरूप नहीं'।

'मैं ज्ञायक हूँ...मैं ज्ञायक हूँ' इसप्रकार बारम्बार चैतन्यगृहकी ओर दृष्टि देना है, वहीं परिणतिको ले जाना है। वह करनेसे, उसपर ध्यान देनेसे, विकल्प टूटकर निर्विकल्प शुद्धात्मतत्त्व प्रगट होता है। यही प्रयास करने जैसा है।

जीवनको चैतन्यमय बना देना, यही कर्तव्य है। मैं देहमय नहीं हूँ, रागमय नहीं हूँ, वेदनामय नहीं हूँ। जिस ध्येयसे ब्रह्मचर्यकी प्रतिज्ञा ग्रहण की है वही ध्येय रखना। एक चैतन्यमय ही जीवन बनाना वही कर्तव्य है।

अंतरमें चैतन्यकी स्वानुभूति हो वह जुदी बात है, परन्तु स्वानुभूति न हो तबतक भावनामय जीवन बना लेना। चैतन्यके बिना चैन न पड़े ऐसा जीवन बना देना। चैतन्यके चिन्तवन बगैर, चैतन्यकी वार्त्ता बगैर, चैतन्यके श्रवण बगैर, चैतन्यके स्वाध्याय बगैर कहीं भी चैन न पड़े वैसा जीवन बना देना, बस! एक ही भावना एवं उसीका पुरुषार्थ हो तब स्वानुभूति होती है। चैतन्यदेव प्रगट हो सो तो जुदी ही बात है; तथापि वह न हो तो उसकी भावनामय जीवन बने वह भी अच्छा है। अन्य सबसे दृष्टि हटाकर चैतन्यमय जीवन बनाना। बाह्यमें कहीं रुकने जैसा नहीं है। बस, एक चैतन्यमें ही आनन्द है। उसीमें ज्ञान है।—ऐसे ज्ञायकदेवका स्मरण करना, साथ ही देव–शास्त्र–गुरुको हृदयमें रखना। ४७५.

प्रश्न :—*ज्ञानीको भगवान्‌की भक्तिके भाव आते हैं तब उनकी परिणति क्या काम करती है?*

समाधान :—सम्यग्दृष्टि उस समय भी निराला ही रहता है। उत्कृष्ट भक्ति करता हुआ दिखाई देता हो, तथापि उस भक्तिके भावमें एकत्व नहीं होता; उस क्षण भी वह निराला रहता है। यह भक्तिके रागके विकल्प आते हैं। वे पृथक् और मैं उनसे पृथक्—ऐसी भेदज्ञानकी धारा वर्तती है। ४७६.

प्रश्न :—*तो वे भक्तिके भाव निषेधात्मक हैं?*

समाधान :—हाँ, वे सहज निषेधात्मकरूपसे रहते हैं, व्यवहारसे आदरणीय हैं, द्रव्यदृष्टिसे (निश्चयसे) निषेधात्मक हैं, दोनों धारायें साथ चलती हैं। ज्ञानी द्रव्यदृष्टिकी मुख्यतासे उनका निषेध करते हैं और व्यवहारसे आदर करते हैं। भक्तिकालमें भक्ति भी उत्कृष्ट आये तथापि निषेधपनेका भाव सहज रहता है। ४७७.

प्रश्न :—*भक्तिके भाव आये तब हमें क्या करना चाहिये? वह समझाइये।*

समाधान :—श्रद्धा तो यथार्थ ही करना है। परंतु भक्तिका प्रसंग आये तब 'यह भक्ति सो मैं नहीं हूँ' ऐसा विचारता रहे, तो उसे भक्ति उत्पन्न होनेमें—भक्तिके भाव उठनेमें—मुश्किल होती है। कृत्रिम करने जाये तो नहीं होती। भक्तिके समय भक्ति भी करता जाये और 'मैं यह नहीं, मैं यह नहीं' ऐसे विकल्प भी करता रहे तो उसे भक्ति उत्पन्न होना मुश्किल है, उसे भक्ति नहीं आती। ज्ञानीके तो सहज धारा वर्तती है। ४७८.

प्रश्न :—*ज्ञानीको तो प्रत्येक कार्यमें सहज धारा वर्तती है, परंतु अज्ञानी क्या करे?*

समाधान :—अज्ञानीको ऐसी भावना रखनी कि 'मैं तो निराला तत्त्व हूँ, रागमें जुड़ना वह मेरा स्वरूप नहीं'। 'भगवान् मुझे तार देंगे' ऐसा वह भले ही कहे परन्तु साथ ही जानता है कि, भगवान् तो परिपूर्ण वीतराग हैं। मैं तो अपने भक्तिभावसे कहता हूँ कि 'हे प्रभो! आप मुझे पार उतार देना'। ऐसा कहते हुए भी, उसके ज्ञानमें ऐसा भाव वर्तता है कि 'मैं चैतन्य भगवान् हूँ।' मैं पुरुषार्थ करूँगा तब पार होऊँगा—इसप्रकार ज्ञान तो यथार्थ ही करना चाहिये। परन्तु भक्ति करे तब भक्तिके रंगसे रंगा हुआ होता है। यदि वह कृत्रिम विकल्प किया करे तो भक्तिभाव आना कठिन होता है, भक्तिका उद्भव ही नहीं होता। ४७९.

प्रश्न :—*'भगवान् आत्मा आबालवृद्ध सबके ज्ञानमें सदा आ रहा है' उसका क्या अर्थ? 'अनुभवमें आ रहा है' उसका क्या आशय? कृपया समझाइये।*

समाधान :—आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान-लक्षण तुझे पहिचाननेमें आये वैसा है। 'अनुभवमें आ रहा है' अर्थात् तद्रूप तू है, तू अपने स्वभावसे परिणमित हो रहा है। 'अनुभवमें आता है' उसका यह अर्थ नहीं कि वेदनरूपसे, स्वानुभूतिरूपसे अनुभवमें

आता है। परन्तु परिणमनमें तू ज्ञान-लक्षणसे परिणमित हो रहा है, उससे तू पहिचाना जाये वैसा है। तू स्वयं ही है, तो तू अपनेको क्यों नहीं जानता? तू ज्ञानस्वभाव है, ज्ञानस्वभावरूप तू स्वयं ही हो रहा है। तू स्वयं अनुभवरूप विद्यमान है। परन्तु यह अनुभव अर्थात् आनन्दके वेदनकी अनुभूति नहीं; परन्तु तू अपने अस्तित्वरूपसे मौजूद है उसे पहिचान ले। तू ही है। तू जड नहीं हो गया, परन्तु अंदर विकल्पोंमें ऐसा उलझ गया है कि उनसे छूटना तुझे कठिन पड़ रहा है। एक-एक ज्ञेयमें, खंड-खंडमें, उलझ गया है जिससे अखंडको खोजनेमें कठिनाई हो रही है। तू ज्ञाता है, निःशंकरूपसे सबको जानता है। ४८०.

प्रश्न :—*यथार्थ रुचिवान् जीवकी परिणति कैसी होती है? कृपया बतलाईये।*

समाधान :—जो रुचिवान् हो उसे ऐसा लगता है कि, करने योग्य कार्य तो यह एक ही है—शुद्धात्मरूप परिणति करना। वही कर्तव्य है; परन्तु वह, मुझसे अभी तक हुआ नहीं है। आत्मा शुद्ध है परन्तु पुरुषार्थ करके मैं शुद्धताको प्राप्त नहीं कर पाया। उसका हृदय भीगा हुआ होता है। वह अशुभसे बचनेके लिये शुभमें खड़ा रहता है, परन्तु शुभमें सर्वस्व नहीं मानता। जो स्वच्छंदी जीव हैं वे अपनेको पर्यायसे शुद्ध मानते हैं और कहते हैं कि यह सब उदयाधीन होता है; परन्तु वह एक प्रकारका शुष्कज्ञान है।

रुचिवान् जीवको ज्ञान एवं क्रियानयकी मैत्री भले ही अंतरमें परिणतिरूपसे प्रगट नहीं हुई है; तथापि वह क्रियामें मोक्ष नहीं मानता। वह ऐसा मानता है किद्यडग०द्यः द्यघ२५५द्यः आत्मा शुद्ध है, परंतु मैं तद्रूप परिणमित नहीं हुआ हूँ। उसे शुभभाव आते हैं परन्तु शुभमें सर्वस्व नहीं मानता, और शुद्धभाव कैसे प्रगट हो, ऐसी उसकी भावना रहती है। आत्मा वस्तुस्वभावसे शुद्ध है, ऐसी रुचि एवं भावनासे—जो जिज्ञासु है, मुमुक्षु है, आत्मार्थी है—उसका हृदय आर्द्र (भींजा हुआ) रहना चाहिये। जो शुष्कज्ञानी है उसका हृदय भींजा हुआ नहीं होता और वह अन्य (क्रियाजड) क्रियाका पक्षपाती हो जाता है।

रुचिवान् जीवको "कषायकी उपशांतता मात्र मोक्ष अभिलाष" मात्र मोक्षकी अभिलाषा रहती है। आत्मार्थीको शोभा न दे वैसी कषाय उसके नहीं होती।

"भवका खेद, अंतर दया, वहाँ आत्मार्थ निवास" आत्मार्थी-हृदय ऐसा होता है

कि: शुद्धात्मा कैसे प्रगट हो? जिज्ञासा ऐसी होती है कि शुद्धात्माकी परिणति कैसे प्रगट हो? वैसी भावनासे उसका हृदय भींजा हुआ होता है। ऐसे जीवको ज्ञान एवं क्रियानयका पक्षपाती नहीं कहा जाता परन्तु वह मुमुक्षुकी भूमिकामें है। मैं आगे नहीं बढ़ पाता वैसी खटकसे उसका हृदय भींजा हुआ रहता है।

आत्मार्थी भक्तिमें जुड़ता है तथा यथाशक्ति विरक्ति भी होती है। वह बाह्यमें लीन (रचापचा) नहीं रहता। उसके भीतर कषायकी तीव्रता नहीं बढ़ती, किन्तु मन्दता होती है; उसे आत्मार्थका प्रयोजन रहता है और अंतरमें ऐसी ही रुचि रहती है।

जिसके शुद्धज्ञान और क्रियानयकी मैत्री प्रगट हुई है उस ज्ञानीकी बात अलग है, तथा जिसे ज्ञाननय या क्रियानयका पक्षपात वर्तता है उस अज्ञानीकी बात भी जुदी है। जब कि यह तो रुचिवान् जीव है।

क्या चैतन्यका कार्य करना वह तेरा कर्तव्य नहीं है? अपना समय व्यर्थ मत गँवाना; इस मनुष्यभवका उपयोग आत्माके लिये कर, शरीरके लिये अनन्तकाल खोया है। शरीरकी सुविधाओंके लिये अनन्तकाल गुजारा–गँवाया है। अब एक भव तू आत्माके लिये निकाल। अर्थात् इस भवका ऐसा उपयोग कर कि समस्त भवोंका अभाव हो जाय। अभी तक शरीरके लिये, बाह्य सुविधाओंके लिये अनंतभव गँवाये हैं; किंतु तेरे परिभ्रमणका अंत नहीं आया। अब आत्माके लिये इस एक भवका ऐसा उपयोग कर जिससे कि तेरे समस्त भवोंका अभाव हो जाय। ४८१.

प्रश्न :—*आत्मज्ञान प्रगट करनेके लिये तपश्चर्या करनी पड़ती है?*

समाधान :—आत्मा ज्ञानस्वभावी है; उसके ज्ञानको प्रगट करनेके पुरुषार्थमें, शुभभाव बीचमें आते हैं; परन्तु मात्र तपश्चर्या करे तो कुछ नहीं होता। सच्चे मार्गपर चलना हो तो सर्वप्रथम पहिचान करे कि कौनसे मार्गपर चलना है? मार्गको जाने बगैर कोई चलने लगे और क्रियायें करने लगे; मगर कहाँ जाना है सो तो प्रथम निश्चित कर! आत्मामें जाना है तो उसे पहिचाने बिना तू अपना कदम कहाँ रखेगा? ज्ञान यथार्थ कर तो तेरी ज्ञान-परिणतिकी जो क्रिया होगी वह रागसे भिन्न पड़ेगी, मार्ग अन्तरमें है, बाहर नहीं।

भेदज्ञानज्योति अंतरसे राग और स्वभावको भिन्न करके स्वानुभूतिकी दशा प्रगट करती है। स्वरूपलीनता करना वह ज्ञानज्योतिका सहज स्वभाव है। कृत्रिम विभाव अनादिसे उसे

सहज जैसा हो गया है; परन्तु अपना स्वभाव प्रगट होना वह सहज है। ज्ञानज्योति जहाँ स्वभावके पथ पर चली वहाँ स्वभाव स्वभावमेंसे विकसित होता जाता है। और लीनता बढ़नेपर भूमिका वृद्धिगत होती जाती है। ज्ञानज्योति लीला मात्रमें विभावको उखाड़ देती है। बीचमें जो विभाव आयें उन्हें निकाल देती है।

छोटे बच्चे स्कूलमें पढ़ते हों और होशियार हों तो थोड़ी ही देरमें उत्तर लिख देते हैं, तुरन्त जवाब देते हैं, उन्हें बोझ नहीं लगता। यह तो दृष्टान्त है। वैसे ही ज्ञानज्योतिकी शक्ति प्रगट होनेपर वह लीलामात्रमें स्वरूपमें लीन हो जाती है। परिणति बाहर आनेपर उसे अंतरमें ले जाना वह अपने हाथकी बात है, वह दुर्लभ नहीं है। ४८२.

प्रश्न :—*अंतरमें जानेके लिये लाचारी करनी पड़ती है?*

समाधान :—परिणतिकी डोरको अंतरमें ले जाना वह ज्ञानीके हाथमें है। परिणतिकी डोरको स्वरूपकी ओर खींचना वह उनके हाथकी बात है, उसमें किसीकी लाचारी करनी नहीं पड़ती। पुरुषार्थकी मंदताके कारण वह बाहर आ जाती है, परंतु बाहर आकर स्वयं अंतरमें लीलामात्रमें जा सकती है। अपनी स्वरूप-परिणतिको ज्ञानी बढ़ाता जाता है; तदर्थ अन्य किसीके आश्रयकी जरूरत नहीं है। ४८३.

प्रश्न :—*चैतन्यका तथा देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति आदिका लाभ सब गुरुदेवके प्रतापसे प्राप्त हुआ है।*

समाधान :—यह चैतन्यका लाभ ही अंतरका सच्चा लाभ है, ऐसा गुरुदेव कहते हैं। बाह्यमें देव-शास्त्र-गुरुका लाभ प्राप्त होना भी अति दुष्कर है, गुरुदेव मिले, जिनेन्द्रदेव मिले, शास्त्र मिले, यह सब लाभ मिलना और उन कार्योंमें जुड़ना सो सब दुर्लभ है; परन्तु इस चैतन्यका लाभ तो उनसे भी दुर्लभ है।

'परमात्मप्रकाशमें योगीन्द्रदेव कहते हैं न कि: जीवको अनन्तकालमें जिनेन्द्रदेव नहीं मिले तथा सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ। वे दोनों दुर्लभ हैं। जिनेन्द्रदेव मिलने मुश्किल हैं, तिसपर भी महाभाग्यसे जिनेन्द्रदेव भी मिले; परंतु अंतरमेंसे ग्रहण नहीं किया, इसलिये वास्तवमें नहीं मिले। तथा एक सम्यग्दर्शन प्राप्त होना महामुश्किल है। अतः उन सब लाभोंके साथ-साथ चैतन्यके लाभकी दृष्टि (अभिप्राय) रखना; चैतन्यका लाभ लेना वही कर्तव्य है।

चैतन्यके लाभपर दृष्टि रखने जैसी है कि चैतन्यका लाभ कैसे प्राप्त हो? चैतन्यका अस्तित्व कैसे ग्रहण हो? 'मैं यह चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ' ऐसे अपनेको ग्रहण होना चाहिये। मात्र रटनेसे और बोलनेसे वह (ग्रहण) नहीं होता। यद्यपि उसकी भावना हो वह और बात है; परंतु उसके मूल अस्तित्वको ग्रहण करना। मेरी अस्ति चैतन्यरूप है। यह जो परद्रव्य दृष्टिगोचर होते हैं वे मैं नहीं हूँ। वैसे ही यह जो शुभाशुभभावरूप विभावोंका अस्तित्व है वह भी मैं नहीं हूँ। मेरा अस्तित्व मुझमें है; किन्तु अन्य अस्तित्व मुझमें नहीं है; मैं उनसे जुदा हूँ। जो साधकदशाकी क्षणिक पर्यायें होती हैं, वे भी मूल द्रव्य नहीं है। मूल द्रव्य तो अखंड स्वरूपसे पूर्ण है। उस पूर्ण स्वरूपके ऊपर दृष्टि करे तो पूर्णताकी पर्याय प्रगट हो। साधकपनेकी पर्यायोंमें भी रुकने जैसा नहीं है। वे बीचमें आती हैं जरूर, मगर उनमें रुकने जैसा नहीं है। जो अनादि-अनन्त शाश्वत पूर्ण है उस चैतन्यका लाभ कैसे प्राप्त हो? सो करने योग्य है। वह लाभ प्रथम आंशिक प्राप्त होता है और बादमें पूर्ण प्राप्त होता है। ४८४.

प्रश्न :— *भगवान्‌के मन्दिरके द्वारपर फिरा करे तो, जब मन्दिरके द्वार खुलते हैं तब, भगवान्‌के दर्शन होते हैं, वैसे ही आत्मामें किस प्रकार फिरते रहना चाहिये?*

समाधान :—जैसे भगवान्‌के मंदिरके द्वारपर फिरते रहनेपर, जब द्वार खुलते हैं तब भगवान्‌के दर्शन होते हैं; वैसे ही चैतन्य भगवान्‌के द्वार पर फेरी लगाने जैसा है। उसके निकट फिरते रहकर, स्वभावको ग्रहणकर, अंतरमें चैतन्यकी स्वानुभूति कैसे प्रगट हो, वह करने योग्य है। 'मैं ज्ञायक हूँ....मैं ज्ञायक हूँ' इसप्रकार बारम्बार उसकी धुन लगाने जैसी है। 'मैं चैतन्य हूँ....मैं चैतन्य हूँ'....मुझे चैतन्यदेवके दर्शन कैसे हों? मेरा मंगल मंदिर खुले और मुझे चैतन्यदेवके दर्शन हों—ऐसा कब और कैसे हो? ऐसे बारंबार वहीं फिरा करे तो चैतन्यदेवका मंगल मंदिर एक बार (जरूर) खुल जायगा और उसमें जो चैतन्य भगवान् विराजमान हैं उनके दर्शन स्वानुभूतिमें होंगे। बारंबार प्रयत्न कर तो अंतरमें मंगल मंदिरके द्वार खुल जायेंगे और मंगलमय चैतन्यदेव प्रगट होंगे। जिनेन्द्र भगवान्‌का मंदिर मंगलरूप है; वैसे ही यह चैतन्यदेव भी मंगलरूप है। मंगल मंदिर अंतरमेंसे खुल जानेपर, अंतरमें जो चैतन्यदेव परिपूर्ण मंगलमय हैं वे प्रगट होंगे। अर्थात् आनंदसे भरपूर, ज्ञानसे भरपूर, तथा परिपूर्ण मंगलमय पर्यायें प्रगट होंगी। चैतन्यदेवकी प्रत्येक पर्याय मंगलतासे भरपूर है। "सर्वगुणांश सो सम्यक्त्व"—सर्व गुणोंकी पर्यायें अंशतः मंगलरूप हैं और वैसे

करते–करते जब साधकदशाकी विशेष वृद्धि होकर पूर्णता होगी तब मांगल्यसे परिपूर्ण शुद्धात्माकी पूर्ण मंगलरूप पर्यायें प्रगट होंगी। जो मांगल्य मुनिको प्रगट होता है उसकी तो बात क्या करना! और जो मांगल्य केवलज्ञानमें प्रगट होता है उसकी भी क्या बात करना!! फेरी लगाते–लगाते मंगलद्वार खुल जायेंगे और जो मंगलरूप चैतन्यदेव विराजमान हैं वे मंगलमूर्ति चैतन्यदेव प्रगट हो जायेंगे। अतः द्वार पर फेरी लगा तो चैतन्यका लाभ प्राप्त होगा, अर्थात् मंगलरूप चैतन्यदेव प्रगट होंगे जो कि मांगल्यसे परिपूर्ण हैं अर्थात् उसमें स्वानुभूति, आनन्द एवं सुख भरा हुआ है। उसका ज्ञान कोई निराला, उसका आनन्द कोई निराला और उसमेंसे प्रगट हुआ चैतन्यका बल—अनन्त शक्तिसंपन्न चैतन्यका बल—भी कोई निराला!! अनन्त गुणोंमें रमनेवाला मांगल्यसे भरपूर वह चैतन्यदेव कोई अनूठा ही प्रगट होगा। अतएव सबको यही करने योग्य है।

'ज्ञायक....ज्ञायक....ज्ञायक' ऐसे करते–करते चैतन्यका मंगल द्वार खुल जाता है और दिव्यमूर्ति भगवान् प्रगट होते हैं—यही जीवनमें करने योग्य है।

मुमुक्षु :—सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन हुआ होगा तब आपको कितना आनन्द–उल्लास आया होगा!!

बहिनश्री :—अपनी बात मैं क्या करुँ? जो अनन्तकालसे नहीं मिला था वह मिला उसके आनन्दका क्या कहना!! वह अंशतः आनंद था। अब तो पूर्णताकी भावना होती है। कब मुनिदशा आये! क्षण–क्षण अंतरमें निवास रहे और बाहर न आना पड़े ऐसा दिन कब आये! ऐसी भावना रहती है। चैतन्यमेंसे प्रगट हुआ आनंद वह कोई अलग ही होता है। व्यक्तिगत बात तो क्या करनी? .... अब तो मुनिदशाकी और केवलज्ञानकी भावना होती है कि वह दिन–वैसा अपूर्व अवसर कब आये कि जब मुनि होकर प्रतिक्षण अंतरमें निवास हो और केवलज्ञान प्रगट हो!—यही भावना रहती है। ४८५.

दिनचर्या

मुमुक्षु :—आप तो सदा चैतन्यके नन्दनवनमें विहार कर रही हैं। चैतन्य-उद्यानके पुष्पोंकी सुगन्धसे चारों ओर सुगन्ध फैला रही हो, चैतन्यकी मस्तीसे सराबोर आपके जीवनकी दैनिक क्रियाओंके सम्बन्धमें जाननेकी भावना होती है सो कृपया हमें बतलायें।

बहिनश्री :—अंतरकी दिनचर्या तो यही है कि आत्मामें जाना, उसमें रहना और उसका ध्यान करना। आत्माका विभावोंके साथ सम्बन्ध ही नहीं है तो फिर शरीरके साथ क्या सम्बन्ध हो! शरीरका कार्य शरीरमें होता है, आत्मा तो अपना कार्य करता रहता है।

बाहरके कार्यक्रममें नित्यनियमानुसार पहले जिन-जिन शास्त्रोंका अध्ययन किया है उसमेंसे जो याद आता है वह सवेरे फेर लेती हूँ। श्री 'समयसार', 'प्रवचनसार', 'नियमसार', 'धवल', 'परमात्मप्रकाश', बृहद्द्रव्यसंग्रह, 'पंचाध्यायी', 'मोक्षशास्त्र' आदि जिन-जिन शास्त्रोंका अभ्यास है, उनमेंसे प्रतिदिन प्रातःकाल नियमसे फेर लेती हूँ। शास्त्रोंमेंसे गाथारूप, टीकारूप अर्थरूप या भावरूप जो याद आये उसे नियमसे फेर लेती हूँ। यह प्रतिदिनका नियम है। शास्त्र हाथमें ले सकूँ या न ले सकूँ; परन्तु यह स्वध्याय करनेका तो नित्य नियम है।

प्रतिदिन प्रातःकाल नियमसे ध्यान होता है। उसके अतिरिक्त पूरे दिनमें दूसरा अधिक ध्यान होता हो वह अलग। महाविदेहका स्मरण, सीमंधर भगवान्‌के दर्शन, वह सब आत्मध्यानके साथ होता है। चैतन्यमय जीवन है। दर्द उठे उस समय ध्यान विशेष चलता है और बाहरसे उपयोग हटकर भीतर ध्यानकी एकाग्रता होती है। अंतरमें निर्विकल्प ध्यान होता है। यह सब सहज ज्ञाताधाराकी साधनाका फल है।

आत्माका स्वभाव स्व-परप्रकाशक है; उपयोग बाहर हो तथापि अंतरका कार्य तो चलता ही रहता है। बाह्यसंयोग अथवा वेदना या शरीर ये कोई आत्माको बाधा नहीं करते। परिणति सहजरूपसे बारम्बार अन्तर्मुख होती है। यह सब गुरुदेवका प्रताप है; उनके प्रतापसे यह सब प्रगट हुआ है। हम तो उनके चरणसेवक हैं।

मुमुक्षु :—इस कालमें आपकी ज्ञान-ध्यानकी साधना सर्वोत्कृष्ट है। भरतक्षेत्रमें आप तो 'आराधनाकी देवी हैं' ऐसे पूज्य गुरुदेवके उद्‌गार हैं। अपने ज्ञान-कार्यक्रम सम्बन्धमें और विशेष प्रकाश डालनेकी प्रार्थना है।

बहिनश्री :—कार्यक्रम क्या? 'आत्माका कार्यक्रम आत्मा' उसकी साधनारूप परिणति परिणमित हो सो कार्यक्रम। बाहरसे बाहरका कार्यक्रम दिखाई पड़े, अंतरमें क्या हो उसे कौन समझ सके?

शास्त्रमें आता है न! कि अंतरके कर्ता–कर्म–क्रिया सब अंतरमें हैं और बाहरके कर्ता–कर्म बाह्यमें हैं। पुद्गलकी क्रिया आत्मामें नहीं है, और आत्माकी क्रिया पुद्गलमें नहीं है। दोनोंको अत्यन्त भेद है। कोई बाहरसे देखना चाहे तो वह अंतरंग कार्यक्रम बाहरसे दिखलायी नहीं देता। अंतरका कार्यक्रम अंतरमें होता है, बाह्यका सब बाहरमें होता है।

आत्माकी जो विधि हो उसका कार्यक्रम अंतरमें होता है। साधकोंकी विधिका कार्यक्रम अंतरमें होता है। शरीरके जो कार्य होते हैं वे बाह्य-कार्यक्रम हैं; शुभभावोंकी जो क्रिया है वह शुभभाव भी बाहरसे दिखाई देने योग्य बाह्य-कार्यक्रम है। भेदज्ञानकी परिणतिके कार्य अंतरमें चलते हैं अर्थात् साध्य–साधकभावका कार्यक्रम अंतरमें होता है और वह तो प्रतिक्षण चलता ही रहता है। उसमें इस समय यह करना और दूसरे समय ऐसे करना वैसा नहीं होता।

दृष्टि और ज्ञानकी परिणतिका कार्यक्रम निरन्तर चलता रहता है, वह खंडित होता ही नहीं। वह कार्यक्रम निरन्तर धारावाही होता ही है। जो सदैव चालु ही है उसे कार्यक्रम क्या कहना? वह तो सदाके लिये होता ही है। उसमें नवीन कुछ करना नहीं है, वह तो निरन्तर चलता ही है।

साधकका कार्यक्रम—भेदज्ञानकी परिणतिका तथा स्वानुभूतिका कार्यक्रम—तो सदाके लिये होता ही है। शुद्धात्माकी शुद्ध पर्यायें–निर्मल पर्यायें प्रगट होती ही हैं; तो फिर उसके लिये 'कार्यक्रम' ऐसा क्या कहना? वह तो सदैवका है ही। जो कार्य होता हो उसमेंसे अन्य कार्य हो तो उसे कार्यक्रम कहा जाता है कि इतना कार्य अभी, इतना कार्य फिर तथा इतना कार्यक्रम इस प्रकार करना। परन्तु जो सदाका है उसे 'कार्यक्रम'का नाम क्या देना?

अंतरमें पुरुषार्थकी परिणतिकी सहज गति चलती ही रहती है। बाह्य कार्योंमें 'कार्यक्रम' कहा जाता है कि इस समय शास्त्रस्वाध्याय होता है, यह समय दर्शन–पूजाका

है; इस समय यह होता है; वह सब तो बाहरी है। अंतरका कार्यक्रम सब और ही कुछ होता है और वह निरन्तर चलता ही रहता है—जागते–सोते–स्वप्नमें, खाते–पीते–बोलते–चालते प्रत्येक दशामें वह कार्यक्रम तो चालु ही है। उसमें कुछ अंतर (व्यवधान) नहीं पड़ता, अंतरका अंतरमें है। ज्ञान, ध्यान, साधना—यह कोई बाहर कहेनेकी वस्तु नहीं है। बाहर सबसे कहना कि ऐसा होता है और वैसा होता है वह साधकोंकी रीति ही नहीं है। श्री 'समयसार'में आचार्यदेव कहते हैं कि अचल, व्यक्त ऐसी ज्ञानज्योति, चित्तशक्तिके भारसे अत्यन्त गम्भीररूपसे प्रगट हुई है। ज्ञानज्योतिका स्वभाव ही गम्भीर होता है। वह बाहर कहनेकी बात नहीं होती। शुद्धात्माकी निर्मल परिणतिका कार्य, वह बाहर प्रगट करनेकी बात नहीं है, वह तो अंतरमें अपने लिये है। अंतरमें जो जाज्वल्यमान ज्ञानज्योति प्रगट हुई वह उग्ररूपसे प्रगट हुई है और वह चित्शक्तिके भारसे प्रगट हुई है। 'चित्शक्तिका भार' ऐसे कहनेमें आचार्यदेवका आशय यह है कि चैतन्य कहीं रिक्त (शून्य) नहीं है।

चैतन्यराजाकी दृष्टि स्वसन्मुख हो गई, इसलिये विभाव बेचारे निराधार होकर चले जाते हैं। प्रचण्ड चैतन्यदेव उग्ररूपसे उदित हुआ वहाँ परकी स्वामित्वबुद्धि ही उड़ जाती है; पश्चात् अल्प अस्थिरता रहती है, परन्तु वह गौण है। अनन्त गुणोंकी शुद्धि प्रगट करती चैतन्यज्योति उदित हुई वह चारों ओरसे विभावको तोड़ देती है, विभाव कहीं खड़ा नहीं रहता।

चैतन्य जो सदाके लिये अनादि–अनन्त शाश्वत द्रव्य है वह, स्वयं ही आदरणीय है। उस निजगृहमें निवास करने जैसा है। पुद्गल तो पराया घर है। चैतन्यगृह ही निजगृह है; वह निजगृह सदाके लिये आदरणीय है, विश्राम-स्थान है, आनन्द-धाम है, उसमें रहनेके लिये कार्यक्रम क्या? उसमें रहनेकी मर्यादा क्या? सदाके लिये तुझे वहीं रहने जैसा है। निरन्तर शाश्वतरूपसे वहाँ स्थित नहीं रह सकता सो अपनी अल्प अस्थिरता है; नहीं तो सदा–शाश्वत उसीमें निवास करने जैसा है। किसी कालके–क्षणके अंतराल बगैर उसीमें रहने जैसा है। चैतन्यगृहमें अमुक काल रहना और अमुक काल न रहना ऐसी रीति साधकोंकी होती ही नहीं। यह अंतरकी बात है। ध्येयको जिसने लक्ष्यमें लिया उसकी साधकदशा निरन्तर चलती ही रहती है और वह अंतरमें स्थिरताका प्रयत्न भी करता है; इसलिये उसे इसप्रकारके (बाह्य) कार्यक्रम होते हैं, ऐसा कहा जाता है।

कार्यक्रम तो बाह्य संयोगोंके अनुसार अल्प या अधिक होते रहते हैं, परन्तु अंतरमें तो एकरूप धारा चलती ही रहती है। मैं ऐसा करता हूँ, वैसा करता हूँ, ऐसा किसीसे कहनेका थोड़े ही होता है? आपने पूछा इसलिये व्यवहारसे जैसा होता है वैसा कहा; और तो क्या कहा जाय? अंतरमें तो साधनाका कार्यक्रम चालु ही रहता है।

पहले जिनमंदिरमें बहुत देर तक बैठती थी; वहाँ जिनेन्द्र भगवान्के समक्ष स्वाध्याय करती थी और ध्यान करती थी तथा गुरुदेवश्रीके प्रवचन सुनती थी। ऐसे बाह्य कार्यक्रम होते थे, वे बाह्य संयोगों पर आधारित हैं, परन्तु अंतरंग कार्यक्रममें फेरफार नहीं होता।

अंतरका कार्य करना वह अपने हाथकी बात है। परिणतिको कहाँ ले जाना? कैसे परिणमित करना? कितनी निर्मलता करना?—वह अपने हाथकी बात है। उसमें बाह्य संयोगोंके साथ संबंध नहीं है।

साधकको जिनमन्दिरके दर्शनकी, पूजाकी, स्वाध्यायकी, यात्राकी, एकांतवासकी, एकांतमें ध्यान करनेकी—ऐसी अनेक भावनाएँ होती हैं। ज्ञान, ध्यान, स्वाध्यायादि अंतरमें होते हैं। जबतक पूर्णता न हो तबतक शुद्ध पर्यायके साथ शुभभाव रहते हैं।

सहजदशामें सब सहज होता है। अंतरका कार्यक्रम सदाके लिये सहज होता है। जबतक मुनिदशा, केवलज्ञान नहीं तबतक अपूर्णता है। विशेष क्या कहना? निरंतर आगे बढ़नेकी भावना रहती है। देव–शास्त्र–गुरुका सान्निध्य सदा बना रहे और आत्माकी वीतरागता प्रगट हो, ऐसी भावना साधकदशामें होती है। वर्तमानमें देव–गुरुका सान्निध्य नहीं है इसलिये कहा कि देव–शास्त्र–गुरुका सान्निध्य सदा बना रहे। आत्मसाधनाके साथ–साथ देव–शास्त्र–गुरुका सान्निध्य बना रहे।

जबतक पूर्णता न हो तबतक ज्ञायककी शांतिधारा एवं ज्ञायककी ज्ञानधारा सदा चलती रहे ऐसा कार्यक्रम होता है। स्वानुभूतिकी धारा (दृष्टिकी धारा) एवं ज्ञानकी जो धारा है वह तो सतत चला करती है उसमें कोई खंड नहीं पड़ता। कोई भी बाह्य संयोग उसमें अवरोध उत्पन्न नहीं कर सकते। गुरुदेवने तो सबको कहाँसे कहाँ पहुँचा दिया है। जो भी है वह गुरुदेवका प्रताप है। सब गुरुदेवके चरणोंमें अर्पित है। सब उन्हींका है।

प्रश्न :— *'समयसार' गाथा–३२०की जयसेनाचार्यकृत टीकामें आता है कि: "शुद्धज्ञान अर्थात् अपरिणामी ध्रुव आत्मा बंध–मोक्षको नहीं करता" यह बात तो समझमें आती है, परंतु फिर ऐसा आता है कि "शुद्धज्ञानपरिणत जीव भी बंध–मोक्षको नहीं करता।" परिणत अर्थात् परिणमन करता कहना और यह भी कहना कि बंध–मोक्षको नहीं करता, वह कैसे घटित होता है?*

समाधान :—पूज्य गुरुदेवने तो बहुत विस्तार किया है, समझानेमें कुछ बाकी नहीं रखा। सूक्ष्म–सूक्ष्म करके शास्त्रका रहस्य खोला है। गुरुदेवका अनन्त–अनन्त उपकार है। यदि उसे समझकर अंतर पुरुषार्थ करे तो प्रगट हो ऐसा है। अनादि–अनंत जो वस्तु है वह स्वयं बंध–मोक्षको नहीं करती। वह वस्तुस्वभाव है। परिणत अर्थात् जो साधकदशामें परिणमित जीव है वह। और वह बंध–मोक्षको नहीं करता अर्थात् जिसे द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई है वह बंध–मोक्षको नहीं करता। जिसने वस्तुस्वरूप यथार्थ जान लिया है वह वास्तवमें बंध–मोक्षको नहीं करता; क्योंकि द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे उसने द्रव्यको यथार्थ ग्रहण किया है, द्रव्यपर दृष्टि की है, इसलिये द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे वह बंध–मोक्षको नहीं करता।

परिणत कहकर आचार्यदेव ऐसा कहना चाहते हैं कि वह परिणमता है अर्थात् परिणाम और अपरिणामी दोनों साथ होते हैं। अपरिणामी वह द्रव्य है, और परिणाम वह पर्याय है। साधकदशारूप परिणमित जीव यथार्थ रीतिसे वस्तुस्वरूपको जानता है इसलिये वह बंध–मोक्षको नहीं करता। यथार्थरूपसे परिणत जीव ही वस्तुस्वरूपको जानता है और द्रव्य अपेक्षासे बंध–मोक्ष नहीं करता। वस्तुस्वरूप अनादि–अनंत जैसा है वैसा ज्ञानपरिणत जीवने ही जाना है कि ऐसा मेरा स्वरूप है। जो वस्तु है वह बँधती नहीं है और यदि उसे बंधन नहीं है तो मुक्ति किसकी? इसलिये वस्तुस्वभावमें बंधन या मुक्ति नहीं है, और वह ज्ञानपरिणत जीवने ही जाना है कि उसमें बंधन या मुक्ति नहीं है।

ऐसा जाननेपर भी उसकी साधनाकी पर्याय तो चलती ही रहती है; मोक्षकी साधना भी वही करता है। ऐसा ही कोई वस्तुका स्वरूप है कि अपरिणामी और परिणति (परिणाम) दोनों साथ ही होते हैं। उस टीकामें आगे आता है कि द्रव्य और पर्याय दोनोंकी जोड़ी है, दोनों साथ ही होते हैं। परिणाम और अपरिणामी दोनों साथ हैं और इसलिये उसीमें साधना होती है।

बंध–मोक्षको नहीं करता वह यथार्थ तो साधकदशावाले जीवने जाना है। किसीने बुद्धिसे जाना हो वह बात अलग है परन्तु इसने तो अंतरसे परिणति प्रगट करके जाना है। साधकको अपने आत्माका ग्रहण होनेसे द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई है और जिसने द्रव्यपर दृष्टि स्थापित की वही वास्तवमें बंध–मोक्षका कर्ता नहीं है; तथापि साधनाकी पर्याय तो उसके चल ही रही है। आचार्यदेव कहते हैं कि परिणत अर्थात् जीवका स्वभाव परिणामी भी है और अपरिणामी भी है।—ऐसे दोनों वस्तुस्वभावको आचार्यदेव सिद्ध करते हैं।

जो अपरिणामी है उसे ज्ञानपरिणत जीवने जाना है तथा उसीने साधनाकी पर्याय प्रारम्भ की है। इसप्रकार साधक जीव ही परिणति और अपरिणामीको यथार्थ रीतिसे जानता है। द्रव्यदृष्टिमें तो मति–श्रुतज्ञानके भेद तथा उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकके भेद भी नहीं हैं। द्रव्यदृष्टि अखंड एवं अभेदको ग्रहण करती है, तथापि भेद होता है उसे ज्ञान जानता है। भेद और अभेद साथ रहते हैं। द्रव्य अपेक्षासे वस्तु अखंड होनेपर भी गुण–पर्यायकी अपेक्षासे उसमें भेद होते हैं; दोनों अपेक्षायें भिन्न हैं। परिणाम–अपरिणामी विरोधी दिखाई देनेपर भी दोनों साथ रहते हैं और मुक्तिके मार्गमें दोनों साथ ही होते हैं। अपरिणामीके ऊपर जोर है तथा उसपर दृष्टि स्थापित की है तथापि साधना परिणाममें ही होती है। साधनाका जो परिणामीपना है वह अपरिणामीके ओरकी मुख्यातासे ही, परिणाममें होता है। ऐसा परिणाम–अपरिणामीका सम्बन्ध है और ज्ञान उसे बराबर ग्रहण करता है। द्रव्य और पर्याय दोनों साथ ही होते हैं, इसलिये आचार्यदेवने कहा है कि जो ज्ञानपरिणत जीव है वही बंध–मोक्षको नहीं करता। जो परिणामी है—साधनारूपसे परिणमित है—उसीको द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई है और वही सच्चा ज्ञायक है।

ज्ञान-परिणामी जो जीव है उसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है, जिसे वह परिणामीपना है, उसे द्रव्यदृष्टि भी साथ ही रहती है अर्थात् उसे द्रव्यदृष्टिपूर्वक साधनाकी पर्याय साथ रहती है। वह द्रव्यदृष्टि द्रव्यमेंसे सर्वभेदोंको निकाल देती है तथापि जिस पर्यायको निकाल देती है उसीमें ही साधनाका प्रारम्भ होता है, ऐसा ही वस्तुका स्वरूप है। द्रव्य अपेक्षासे वस्तु अपरिणामी है और पर्याय अपेक्षासे परिणामी है। वे दोनों अपेक्षायें भिन्न–भिन्न हैं। द्रव्य और पर्याय दोनोंकी जोड़ी साथ ही होती है, दोमेंसे एक भी निकल नहीं सकता, तथापि दोनोंकी अपेक्षा भिन्न है। साधनामें दोनों साथ ही होते हैं। एक मुख्यरूप और दूसरा गौणरूप होता है। ४८६.

प्रश्न :—*दोनों बातें उसे अपने लक्ष्यमें किस प्रकार रखनी चाहिये?*

समाधान :—दोनों बातें लक्ष्यमें रखनी चाहिये परन्तु एक ज्ञायक मुख्य होता है। जीवने अनादिसे द्रव्यदृष्टि नहीं की। द्रव्य वह मुख्य है, तथापि पर्याय साथ होती है। द्रव्य कभी पर्यायरहित नहीं होता और पर्यायको द्रव्यका आश्रय है, ऐसा द्रव्य-पर्यायका सम्बन्ध है। उसकी दृष्टि अनादिसे पर्यायके ऊपर है उसे पलटकर द्रव्यदृष्टिकी मुख्यता करनी चाहिये। पर्याय उसके साथ गौणरूपसे होती है, कहीं निकल नहीं जाती। इसलिये साधनामें पर्याय साथ होती है। दोनों साथ होनेपर भी द्रव्यदृष्टि मुख्य है और साधना पर्यायमें होती है। ४८७.

प्रश्न :—*छठवीं गाथामें प्रमत्त-अप्रमत्त रहित ध्रुव ज्ञायक कहा है, वह तो समझमें आता है; फिर आगे कहते हैं कि ज्ञेयाकार अवस्थामें जो ज्ञायकरूपसे ज्ञात हुआ वह स्वरूप प्रकाशनमें भी कर्ता-कर्मका अनन्यपना होनेसे ज्ञायक ही है। अब प्रश्न यह है कि यहाँ ध्रुव ज्ञायककी बात चलती है तो आगे अवस्थाकी बात क्यों ली? तो वहाँ अवस्था समझाना है या त्रैकालिक ज्ञायक समझाना है? दोनोंमें ज्ञायक एक ही है या भिन्न है?*

समाधान :—ज्ञायक एक ही है। आचार्यदेवको ज्ञायक ही सिद्ध करना है। ज्ञायक तो अनादिका ज्ञायक ही है। विभावदशामें, प्रमत्त-अप्रमत्त दशामें, ज्ञेयाकार दशामें अथवा स्वरूपप्रकाशनकी दशामें वह ज्ञायक ही है। आचार्यदेव कहते हैं कि अनादिसे जो विभावकी पर्याय होती है उसमें भी वह ज्ञायक ही रहा है, अनादिसे ज्ञायकपना बदला नहीं है। स्वतःसिद्ध ज्ञायक है, वह स्वतःसिद्ध ज्ञायकरूप ही रहा है। प्रमत्त-अप्रमत्तकी जो दशा है, उस दशामें भी ज्ञायक ही रहा है। चारित्रदशाके जिन छठवें-सातवें गुणस्थानोंमें मुनि झूलते हैं अर्थात् क्षणमें स्वानुभूति और क्षणमें बाहर आये ऐसी जो पर्यायें हैं उस साधनाकी दशामें भी ज्ञायक द्रव्य तो ज्ञायकरूप ही रहा है, वह अनादिसे अशुद्ध नहीं हुआ। वह ज्ञान, दर्शन, चारित्रसे शुद्धरूपसे उपासना करनेमें आता हुआ शुद्ध ही है। द्रव्यदृष्टि प्रगट की तथापि ज्ञायक, ज्ञायक ही है; चारित्रकी दशामें भी वह ज्ञायक है; ज्ञानकी दशामें ज्ञेयाकार हुआ, तथापि वह ज्ञायक ही है। वह ज्ञेयोंको जानता है तथापि उसकी ज्ञायकता मिटती नहीं। स्वरूपको जाननेसे निर्विकल्पदशामें जाय तब भी वह ज्ञायक है और ज्ञेयोंको जाने तब भी ज्ञायक है; ज्ञेयोंको जाननेसे उसमें अशुद्धता नहीं आती। विभावदशा हो या प्रमत्त-अप्रमत्तदशा हो, ज्ञायकको कहीं अशुद्धता नहीं आती। शुद्ध-अशुद्धके भेद हैं वे पर्यायके भेद हैं, द्रव्यके नहीं।

वह तो स्वतःसिद्ध ज्ञायक है। बाह्यमें ज्ञेयोंको जाननेसे परका ज्ञान बढ़ गया इसलिये ज्ञानमें–ज्ञायकमें अशुद्धता आ गई ऐसा नहीं है, और अंतरमें ज्ञायकका ग्रहण होनेसे स्वरूपप्रकाशनकी–स्वानुभूतिकी दशामें भी ज्ञायक तो द्रव्य अपेक्षासे ज्ञायक ही है। ज्ञायक वह ज्ञायक ही है, ज्ञेयको जाने तब भी ज्ञायक है।

स्वरूपप्रकाशनमें स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही कर्म—ऐसी पर्याय प्रगट हुई, तथापि उसमें पर्याय सिद्ध नहीं करना है किन्तु ज्ञायक सिद्ध करना है। अपने स्वरूपप्रकाशनमें–निर्विकल्पदशामें गया तथापि ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। भले ही अपनी साधनाकी पर्याय—वेदनकी पर्याय—स्वानुभूतिरूपसे प्रगट हुई है, तथापि ज्ञायक तो ज्ञायक ही है।

ज्ञायक बाह्य ज्ञेयोंको पृथक् रहकर जानता है, उसमें उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं आती; इसलिये ज्ञायक ही है। उसकी पर्यायमें चारित्रकी अपेक्षा अशुद्धि है, परन्तु जाननेकी अपेक्षा अर्थात् ज्ञानके जानपनेसे अशुद्धता नहीं आती, क्योंकि वह बाहरसे भिन्न ज्ञायकस्वरूप रहकर अर्थात् ज्ञायककी उपस्थिति तथा ज्ञायककी धारामें रहकर जानता है, उसलिये उसमें अशुद्धता नहीं आती। अनादिसे ज्ञेयके साथ एकत्व करके जानता था, तिसपर भी द्रव्यमें अशुद्धि नहीं आयी। ज्ञायक, प्रमत्त–अप्रमत्त अवस्थामें भी ज्ञायक है; दर्शन–ज्ञान–चारित्रके भेद हों तब भी ज्ञायक है; और अवस्थामें अनादिका विभाव है तब भी ज्ञायक ही है—इसप्रकार द्रव्य अपेक्षासे वह सर्व प्रकारसे ज्ञायक है। कर्ता–कर्मका अनन्यपना कहकर भी उसकी पर्यायकी बात नहीं कहनी है, पर्याय कहकर ज्ञायक बतलाना है। ज्ञायक स्वानुभूतिमें जाय—निर्विकल्पदशामें स्वरूपका वेदन करे—तथापि ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। वस्तुस्वरूपसे ज्ञायक जो कि अनादिका है वह जो है वही है। जो मूल वस्तु है उसमें द्रव्य और पर्याय ऐसे दो प्रकार नहीं हैं। मूलवस्तु जो ज्ञायक है वह ज्ञायक ही है। पर्याय पलटती है वह अलग बात है परन्तु ज्ञायक है सो ज्ञायक ही है। ज्ञानमें बाहरका जाननेसे ज्ञायकपना किंचित् कम हुआ और भीतरका जाना इसलिये ज्ञायकपना कुछ बढ़ गया; अथवा बाहरका अधिक जाना इसलिये ज्ञायकपना बढ़ गया और भीतरका जाना इसलिये कम हो गया ऐसा कुछ नहीं है; ज्ञेयाकार होनेसे ज्ञायक अशुद्ध हो गया ऐसा भी नहीं है; द्रव्य अपेक्षासे ज्ञायक तो ज्ञायक है। द्रव्य अनादिका है; उसमें जिसने दृष्टि स्थापित की, उसे ज्ञानकी पर्याय हो या चारित्रकी—कोई भी पर्याय—हो तब भी सर्व अवस्थाओंमें ज्ञायक तो ज्ञायक है। सदाके लिये ज्ञायक है सो ज्ञायक है। पर्याय चाहे जिस प्रकार परिणमित हो, परन्तु ज्ञायक वह ज्ञायक ही है, ऐसा तात्पर्य है।

ज्ञायक, स्वरूपप्रकाशनमें भी ज्ञायक; ज्ञेयाकारमें भी ज्ञायक; प्रमत्त–अप्रमत्त दशामें भी ज्ञायक; और विभावकी कीसी भी अवस्थामें ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। अनादिसे ज्ञायक है सो तो ज्ञायक ही है। द्रव्यदृष्टिसे साधनाकी पर्याय प्रगट हुई तथापि ज्ञायक सो ज्ञायक है, ऐसा आचार्यदेवका कहना है। ४८८.

प्रश्न :—*पर्यायका कारण पर्याय है, द्रव्य–गुण नहीं; इस कथनसे क्या समझना?*

समाधान :—पर्यायका कारण पर्याय है, द्रव्य–गुण नहीं। जैसे द्रव्य–गुण अनादि–अनंत स्वतःसिद्ध हैं, वैसे ही पर्याय भी स्वतःसिद्ध है, वह किसीके द्वारा निर्मित या उत्पन्न की हुई नहीं है। द्रव्यमें जो पर्याय है वह स्वतःसिद्ध है, द्रव्यके कारण पर्याय है, ऐसा नहीं है। अकारण पारिणामिक द्रव्य है। जैसे द्रव्य स्वतःसिद्ध है वैसे ही पर्याय भी स्वतःसिद्ध है। उस पर्यायको परिणमनेमें कोई आगे–पीछेकी पर्यायका कारण लागू हो ऐसा भी नहीं है। वस्तुस्थितिसे पर्याय स्वतःसिद्ध है, इसलिये पर्यायका कारण पर्याय कहनेमें आता है। पर्याय है वह स्वतःसिद्ध है, जैसे द्रव्य–गुण स्वतःसिद्ध हैं वैसे ही पर्याय भी स्वतःसिद्ध है; परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि कोई द्रव्य पर्यायरहित है, और पर्यायको किसी द्रव्यका आश्रय नहीं है। अर्थात् पर्याय अद्धर–अद्धर है ऐसा अर्थ नहीं है, परंतु पर्याय स्वतःसिद्ध है। स्वतःसिद्ध पर्याय परिणमित हो वह अकारण है। जैसे द्रव्य–गुण अकारण हैं वैसे ही स्वतःसिद्ध पर्याय भी अकारण है ऐसा उसका अर्थ है। परंतु उससे कहीं पर्याय अद्धर है और द्रव्य बिलकुल कूटस्थ है अर्थात् द्रव्यमें कोई परिणाम नहीं है और पर्याय, द्रव्य बिनाकी है ऐसा अर्थ नहीं है। पर्यायका स्वतः सिद्धपना है और वह स्वयं स्वतंत्र है। पर्यायके समस्त कारक स्वतंत्र हैं। और वे स्वतंत्र परिणमते हैं, ऐसा उसका अर्थ समझना है। पर्याय भी, एक वस्तुकी भाँति अकारण है ऐसा कहना है।

जो द्रव्यदृष्टि करता है उसे द्रव्यदृष्टिमें जैसे स्वतःसिद्ध द्रव्य आता है, वैसे ही पर्याय भी स्वतःसिद्ध है तथापि पर्याय द्रव्यदृष्टिके विषयमें नहीं आती; परन्तु उससे कहीं पर्याय अलग एवं अद्धर हो गई ऐसा नहीं है। पर्याय परिणमती है, जैसा द्रव्य हो वैसी पर्याय परिणमती है। द्रव्य जड हो तो क्या पर्याय चेतनरूप परिणमित होगी? अथवा अन्य द्रव्यकी पर्याय अन्य द्रव्यरूप परिणमेगी? जिस द्रव्यकी जो पर्याय हो वह पर्याय उस द्रव्यके आश्रयसे ही परिणमित होती है; ऐसा उसका अटूट सम्बन्ध है। पर्याय स्वतःसिद्ध एवं स्वतंत्र होनेपर भी उसका सम्बन्ध द्रव्यके साथ है। पर्यायका द्रव्यके साथका सम्बन्ध छूटता नहीं। तथापि द्रव्यदृष्टिके

विषयमें वह नहीं आती। द्रव्यदृष्टिका विषय अखंड है, इसलिये उसमें गुण–पर्यायके भेद नहीं आते; तथापि किसी अपेक्षासे द्रव्यमें गुण–पर्यायके भेद हैं, और उन भेदोंके कारण पर्यायको द्रव्यका आश्रय होता है। यदि द्रव्य केवल कूटस्थ हो तो साधना नहीं होगी, वेदन नहीं होगा, संसार–मोक्षकी कोई अवस्था नहीं होगी। इसलिये द्रव्य पर्यायरहित नहीं होता।

पर्यायको स्वतंत्र कहनेका अर्थ यह है कि वह स्वतःसिद्ध और अकारण पारिणामिक है; उसका स्वरूप स्वतंत्र बतलानेके लिये ऐसा कहा है। जहाँ द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई वहाँ उसके विषयमें वह पर्याय नहीं होती, तथापि साधनामें दोनों—द्रव्यदृष्टि और पर्याय—साथ होते हैं। उनमें द्रव्यदृष्टि मुख्य होती है, क्योंकि जिसे द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई उसीको साथमें साधनाकी पर्यायकी शुद्धि होती है। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है। जिसे द्रव्यकी दृष्टि यथार्थ होती है उसीको साथमें पर्याय शुद्धरूप परिणमती है। द्रव्यदृष्टिके साथमें अंश–अंशीका यथार्थ ज्ञान भी कराते हैं कि अंशी स्वयं अखंड है और उसमें अनंतगुण तथा अनंत पर्यायें हैं। पर्याय वह अंश है; अंशका सामर्थ्य अंशी जैसा नहीं है; तथापि वह स्वतः है, स्वतः परिणमता है, स्वतंत्र है, ऐसा कहनेका आशय है। दृष्टिके विषयमें पर्याय नहीं आती, इसलिये उसे भिन्न करके ऐसा कहा जाता है कि वह स्वतंत्र परिणमती है। पर्याय वह द्रव्यदृष्टिका विषय नहीं है और वह स्वतः है इसलिये उसे स्वतंत्र कहा जाता है। पर्यायकी स्वतंत्रता बतलानेमें ऐसा सिद्ध नहीं होता कि पर्याय नहीं है। परन्तु पर्याय है और वह द्रव्यका एक अंश है तथा वह स्वतंत्र एवं स्वतःसिद्ध है ऐसा सिद्ध होता है। पर्याय कोई भिन्न है ऐसा उसका अर्थ नहीं है।

द्रव्यदृष्टिकी मुख्यतामें पर्याय गौण की जाती है; परंतु वह पर्याय जैसा द्रव्य हो तदनुसार उसके आश्रयसे परिणमती है, टुकड़े नहीं होते। दोनों अपेक्षायें साथ समझना है। यथार्थ समझे तब ही साधना प्रारम्भ होती है। ४८९

प्रश्न :—*वैराग्यके प्रसंगमें उपयोगको अंतरमें कैसे रखना, वह विस्तारसे समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—उपयोगको बारम्बार आत्माकी ओर मोड़ते रहना। शरीरके या दूसरे विचार आये तो, 'आत्मा ज्ञायक है, आत्मामें सुख और आनंद है, संयोग तो सब बाहरके हैं, उन्हें पलटना वह अपने हाथकी बात नहीं है' इसप्रकार उपयोगको बारम्बार अंतरकी ओर घुमाते रहना, पठन और सुविचार करना।

जीव अकेला आया और अकेला जाता है; उसे अन्य कोई शरण नहीं है, एक आत्मा ही शरण है। गुरुदेवका बताया हुआ मार्ग शरणभूत है। अनन्त जन्म-मरण किये उनमें यह मनुष्य भव प्राप्त हुआ, यह आयु कब पूर्ण हो जायगी उसका कोई भरोसा है? अरे, आयु तो क्षणभंगुर है। कितनोंको छोड़कर स्वयं चला गया और अपनेको छोड़कर दूसरे चले गये, ऐसा है यह संसार!

देवोंकी सागरोपमकी आयु भी पूर्ण होती है और चक्रवर्तीकी आयु भी पूर्ण होती है। जब कि यह तो सामान्य मनुष्यजीवन है। चौथे कालमें भी देखो कैसा होता था! कि कोई युद्धमें गया हो वहीं आयु समाप्त हो जाती थी। आयु कब-कैसे पूर्ण हो जायगी उसका कोई भरोसा नहीं है। जिसने आत्माको ग्रहण किया हो और आत्माके संस्कार डाले हों, वे ही जरूरतके समयमें शरणभूत होते हैं। ऐसे प्रसंगपर पंचपरमेष्ठी, गुरु और आत्माका स्मरण करना।

आयु तो पानीके बुलबुले जैसी है, ओसबिंदुके समान है, कब समाप्त हो जाय उसकी खबर भी नहीं पड़ेगी; इसलिये तो महान् चक्रवर्ती, तीर्थंकरादि इस संसारको छोड़कर मुनिदशा अंगीकार करते हैं। सच्चा सुख और आनंद आत्मामें है। बाह्यमें कब क्या हो जायगा, उसकी खबर भी नहीं पड़ती।

मुमुक्षु :—आप कहते हैं, ऐसा ही है।

बहिनश्री :—भगवान् आत्मा अपने पास ही है, उसका रटन करते रहना। भगवान् आत्मा स्वयं अनन्तशक्तिका भण्डार है, उसका स्मरण करना। यह शरीर तो जड है, वह कुछ जानता नहीं है। जाननेवाला-ज्ञाता तो स्वयं भीतर बैठा है वह अनंतशक्ति-अनंतसुखसे परिपूर्ण है और आश्चर्यकारी है, उसका रटन करते रहना।

जिनेन्द्र भगवान् कि जिन्होंने आत्माका पूर्ण स्वरूप प्रगट किया है उन्हें तथा जो साधना कर रहे हैं उन गुरुका स्मरण करना, शास्त्रोंका पठन-मनन करना, शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, ऐसे भेदज्ञानके संस्कार अंतरमें डालते रहना।

मुमुक्षु :—अंतरसे ऐसा लगता है कि आप जो कहते हैं वह सुनते ही रहें!

बहिनश्री :—इतने संस्कार हैं सो अच्छा है। शान्ति ही सुखदायक है, अन्य कोई उपाय नहीं है। आयु उसी प्रकार पूर्ण होनी थी उसे भूले बिना उद्धार नहीं, जल्दी या देरसे

भूलना ही होगा, तो पहलेसे ही शान्ति रखना। आर्त्तध्यान करनेमें कोई लाभ नहीं है। प्रकृतिके सामने कोई चतुराई काम नहीं आती। कोई उपाय ही नहीं है तो शान्ति ही रखना।

बालक :—क्या आत्मा मर नहीं गया है?

बहिनश्री :—आत्मा शाश्वत है, उसकी मृत्यु नहीं होती। जहाँ भी गया वहाँ आत्मा शाश्वत है, मात्र शरीर बदल जाता है। आत्मा यहाँका सम्बन्ध छोड़कर दूसरी जगह सम्बन्ध जोड़ता है। बाह्य संयोगोंको नहीं देखना चाहिये। इस भवमें गुरुदेवकी वाणी वर्षों तक मिली उसके जैसा अन्य कोई सौभाग्य नहीं है। उसके समक्ष तो इन्द्रपद अथवा तीनलोकका राज्य भी तुच्छ है। इसलिए अच्छे-अच्छे प्रसंगोंका स्मरण करना, ज्ञायक चैतन्यदेवको याद करना, भगवान् तथा गुरुको याद करना।

आत्मा शाश्वत है और शरीरका परिवर्तन होता रहता है। एक भवसे दूसरा भव, ऐसे अनन्त जन्म-मरण....जन्म-मरण किये हैं। वैसेमें, इस भवमें गुरुदेव मिले हैं तो ऐसी भावना प्रगट कर कि भवका अभाव हो जाय, जन्म-मरणका अंत हो जाय, शरीर ही ना मिले, शरीर चाहिये ही नहीं।

आर्त्तध्यानके भाव कम करके, स्वयं विचार करके शान्ति रखना, भेदज्ञानका अभ्यास करना कि यह शरीर जुदा और आत्मा जुदा; कोई विकल्प मेरा नहीं है, मेरी इच्छानुसार बाह्यमें कुछ नहीं होता।

दुःखके समय देव-शास्त्र-गुरुका स्मरण हो, वह अच्छा है। उनका स्मरण होनेसे दुःख कम हो जाता है। इसलिये शास्त्रमें आता है कि अपने आत्मार्थ जो-जो अच्छे प्रसंग बने हों उनका दुःखके समयमें स्मरण करना। किसी वैराग्यका या गुरुदेवके साथके प्रसंगोंका स्मरण करना। जैसी शान्ति आप लोगोंने रखी है वैसी शान्ति ही रखने योग्य है।

गुरुदेवकी वाणी सबने श्रवण की है। पू. गुरुदेव व्याख्यानमें कईबार कहते थे कि ''बंध समय जीव चेतिये, उदय समय शा उचाट'' भाई, बंधके समय चेत जाना, उदयकालमें चिन्ता करना निरर्थक है। तूने जैसे कर्म पूर्वमें बाँधे थे उन्हींका यह उदय है। इसलिये बंध कालमें ही तू चेत जा। जब परिणामोंमें तुझे विशेष आर्त्तध्यान हो तभी तू चेत जाना। उदयके समयमें नाराजगी क्यों? उदय आ जानेके बाद चिन्ता-खेद-आकुलता करना सब निरर्थक है। यह विभावभाव ही ऐसे दुःखदायक हैं जिनसे ऐसा बंध होता है, इसलिये बंधके समय ही

चेत जाना; पीछे उदय आये तब चिंतित होना व्यर्थ है। जो पूर्वमें बाँधे हों उनका उदय आने पर उसे बदला नहीं जा सकता। इसलिये परिणाम करते समय तू चेत जाना। गुरुदेव अनेक बार व्याख्यानमें कहते थे कि ऐसे कठोर फल प्राप्त न हों उसके लिये तू अंतरमें ऐसे तीव्र आर्त्तध्यान मत कर।

भविष्यका चित्र कैसा बनाना वह अपने हाथकी बात है। परिणाम करना तेरे हाथकी बात है, परन्तु उदय आये उसे बदलना तेरे हाथमें नहीं है।

"आतमराम अविनाशी आया अकेला,
ज्ञान और दर्शन उसका रूप है।
बहिर्भाव स्पर्श करे नहि आत्मको,
वास्तवमें वह सच्चा ज्ञायकवीर है।"

आत्माराम तो अकेला आया है, और अकेला ही जायगा। ज्ञान और दर्शन तेरे रूप हैं। समय आनेपर ऐसे भावमें स्थित रहे उसे ज्ञायकवीर माना जाता है। बाह्यभाव समय आनेपर आत्माको स्पर्श न करें, उनका प्रभाव तुझ पर न हो, तो तू सच्चा ज्ञायकवीर है।

बाह्यमें पंचपरमेष्ठी और धर्म मंगल, उत्तम और शरणभूत हैं। तथा अंतरमें आत्मा मंगल, उत्तम और शरणभूत है।

गजसुकुमार, सुकौशल आदि मुनिराजोंपर उपसर्ग आनेपर वे आत्मामें प्रवेश कर जाते हैं और केवलज्ञानको प्राप्त होते हैं।

इस मनुष्यभवमें गुरुदेवका सान्निध्य प्राप्त हुआ और उन्होंने भवके अभावका मार्ग बतलाया। 'आत्मा सर्व विभावोंसे भिन्न शुद्धात्मा है' ऐसा भेदज्ञान करके, द्रव्यदृष्टि करनेका जो मार्ग गुरुदेवने बतलाया है उसकी रुचि हो, वांचन-विचार करके उसकी लगन लगे वही जीवनमें करने योग्य है।

संसारमें ऐसे पुण्य-पापके उदय तो आते ही रहते हैं और जिसने जो आयु धारण की है, उसका अंत भी अवश्यम्भावी है।

विचार आये, याद आये तो विचारोंको बदलते रहना। आकुलता करनेसे क्या हो?

शांति ही सुखदायक है। जहाँ निरुपायता है, जहाँ कोई उपाय नहीं चलता, वहाँ शान्ति सुखदायक है इसलिये शांति रखना ही एकमात्र उपाय है।

इस मनुष्यभवमें आत्महित हो वही लाभदायक है। यह मनुष्यभव तो बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होता है। रागके कारण दुःख होता है, परन्तु परिणामोंको पलटे बिना छुटकारा नहीं है। (प्राप्त प्रसंगको) भूले बिना और किसी प्रकारसे निस्तार नहीं। संसारका स्वरूप ही ऐसा है। आत्मा ज्ञाता है, शरीर भिन्न है और जो विकल्प उठते हैं वह अपना स्वभाव नहीं है। आत्मा अपूर्व एवं अनुपम है। जीवनमें आत्माका कुछ सार्थक हो तो वह श्रेयरूप है। नहीं तो जन्म-मरण....जन्म-मरण चला करते हैं; जीवने ऐसे अनन्त जन्म-मरण किये हैं। देव, मनुष्य, नरक और तिर्यंचमें अनंतबार जन्मा और मरा है। महान् राजा हो तब भी आयु तो पूर्ण होती ही है, इसलिये शान्ति रखना ही सुखदायक है।

अब तो यही करना है, कि जिससे भव ही न हो अर्थात् भवका अभाव हो जाय। आत्मामें सब कुछ भरा है, कहीं बाहर लेने जाना पड़े ऐसा नहीं है। बाह्यमें कहीं सुख-शान्ति नहीं है; सुख-शांति आत्मामें भरी है। जीव बाह्यमें संतोष तथा शान्ति मानता है। वह उसकी भ्रमणा है। अंतर आत्मामेंसे, आत्माका सुख और शान्ति कैसे प्रगट हो, आत्माका कल्याण कैसे हो, उस हेतु प्रयत्न करना चाहिये।

बहुतसे पुण्य किये हों तब यह मनुष्यभव प्राप्त होता है। उसमें भी सच्चे गुरुका मिलना महा मुश्किल है। मनुष्यजन्म मिले, ऐसा धर्म मिले, ऐसे गुरु मिले और उनकी वाणी सुननेको मिले वह सब अत्यंत कठिन है। वह सब प्राप्त हो गया तो अब आत्माकी रुचि प्रगट करना। आत्माका भान कैसे हो, मनुष्यजीवन कैसे सफल हो वही करने जैसा है।

शास्त्रमें आता है न? कि अनंत माताओंको तूने इतना रुलाया है कि उनके आँसुओंसे समुद्र भर जाएँ। अनन्त माताओंका तूने इतना दूध पिया है कि समुद्र छलक जाएँ अर्थात् तूने अनन्त जन्म-मरण किये हैं।

आयु पूर्ण होनेपर आत्मा किसीकी राह नहीं देखता कि अमुक व्यक्ति नहीं आया, वह दूर देशमें रहता है इसलिये अभी मैं ठहर जाऊँ। घरमें भी लोग इधर-उधर हों तो वह उनकी भी प्रतीक्षा नहीं करता। आयु पूर्ण होनेपर स्वयं उसी क्षण चला जाता है। पासमें ही सब सो रहे हों, परन्तु उन्हें पुकारनेकी शक्ति भी नहीं रहती, तो बुलाये कैसे? उस

समय आवाज भी निकलना मुश्किल पड़ता है। ऐसे समयमें स्वयंकी तैयारी ही काम आती है, अन्य कुछ काम नहीं आता। संस्कार डाले हों वे ही काम आते हैं।

इस जन्मका आयुष्य पूर्ण होनेपर आत्माके संस्कार लेकर जाये वह अच्छा है; नहीं तो राग हो तो दुःखी होता है। यह जीव एकके बाद एक शरीर धारण करता है। उनमें देवोंके सागरोपमके आयुष्य भी पूरे हो जाते हैं, तो इस मनुष्यदेहके आयुष्यकी तो गिनती क्या?

इस कालमें तो गुरुदेवने कहा वह अंतरमें करने जैसा है ताकि अब जन्म ही न हो और माता ही न करनी पड़े। गुरुदेवका बतलाया हुआ मार्ग ग्रहण करने योग्य है। जन्म-मरणसे रहित ऐसा जो शाश्वत आत्मा है उसे पहिचानकर ग्रहण करे वही सच्चा कर्तव्य है।

गजसुकुमार स्वयं मुनि हुए थे, वहाँ उनका ससुर आकर उपसर्ग करता है। सिर पर अँगीठी जैसा बनाकर उसमें दहकते हुए अँगारे रखता है, परन्तु गजसुकुमार स्वयं अंतर्लीन हो जाते हैं और क्षणभरमें केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। वे कृष्ण वासुदेवके भाई थे, फिर भी ऐसा उपसर्ग आया! कृष्ण वासुदेवको ऐसा विचार आता है कि अरे! गजसुकुमारके ऊपर ऐसा उपसर्ग!! परंतु कर्मका उदय आनेपर वहाँ किसीका वश नहीं चलता।

सुकुमाल मुनिपर तीन दिन और तीन रात सियालिनी उपसर्ग करती है, तथापि वे आत्मलीन होकर ध्यान करते रहते हैं और आयु पूर्ण होनेपर स्वर्गलोकमें जाते हैं।

मुनियोंपर उपसर्ग आते हैं और अचानक शरीर छूट जाता है। चौथे कालमें भी ऐसे प्रसंग बनते थे। तीर्थंकरोंको पानीके बुलबुले देखकर, बादलोंके फेरफार देखकर वैराग्य आता है कि संसारका स्वरूप ही ऐसा है! और दीक्षा अंगीकार करके वे चले जाते हैं।

संसार ऐसा है इसलिये शान्ति रखना सुखदायक है। उसे (प्राप्त प्रसंगको) भीतरमेंसे भूले बगैर छुटकारा ही नहीं है। ऋषभदेव भगवान् नीलांजनाका नृत्य देख रहे थे; वहाँ क्षणमें फेरफार होता है उसे देखते ही भगवान्को वैराग्य आता है। देखो न.....! आयुष्य कब और कैसे संयोगमें पूरा होता है! जैसा आयुका बंध हुआ हो वैसे ही वह पूर्ण होती है।

तथापि संसारी जीवोंको ऐसे अचानक आयु पूर्ण होनेसे आघात लगता है, लेकिन उसका कोई उपाय नहीं। विचारोंको पलटे बिना निस्तार नहीं है। संसार तो ऐसा ही है।

शरीरसे आत्माकी भिन्नता जानकर, ज्ञायककी पहिचान करके, भेदज्ञान करके, सम्यग्दर्शन प्राप्त करना (यही एक मात्र सुखका पंथ है)।

गुरुदेवने जिस उपदेशकी जमावट की है, उसे अंतरमें रखकर शांति रखना। गुरुदेवकी वाणी वर्षोंतक बरसती रही उससे जो जमावट हुई है, उसे स्वयं अंतरमें ग्रहण करे, वही कर्तव्य है। ऐसे प्रसंगमें जो शान्ति रहती है वह गुरुदेवके उपकारसे ही रहती है।

मुमुक्षुको चाहे जैसे तुच्छ प्रसंगमें भी वैराग्यमें जुट जाना योग्य है। यह तो आघातजनक प्रसंग है, इसलिये समाधान करना बहुत कठिन है, तथापि पुरुषार्थ करके समाधान रखना, क्योंकि उसके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है; शान्ति रखना ही एकमात्र उपाय है।

चाहे जैसे प्रसंगोंमें भी वैराग्यमें जुट जाना ही आत्मार्थीका कर्तव्य है। चौथे कालके जीव–राजा, तीर्थंकर भगवान् आदि ओस बिन्दुओंको देखकर, आकाशमें टूटते हुए तारेको देखकर वैराग्य प्राप्त करते थे। ऐसे प्रसंग देखकर भी उन्हें क्षणभरमें वैराग्य प्रगट हो जाता था। भरत चक्रवर्तीको तो सिरमें सफेद बाल देखकर वैराग्य उत्पन्न हो गया था और अंतरमें उतर गये और केवलज्ञानकी प्राप्ति की।

आत्मा अकेला जन्मता है, अकेला मरता है और अकेला मोक्षमें जाता है। जन्मके समय भी अकेला और मृत्यु हो तब भी अकेला, कोई उसका साथी नहीं होता। स्वयं ही कर्म करता है और स्वयं ही भोगता है; तथा पुरुषार्थ करके मोक्षमें भी आप अकेला ही जाता है। अतः स्वयं पुरुषार्थ करके अपने मनको धर्मकी दिशामें–ज्ञायककी ओर मोड़ देना है। आत्मा स्वयं ज्ञायक चैतन्यदेव शरणभूत है, और (बाह्यमें) देव–शास्त्र–गुरु तथा पंचपरमेष्ठी शरणभूत हैं।

जब उपसर्ग आते हैं तब मुनि अंतरात्मामें उतरकर स्वानुभूतिमें झूलते हुए केवलज्ञान प्रगट करते हैं।

अनन्तभव देवके, मनुष्यके किये तथा कितने ही पुण्यके तथा पापके प्रसंग बने,

उनमें कोई नवीनता नहीं है। इस संसारमें जो कुछ शेष रह गया हो तो एक आत्मकार्य अर्थात् स्वानुभूति–सम्यग्दर्शन बाकी रह गया है; अतः जीवनमें यही एक कार्य करने जैसा है। बाहरका तो जीवको सब मिल चुका है, कुछ भी मिले बिना बाकी नहीं रहा। किन्तु जीव सब भूलता आया है। जहाँ भी गया वहाँ एक आत्माकी प्राप्ति बाकी रह गई; अतएव उसका पुरुषार्थ, उसीकी भावना करना।

देहावसान होनेपर छोटे–छोटे बच्चोंको यहाँ छोड़कर चला जाता है और वे बच्चे अपने पुण्यानुसार बड़े होते हैं। जगतमें ऐसा बहुत कुछ होता है; इसलिये स्वयं हिम्मत रखकर आत्माकी शरण लेना, धर्ममें चित्त लगाना। यही वास्तविक कार्य, कर्तव्य है। पुरुषार्थ करके मनकी दिशा बदलनी है। सब अपने–अपने मार्ग पर चले जा रहे हैं, कोई किसीको रोक नहीं सकता। स्वर्गसे इन्द्र उतर आयें या नरेन्द्र आ जायँ, कोई भी आये, आयुष्य पूर्ण होनेपर उसे कोई रोक नहीं सकता। जीव अपने आप गति करके चला जाता है।

यह शरीर भी जब अपना नहीं है तो अन्य सगे–सम्बन्धी कैसे अपने हो सकते हैं? 'यह सब हमारे हैं' ऐसा अपनी कल्पनासे मान रखा है। यह शरीर भी अपनी इच्छानुसार नहीं चलता, क्योंकि वह परद्रव्य है। आत्माके परिणामोंको सुधारकर, वास्तवमें तो 'मुझे परसे सुख नहीं है, सुख तो आत्मामें भरा है' ऐसा समझकर अपनेको धर्म करना योग्य है।

अपने आप हिम्मत रखकर, मैं स्वयं अपनेसे ही हूँ, कोई किसीको शरण नहीं देता, ऐसे समाधान करना ही सच्चा कर्तव्य है।

यह आयुष्य तो बिजलीके चमकारे सदृश है। श्रीमद्जीने कहा है कि:–

"विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष्य ते तो जलना तरंग।"

"पुरंदरी चाप अनंग रंग, शुं राचीए त्यां क्षणनो प्रसंग।"

'(अर्थात्) लक्ष्मी बिजलीके समान है। अधिकार पतंगके रंगके समान है। आयुष्य पानीकी हिलोरके समान है। कामभोग इंद्रधनुषके सदृश हैं। इन सबका संबंध तो क्षणभरका है। वहाँ क्या प्रसन्न होना?१

बाह्यमें कहीं रुकने जैसा नहीं है; एक आत्माका शरण ही सच्चा शरण है। परमें मेरा–मेरा करता है परन्तु वहाँ कोई भी तेरा नहीं है; इसलिये शास्त्रोंमें चित्त लगाकर वह

एक मार्ग ढूँढ़ लेने जैसा है कि आत्माकी कैसे पहिचान हो? अब ऐसे जन्म-मरणका अभाव कैसे हो, अन्त कैसे आये?—यही संसारमें करने योग्य वास्तविक कर्तव्य है।

आत्माको किसी परपदार्थकी जरूरत नहीं है; स्वयं मान बैठा है कि मुझे परपदार्थोंसे सुख प्राप्त होता है; परन्तु सुख तो आत्मामें भरा है।

"मैं एक, शुद्ध सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से।" 'निश्चयसे मैं एक शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय सदा अरूपी हूँ।१

"कुछ अन्य तो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे!"

'किंचित्मात्र भी अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है यह निश्चय है।१

परमाणुमात्र भी कुछ अपना नहीं है। एक परमाणु भी अपना नहीं वहाँ अन्य कहाँसे अपना हो? मात्र कल्पनासे एकत्वबुद्धिके रागवश अपना मानता है। तथापि (प्रासंगिक) परिणामोंको पलटाये बिना छूटकारा नहीं है। अधिक आकुलता और वेदन करनेसे विशेष कर्मबन्ध होता है; शीघ्र या विलम्बसे परिणामोंको पलट कर शांति रखना ही कर्तव्य है। ४९०.

प्रश्न :—*छह महीने तक कैसा अभ्यास करें कि जिससे आत्माकी प्राप्ति हो जाय?*

समाधान :—ज्ञायकको पहिचानकर पुरुषार्थ करना। ज्ञायकका बारम्बार विचार करके निर्णय करे कि यह ज्ञायक तो भिन्न ही है, यह किसीके साथ एकमेक नहीं हुआ है। आत्मा तो शाश्वत है; यह शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। शरीरके प्रति जो एकत्वबुद्धि हो रही है वह भूल है। अंतरमें जो विकल्पोंकी आकुलता होती है वह भी निजस्वभाव नहीं है। आत्मा शान्तस्वरूप-निर्विकल्पस्वरूप है। आनंदसे भरपूर वह चैतन्य-रत्नाकर कोई निराला ही है! इस संसारकी असारता लगे और आत्माकी महिमा आये, तो विभावोंसे विरक्त हो और आत्माकी पहिचान करे, उसके द्रव्य-गुण-पर्यायकी पहिचान करे। ज्ञान-आनंदसे परिपूर्ण आत्मा कोई अपूर्व है, उसका निर्णय करके एवम् उसमें जो पलटती पर्याय है उसका क्या स्वरूप है उसे भी निश्चित करके आत्माकी ओर ढले। प्रतिक्षण भेदज्ञान करे, पुरुषार्थ करे उसे कहीं (अन्यत्र) चैन नहीं पड़ता। उसे एक ही लगन होती है कि मुझे आत्मा कैसे प्राप्त हो?

आत्मसन्मुख दृष्टि करके प्रतिक्षण अविच्छिन्नधारासे, बीचमें खंड न पड़े वैसे, पुरुषार्थ करे तो छह महीनेमें आत्मप्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। उसके पुरुषार्थकी धारा निरन्तर अहोरात्र

चलती रहे, उसका पुरुषार्थ एकदम उग्र हो, उसमें अवरोध न आये, वैसा जो अपूर्व पुरुषार्थ करे तो छह महीनेमें कार्य हुए बिना नहीं रहता। बारम्बार विचारोंको पलटकर भेदज्ञानका अभ्यास करे, बारम्बार निर्णयकी दृढ़ता सहित 'मैं यही हूँ, मेरा अस्तित्व यही है, शरीरका अस्तित्व मेरा नहीं है'—ऐसा बराबर निश्चय करके, बारम्बार भेदज्ञानका प्रयास करे तो कार्य हो। बारम्बार 'मैं भिन्न हूँ–भिन्न हूँ' ऐसा प्रयास करे; उसे निरन्तर दिन–रात कहीं चैन न पड़े ऐसा उग्ररूपसे पुरुषार्थ करे। एक दिन विचार कर लिया, निर्णय कर लिया और फिर प्रयास छोड़ दिया, पुरुषार्थ न करे ऐसे नहीं; किन्तु बारम्बार उसका पुरुषार्थ चलता ही रहे; यदि पुरुषार्थ मन्द पड़े तो उसे बार–बार तीव्र करे, वह छूट न जाय इस तरह पुरुषार्थ निरन्तर चला करे; जागते–सोते–स्वप्नमें भी उसे एक ही लगन हो तथा आत्मा पृथक् कैसे जाननेमें आये?—ऐसी उसकी उग्र भावना एवं उग्र पुरुषार्थ हो तो छह महीनेमें आत्मप्राप्ति हुए बिना न रहे। किसीको एकदम हो तो जघन्य अन्तर्मुहूर्तमें हो जाय, नहीं तो अधिकसे अधिक छह महीनेकी अवधि आचार्यदेवने कही है।

छह महीने तक एक धारासे पुरुषार्थ करे तो होता है। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् तो सहजरूपसे–सहजधारासे भेदज्ञान चलता ही रहता है; परन्तु उससे पूर्व उसके आत्मदृष्टि तथा भेदज्ञानकी धारा नहीं होती, इसलिये निरंतर पुरुषार्थ करता है। प्रथम भूमिका विकट होती है, परन्तु उग्र पुरुषार्थ करे तो हुए बिना नहीं रहता। पुरुषार्थ करनेवालेको निरंतर उसकी लगन लगी हो तो अंतरमेंसे आत्मा जागृत हुए बिना नहीं रहता, अनुभूति हुए बिना नहीं रहती।

पूज्य गुरुदेवने मार्ग स्पष्ट किया है। गुरुदेवका परम उपकार है; उन्होंने वस्तुका स्वरूप चारों ओरसे स्पष्ट करके बतलाया है, निर्णय करनेमें कुछ कठिनाई हो ऐसा नहीं है। सभी पहलुओंसे निश्चय–व्यवहारकी सन्धि स्पष्ट की है; करना अपनेको है। आत्मप्राप्ति न हो तबतक ज्ञायककी रुचि–प्रयास–लगन यथाशक्ति करते रहना। ४९१.

प्रश्न :—*आप अमृतका भोजन करते हैं–अनुभव करते हैं तो उसका हमें भी स्वाद चखाईए न? हम पुरुषार्थ तो बहुत करते हैं, परन्तु कार्य नहीं आता?*

समाधान :—पुरुषार्थ करनेपर भी मार्ग न मिले वैसा नहीं बनता। पुरुषार्थ नहीं करता इसलिये मार्ग नहीं मिलता। कारण दे तो कार्य आये बिना नहीं रहता। स्वयंके आलस्यके कारण स्वयंको मार्ग नहीं मिलता। गुरुदेव तो कहते हैं कि कोई किसीका (कुछ)

नहीं करता। भगवान्‌की वाणीमें उपदेशका जोरदार प्रवाह चलता है; उसमें चौदह ब्रह्मांडका स्वरूप आता है; तथापि करनेका तो स्वयंको ही रहता है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है अपने द्रव्य–गुण–पर्याय स्वतंत्र हैं, और परके द्रव्य–गुण–पर्याय भी स्वतंत्र हैं। स्वयं अपनी भूलसे भटका है और अपने पुरुषार्थसे स्वयं सच्चा मार्ग प्राप्त कर सकता है। अपनी अनुभूति स्वयं ही कर सकता है। गुरुदेवने मार्ग स्पष्ट करके बतलाया है—तू अंतरमें आत्मा है उसका भेदज्ञान कर, उसकी दृष्टि कर और वहाँ जा। 'शरीर जुदा और आत्मा जुदा' ऐसा निश्चय कर। तथा अंतरसे यथार्थरूपसे पृथक् होनेका प्रयत्न कर। विकल्पोंका जो जंजाल चलता है उससे भी तेरा स्वभाव पृथक् है। तू प्रयत्न कर। प्रयत्न करनेसे कार्य सिद्धि होगी। गुरुदेवने मार्ग बतलाया है। परन्तु चलना तो अपनेको है। वह कोई दूसरा नहीं कर देगा। अनंत तीर्थंकर हो गये, सभीने मार्ग दिखाया परंतु कोई दूसरेका कार्य नहीं कर देता। यदि कोई दूसरा कर दे तो स्वयं स्वतंत्र द्रव्य न रहकर पराधीन हो जाये। जन्म–मरण करनेवाला भी स्वयं ही है और मोक्ष जानेवाला भी स्वयं है, कोई दूसरा नहीं कर देता।

"निज नयनोंके आलससे रे, मैं निरख न पाया हरिको!"

भगवान् अपने पास ही है, स्वयं ही है, तथापि अपने (नेत्रोंके) आलस्यके कारण उसे नहीं देखता। स्वयं नेत्र खोलकर नहीं देखता और सो रहा है, यह आश्चर्यकी बात है। पुरुषार्थ करे तो प्राप्त हुए बिना न रहे। कारण दे तो कार्य प्रगटे। ४९२.

प्रश्न :—*चैतन्यमेंसे परिणमित भावनाको अज्ञानीके लिये लिया जा सकता है? यदि ली जा सकती है तो किस प्रकार?*

समाधान :—पहले उसे ऐसी अपनी योग्यता तैयार होती है। उस योग्यताको यद्यपि व्यवहार कहा जाता है, क्योंकि उसे कहीं निश्चय लागू नहीं होता। तथापि ऐसी एक प्रकारकी योग्यता तैयार होती है। जैसे गुरुदेव कहते हैं न? कि प्रथम देशनालब्धि होती है। गुरुकी वाणी सुनकर उसे अंतरमें ऐसा लगता है कि 'गुरुदेव कोई अलग ही तत्त्व कह रहे हैं' ऐसी कुछ अपूर्वता भासित होती है। भले ही वह शुभभाव है; परन्तु उसके साथ कुछ गहराई आ जाती है। 'इन विकल्पोंसे भी कोई भिन्न तत्त्व गुरु कहना चाहते हैं' ऐसी अपूर्वता भासित हो जाय तो पहले उसे देशनालब्धि होती है, अथवा ऐसा कोई अवग्रह–खयाल हो जाता है कि 'यह सबसे निराला कोई आत्मतत्त्व है।' ऐसी कोई भावना अंतरमेंसे जागृत हो जाती है।

इसप्रकार चैतन्यमेंसे परिणमित भावना जागृत होती है कि यह सब जो दिखाई देता है और यह जो भी विकल्प आते हैं, भले ही चाहे जितने उच्चसे उच्च शुभभाव आते हैं, तथापि अंतरमें आत्मा इन सबसे भिन्न है, भीतरमें वह आत्मा कोई अपूर्व वस्तु है—ऐसी कुछ भावना अंतरसे स्फुरित हो वह चैतन्यमेंसे परिणमित भावना है।

आता है न कि:—

"तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्ताऽपि हि श्रुता;
निश्चितं स भवेद्भव्यो भावि निर्वाण भाजनम्।"

गुरुकी वाणी सुनकर ऐसा लगता है कि 'यह कुछ अपूर्व है' ऐसा, उसे ऊपर-ऊपरसे नहीं, किंतु अंतरसे लग जाय कि वाणीमें ऐसा कहना चाहते हैं, विकल्पोंसे भी कोई अलग तत्त्व कहना चाहते हैं। भले ही वह तत्त्व पकड़में नहीं आता; परंतु ऐसा उसे—वह विकल्प है फिर भी—भास्यमान हो जाता है। किसी वस्तुकी अपेक्षा बिना, मात्र निरपेक्षरूपसे ऐसी भावना स्फुरित हो जाती है कि 'इस सबसे भिन्न कोई तत्त्व भीतर है।' यह चैतन्यमेंसे उदित हुई भावना है। उसे गुरुके उपदेश श्रवणका विकल्प आता है तथापि किसी प्रकारकी अपेक्षा रहित उसे ऐसी भावना स्फुरित होती है कि सबसे विरक्त ऐसा चैतन्यतत्त्व मुझे प्रगट होओ, तो वह प्रगट हुए बिना रहता ही नहीं। भावना ऐसी उग्र हो तो प्रगट होता ही है। ४९३.

प्रश्न :—*ज्ञेयोंका ज्ञाता ऐसा ज्ञायक मैं हूँ, ऐसा खयालमें आता है, तो क्या वह योग्य है?*

समाधान :—बाह्यमें जो ज्ञेय जाननेमें आते हैं वह मैं नहीं हूँ, तथा भीतर जो विकल्पावली चलती है सो भी मैं नहीं हूँ; मैं तो उनका जाननेवाला ज्ञायक हूँ। अंतरमें एक के बाद एक जो विकल्प उठतें हैं वे तो चले जाते हैं; परन्तु उनका जाननेवाला अंतरमें मैं स्वयं हूँ; क्योंकि मैं तो शाश्वत हूँ, एक क्षणवर्ती नहीं हूँ। तथा परको जाने वह मैं नहीं; मैं तो जाननेवाला स्वयं ज्ञायक हूँ। परको जाननेवाला सो मैं नहीं, मैं जाननेवाला स्वयं ज्ञायक हूँ। यह जो ज्ञात होता है सो मैं नहीं, मैं तो जाननेवाला उससे भिन्न हूँ। इसप्रकार पहले अभ्यास करे, तत्पश्चात् दृष्टि होती है। दृष्टि द्रव्यपर रहनी चाहिये। पर्यायें एक के बाद एक होती हैं, परन्तु पर्यायोंपर दृष्टि न करके द्रव्यपर दृष्टि होनी चाहिये कि 'मैं तो जाननेवाला ज्ञायक हूँ।' ४९४.

प्रश्न :—*जिज्ञासुकी दशामें क्या वैसा हो सकता है?*

समाधान :—'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा तो हो सकता है। पहले विचार आते हैं, फिर यथार्थ होता है। कितने समयके बाद यथार्थ हो वह अपने ऊपर आधारित है। सच्ची यथार्थता तो जब उसे भेदज्ञान हो तभी कही जाती है; उससे पहले जो है वह तो भावना है; वास्तविक नहीं। जैसे कि जब प्रकाश प्रगट हो तभी प्रकाश कहलाता है, और जबतक अंधकार है तबतक अंधकार ही कहा जाता है। तथापि स्वयं प्रयत्न करता रहता है, अभ्यास करता है जिससे प्रकाश प्रगट होता है। मेरा चैतन्य तत्त्व मुझे कब प्रगट हो?—ऐसा उसे लगते रहना चाहिये; परन्तु उसे ऐसा नहीं लगता कि ठीक, जब (प्रगट) हो तब सही; ऐसा प्रमाद योग्य नहीं। 'मुझे तो यह कुछ नहीं चाहिये.....बस! एक आत्मा ही चाहिये' ऐसी भावनाको तीव्र करना, उग्र बनाना, अकुलाना नहीं, आकुलता मत करना। वह वैसी आकुलता नहीं करता कि जिससे उलझन हो। तू धीरज रखना, किंतु उसमें प्रमाद नहीं करना कि जब होना होगा तब हो जायगा। तू पुरुषार्थ करेगा तभी होगा और जितनी तेरे पुरुषार्थकी मन्दता होगी उतनी देर लगेगी। परन्तु उसमें आकुलता नहीं करना कि विलम्ब क्यों हो रहा है? स्वभाव प्राप्तिका जो मार्ग है वह मिलेगा तब प्रगट होगा; उसके बिना प्रगट नहीं होता। इसलिये धैर्य रखना। मार्गकी खोज करते-करते वह प्रगटेगा ही। ४९५.

प्रश्न :—*भीतर क्या किया जाय वह समझमें नहीं आता, इसलिये बार बार पूछनेका भाव आ जाता है कि कैसे किया जाय?*

समाधान :—पूज्य गुरुदेवने बहुत कुछ समझाया है, कहनेमें कुछ बाकी नहीं रखा। किस प्रकार, क्या करना?—अपने स्वभावको पहिचानकर करना। अंतरसे ऐसी लगन लगनी चाहिये, पहिचान करनी चाहिये कि 'चैतन्य स्वभाव क्या है?' यह जड तो कुछ जानता नहीं है तथा राग भी कुछ नहीं जानता; परन्तु मैं सबका जाननेवाला जुदा हूँ। जाननेवालेको पहिचाने बिना कार्य नहीं होता। यह एक ही कार्य करनेका है, दूसरा कुछ करनेका नहीं है। बाह्यमें सब कुछ जाना किन्तु एक आत्माको नहीं जाना तो वह सब निष्फल जाता है। एक आत्माको जान ले और बाहरकी कोई विशेष जानकारी न हो तब भी उसमें सब आ जाता है। आत्माको जाने, श्रद्धा करे और उसमें लीनता करे तो उसमें सब आ जाता है, सब समा जाता है। आत्मामें लीनता करते-करते जो पूर्ण ज्ञानस्वभाव है वह प्रगट होता है। वीतरागदशा, केवलज्ञानादि सब आत्मामेंसे प्रगट होते हैं।

बाहरका सब कुछ जाना, परन्तु एक आत्माको नहीं जाना तो वह सब सफल सिद्ध नहीं होता। और एक आत्माको जान ले तो सब सफल प्रमाणित हो जाता है। आत्माको जानना, उसकी श्रद्धा करना तथा उसमें लीन होना। परन्तु वह हो कब? कि जब आत्माका रस लगे और बाहरका रस छूट जाय तब वह हो। आत्माकी महिमा–रस–तमन्ना लगे, उसके बिना चैन न पड़े और बारम्बार उसीके विचार आयें तो होता है। ४९६.

प्रश्न :—*भावभासन किसे कहते हैं?*

समाधान :—ज्ञायक ऐसा जो भाव है उसका भासन होना चाहिये कि यही ज्ञायक है, दूसरा नहीं। जो सब विकल्प आते हैं वह मैं नहीं हूँ, परन्तु यह जो ज्ञायक है वही मैं हूँ; इसप्रकार अंतरसे चैतन्य-स्वभावका भास आना चाहिये। यह जो बाह्यका जानना होता है वह मैं नहीं हूँ, किन्तु जो स्वयं ज्ञायक है वह मैं हूँ ऐसा भास होना चाहिये। यह ज्ञायक स्वयं अपनेसे है, ज्ञायक वस्तु स्वयंसिद्ध है, ऐसे ज्ञायकका भाव उसे भासनमें आना चाहिये। ४९७.

प्रश्न :—*भावभासन होनेपर पुरुषार्थ करना सरल हो जाता है?*

समाधान :—स्वयं अपनेको पहिचान लेनेसे पुरुषार्थ करना सरल हो जाता है। अपनेको पहिचान ले तभी आगे बढ़ेगा न? अपनेको पहिचाने बिना आगे कैसे जायगा? यदि मार्गको जान ले, स्वभावको पहिचान ले तो उसका पुरुषार्थ उस ओर जाता है।

इस ओर (ज्ञायककी दिशामें) चलना है, ऐसा खयाल आ जाय तो उस ओर चलनेका प्रयत्न करेगा। अभी वह रुचि करके खड़ा है सो तो ठीक है; परन्तु अभ्यास करे कि ज्ञायक ज्ञायकरूप कैसे हो? उस प्रकारकी लगन अंतरसे लगनी चाहिये और वेदन आना चाहिये, तो उस प्रकारका प्रयत्न उसे हुए बिना नहीं रहता।

कोई मात्र घोखनेरूप अथवा शुष्कतारूप कर डाले कि मैं ज्ञाता हूँ, कर्ता नहीं हूँ, उसकी यहाँ बात नहीं है। परन्तु जिसे अंतरमेंसे लगी है, ज्ञायकका भाव ग्रहण करके जो खड़ा है और जो पुरुषार्थ करता है, उसे उसमें कभी विकल्परूपसे तथा कभी भावभासनरूपसे पुरुषार्थ चलता रहता है। ४९८.

प्रश्न :—*यथार्थ निर्णय होनेके पश्चात् निर्विकल्प रुचि प्रगट होनेसे पूर्व क्या ऐसा सब बीचमें आता है?*

समाधान :—इसप्रकार अभ्यास करते–करते आगे बढ़ते हैं, सबको एकदम नहीं

होता; यद्यपि किसीको अंतर्मुहूर्तमें हो जाय वह बात अलग है; बाकी तो अभ्यास करते-करते आगे बढ़ते हैं। ज्ञायकका जोर बढ़ते-बढ़ते विकल्पकी आकुलता कम हो और ज्ञातामें एकाग्रता बढ़ते-बढ़ते विकल्प टूटकर उसे निर्विकल्पदशा-स्वानुभूति होती है और सिद्धदशाके सुखका अंश अनुभवमें आता है। स्वयं रागसे भिन्न पड़े तभी अंतरमें प्रवेश होता है। ४९९.

प्रश्न :—*ज्ञानीको किसी भी प्रसंगमें प्रतीति नहीं छूटती?*

समाधान :—द्रव्यका आलंबन ग्रहण करके प्रतीति हुई है, अतः वह नहीं छूटती। प्रतीति एक ओर पड़ी है ऐसा नहीं; कार्यरूप है, ज्ञायककी धारा वर्तती ही रहती है। (वह प्रतीति) बाहर गयी हुई विभावपरिणतिको वहाँसे विमुख करके लीनतारूप कार्य प्रगट करती है। आत्म-प्रतीति तभी ही कही जाती है कि जब अंतरसे आत्माकी सम्यग्दर्शनरूप प्रतीति आये और कार्य करे। जो कार्य नहीं करती वह प्रतीति विकल्परूप है, यथार्थ नहीं। सहजरूपसे कार्य प्रगट करे तभी यथार्थ प्रतीति है। अपना अस्तित्व ग्रहण करके वह परिणति उसमें लीनताका भी कार्य लाती है।

सम्यग्दर्शन हो उसे अवश्य ही चारित्र, वीतरागदशा सब आना ही है। सम्यग्दर्शनने केवलज्ञानके साथ क्रीडा शुरू करी दी है, केवलज्ञानके साथ खेलना चालु कर दिया है, ऐसा शास्त्रोंमें कथन आता है। केवलज्ञान तक पहुँचनेके लिये लीलामात्रमें अपनी परिणतिको अपनी ओर लाता है। चारित्रदशा किसीको भले ही क्रमशः वृद्धिगत हो और किसीको शीघ्र बढ़ जाय; परन्तु केवलज्ञानकी परिणति प्रगट न हो तबतक उसकी पुरुषार्थधारा चलती रहती है। अपने स्वरूपकी दशा प्राप्त करनेके लिये परिणति चालु ही रहती है। ५००.

प्रश्न :—*क्या सम्यग्ज्ञान ज्योति प्रगट होनेके पश्चात् वह केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिये दौड़ती है?*

समाधान :—हाँ, केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिये दौड़ लगाती है। केवलज्ञान एक समयमें सर्वत्र पहुँच जाता है, और यह ज्ञानदशा अंतर्मुहूर्तमें पहुँचती है, ऐसी दशा उसे पुसाती नहीं है। आत्माका सहज स्वभाव ऐसा है कि समयमात्रमें सब जान ले और वीतरागरूप परिणमन करे। ज्ञानज्योति प्रगट एक अंश है और उसका ध्येय पूर्णताका है। ज्ञानज्योति प्रगट हुई वह अब केवलज्ञानको कैसे प्राप्त हो, मुझे वहाँ शीघ्र पहुँचना है ऐसे उसकी ओर दौड़ती है। केवलज्ञान एक समयमें सब जानता है तो मुझे भी वैसे ही सब जानना है;

केवलज्ञान प्रगट करना ही मेरा एकमात्र साध्य है, इसप्रकार स्वरूपमें जमावट करती-करती वह ज्ञानज्योति केवलज्ञान तक पहुँच जाती है। ५०१.

प्रश्न :—*अपने अस्तित्वका ग्रहण न हो तबतक परिणतिमें ध्यान कैसे लगाना?*

समाधान :—पहले तो ऐसे विचार, ऐसी भावना करे कि मुझे अपने स्वभावका ग्रहण कैसे हो? ध्यान करनेके लिये बैठना ही चाहिये ऐसा नहीं है; परिणति स्वयं ही ध्यानदशाको लाती है। बाह्यमें बैठनेकी क्रियापर ध्यानका आधार नहीं है। यदि अंतरमेंसे विभावपरिणतिकी असंगता हो तो आगे बढ़ता है। विकल्पोंकी असंगता और अंतरमें भेदज्ञानकी उग्रता होनेपर उसे कोई अप्रशस्त परिचय नहीं रुचता, उसे एकांतवास रुचता है और देव-शास्त्र-गुरुका सान्निध्य होता है। ऐसे सब साधन होते हैं, परन्तु परिणतिके साथ ऐसे साधनोंका प्रतिबन्ध नहीं होता। पुरुषार्थकी मंदतावाला बाह्य अशुभ निमित्तोंसे छूटना चाहे उसे बाह्य शुभ साधनोंके विकल्प शुभभावमें आते हैं, परन्तु अंतरंग निर्विकल्पदशा होनेमें अमुक बाह्य साधन होने ही चाहिये ऐसा नहीं है। अशुभसे छूटनेके लिये बीचमें शुभभाव आते हैं। शुद्धताकी भूमिकामें भी शुभभाव आते हैं। ५०२.

प्रश्न :—*जब बैठकर कुछ समय विचार करता हूँ, तब उपयोग आत्माके विचारोंमें रहता है; परन्तु मैं तो पढ़ता हूँ तो आत्माके विचार कैसे करना?*

समाधान :—पढ़नेके समय पढ़नेके विचार आते हैं; परन्तु अंतरमें उसे आत्माकी रुचि होनी चाहिये। वास्तवमें तो आत्म-कार्य ही करनेका है। पढ़ना पड़े इसलिये उपयोग फिरा करता है, परन्तु रुचि तो आत्माकी ही करनी है। आत्मा तो सबसे पृथक् है। धार्मिक विचार आयें तब उपयोग उस ओर होता है, फिर उपयोग पलट जाता है और खाने-पीने-पढ़नेके विचार आते हैं; परन्तु वह तो सब बाहरी है, वह आत्माको लाभकारी नहीं है, इसप्रकार आत्माकी रुचि रखनी चाहिये; वास्तवमें कार्य तो आत्माका ही करना है।

अभी अपनी इतनी तैयारी न होनेसे, उपयोग फिरता रहता है। अभी कुछ छूटा नहीं है, राग मौजूद है तबतक विचार आते रहते हैं, उपयोग फिरता रहता है; परन्तु अंतरसे यदि ऐसा लगे कि 'यह सब मेरे आत्माका स्वरूप नहीं है' तो बाहरका रस कम कर सकता है। जब समय मिले तब उपयोग पलटकर शुभभावोंके विचार, स्वाध्याय, देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा आदि किया करे। आत्माका कार्य न हो तबतक श्रद्धा रखे कि 'मनुष्यजीवनमें आत्मकार्य ही करने जैसा है'। भवका अभाव कैसे हो? भेदज्ञान कैसे हो? शरीर और आत्मा

भिन्न-भिन्न हैं, विकल्प आते हैं वह मेरा स्वभाव नहीं है, ऐसी रुचि रखना और निश्चित करना कि 'करने जैसा तो यही है', बाकी तो उसप्रकारका राग होनेके कारण उपयोग फिरता रहता है। ५०३.

प्रश्न :—*हमारी रुचि आत्माकी ओर बढ़ जाय तो पढ़नेकी रुचि कम हो जायेगी और अनुत्तीर्ण हो जायेंगे। तो हमें क्या करना चाहिये?*

समाधान :—धर्ममें-आत्मामें उत्तीर्ण है वही सच्चा उत्तीर्ण है। पढ़नेमें अनुत्तीर्ण होनेसे अपनेको खेद होता हो तो उसमें जुटता है; परन्तु उसमें उत्तीर्ण होना वह पुण्यानुसार है। विशेष ध्यान देकर पढ़नेसे उत्तीर्ण ही हो और कम ध्यान रखकर पढ़े तो अनुत्तीर्ण हो, ऐसा नहीं है। पुण्य अच्छा न हो तो विशेष ध्यान देकर पढ़नेपर भी अनुत्तीर्ण हो जाता है, और पुण्य हो तो थोड़ा ध्यान देकर पढ़े तो भी उत्तीर्ण हो जाता है। बाह्यमें तो पुण्यके अनुसार बनता है। ५०४.

प्रश्न :—*अभी भेदज्ञान नहीं हुआ है, तो कैसे विचार करें?*

समाधान :—भेदज्ञान नहीं हुआ है तो वह कैसे हो? तत्सम्बन्धी विचार करना, अंतरमें प्रयास करना। आत्मा कैसे पहिचाननेमें आये? आत्माका स्वरूप क्या है? द्रव्य-गुण-पर्याय क्या है? पुद्गल क्या है? विभाव क्या है? मोक्ष क्या है? मोक्षका मार्ग क्या है?—ऐसे अनेक प्रकारके विचार होते हैं।

शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके कथन आते हैं। भेदज्ञान न हो तबतक विचार करके निश्चित करे कि 'आत्मा जुदा है और शरीर जुदा है, विभाव मेरा स्वभाव नहीं है, मैं उनसे भिन्न हूँ,' ऐसा निश्चित करनेके लिये, दृढ़ता करनेके लिये बहुत विचारना पड़ता है। 'मैं भिन्न हूँ तो कैसे भिन्न होऊँ?' उसकी लगन लगाकर प्रयास करना। जैसे दहीको तबतक मथते रहते हैं जबतक मक्खन पृथक् न हो जाय; उसी प्रकार स्वयं बारम्बार पठन-मनन करते ही रहना, छोड़ना नहीं। कार्य नहीं हो रहा है इसलिये नहीं होगा, अथवा मार्ग कोई दूसरा होगा, ऐसे श्रद्धामें फेर नहीं पड़ना चाहिये। करनेका तो यही है, मार्ग भी यही है। प्रयास छोड़ना नहीं, बारम्बार-बारम्बार प्रयास करते रहना।

जैसे भगवान्के द्वारपर फिरता रहता है, द्वार न खुले तबतक फिरना नहीं छोड़ता; वैसे ही 'मैं ज्ञायक हूँ' वह समझमें नहीं आता इसलिये प्रयास छोड़ नहीं देना, उसकी लगन लगाये ही रखना, भगवान्के-चैतन्यके द्वारपर फिरते ही रहना कि कैसा होगा चैतन्य देव?

उसके विचार करते ही रहना, महिमा लाना, अंतरमें रस लगाकर बाहरका रस छोड़ देना। समय मिले तब बारम्बार भेदज्ञानके विचार करते रहना। अंतरंग रस–रुचि जगे तो उसके (भेदज्ञानके) विचार आते हैं।

बाहरसे सब छोड़ दे, त्याग कर दे इसलिये अंतरमें (कार्य) हो जाये ऐसा नहीं है। पहले बाहरसे सब छूट नहीं जाता है, किन्तु अंतरसे रस–रुचि जगे तब होता है। पठन–विचार–मंथन–घोलन और बारम्बार उसीका प्रयास करते ही रहना चाहिये। अंतरसे छूटना ही वास्तविक छूटना है।

सम्यग्दर्शन हो, भेदज्ञान हो, स्वानुभूति हो और अंतरंगदशामें वृद्धि हो तो तब अंतरमेंसे बाह्य रस कम हो जाता है और बाहरसे सब छूट जाता है। ५०५.

प्रश्न :—*क्या तत्त्वसम्बन्धी अनेक विचारोंसे आत्माकी पहिचान होती है?*

समाधान :—ध्येय तो एक ज्ञायकका ही होना चाहिये। ज्ञायककी पहिचान कैसे हो? वह समझनेके लिये विचार आते हैं कि द्रव्य–गुण–पर्याय क्या हैं?—ऐसे अनेक प्रकारके विचार अंतरमें आते हैं; परंतु उनमें ज्ञायक मुख्य होना चाहिये। आत्माका स्वरूप कैसा है? उसकी पहिचान कैसे हो? आत्मा पृथक् कैसे पड़े? भेदज्ञान कैसे हो? आत्माकी प्रतीति कैसे हो?—उन सब विचारोंमें ध्येय एक आत्माका ही रहना चाहिये, सब कुछ आत्माके लिये होना चाहिये। मात्र जानकारीके लिये जान लेना ऐसा नहीं, आत्माको लाभ हो ऐसे विचार होने चाहिये। मैं ज्ञायक हूँ, परद्रव्यरूप नहीं हूँ आदिका निर्णय करना तथा द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग एवं धर्म कथाओंके ज्ञान सम्बन्धी—ऐसे सर्व प्रकारके विचार आयें, परन्तु निर्णय एक आत्माका करनेका है। सब कुछ जान ले किन्तु एक आत्माको न जाने तो सब जाना हुआ किस कामका? सर्व जानकारीके साथ एक आत्मज्ञानकी मुख्यता हो तो वह प्रयोजनभूत–सारभूत है। ५०६.

प्रश्न :—*तत्त्वसम्बन्धी विचारोंमेंसे अमुक विचारोंको निकाल दिया जाय?*

समाधान :—निकाल नहीं देना। विचार तो जाननेके लिये होते हैं। ज्ञान करना वह हानिकारक नहीं है, किन्तु ध्येय एक ज्ञायकका होना चाहिये। ग्यारह अंगका ज्ञान हुआ, परन्तु एक आत्माको नहीं जाना तो वह ज्ञान किस कामका? आत्माको पहिचाननेका ध्येय नहीं रखा तो वह ज्ञान लाभरूप नहीं होता। ज्ञानका होना वह हानिरूप नहीं है क्योंकि ज्ञान तो

उसे सहायक होता है, विशेष स्पष्टताका कारण होता है, परन्तु साथमें आत्माका ध्येय होना आवश्यक है। अधिक जानकारी न हो और मात्र प्रयोजनभूत जाने तो भी मुक्तिका मार्ग प्रगट होता है। 'मैं ज्ञायक हूँ, विभाव मेरा स्वभाव नहीं है' ऐसे भेदज्ञान करके यदि स्वभावका पुरुषार्थ करे तो उसमें विशेष जानकारीकी आवश्यकता नहीं होती, तथापि अधिक जानना वह हानिका कारण नहीं है, लाभका कारण होता है, ज्ञानकी निर्मलताका कारण होता है। ५०७.

प्रश्न :—*ज्ञानके साथ जो राग है, वह बोझरूप है?*

समाधान :—हाँ; राग बोझरूप है। एक ज्ञेयसे दूसरे ज्ञेयकी ओर उपयोग पलटे उसमें राग साथ आता है; वह राग उपाधिरूप है। ज्ञान बोझरूप नहीं है। राग बीचमें आये बिना नहीं रहता; स्वरूपमें स्थिर हो, तब विकल्प छूट जाते हैं और मति–श्रुतज्ञान रहते हैं।

पहले ज्ञानस्वभावका निर्णय करके 'मैं ज्ञायक हूँ' वैसा निर्णय करके, मति–श्रुतका उपयोग बाहर जाता है उसे स्वरूपमें लीन करके, निर्विकल्प होनेपर विकल्प था वह छूट जाता है और स्वरूपमें स्थिर हो जाता है। श्रुतज्ञानके साथमें जो उपाधिरूप राग था वह छूट जाता है, तब अंतरमें शान्ति और आनंदका वेदन होता है, कोई अपूर्व आनंद आता है। ५०८.

प्रश्न :—*निर्विकल्प होनेपर परिणतिका जोर बढ़ता होगा?*

समाधान :—अंतरमें स्वरूपकी धारामें लीनता बढ़नेसे निर्विकल्प होता है। जो स्वरूपाचरणचारित्र अमुक अंशमें प्रगट हुआ है, उसमें अंतर तरफकी लीनताका जोर बढ़ जानेपर उपयोग अंतर्मुख होता है, जो उपयोग बाह्यमें जाता था वह स्वरूपमें स्थिर हो जाता है। श्रद्धा–ज्ञानका तो जोर है, परन्तु लीनताका बल बढ़ जानेसे उपयोग अंतर्मुख होता है।

गृहस्थाश्रममें उसकी दशा तो पलट जाती है, परन्तु उस प्रकारकी लीनताका जोर नहीं है कि जिससे भूमिका पलट जाय; परंतु उसकी उस भूमिकामें लीनताका जोर बढ़नेपर उपयोग अंतरमें जाता है।

चारित्रदशा आती है तब स्वरूपके आश्रयका जोर बढ़ता है; उसके साथ लीनताका जोर भी बढ़नेसे मुनिदशा आ जाती है। ५०९.

प्रश्न :—*ज्ञान गुणभेद और पर्यायभेदको अपनेरूप जानता है?*

समाधान :—अपनेरूप अर्थात् गुण–पर्याय मेरे स्वरूपमें हैं ऐसा ज्ञान जानता है।

यह गुणभेद और यह पर्यायभेद ऐसे टुकड़े नहीं हैं; परंतु लक्षणभेद है और अंश तथा अंशीका भेद है ऐसा ज्ञान जानता है। जैसा गुण-पर्यायका स्वरूप है वैसा जानता है। ५१०.

प्रश्न :—*परवस्तुको जाने उसमें इष्ट-अनिष्ट नहीं करना, यह पकड़में आता है, और परवस्तुको ज्ञान जानता है वह भी पकड़में आता है; परंतु अंतरमें पूर्ण ज्ञान है उसे कैसे पकड़ा जाय?*

समाधान :—पूर्णज्ञानका निर्णय तो विचारपूर्वक होता है। वह ज्ञान प्रगट नहीं है किन्तु शक्तिरूप है। जो जाननेवाला तत्त्व है वह अनादिसे है। वह जाननेवाला तत्त्व ऐसा होना चाहिये कि जो पूर्ण जाने, अपूर्ण न जाने। जैसे यह जड है वह कुछ नहीं जानता है, उसमें जाननेका कोई अंश नहीं है, वैसे ही यह ज्ञाता वस्तु है उसमें 'नहीं जानना' ऐसा नहीं होता। जो जाने वह परिपूर्ण ही जानता है, उसमें परिपूर्ण जाननेकी शक्ति होती ही है; परन्तु वर्तमानदशामें वह राग-द्वेष-भ्रांतिमें पड़ा होनेसे पूर्ण नहीं जान सकता; तथापि उसका ज्ञानस्वभाव नष्ट नहीं हुआ है। पर्यायमें ज्ञान अपूर्ण-अल्प हो गया है, परन्तु उसमें पूर्ण जाननेकी शक्ति है। स्वयं उसका स्वभाव पहिचानकर, तत्त्वको पहिचानकर निर्णय करे कि पूर्ण जाननेका कार्य वर्तमानमें नहीं हो रहा है, किन्तु शक्ति तो परिपूर्ण जाननेकी है। शक्तिमें कोई अड़चन-बाधा नहीं होती कि इतना जानेगा और इतना नहीं जानेगा। स्वयं परिपूर्ण जाने उसमें 'नहीं जाननेका' भाग नहीं आता। जैसे जडमें कोई जाननेका भाग नहीं है, वैसे ही ज्ञातामें कोई 'नहीं जाननेका' भाग नहीं है, वह तो परिपूर्ण ही जाने। यह बात यथार्थ है या नहीं उसे युक्तिपूर्वक निश्चित करे तो हो सकता है।

समस्त लोकालोकको एक समयमें अक्रमरूपसे—क्रम पड़े बिना—सहज जाने ऐसा उसका स्वभाव है। ५११.

प्रश्न :—*क्या ज्ञान परको जानता है?*

समाधान :—ज्ञान सब कुछ जानता है। परको पररूप जानता है और स्वको स्वरूप जानता है। द्रव्य-गुण-पर्याय सब जानता है, अन्य अनन्त द्रव्य, भूतकाल, वर्तमान काल और भविष्य काल—सबको एक समयमें जाननेकी शक्ति उसमें है; परन्तु वह वीतराग हो तभी सब जान सकता है। अज्ञानी वर्तमान राग-द्वेषमें रुका हुआ है इसलिये उसका जानना अटका हुआ है। एक ज्ञेयमें रुकनेसे, एकको जाने और दूसरेको भूलता है। वह रागमिश्रित जानता है अर्थात् जहाँ जानता है वहाँ राग-द्वेष करता है। राग-द्वेषके कारण

'ज्ञेय सो मैं, मैं सो ज्ञेय' इसप्रकार ज्ञेयमें तन्मय हो जाता है, जुदा नहीं रहता; अतः उसका पूर्ण जानना रुक गया है। परिपूर्ण वीतराग हो तो परिपूर्ण जाने। उसका स्वभाव ऐसा है कि निगोदमें गया तब जाननेकी शक्ति अति अल्प रह गई, तथापि उसका ज्ञातास्वभाव नष्ट नहीं होता, अल्प जानना तो बना ही रहता है।

ज्ञान किसीके आश्रय बिना एक समयमें सब जान ले ऐसा उसका स्वभाव है। कानोंसे सुने और आँखोंसे देखे ऐसा नहीं, किन्तु आत्मामेंसे जाने ऐसा उसका स्वभाव है। यदि वह परको न जाने और अपनेको ही जाने तब तो उसका स्वभाव संकुचित हो जाय। अपनेको तथा परको–सबको ज्ञान जानता है। परको जाने तब पृथक् रहकर जानता है, तन्मय नहीं होता। ५१२.

प्रश्न :— *'स्वयं ज्ञायक है' ऐसा क्या मुमुक्षु अनुमानसे या तर्कसे यथार्थरूपसे निश्चित कर सकता है?*

समाधान :—सम्यग्ज्ञान प्रगट होनेसे पूर्व 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा निश्चय, मुमुक्षु न कर सके ऐसा नहीं है; अज्ञानदशामें राग–द्वेष–भ्रान्तिमें पड़ा है तब भी स्वयं निश्चित कर सकता है कि 'यह स्वभाव सो मैं, यह विभाव मेरा स्वभाव नहीं, मेरा ज्ञानस्वभाव है।' यदि वैसा निर्णय, अनुभूतिसे पूर्व नहीं हो सकता हो तो आगे बढ़ ही नहीं सकता। स्वयं अपने स्वभावको पहिचानकर अंतरमेंसे निश्चित कर सकता है, निर्णय कर सकता है और उस निर्णयके बलपर आगे बढ़ सकता है। जिसे अंतरमें विभावका दुःख लगा हो वह स्वयं अंतरसे निर्णय करता है कि 'सच्चा स्वरूप क्या है? सच्ची शान्ति कहाँ है?' यह निश्चित करनेके लिये निर्णय ही काम आता है, पश्चात् स्वानुभूति होती है। पूर्ण शक्तिका विश्वास, मेरा स्वभाव रागसे भिन्न है, यह राग मैं नहि हूँ, भीतर एक तत्त्व है सो शाश्वत है—वह सब निर्णय, जिज्ञासाकी भूमिकामें कर सकता है और तब आगे बढ़ सकता है। यदि निर्णय नहीं कर सके तो आगे नहीं बढ़ सके। पहलेसे सब अनुभूतिमें नहीं आता, परन्तु अपने अमुक प्रकारके वेदनसे अनुमान कर सकता है कि यह जाननेवाला सो मैं हूँ। ५१३.

प्रश्न :— *जैनदर्शनकी दृष्टि और ज्ञानकी ऐसी अटपटी बातें समझमें नहीं आती। कभी कुछ कहते हैं और कभी कुछ कहते हैं।*

समाधान :—दोनोंका सम्बन्ध है; दृष्टि और ज्ञानकी मैत्री है। वस्तुका स्वरूप द्रव्य–

गुण–पर्यायरूप है। द्रव्यदृष्टि अखंड द्रव्यको ग्रहण करती है, ज्ञान दोनोंका होता है, इसलिये मैत्री है। द्रव्य-स्वभावसे वस्तु अभेद है, और भेद-अपेक्षासे गुणके भेद, पर्यायके भेद हैं अर्थात् वस्तु अभेद–भेद दोनों है; इसलिये हर जगह ज्ञान और दृष्टि दोनोंकी मैत्री होती ही है। जैसे ज्ञाननय और क्रियानय साथ हैं, वैसे ही दृष्टि और ज्ञान साथ होते हैं। वस्तु अनादि–अनन्त है; उसमें अनंत गुण नहीं हैं ऐसा नहीं है। वस्तु स्वभावसे अभेद है; तथापि उसमें लक्षणभेदसे क्या गुण नहीं हैं? क्या पर्यायें नहीं हैं? सर्व अपेक्षासे वस्तु कूटस्थ है?—ऐसा नहीं है। उसमें गुण–पर्यायें नहीं हैं और एक अखंड द्रव्य ही है, ऐसा नहीं है। एक अभेद वस्तु अंतरमें अनेकांतमय मूर्ति है; इसलिये एक द्रव्यमें दो अपेक्षाएँ होती हैं, और इसलिये उसकी साधनामें भी दो अपेक्षाएँ होती हैं। वस्तुस्वरूप ही अनेकांतमय मूर्ति है। ५१४.

प्रश्न :—*देव–शास्त्र–गुरुका अपेक्षित आनन्द तो आता है, परन्तु अंतरमें अतींद्रिय आनंद नहीं आता। निर्विकल्पदशामें जैसा आनंद आता है वैसा आनंद क्यों नहीं आता? तो हम कहाँ अटके हैं? क्या कमी है?*

समाधान :—अपने पुरुषार्थकी मन्दता है। अंतरमेंसे जो अनुपम आनंद आना चाहिये वह तो जब विकल्पोंसे छूटकर निर्विकल्प हो तब आता है; वह आनंद कोई विकल्पसहित दशामें नहीं आता। यह जो विकल्पोंमें आनंद आता है तथा जो देव–शास्त्र–गुरुकी महिमा आती है वह शुभभावका आनन्द है। किंतु विकल्प छूटकर जो आनंद आता है वह निर्विकल्प अनुपम आनंद है। विकल्पयुक्त पर्यायमें वह आनंद नहीं होता। चैतन्यस्वभावमें परिणमित होकर जो आनंद आये वह आनंद कोई अनुपम होता है। आनंद नहीं प्रगट होनेका कारण अपने पुरुषार्थकी मन्दता है। अपनी परिणति जो परकी ओर जाती है उसे स्वयं अपनी ओर नहीं मोड़ता, क्योंकि अनादिका अभ्यास है, इसलिये परिणति उसी ओर दौड़ जाती है। जो अटका हुआ है उसमें, स्वयंकी शिथिलता ही कारण है। रुचिकी उग्रता करके पुरुषार्थको स्वसन्मुख करना चाहिये सो नहीं करता। जो पुरुषार्थ बाहरमें कार्यरत है उसे पलटकर स्वसन्मुख नहीं करता।

विकल्पोंमें जो पुरुषार्थ जा रहा है उसे मोड़कर स्वयं निर्विकल्पताकी ओर नहीं लाता इसलिये पर्यायमें वह (अतीन्द्रिय) आनंद नहीं आता। यदि चैतन्यमें प्रवेश करे तभी वह आनंद, उसीमेंसे प्रगट होता है; विकल्पोंमें खड़े रहनेसे उस आनंदकी प्राप्ति नहीं होती।

साधकको सविकल्पदशामें भेदज्ञानकी धारा वर्तती है जिससे आंशिक शांति होती है;

परंतु निर्विकल्पताका आनंद तो निर्विकल्पदशामें ही होता है। सम्यग्दृष्टिके भेदज्ञानकी सहजधारा वर्तती है; उसमें आंशिक शान्ति, समाधि एवं ज्ञायककी धारा होती है, परंतु अपूर्व आनंद तो निर्विकल्पदशामें ही होता है।

जिज्ञासुके भेदज्ञानकी सहजधारा नहीं है, अभी अभ्यास करता है, एकत्वबुद्धि है; उस एकत्वको तोड़े और भेदज्ञानका प्रयास करे तो (कार्य) हो;, परन्तु एकत्वको तोड़नेका पुरुषार्थ नहीं करता। जितनी एकत्वबुद्धि प्रतिक्षण विभावोंके साथ हो रही है उतने प्रमाणमें प्रयत्न, वैसी उग्रता हो कि, वह क्षीण होकर ज्ञायककी धारा प्रतिक्षण प्रगट होती रहे, परंतु वैसा पुरुषार्थ नहीं है। विकल्पोंके साथकी एकत्वबुद्धि तीव्र है और वह दिन-रात सदा बनी रहती है। जब कि ज्ञायकका अभ्यास तो कभी-कभी करे तो उसे ज्ञायककी परिणति कहाँसे हो? पहले ज्ञायककी परिणति सहज होनी चाहिये, तब विकल्प टूटकर आनंद होता है।

'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा अभ्यास कभी-कभी अल्प समय करता है, किन्तु विभावका अभ्यास तो चौबीसों घंटे टिका हुआ है। आत्माको प्राप्त करनेका तीव्र पुरुषार्थ नहीं करता इसलिये निर्विकल्पदशा होकर जो आनंद आना चाहिये वह नहीं आता। जीवनमें विकल्पोंके साथ एकत्व गुथ गया है एवम् भेदज्ञानका अभ्यास महा मुश्किलसे करता है, इसलिये आनंद नहीं आता।

भावना रहती है, रुचि रहती है, महिमा रहती है परन्तु पुरुषार्थकी धारा उस ओर नहीं मुड़ती इसलिये (कार्य) नहीं होता। ५१५

प्रश्न :—*स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप है, उसमें कोई कर्तृत्व नहीं है; तो हमारी मति कहाँ उलझ रही है? वह समझने आया हूँ।*

समाधान :—अपने आप ही कहीं अटक जाता है, कोई उसे रोकता नहीं है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवको यथार्थ समझे और वास्तविक प्रकारसे कर्तावुद्धि छोड़कर ज्ञायक हो जाय तो कुछ भी करना नहीं रहता। 'मैं परपदार्थका कर सकता हूँ, मैं विकल्पका अथवा रागका कर्ता हूँ' ऐसी सब मान्यतायें यथार्थ प्रकारसे छूट जाय तथा ज्ञायककी परिणति हो जाये तो कुछ करनेका नहीं रहता। स्वयं सहज ज्ञाता हो जाय, उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप जो सहज वस्तु है तद्रूप ज्ञान परिणमित हो जाय अर्थात् स्वयं जो त्रैकालिक स्वरूप है उसमें दृष्टि स्थिर करके ज्ञान करे, लीनता करे तो कुछ करनेका नहीं रहे और स्वयं ज्ञायक हो जाय; परंतु ज्ञायक होता ही नहीं और कर्तृत्वबुद्धि खड़ी रहती है कि मैं कुछ करूँ, कोई कहे बाहरका करूँ,

यह करुँ.....वह करुँ, परंतु वह सब कर्तृत्वबुद्धि करता है; वास्तवमें वह बाहरका कुछ भी कर नहीं सकता। उत्पाद-व्यय-ध्रुव सहजस्वभाव है यदि ज्ञान तद्रूप हो जाय तो कुछ भी करना बाकी नहीं रहता।

स्वयं निष्कर्म-निवृत्तिरूप परिणति करना। स्वभावरूप परिणमित हो जाना, किंतु वैसा नहीं करता, उसमें स्वयंकी रुचिकी खामी है। स्वयंको बाह्य प्रवृत्ति रुचती है। आत्मा निवृत्तस्वरूप है, उसीमें शान्ति और आनन्द भरा है; परंतु स्वयंकी रुचि वैसी नहीं है इसलिये 'बाह्यका कुछ करूँ' ऐसी उसकी परिणति होती रहती है। ५१६.

प्रश्न :—*क्या रुचि ही नहीं है?*

समाधान :—मैं निवृत्तस्वरूप ही हूँ और पर्यायमें निवृत्तरूप परिणमित हो जाऊँ वैसी अन्तरमें यदि रुचिकी उग्रता हो तो पुरुषार्थ हुए बिना रहे ही नहीं। जिसे कहीं चैन न पड़े, विकल्पभावमें क्षणमात्र टिके नहीं, तो वह विकल्प छूट ही जाता है। स्वयं विकल्पमें अटक रहा है, उससे प्रगट होता है कि 'पुरुषार्थकी मंदता है', इसलिये वहाँ टिका हुआ है। ५१७.

प्रश्न :—*जो टिका हुआ है उसके रुचिके प्रकारमें क्षति है या रुचिकी मात्रामें क्षति है?*

समाधान :—अपना अपनेको समझ लेना; प्रकारमें क्षति (खामी) है या मात्रामें, उसे अपना हृदय समझ लेता है। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, वह एक ही मुझे चाहिये, तथापि मैं बहिर्मुख होता हूँ वह मेरी रुचिके प्रकारमें क्षति है। पूज्य गुरुदेव स्पष्ट मार्ग बतलायें और रुचिके प्रकारमें क्षति रहे, तो अपनी खामी है। पूज्य गुरुदेवने ऐसा उपदेश दिया और जिसने सच्चा मुमुक्षु होकर श्रवण किया हो उसकी रुचिमें खामी रहे सो कैसे शक्य है? परंतु अपनी रुचिकी मात्रामें, दृढ़तामें, ऐसी अनेक प्रकारकी कमी है, इसलिये बाह्यमें टिका रहता है। ५१८.

प्रश्न :—*आत्म-सन्मुख हुआ, ऐसा कहा जाता है, तो सन्मुखता और प्रतीति—दोनोंमें क्या अंतर है?*

समाधान :—प्रतीति अर्थात् यथार्थ प्रतीति। जो सहज भेदज्ञानधारा प्रगट हुई उसे प्रतीति कहते हैं। 'सन्मुख हुआ' उसमें अमुक प्रकारकी रुचि है; उसे अभी यथार्थ प्रतीति नहीं हुई परंतु आत्मसन्मुख हुआ है। 'सन्मुख हुआ' अर्थात् कि परिणति आत्माकी ओर मुड़ती है कि

'मुझे यही चाहिये', वह आत्माके निकट आ गया है। मुझे विभाव नहीं रुचते, सहज ज्ञायकता रुचती है, इसप्रकार अंतरंगसे उसकी गति बारम्बार ज्ञायककी ओर जाती है। अभी यथार्थ नहीं हुआ वह सन्मुखता है। जब सम्यग्दर्शन प्रगट हो तभी उसे यथार्थ प्रतीति होती है।

यथार्थ विशेषण सम्यग्दर्शनमें लागू होता है। उससे पूर्व उसकी रुचि एवं जिज्ञासा उस ओरकी है। यदि कार्य आये तो उसे कारणरूप कहा जाता है। ५१९.

प्रश्न :—*सन्मुखता यानी उसके खयालमें आ गया है कि यह ज्ञायक है और मैं इसके सन्मुख हूँ?*

समाधान :—उसे अमुक प्रकारसे खयालमें आया है। तो जब यथार्थ (ग्रहण) हो तब खयालमें आया कहलाये। उससे पूर्वका तो सब उसकी योग्यतावाला कहलाता है। फिर उसमें निकट कितना और दूर कितना है वह स्वयं समझ लेना है। ५२०.

प्रश्न :—*रागको पृथक् करना और स्वसन्मुख होना यह दोनों कार्य छद्मस्थके एकसाथ हो सकते हैं?*

समाधान :—उपयोग रागसे विभक्त होकर स्वयं अपनी ओर ढले वह एकसाथ हो सकता है। उपयोग उपयोगमें है, राग रागमें है, दोनों जुदे हैं, ऐसे भेदज्ञान एकसाथ हो सकता है। यह मुझमें नहीं और यह मैं हूँ, इसप्रकार अस्ति-नास्ति दोनों एकसाथ ही होती हैं। द्रव्यको विकल्पसे नहीं किन्तु स्वयं अपनी परिणतिसे ग्रहण करे कि 'यह मैं हूँ,' इसलिये 'यह मैं नहीं हूँ' ऐसा साथ ही आ जाता है। 'यह भिन्न और यह मैं' ऐसे उसमें क्रम नहीं पड़ता। अस्ति और नास्ति साथ आते हैं। मैं यह अस्तित्वस्वरूप हूँ और इसकी मुझमें नास्ति है, ऐसा साथ ही होता है। स्वयं है उसमें अन्यकी नास्ति आ जाती है। जहाँ अपनेको ग्रहण किया वहाँ विभावसे विभक्त हो ही जाता है। ५२१.

प्रश्न :—*ज्ञान साधन बनता है या मंद कषाय?*

समाधान :—सच्चा ज्ञान साधनरूप बनता है, राग साधन नहीं बनता। मंद कषाय साथमें हो किन्तु मार्ग जाने बिना आगे कैसे जायगा? भावनगर जाना हो तो इस मार्गसे जाना होगा ऐसा सच्चा ज्ञान करे तो उस ओर प्रयत्न करता है। 'यह मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा यथार्थ निश्चित करके, स्वयं उस ओर प्रयत्न करता है तब उसे रागकी महिमा छूट जाती है। उसे रागसे विरक्ति आ जाती है। वह (राग) सुखरूप नहीं है, दुःखरूप है, ज्ञायक आत्मा

ही अनुपम है, यह (अन्य) कुछ भी अनुपम नहीं है, ऐसी अपनी महिमा आये तो रागकी महिमा छूट जाय इसलिये उसमें ज्ञान-वैराग्य दोनों एकसाथ आ जाते हैं। अपनेको जाने और विभावोंसे विरक्ति हो, तो अपनेको ग्रहण करता है। ५२२.

प्रश्न :—*जबतक स्वमें स्वत्वका ग्रहण न हो तबतक तो अध्यात्मशास्त्रोंका चिंतन-मनन रखना चाहिये न?*

समाधान :—जिसमें आत्माकी चर्चा हो, ऐसे अध्यात्मशास्त्रोंका अभ्यास करना तथा रुचि स्वसन्मुख रखना। शास्त्राभ्यासमें ही सर्वस्व नहीं मानना, क्योंकि करना तो कुछ और ही अंतरमें रह जाता है, अर्थात् शास्त्राभ्यास जितना ही यह मार्ग नहीं है, मार्ग अंतरमें है ऐसी बराबर श्रद्धा रखना। न हो तबतक अध्यात्मशास्त्रोंका अभ्यास करे किन्तु रुचि अंतरमें रखे। ऐसी श्रद्धा दृढ़ रखे कि जो करनेका है वह अंतरमें करना है। ५२३.

प्रश्न :—*अज्ञानीको (जिज्ञासुको) ज्ञेयका ज्ञान करते समय, ज्ञेय वह मैं नहीं हूँ, परंतु मैं तो ज्ञायक हूँ, मैं जाननेवाला हूँ, इसप्रकार वारंवार उस ओर लक्ष्य करना क्या ठीक है?*

समाधान :—ज्ञेयके साथ एकत्वबुद्धि न करके, ज्ञेय मैं नहीं हूँ किन्तु, मैं ज्ञायक हूँ, इसप्रकार वारंवार ज्ञायकको पहिचाननेका प्रयत्न करना है। ज्ञायक हूँ, जाननेवाला हूँ, ऐसा आये वह ठीक है, परंतु अंतरंगसे पहिचानकर 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसी जिसकी परिणति प्रगट हो वह यथार्थ है। क्षण-क्षण जो ज्ञेय ज्ञात होते हैं, अंतरमें जो वैभाविक परिणति हो रही है अर्थात् विभावके जो-जो भाव आते हैं उस वक्त भी 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसी परिणति यदि अंतरंगसे हो तो वह ठीक है। वह न हो तबतक 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसी भावना-जिज्ञासा करे तथा वैसे विचार करे वह ठीक है। एकत्वबुद्धि तोड़ना है कि ज्ञेयरूप मैं नहीं हूँ, परंतु मैं ज्ञायक हूँ। जाननेके कालमें भी मैं कहीं ज्ञेयरूप नहीं होता परंतु मैं ज्ञायक तो ज्ञायक ही हूँ; तथापि उसे पहिचानता नहीं है तबतक परिणति प्रगट नहीं होती ५२४

प्रश्न :—*छद्मस्थ ज्ञानी परको जाने और अज्ञानी भी जाने, तो दोनोंकी जाननेकी रीति क्या एकसी है?*

समाधान :—अज्ञानी परको जानते समय परके साथ एकत्वबुद्धि करता है कि यह ज्ञेय सो मैं हूँ, किंतु मैं ज्ञान हूँ, इसप्रकार पृथक् नहीं होता। जो ज्ञात हो रहा है

वह ज्ञेय है और जो जानता है वह ज्ञान है, ऐसे दोनोंको पृथक् नहीं करता। यह मैं जाननेवाला ज्ञायक और यह ज्ञेय, ऐसा भेदज्ञान अज्ञानीको नहीं है; किंतु छद्मस्थ ज्ञानीको ज्ञायकधारा वर्तती है कि मैं स्वयं ज्ञायक हूँ। यह ज्ञेय जाननेमें आते हैं इसलिये मैं जाननेवाला, ऐसा नहीं अर्थात् ज्ञेय ज्ञात होते हैं इसलिये मैं ज्ञायक हूँ ऐसा नहीं, परंतु मैं स्वतःसिद्ध ज्ञायक हूँ। उसकी दृष्टि स्वरूप सन्मुख हो गई है; जो भी ज्ञेय ज्ञात होते हैं वह मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ, मैं ज्ञेयरूप नहीं हूँ। मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञेय ज्ञात हों तब भी मैं ज्ञायक हूँ। इसप्रकार उसका ज्ञान स्व-परप्रकाशक है, इसलिये ज्ञानी अपनेको जाने तथा परको भी जाने। स्वयं अपने अस्तित्वपूर्वक, अपनी ज्ञायकधारापूर्वक, दूसरा कुछ जाने तथापि मैं ज्ञेय नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ ऐसा जानता है। उसकी दिशा ही संपूर्ण बदल गई है। अज्ञानीकी दिशा जुदी है और ज्ञानीकी दिशा जुदी है।

अज्ञानीकी दृष्टि बाह्य है, वह बाह्यदृष्टिसे सब देखता है। ज्ञानीकी दृष्टि अंतर्मुख होनेसे वह स्वके ज्ञानपूर्वक परको जानता है। भेदज्ञानकी धारापूर्वक अर्थात् ज्ञाताकी-ज्ञायकताकी प्रगट परिणतिपूर्वक वह अन्यको जानता है, इसलिये उसकी दिशा संपूर्ण भिन्न है, देखनेकी दिशा पूर्णरूपसे बदल गई है। ५२५.

प्रश्न :— *'आत्मसिद्धि'में आता है कि "ज्ञाताको जाने नहीं, यह है कैसा ज्ञान?" तो क्या उसे अज्ञान कहा जाय?*

समाधान :—जाननेवालेको नहीं जानता यह तेरा ज्ञान कैसा है? यह तो तेरी अज्ञानता है। जो जाननेवाला है उसे तू नहीं जानता और दूसरोंको जानता है वह तो अज्ञानता है।

"घटपट आदिक ज्ञात हो, तब तू लेता मान;
ज्ञाताको जाने नहीं, कैसा तेरा ज्ञान?"

घट-पटादि दिखाई देते हैं उन्हें मानता है कि यह घड़ा है, यह वस्त्र है। बाह्यका जो कुछ जाननेमें आता है उसकी 'हाँ' भरता है। यह वस्तु है? तो कहेगा कि हाँ है; परन्तु उसे जाना किसने? जाननेवाला कौन है? वह किसके अस्तित्वमें जाननेमें आता है? घड़ा स्वयंको नहीं जानता, उसे तू जानता है फिर भी जाननेवाला कौन है उसे नहीं पहिचानता, तो तेरा ज्ञान कैसा है? यह तो तेरी अज्ञानता है। तू आत्मा स्वयं ज्ञाता है, उसे पहिचान। अपने अस्तित्वको पहिचान। चैतन्यके अस्तित्वमें जाननेमें आता है, जाननेवाला आत्मा है। ५२६.

प्रश्न :—*पर्याय द्रव्यमेंसे आती है वह तो व्यवहार हो गया?*

समाधान :—भले व्यवहार कहलाये; परंतु पर्याय द्रव्यमेंसे आती है। अनंत महिमायुक्त, अनंतशक्तिका भंडार जो द्रव्य है उसमेंसे परिणमित होकर पर्याय आती है; पर्याय बाहरसे नहीं आती। अनंतगुणोंका भंडार जो आत्मद्रव्य है वह परिणमित होकर पर्याय आती है; पर्याय प्रतिक्षण परिणमती है। वह पर्याय अनंतकालसे हो रही है तथापि द्रव्यकी शक्ति कम नहीं होती और लोकालोकप्रकाशक ज्ञान प्रगट हो वह अनंतकाल तक परिणमित होता रहे तब भी कोई न्यूनता नहीं आती। ऐसी अनंतशक्तिका भंडार आत्मा है। द्रव्य परिणमित होकर पर्याय आती है, पर्याय विना आधार नहीं आती। यदि वह अधरसे आती हो तो पर्याय ही द्रव्य हो जाय। परन्तु पर्याय तो द्रव्यके आश्रयसे आती है। पर्यायमें तो अमुक सामर्थ्य है और द्रव्यमें अनंत सामर्थ्य है। द्रव्यके आश्रयसे पर्याय आती है वह व्यवहार है, परंतु वह पर्याय द्रव्यकी है और द्रव्यके आश्रयसे होती है। ५२७.

प्रश्न :—*द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत् और सत् अहेतुक है ऐसा कथन आता है न?*

समाधान :—वह द्रव्यकी स्वतंत्रता बतलाते हैं कि द्रव्य–गुण–पर्याय सब स्वतंत्र एवं स्वतःसिद्ध हैं। परंतु पर्यायको द्रव्यका आश्रय नहीं है ऐसा उसका अर्थ नहीं है, पर्याय द्रव्यके आश्रयसे होती है। पर्याय भी स्वतःसिद्ध है, गुण भी स्वतःसिद्ध है और द्रव्य भी स्वतःसिद्ध है; तथापि पर्याय ऐसी स्वतंत्र नहीं है जैसा द्रव्य स्वतंत्र है। जैसा द्रव्य स्वतंत्र है वैसी पर्याय भी स्वतंत्र हो तो पर्याय भी एक स्वतंत्र द्रव्य हो जाय, इसलिये पर्याय द्रव्याश्रित है। ५२८.

प्रश्न :—*मुनिराज यहाँ हों तब छठवें–सातवें गुणस्थानमें झूलते हैं। देहान्त होनेपर स्वर्गमें जाते हैं तब वहाँ चतुर्थ गुणस्थानमें आ जाते हैं। तो क्या उनकी परिणतिमें अन्तर पड़ता है? एकवार परिणति इतनी प्रगाढ हो जाने पर फिर अन्तर कैसे पड़ता होगा?*

समाधान :—स्वर्गमें जाने पर चतुर्थ गुणस्थानमें आयें तब, पहले जो स्वानुभूतिकी दशा अन्तर्मुहूर्तमें परिणमित होती थी, उसमें अन्तर आ जाता है। चतुर्थ गुणस्थानकी दशा तो बनी हुई है परन्तु स्वानुभूतिकी जो परिणति प्रतिक्षण होती थी उसमें अन्तर आ जाता है—चारित्रकी लीनतामें फेर पड़ जाता है।

सम्यग्दर्शनमें अन्तर नहीं पड़ता, द्रव्यदृष्टि जो जोरदार है उसमें फेर नहीं पड़ता परंतु

जो परिणति बारम्बार स्वरूपकी ओर जाती थी वह अब भीतर न जाकर बाहरमें रुकने लगी इसलिये पहले (मुनिदशामें) प्रगाढ परिणति होनेपर भी अब उसमें अन्तर आ जाता है। ५२९.

प्रश्न :—*पुरुषार्थ और संस्कारके बीच कोई संबंध है?*

समाधान :—व्यवहारसे सम्बन्ध कहा जाता है। पूर्वके संस्कार लेकर आया है, इसलिये पुरुषार्थ जल्दी उमड़ता है। ऐसा व्यवहारसे कहनेमें आता है। बाकी तो वर्तमान पुरुषार्थ करे तो कार्य होता है। बहुतसे लोगोंके संस्कार होते हैं किन्तु सभीको पुरुषार्थ तो वर्तमानमें ही करना रहता है। पुरुषार्थ करे तब संस्कारोंको कारण कहा जाता है। पूर्वकालमें जो कुछ संस्कार डाले हों, उनकी योग्यता भीतर पड़ी हो और फिर स्वयं वर्तमानमें पुरुषार्थ करे तो उसे संस्कार कारण होते हैं; पुरुषार्थ न करे तो संस्कार कारण नहीं होते। वर्तमान पुरुषार्थ तो नया ही करना रहता है। ५३०.

प्रश्न :—*यदि पुरुषार्थसे प्राप्त होता हो तो संस्कार डालनेसे लाभ क्या?*

समाधान :—संस्कार उसे पुरुषार्थके उत्थानका कारण बनते हैं, उतना लाभ है। संस्कारोंको कारण कब कहा जाता है? कि कार्य आये तो कारण कहलाता है। यदि अंतरमें यथार्थ कारण हो तो कार्य आता है। पुरुषार्थ स्वतंत्र है और संस्कार भी स्वतंत्र हैं। पुरुषार्थ करे तो संस्कारोंको कारण कहा जाता है। इसलिये 'संस्कार डाले ऐसा कहनेमें आता है'। वे संस्कार कहीं पुरुषार्थको स्फुरित नहीं करा देते, स्वयं पुरुषार्थ करे तो उन्हें कारण कहा जाता है। ५३१

प्रश्न :—*ऐसा कहा जाता है कि यदि गहरे संस्कार डाले हों तो कदाचित् इस भवमें कार्य नहीं हुआ तो अगले भवमें हुए बिना नहीं रहेगा?*

समाधान :—यथार्थ कारण हो तो कार्य आता ही है। यदि तेरा कारण यथार्थ होगा तो भविष्यमें तेरा पुरुषार्थ उठेगा। पुरुषार्थीको ऐसी भावना रहनी चाहिये कि मैं पुरुषार्थको उछालूँ। उसे ऐसी भावना नहीं रहनी चाहिये कि संस्कार होंगे तो अपने आप पुरुषार्थ हो जायेगा। पुरुषार्थीको तो ऐसी ही भावना रहने योग्य है कि मैं पुरुषार्थको उभारूँ।

यदि संस्कार यथार्थ डाले हों तो उसका पुरुषार्थ उठेगा ही, ऐसा एक सम्बन्ध है। तथापि स्वयंकी भावना तो ऐसी होनी चाहिये कि मैं शीघ्र प्रयत्न करूँ, मैं ऐसा करूँ। ५३२.

प्रश्न :— *'आत्मानुभव तक न पहुँच सके तो गहरे संस्कार लेकर जाना' तब पुरुषार्थ और संस्कारकी एक ही जाति हो ऐसा नहीं लगता?*

समाधान :—एक जाति नहीं है। उसे प्रयत्न करनेमें बहुत उलझन लगती हो, प्रयत्न नहीं हो सकता हो तथा खेद होता हो तो कहते हैं कि ऐसे संस्कार लेकर जाना। यदि हो सके तो पहले तू ठेठ (अंत) तक पहुँच जा, प्रयत्न होता हो तो तू ठेठ तक पहुँच जा; परंतु प्रयत्न नहीं हो सकता हो तो तू संस्कार डालना। संस्कारमें पुरुषार्थका सब कार्य आ नहीं जाता है।

आता है न? कि: ''यदि कर सके प्रतिक्रमण आदि, तो ध्यानमय करना अहो!''— तू कर सके तो ध्यानमय प्रतिक्रमण करना, परंतु यदि वह न बन सके, तब श्रद्धा तो यथार्थ करना। तुझसे हो सके तो ध्यान—ठेठ मुनिदशा और केवलज्ञान—प्रगट करना; परंतु वह न बन सके तो श्रद्धा यथार्थ करना, सम्यग्दर्शन प्रगट करना और यदि सम्यग्दर्शन तक भी न पहुँचा जा सके तो उसकी रुचि और भावनाके संस्कार डालना। ध्येय तो, अपना प्रयत्न चल सके तो पूरे का पूरा करनेका होना चाहिये। मुनिराज श्री पद्मप्रभमल्लधारीदेव कहते हैं कि बन सके तो पूरा ही करना, परंतु न बन सके और तुझे उलझन होती हो तो श्रद्धा तो करना। तू कम से कम रुचिके बीज तो ऐसे बोना कि जो तुझे कारणरूप सिद्ध हों। पुरुषार्थ न उठे तो अकेली रुचिमें सब कुछ नहीं आ जाता, तथापि यदि तेरी गहरी भावना होगी तो भविष्यमें अंतरंगसे भावना स्फुरित होगी जो तुझे पुरुषार्थके उत्थानका कारण बनेगी। वहाँ भी तुझे ऐसा लगना चाहिये कि मैं पुरुषार्थ करूँ।

अभी न हो तो अभ्यास करना, उसकी दृढ़ता करना। बारम्बार उसका घोलन करना। 'मैं ज्ञायक हूँ, यह मैं नहीं हूँ; यह विभाव मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा स्वभाव जुदा है', ऐसे उसे बारम्बार दृढ़ करना। वह दृढ़ता होगी तो भविष्यमें स्फुरित होकर पुरुषार्थ होनेका कारण बनेगी। ५३३.

प्रश्न :— *'प्रवचनसार' परिशिष्टमें जहाँ नयोंका वर्णन किया है वहाँ आता है कि ''स्वभाव, संस्कारोंको निरर्थक करनेवाला है'' तो वहाँ उसका क्या तात्पर्य है?*

समाधान :—वह अपेक्षा कुछ और ही है। द्रव्य-अपेक्षासे स्वभाव, संस्कारोंको

निरर्थक करनेवाला है और पर्याय-अपेक्षासे संस्कार सार्थक हैं। संस्कार कुछ हैं ही नहीं, ऐसा नहीं है।

निगोदमेंसे निकलकर तुरंत ममोला (कीडा) होता है और पीछे मनुष्य होकर तुरंत केवलज्ञान प्राप्त करता है।—उसमें संस्कार कहाँ थे? तेरा ज्ञायकस्वभाव ही तेरे संस्कारका कारण है। तेरा स्वभाव ही ज्ञायकरूप रहनेका है। तू ज्ञानस्वभावी है। वह तेरा ज्ञानस्वभाव ही तेरी परिणतिको ज्ञायककी ओर ले जायेगा। तेरा स्वभाव ही संस्काररूप है। तू चेतनासे परिपूर्ण है। जड तेरा स्वभाव नहीं है। चैतन्य-परिणतिको चेतनद्रव्यकी ओर खेंचते रहना, वह तेरा स्वभाव ही है। द्रव्य ही पर्यायके प्रगट होनेका कारण है। द्रव्यके ऊपर यथार्थ दृष्टि गई तो वह पर्याय यथार्थ सम्यक्रूप परिणमित हो जायेगी। तेरा स्वभाव ही सम्यक्रूप है। स्वभाव ही यथार्थ ज्ञानका कारण है। सीधी सरल रीतिसे द्रव्य ही उसका कारण होता है। संस्कार एक परिणति है। परिणति कारण हो वह व्यवहार है। वास्तवमें तो द्रव्य ही ज्ञानका कारण है। निश्चयसे तेरा मूल स्वभाव ज्ञायक ही है। वह स्वभाव ही उसका कारण होता है। निगोदमेंसे निकलकर ठेठ केवलज्ञान प्राप्त करता है वह स्वभावके आश्रयसे ही प्राप्त करता है। 'स्वभावसे मैं चैतन्य हूँ, यह विभाव मैं नहीं हूँ' ऐसे स्वभावपर दृष्टि गई वहाँ परिणति पलट जाति है। वहाँ उसे संस्कार पहलेसे दृढ़ नहीं करने पड़े कि 'मैं ज्ञायक हूँ', वैसा अभ्यास भी नहीं करना पड़ा। सब अभ्यास एकसाथ ही हो गया। 'मैं ज्ञायक ही हूँ' ऐसी दृढ़ता एकदम जल्दी आ गई और अन्तर्मुहूर्तमें सब हो गया। मन्द पुरुषार्थके कारण विलम्ब होता है इसलिये बारम्बार अभ्यास करना पड़ता है कि 'मैं ज्ञायक हूँ.....मैं ज्ञायक हूँ।' परिणति सहजरूपसे दृढ़ नहीं होती और अधिक समय तक बारम्बार अभ्यास करना पड़ता है उसे संस्कार कहते हैं। निगोदके जीवने तुरंत ही एकदम पुरुषार्थ किया तो (कार्य) तुरत हो गया, उसे बीचमें संस्कार लानेकी आवश्यकता नहीं रही। अभ्यास करनेका नहीं रहा। जिसका पुरुषार्थ जोरसे उभर पड़े उसे बीचमें संस्कारोंकी जरूरत नहीं होती; परिणतिमें संस्कार डालनेका बीचमें समय ही नहीं रहता। द्रव्य ही उसका कारण होता है। मूल ज्ञायकस्वभाव ही कारणरूप होता है। ५३४.

प्रश्न :—*शीघ्र सम्यग्दर्शन हो ऐसा कोई मार्ग बतलाइए न? जिससे हमारा कार्य हो जाय?*

समाधान :—स्वयं शीघ्र पुरुषार्थ करे तो शीघ्र कार्य हो जाय, धीरे-धीरे अभ्यास

करे तो देर लगती है। 'मैं ज्ञायक हूँ.....ज्ञायक हूँ' इसप्रकार धीरे–धीरे अभ्यास करनेकी अपेक्षा 'मैं ज्ञायक ही हूँ' इसप्रकार एकदम दृढ़तासे–जोरसे स्वयं विभावसे विभक्त हो जाय तो शीघ्र कार्य हो। जल्दी करे तो बीचमें संस्कार नहीं आते; पुरुषार्थ धीरे–धीरे करे तो बीचमें संस्कार आते हैं; मन्द अभ्यास करे तो बीचमें संस्कार आते हैं। और यदि द्रव्यके ऊपर दृष्टि गई तो कार्य शीघ्र हो जाता है।

श्री 'प्रवचनसार'में आता है न? कि हम कमर कसकर तैयार हुए हैं। वैसे ही स्वयं तैयार होकर अंतरमें जाय तो कार्य एकदम हो जाता है। ५३५.

प्रश्न :—*पूर्णता प्रगट कर, वह न हो तो श्रद्ध कर और श्रद्धा न कर सके तो गहरे संस्कार लेकर जा—यह बात बराबर है?*

समाधान :—ऐसी उपदेशकी शैली होती है कि कोई श्रवण करने आये तो प्रथम मुनिपनेका उपदेश देते हैं। मुनि न हो सके तो फिर श्रावकका उपदेश देते हैं। अर्थात् यदि शक्ति न हो तो सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावकका उपदेश देते हैं। यह पंचमकाल है। सम्यग्दर्शन तक परिणति प्रगट करनेका पुरुषार्थ न हो तो उससे कहते हैं कि तू रुचिके संस्कार डाल। जो शुभभावमें, क्रियामें, बाह्यतपमें धर्म माने तो उसकी श्रद्धा मिथ्या है इतना ही नहीं, उसका सबकुछ मिथ्या है। उसने अन्य प्रकारसे धर्म मान लिया है, तथा कोई मेरा भला कर देगा ऐसी भ्रमणा होती है। पूज्य गुरुदेवके प्रतापसे तथा उनके उपदेशसे वैसी सब भ्रमणायें दूर हुई हैं। पूज्य गुरुदेवने कहा है कि: प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। तू पुरुषार्थ कर तो (कार्य) होगा। शुभभाव और देव–शास्त्र–गुरुकी भक्ति आये, परन्तु करनेका तो अंतरमें तुझे ही है। ५३६.

प्रश्न :—*ज्ञाननय एवं क्रियानयकी परस्पर मैत्रीका क्या स्वरूप है?*

समाधान :—'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसे अपना अस्तित्व अंतरमेंसे ग्रहण करके, अंदरमेंसे रागसे निवर्तित हो और स्वयं अपनेमें लीनता करे अर्थात् 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा ज्ञायकरूपसे (तद्रूप) परिणमन करे तो ज्ञाननय एवं क्रियानयकी मैत्री है।

यह सब उदयाधीन हैं, मैं ज्ञायक मात्र हूँ, यह सब विभावभाव हैं, ऐसा मात्र बोला करे और अंतरसे भेदज्ञान न करे, तो उसके ज्ञायकरूप परिणति नहीं होती किन्तु वह कथनमात्र है। शुभपरिणति करके उसमें संतुष्ट हो तो भी वह क्रियामें रुक जाता है। अपने अस्तित्वको

ग्रहण करके तथा मैं ज्ञायक हूँ ऐसा जानकर, रागसे विभक्त हो और ज्ञायककी ज्ञायकरूप परिणति करे तो ज्ञाननय एवं क्रियानयकी मैत्री है, अर्थात् उसने अनेकान्तरूपसे आत्माको यथार्थरूपमें ग्रहण किया है। 'मैं चैतन्यद्रव्य अखंड शाश्वत हूँ' ऐसा जानकर, जैसा ज्ञायक है वैसी परिणति प्रगट करता है, अर्थात् पर्यायमें भी रागसे निवर्तता है और अपनी ज्ञायकरूप परिणति प्रगट करता है, तो उसे यथार्थ भेदज्ञान और ज्ञायककी परिणति प्रगट हुई है।

मात्र अकेली क्रियामें संतुष्ट हो जाय और कहता रहे कि मैं ज्ञायक हूँ..... ज्ञायक हूँ; तथा यह सब तो उदयाधीन हैं ऐसा मानकर, रागसे अंतरंग निवर्तन नहीं करता एवम् भेदज्ञानकी परिणति प्रगट नहीं करता, तो उसके ज्ञाननय और क्रियानयकी मैत्री नहीं है। ५३७.

प्रश्न :—*ज्ञायककी मैत्री प्रगट करे उसके ज्ञाननय और क्रियानयकी मैत्री होती है?*

समाधान :—ज्ञायककी परिणति प्रगट करे तो ज्ञाननय और क्रियानयकी मैत्री हो। यदि ज्ञायककी परिणति प्रगट नहीं हुई तो उसके मैत्री नहीं है। विकल्पसे निर्णीत करे कि यह ज्ञानक्रिया है, परन्तु भीतर ज्ञानपरिणति नहीं है, तो उसके ज्ञाननय एवं क्रियानयकी मैत्री नहीं है। वह या तो कोई क्रियामें रुक जाता है, अथवा किसी शुष्कज्ञानमें रुक जाता है।

जो मुमुक्षु आत्मार्थी हो वह ऐसा मानता है कि मुझसे कार्य नहीं होता, परन्तु एक यह ज्ञायककी परिणति ही प्रगट करने योग्य है। द्रव्य वस्तुस्वभावसे भिन्न है, उसे भिन्न करनेसे शुद्ध पर्याय प्रगट होती है, ऐसा ज्ञान, वह विकल्पदशामें भले ही करे, किन्तु ज्ञान–क्रियाकी मैत्री तो अंतरमें ज्ञायकदशा प्रगट हो तभी होती है।

पहले भावनामें समझे कि 'करनेका तो यही है'....बाकी जो नहीं समझता है वह तो एकान्तमें बह जाता है। और मात्र बोलता रहता है कि मैं ज्ञायक हूँ तथा शुभभाव करे तो मानता है कि मैंने बहुत कर लिया है।

यथार्थ आत्मार्थी हो, जिसे आत्माका प्रयोजन है, वह ऐसा बराबर समझता है कि वह द्रव्य वस्तुस्वभावसे भिन्न है, राग अपना स्वभाव नहीं है तथा मैं कैसे ज्ञायकरूप परिणमन करूँ?—इसप्रकारकी उसे भावना रहती है और ऐसा निर्णय भी होता है कि करनेका तो मात्र यही है। ५३८.

प्रश्न :—*सुप्रभातसे (सम्यग्दर्शनसे) लेकर केवलज्ञान तककी समस्त पर्यायोंमें 'स्वयंभू'पना ग्रहण किया तो अन्यका अवलम्बन थोड़ा बहुत होगा या नहीं?*

समाधान :—अन्य किसीका अवलम्बन नहीं है; एक 'स्वयंभू' आत्माका ही अवलम्बन है। स्वयंभू आत्मा स्वयंसे स्वतःसिद्ध है; एवम् साधकको स्वयंभू आत्माके सिवा और किसीका अवलम्बन नहीं है। ५३९.

प्रश्न :—*देव–शास्त्र–गुरुका अवलम्बन किंचित् आधाररूप होता है?*

समाधान :—चेतन द्रव्यका ही अवलम्बन है। शुभभावमें देव–शास्त्र–गुरुका आलंबन कहा जाता है कि हे देव–शास्त्र–गुरु! 'आपश मेरे साथ रहना; क्योंकि मेरी अपूर्णता है इसलिये मुझे शुभभाव आते हैं तो आप मेरे साथ रहना, मुझे आपके प्रति आदर है। भक्तिमें आता है कि जैसे मुझे अपने स्वभावका आदर है, वैसे ही आपके प्रति मुझे आदरभाव है, इसलिये आप मेरे साथ रहना। मैं जहाँ भी जाऊँ वहाँ मुझे मेरे साथीकी भाँति सहायरूप देव–शास्त्र–गुरु साथ रहें, ऐसी भावना भाता है। वैसे तो अवलम्बन द्रव्यका है और कार्य स्वयंको करनेका है। परन्तु देव–शास्त्र–गुरुके प्रति पूर्ण भक्ति आती है। आप मेरे साथ रहना, ऐसा भावनामें आये, परन्तु उसे भावनामें यों नहीं आता कि आप सब तो बाह्य पदार्थ हैं और करनेका तो मुझे अंतरमें है न?—ऐसे भाव नहीं आते। शुभभावमें खड़ा है, अभी पूर्ण वीतराग नहीं हुआ है, इसलिये ऐसे भाव आते हैं कि आप मेरी साधनामें मेरे साथ रहना। पूज्य गुरुदेव मुझे सहायक हैं, मुझे उपदेश दें, ऐसी भावना होती है। मैं पूज्य गुरुदेवके प्रतापसे ही आगे बढ़ा हूँ। पूज्य गुरुदेवने ही सर्वस्व दिया है।—इस भाँति देव–शास्त्र–गुरुके प्रति भक्तिभाव आये बिना नहीं रहता। पुरुषार्थ तो स्वयं करता है, परन्तु उपकार देव–शास्त्र–गुरुका आये बगैर नहीं रहता; क्योंकि अनादिकालके अनजाने मार्गको गुरुदेवने ही तो दिखलाया है न! द्रव्य अनादि–अनंत शुद्ध होनेपर भी परिणतिको पलटानेमें जो पुरुषार्थ होता है उसमें देव–शास्त्र–गुरु निमित्तरूपसे मौजूद रहते हैं। अनादिका निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा है कि अनादिसे जिसे स्वयं नहीं समझ पाया उसे पहली बार समझे तब वहाँ देशनालब्धि अवश्य होती है और उसमें देव या गुरुका प्रत्यक्ष निमित्तत्व होता है। कार्य अपनेसे होता है, परन्तु उपादान–निमित्तका सम्बन्ध रहता है। अनादि मिथ्यादृष्टिको जब प्रथम देशनालब्धि प्राप्त होती है तब उस वक्त देव अथवा ज्ञानी गुरु प्रत्यक्ष निमित्त होते हैं। इसलिये प्रत्यक्षका उपकार कहनेमें आता है।

''प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं'' यह बात श्रीमद् राजचन्द्रजीने कही है। प्रत्यक्षका उपकार है। अनादिसे स्वयं चैतन्यद्रव्य शुद्ध होनेपर भी जब उसकी पर्याय पलटनेका पुरुषार्थ होता है तब देव–गुरुका निमित्त होता है। ऐसा निमित्त–उपादानका सम्बन्ध होता है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र होनेपर भी ऐसा निमित्त–उपादानका संबंध होता है। इसप्रकार पर्यायमें निमित्त–नैमित्तिकका कैसा सम्बन्ध है उसे ज्ञानमें रखकर, दृष्टि अपने द्रव्यपर होती है। जैसे ज्ञाननय और क्रियानयकी मैत्री है वैसे ही दृष्टि और ज्ञान भी मैत्रीपूर्वक कार्य करते हैं। ५४०.

प्रश्न :—*मुनिराज यहाँसे देवगतिमें जाये तो क्या वहाँ परिणतिकी प्रगाढतामें फेर पड़ जाता है?*

समाधान :—प्रगाढतामें अन्तर हो जाता है। गुणस्थान बदल गया, मुनिदशा छूट गई। देवगतिके साथ ऐसा सम्बन्ध है कि वहाँ मुनिदशा नहीं रहती। यहाँ तो क्षायोपशमिक चारित्रदशा थी, पुरुषार्थकी धारा क्षायोपशमिक थी इसलिये परिवर्तन आ गया है,परन्तु मुनिराजने अंतरमें जो शुद्धोपयोगरूप मुनिदशा प्रगट की थी वह दशा निष्फल नहीं जाती। अगले मनुष्यभवमें पुरुषार्थ करनेसे परिणति सहज प्रगट हो जाती है। यहाँ जिस प्रगाढतापूर्वक चारित्रदशाका (मुनिदशाका) पालन किया है वह स्वर्गलोकका भव पूर्ण होनेपर दूसरे भवमें पुरुषार्थ करेंगे तब पुनः वह दशा प्राप्त हो जाती है। देवगतिका तो नियम ही ऐसा है कि वहाँ मुनिदशा धारण नहीं की जा सकती, वहाँ मुनिदशा आती ही नहीं। शुभभावसे जो पुण्यबंध हुआ उसके कारण स्वर्गलोकका भव बीचमें आ जाता है।

मुनिदशामें केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ और बीचमें शुभभावके कारण स्वर्गलोककी आयु बँध जानेसे वहाँ रुकना हो जाता है। यहाँ पुरुषार्थकी जो धारा जोरदार चलती थी उसमें, बीचमें शुभभावके कारण वहाँ साधकदशाका–विश्रामका वैसा प्रकार आता है, फिर मनुष्यभव प्राप्त करके आगे बढ़ते हैं। ५४१.

प्रश्न :—*सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके पश्चात् कैसी उष्मा (शरण) लगती होगी?*

समाधान :—उष्मा लगती है क्योंकि जो अपनेको चाहिये था वह मिल गया। द्रव्य अनादिकालीन होनेपर भी वह एकत्वबुद्धिमें भटक रहा था, कहीं दिशा नहीं सूझती थी, वैसेमें उसे स्वभावका ग्रहण हो गया इसलिये उष्मा तो आये न! कि—यह रहा आत्मा! आत्मा स्वयं ही है। जिसे मुख्य–ऊर्ध्वरूपसे आत्माका ग्रहण हो उसे उसकी उष्मासे शान्ति हो जाती है। अनादिका भटकना बंद हो गया। जो चाहिये था वह मिल गया,

मुक्तिका मार्ग तथा आनंद–शांतिका मार्ग प्राप्त हो गया, आत्मदेव मिल गये, फिर उसे क्या चाहिये? ५४२.

प्रश्न :— *'पद्मनंदीपंचविंशतिका'में आता है कि तू लौकिक संगका परिचय छोड़। तो क्या परिचय बिलकुल छोड़ देना?*

समाधान :—लौकिक संगका परिचय करनेसे वह अपनेको नुकसानका कारण होता है। तुझे पुरुषार्थकी मंदता है इसलिये सत्संग कर, ऐसा शास्त्रमें आता है। वहाँ ऐसा कहना है कि सत्संग करके तू पुरुषार्थ कर। लौकिक संग त्यागनेकी शक्ति हो तो त्याग देना। यदि शक्ति न हो तो उसकी रुचि कम करके, आत्माका संग तथा सत्पुरुषोंका संग करना, देव–शास्त्र–गुरुके सान्निध्यमें रहना जिससे कि वह अपने पुरुषार्थके उत्थानका कारण बने। लौकिक संग हानिका कारण होता है। अपने पुरुषार्थकी मंदता होनेसे लौकिक संगका असर आता है, ऐसा निमित्त–उपादानका सम्बन्ध है। अपने पुरुषार्थके लिये लौकिक संगकी रुचि, हमें नहीं होनी चाहिये। लौकिक संगसे छूटा जा सके तो छूटना चाहिये। लौकिक संग छोड़ने योग्य ही है।

जिन्हें सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है और गृहस्थाश्रममें रहते हैं वे अंतरसे न्यारे हो गये हैं। जिन्हें भेदज्ञानकी धारा प्रगट हुई है, स्वानुभूतिकी दशा वर्तती है, वे भी ऐसी भावना भाते हैं कि मैं कब सर्वसंगपरित्यागी होकर मुनिदशा अंगीकार करूँ? कब वनवासी होकर आत्मध्यानमें लीन होऊँ? जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, जो अंतरसे न्यारे हो गये हैं वे भी ऐसी भावना भाते हैं तब फिर जो मुमुक्षु जिज्ञासु हैं उन्हें भी लौकिक संग छूट जाय और देव–शास्त्र–गुरुका सानिध्य प्राप्त हो, ऐसी रुचि तथा भावना भाना वह लाभका कारण है; वह अपना उपादान प्रगट करनेका कारण बनता है। ५४३.

प्रश्न :— *विकल्पोंके कालमें भी क्या धर्मात्मा निजगृहमें ही निवास करते हैं? जितनी ज्ञायकता प्रगट हुई है उतनी शान्ति क्या सदैव रहती है?*

समाधान :—सम्यग्दृष्टिको अपना घर नहीं छूटता, वे घरमें ही स्थित हैं; घरके द्वारपर खड़े हों तथापि घर नहीं छूटा है, शांति ही है। जब घरमें आना हो तब उनकी परिणति उस ओर दौड़ आती है। यद्यपि वे अमुक प्रकारकी अस्थिरताके कारण बाह्य परिचयमें–द्वारमें खड़े–खड़े किसीके साथ वार्तालाप करते हों तो वहाँ पुरुषार्थकी मंदताके कारण खड़े हैं, तथापि भावना ऐसी है कि इसी क्षण सब छूट जाता हो तो अंतरमें लीन हो जाऊँ

और निर्विकल्प स्वानुभूति प्रगट कर लूँ। अभी उनकी इतनी भूमिका तो नहीं है कि वे मुनिकी भाँति बारम्बार अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्तमें अंतरमें चले जाएँ, तथापि कभी-कभी अपने निजगृहमें लीन हो जाते हैं। उपयोग बाहर जाय तब भी निजगृहको नहीं छोड़ते। अपने निजगृहका अस्तित्व एवं ज्ञायकताका ग्रहण किया है उस ज्ञायकताकी शांति सदा वर्तती है। वह ज्ञायकपना छूटकर बाहर नहीं जाता, एकत्वबुद्धि होती ही नहीं।

उन्हें बाह्यमें ऐसा उत्साह नहीं आता कि अपना घर छोड़कर बाहर चले जाएँ। अनेक प्रकारके उदय आयें तो उनमें एकत्व हो जाय अथवा उसका रस बढ़ जाय ऐसा नहीं होता। उन्हें अपने चैतन्यगृहकी-स्वगृहकी इतनी महिमा है कि चैतन्यका ग्रहण हुआ वह नहीं छूटता। चैतन्यके गृहमें जाना वह उनके हाथकी बात है। चैतन्यगृहमें प्रवेश करनेका मार्ग उनके लिये सहज एवं सुगम हो गया है; परन्तु अपने पुरुषार्थकी मंदताके कारण उपयोग बाहर चला जाता है। गृहस्थदशाके कारण कुछ समय द्वारमें खड़े दिखाई देते हैं, परन्तु पुरुषार्थ बढ़े तो भीतर चले जाते हैं, वहाँ के वहाँ खड़े नहीं रहते, स्वरूपमें लीन हो जाते हैं। ५४४.

प्रश्न :—*बहिर्मुख उपयोगसे सम्यक् श्रद्धाको हानि नहीं होती?*

समाधान :—सम्यक् श्रद्धा वह प्रतीति है। उपयोग बाहर जाता है परन्तु श्रद्धा-ज्ञानको हानि नहीं होती। वह अस्थिरताका दोष है। उपयोग बाहर जाय उससे उसकी ज्ञायकता या प्रतीतिको हानि होकर अपना घर छूट जाय ऐसा नहीं होता। ५४५.

प्रश्न :—*बाहर जानेसे घर छूट जायगा ऐसा उन्हें डर नहीं लगता?*

समाधान :—उन्हें वैसा डर नहीं है कि मेरा चैतन्यगृह छूट जायगा। वे एकदम दृढ़तापूर्वक चैतन्यको ग्रहण करके खड़े हैं। किन्हींके पुरुषार्थकी मंदता हो वह बात अलग है, बाकी तो स्वयंको अंशतः शांति वर्तती है और प्रतीति है कि यह चैतन्यगृह तो मेरे हाथमें है। वह घर तो उन्हें चाहे जिस कार्यमें, चाहे जैसे प्रसंगमें नहीं छूटता, किसी भी प्रकारसे उनकी ज्ञायकता छूटती ही नहीं है। अंशतः जो चैतन्यगृह उन्होंने ग्रहण किया है वह उच्चसे उच्च शुभभावके प्रसंग हों तब भी नहीं छूटता। वे द्रव्य-गुण-पर्यायके विचार करते हों तब भी चैतन्यगृहको नहीं छोड़ते, और देव-शास्त्र-गुरुके विचार-भक्ति आदि करते हों तब भी चैतन्यगृह तो छूटता ही नहीं, चैतन्यगृह उनके समीप ही है। उन्हें बाह्यमें

एकत्व होता ही नहीं; बाह्यमें थक जानेपर तुरंत अंतरमें विश्राम करने चले जाते हैं। मुनि तो बारम्बार अंतरमें चले जाते हैं, वे बाह्यमें बहुत समय तक टिक ही नहीं सकते। ५४६.

प्रश्न :—*गुरुदेवके प्रवचनमें आता है कि ज्ञानी ज्ञानरूपसे परिणमता है, क्रोधरूप नहीं परिणमता, तथा राग मुझमें होता है ऐसा नहीं मानता किन्तु उसे पुद्गलका परिणमन मानता है। राग अपनी पर्यायमें होता है, तथापि वह ऐसा किस प्रकार मानता है?*

समाधान :—ज्ञानी द्रव्यदृष्टिके बलसे राग मुझमें होता है ऐसा नहीं मानते। मैंने यह जो चैतन्यद्रव्य ग्रहण किया है उसमें राग नहीं है; जो राग होता है वह पुद्गलके निमित्तसे होता है, अतः जिसके निमित्तसे राग होता है वह उस निमित्तका है, मेरे चैतन्यगृहका नहीं है। इसलिये जो राग होता है उसे सर्वथा विभक्त करके कहते हैं कि 'यह विभाग (रागांश) पराये घरका है, मेरे चैतन्यगृहका नहीं;' मेरे निजगृहकी विभूति ही मेरी है। अपनी अस्थिरताके कारण मैं बाहर जाता हूँ परन्तु 'वह (रागांश) मेरा नहीं है' ऐसे उसका विभाग करके वे खड़े हैं। यह सब विभावादि निमित्तके घरके—जडके घरके—हैं, वे सब जड हैं, और मेरे चैतन्यगृहका चैतन्य है, ऐसे विभाग, वे द्रव्यदृष्टिके बलसे करके खड़े हैं। यद्यपि पुरुषार्थकी मंदताके कारण मेरी अपनी परिणतिमें विभाव होते हैं ऐसा जानते हैं तथापि द्रव्यदृष्टिका बल ऐसा है कि वे चैतन्यको ही ग्रहण करते हैं। यह शेष सब तो विभावके घरका है, मेरे घरका नहीं; उसका एक अंश भी मेरा नहीं है । शुभभाव हो या अशुभभाव हो, कुछ भी हो, वह सब विभावके घरका है। द्रव्यदृष्टिके बलमें इतना तीव्र निषेध है कि यह सब परकी ओरका है, मेरा नहीं; चैतन्यता ही मेरे चैतन्यगृहकी है। शुद्ध चैतन्य सो मैं, जितनी अशुद्धता है वह मेरी नहीं, परके ओरकी है। मेरी मंदताके कारण परिणतिमें अशुद्धता आती है तथापि वह मेरी नहीं है।

जिसप्रकार स्फटिक स्वभावसे निर्मल है, उसमें जो मलिनता है वह स्फटिककी नहीं है; मलिनता निमित्तके ओरकी है; तथापि स्फटिक पर्यायमें मलिनरूप परिणमता है। उसी प्रकार मुझमें मलिनताका कोई भाग नहीं है, परन्तु मेरी परिणति मलिन होती है ऐसा ज्ञानी जानते हैं तथा उस परिणतिको स्वयं पलटनेका प्रयत्न भी करते हैं; तथापि दृष्टिका बल ऐसा है कि यह कुछ भी मेरा नहीं है। ज्ञानी जानते हैं कि मैं रागरूप परिणमित हो जाता हूँ, रागमें जुड़ जाता हूँ, वह मेरी मंदता है। राग मेरे घरका नहीं, निमित्तके घरका है, तथापि मेरी परिणति तद्रूप परिणमित हो जाती है, ऐसा जानते हुए भी द्रव्यदृष्टिमें इतना बल वर्तता

है कि यह कुछ भी मेरा है ही नहीं, और उस बलके कारण साथ रही हुई परिणतिको पलटानेका प्रयत्न होता है। जितना प्रयत्न चलता है उतनी शुद्धि होती है; प्रयत्नमें जितनी मंदता है उतनी अशुद्धि बनी रहती है।

मुमुक्षु :—अशुद्धताकी परिणतिका दुःख भी वर्तता है?

बहिनश्री :—'हाँ' उसका दुःख भी वर्तता है। यह मेरी परिणति नहीं है, मेरा स्वभाव नहीं है, तथापि यह परिणति होती है उसका खेद है। आचार्यदेव कहते हैं न! कि खेद है कि इस व्यवहारमें खड़े रहना पड़ता है। ५४७.

प्रश्न :—*गुरु कैसे होने चाहिये? उन्हें कैसे पहिचाने?*

समाधान :—जिन्होंने यथार्थ सत्का स्वरूप प्रगट किया है अर्थात् जो यथार्थ स्वरूपमें परिणमित हो गये हैं तथा जो यथार्थ वस्तुस्वरूप बतलानेवाले हैं, उन्हें सच्चा गुरु कहते हैं।

गुरुको स्वयं यथार्थरूपमें पहिचानकर ग्रहण करना चाहिये। इतनी तो अपनी तैयारी होनी चाहिये। अंतरसे इतनी जिज्ञासा प्रगट करके सत्स्वरूप दर्शानेवाले ऐसे गुरुको स्वयं ग्रहण करना। फिर गुरु जो कहते हैं उसका आशय ग्रहण करके स्वयं उस मार्ग पर चले, तो मार्ग प्रगट होता है। ५४८.

प्रश्न :—*'गुरुके चरणकमलमें रहना' उसका क्या तात्पर्य है?*

समाधान :—गुरुके चरणकमलमें रहना अर्थात् उनके कथनका आशय हृदयमें ग्रहण करना। गुरुका सान्निध्य प्राप्त हो और उनके निकट रहनेका अवसर मिले वह महाभाग्यकी बात है। गुरुके निकट उनकी आज्ञामें रहना हो, उनका आश्रय मिले, उनकी भक्ति, सेवाका सुयोग मिले तथा हृदयसे उस प्रकारकी अर्पणता हो और निकट समागम प्राप्त हो वह महाभाग्यकी बात है। उनकी समीपता, समागम न मिले तो गुरुने जो आज्ञा कही है उसे हृदयमें रखकर, ग्रहण करके तदनुसार वर्तना वही गुरुके चरणकमलको ग्रहण करना है। ५४९.

प्रश्न :—*द्रव्यपर दृष्टि जानेसे पुरुषार्थको वेग मिलता है?*

समाधान :—हाँ; दृष्टिमें निश्चय है कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ', इससे पुरुषार्थको वेग मिलता है; परन्तु साथ ही यदि पर्यायमें ऐसा जाने कि 'मुझे करना कुछ नहीं रहता' तो

पुरुषार्थको वेग नहीं मिलता। दृष्टि स्थिर हुई, परंतु 'पर्यायमें शुद्धता प्रगट करना बाकी है' ऐसा जाने तो पुरुषार्थको वेग मिलता है। दृष्टिमें स्थिरता हो और ज्ञानमें जाने कि 'अभी विभाव हैं उन्हें दूर करना है' तो पुरुषार्थको वेग मिलता है। ५५०..

प्रश्न :— *'सत्पुरुष मिलें' ऐसी इच्छा तो बहुत हो; परंतु ऐसे संयोग न हों अथवा न मिलें उसमें पुरुषार्थकी कमी नहीं आती?*

समाधान :—बाह्यमें सत्पुरुषका मिलना वह पुण्यका कारण है; वे पुरुषार्थसे नहीं मिलते। पुरुषार्थ तो चैतन्यमें कार्य करता है। चैतन्य स्वयं स्वतंत्र है, उसमें स्वभावको प्रगट करना वह अपने हाथकी बात है और सत्पुरुषका योग प्राप्त होना वह पुण्यका प्रकार है; उस प्रकारका पुण्य हो तो योग मिल जाता है, वह पुरुषार्थ करनेसे नहीं मिलता। स्वयं भावना भाये और ऐसा पुण्य बँध जाय तो सत्पुरुष मिल जाते हैं। पुण्य अलग वस्तु है और भीतरमें आत्माको प्रगट करना वह अलग बात है। सत्पुरुषका मिलना वह पुण्यका कारण है। ५५१.

प्रश्न :— *सत्पुरुषका न मिलना वह क्या पापका कारण है?*

समाधान :—सत्पुरुषका न मिलनेका अर्थ अपने उस प्रकारका पुण्यका योग नहीं है, पापका उदय है। इस पंचमकालमें जिनेन्द्रदेव–शास्त्र–गुरुका योग प्राप्त होना दुर्लभ है। साक्षात् देव–शास्त्र–गुरुका नहीं मिलना वह अपने पुण्यकी कमी है; उस प्रकारके पापका उदय है कि इस दुःषमकालमें जन्म हुआ। पुण्य–पापके कारण संयोग होते हैं, वह अपने हाथकी बात नहीं है। अपनी भावना हो और तदनुसार पुण्य बँध जाय तो पुण्यसे सत्पुरुषका सुयोग मिलता है। ५५२.

प्रश्न :— *तत्त्वका यथार्थ निर्णय होनेपर क्या होता है? वह समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—तत्त्वका यथार्थ निर्णय होनेसे वह स्वसन्मुख होता है। इधर भी पाँव और उधर भी पाँव, ऐसे दोनोंमें पाँव रखकर भीतर प्रवेश नहीं होता। थोड़ा बाहरका और थोड़ा (भीतरका) आत्माका रखे, ऐसे करनेसे आत्मा प्राप्त नहीं होता। थोड़ी रुचि परकी और थोड़ी आत्माकी रखनेसे कभी आत्मा प्रगट नहीं होता। सर्व प्रकारसे आत्माकी पूर्ण रुचि रखे, किसी अपेक्षासे किंचित् भी बाहरकी रुचि न हो, तभी आत्मा प्रगट होता है। आत्मद्रव्य ऐसा निरपेक्ष और निर्विकल्प है कि उसमें शरीर नहीं है, विकल्प नहीं है, तथा उसमें बाहरका सुनना–देखना–बोलना ऐसी कोई अपेक्षा नहीं है। वे कोई साधन

नहीं हैं। इसप्रकार जिसे अंतरसे सर्व अपेक्षायें छूट जाती हैं, बाहरकी रुचिकी सब लार टपकना बंद हो जाती है और अंतरकी परिपूर्ण रुचि होती है तभी वह अंतरमें जाता है। बाहरका सब एकदम नहीं छूट जाता, वह सब हो, परंतु बाह्य रुचि तो बिलकुल छूट जाती है। जिसको समस्त बाह्यरस छूट गया है कि मुझे शरीरका कोई साधन नहीं चाहिये, नहीं मुझे कुछ बाहर देखनेका कुतूहल है और न ही कुछ सुननेका, इसप्रकार बाहरसे मुझे कुछ चाहिये ही नहीं। मेरे अंतरमें—मेरे द्रव्यमें—जो है उससे मैं संतुष्ट हूँ। ऐसी रुचि हो तो भीतरसे एकत्व छूटता है और सर्व प्रकारसे आत्मा ही उसका सर्वस्व हो जाता है। आत्मा ऐश्वर्यवान् है उसे स्वयं देखा तो नहीं है, अनुभूतिमें भी नहीं आया है तथापि उससे पूर्व ही ऐसा विश्वास कर लेता है कि चैतन्यका स्वघर ही मेरा घर है; उसे ऐसा लगता है कि बाह्य ऐश्वर्यकी अपेक्षा चैतन्यका ऐश्वर्य कोई अनोखा है! उस ऐश्वर्यकी महानतामें वह कोई शंका नहीं करता। बाह्य ऐश्वर्य छूट जायगा और आत्माके ऐश्वर्यमें कोई न्यूनता होगी तो? वह इससे अल्प होगा तो?—ऐसी शंका नहीं करता।

जैसे मनुष्यका जिस प्रकार जिस घरमें लालन-पालन हुआ हो वह घर चाहे जैसा हो तब भी अन्यका-धनवान्का घर देखकर उसे असंतोष नहीं होता; अपने घरमें संतुष्ट रहता है; वैसे ही चैतन्यका निजगृह ही मेरा गृह है, ऐसा विश्वास आने पर अन्य सब छूट जाता है और उसे अंतरसे संतोष आ जाता है। बाह्य ऐश्वर्य चाहे जैसे हों तथापि मेरा जो ऐश्वर्य है वही मुझे चाहिये, इतना संतोष अंतरसे होता है; सभी जगहसे रुचि हटकर एक आत्माकी ही रुचि हो जाये तो आत्मदेव अंतरसे प्रगट होता है, अन्यथा प्रगट नहीं होता।

(यथार्थ निर्णयवाला) ऐसी शंका नहीं करता कि बाहरका सब छूट जाय तो भीतर क्या होगा? उसे अभी भीतर कुछ दिखायी नहीं देता परंतु श्रद्धा बराबर करता है। आत्मामें अनंतानंत गुण हैं और वे दृष्टिगोचर नहीं हैं, तो अंतरमें क्या होगा?—ऐसी शंका उसे नहीं होती। चैतन्यदेव जो कि परिपूर्ण है उस चैतन्यदेवका घर ही मुझे चाहिये। बाह्यमें चाहे जैसा हो उसकी मुझे कोई अपेक्षा नहीं है, मुझे तो अपना निजगृह ही चाहिये। दूसरोंका मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, दूसरोंका भले-ही चाहे जैसा हो वह उनका घर उनके (पास) रहा, मुझे तो अपना ही चाहिये, ऐसी भीतर तृप्ति सहित, भीतरसे ऐसा निर्णय और रुचि करके, विश्वास करके आगे बढ़ता है। एकबार ऐसी श्रद्धा करे कि यह चैतन्य अनुपम है, फिर किसी शंकामें नहीं रुकता। राजाका महल मेरे किस कामका?

मुझे तो अपना निजगृह चाहिये। वैसे ही जडकी शक्ति जडमें रही, वह किंचित्मात्र मुझे नहीं चाहिये। अपनी चैतन्यशक्ति ही मुझे चाहिये। यह विभाव तो दुःखका घर है और परद्रव्य है, उसे लेने जाऊँ तो वह मेरा नहीं होता उलटा दुःखका कारण बनता है, इसप्रकार अंतरसे परिपूर्ण रुचि प्रगट हो तभी एकत्वबुद्धि छूटती है, अन्यथा नहीं छूटती।

(यथार्थ निर्णयवाला) फिर कहाँसे चलायमान होगा? क्योंकि वह ऐसी श्रद्धा करके आगे बढ़ा है कि फिर च्युत नहीं होता, क्योंकि जडमें कोई विशेषता है ही नहीं। उसे भीतरका भले-ही दिखता नहीं, तथापि विश्वास करके अंतरमें जाता है।

अंतरमें दिखता नहीं है, अनुभव नहीं है, तथापि स्वयं अमुक न्यायोंसे श्रद्धा करता हुआ, गुरुवचनों पर श्रद्धा रखता हुआ, आगे बढ़ता रहे तो समस्त बाह्य रुचि छूट जाती है। मुझे तो अपना जो 'स्व' है वही चाहिये, अन्य कुछ नहीं चाहिये, ऐसी (विकल्पमें) श्रद्धा करता हुआ आगे बढ़ता है। उसे अभी दिखता नहीं है, तब भी श्रद्धा करके आगे बढ़ता है और ऐसी दृढ़ श्रद्धापूर्वक आगे बढ़ी हुई परिणति वापिस लौटती नहीं। उसे अंतरमेंसे रागकी रुचि छूट जाती है।

उसे गुरुवचनों पर विश्वास है और स्वयं अंतरमें अमुक अपने स्वभावसे निश्चित करता है। इसप्रकार दृढ़ युक्तिके अवलंबनसे निर्णय करके आगे बढ़ता जाता है। शास्त्रमें आता है न? कि आगम, युक्ति एवं स्वानुभूति द्वारा निर्णय करना। पहले स्वानुभूति नहीं होती, परंतु प्रथम गुरुके उपदेशसे आगम और युक्तिसे निर्णय करके विश्वास करता है। ५५३.

प्रश्न :—*क्या ज्ञानीको वैराग्य परिणति शांतिरूप है?*

समाधान :—वैराग्य परिणति शांतिरूप है। वैभाविक प्रवृत्तिसे निवृत्ति हो तथा स्वाभाविक परिणति प्रगट हो सो वैराग्य है। सच्चा वैराग्य उसे कहते हैं कि अंतरमें ज्ञायककी परिणति उत्पन्न हो और विभावोंसे विरक्ति हो जाय। वह वैराग्य शांतिमय दशा है। दुःखगर्भित वैराग्यकी जाति भिन्न है, वह दुःखरूप परिणति है। ५५४.

प्रश्न :—*उपयोग अंतरमें कब जाता है?*

समाधान :—जिसे बाह्यमें कहीं सचमुच न रुचे, वास्तवमें रुचता ही न हो, तब उपयोगको रहनेका अन्य कोई स्थान नहीं रहता। उपयोग कहाँ स्थिर हो? कि जहाँ रुचि हो वहाँ। बाह्यमें कहीं रुचता ही नहीं और रागका प्रेम छूट जाय तो, वास्तवमें उसे रुचिपूर्वक

राग होता ही नहीं। सचमुच अन्यत्र कहीं न रुचे तब फिर ज्ञानका उपयोग कहाँ रुकेगा? पहले तो शुभाशुभभावमें रुकता था और बाह्य ज्ञेयोंके साथ राग-द्वेषादि होते थे, अब कहीं नहीं रुचता है तो ज्ञानका उपयोग कहाँ जायगा?—स्वरूपकी ओर जायगा। यदि वास्तवमें उसका रस टूट गया हो, कहीं भी खड़ा रहना अच्छा नहीं लगता हो तो अब जाना कहाँ? किसके आश्रित रहना? यह बाह्य आश्रय तो अच्छा नहीं लगता तथा शुभाशुभभावका आश्रय भी ठीक नहीं लगता तो कहाँ जाना?—वह स्वयं अपने चैतन्यका आश्रय ढूँढ़ लेगा और अंतरमें गये बिना नहीं रहेगा, वह अंतरका आश्रय खोज लेगा। यदि बाह्यमें टिक नहीं सके तो स्वभावका आश्रय ढूँढ़ लेगा। ५५५

प्रश्न :—*ज्ञानी चौबीसों घंटे क्या करते हैं?*

समाधान :—ज्ञानीको चौबीसों घंटे ज्ञायकका आश्रय तथा उसकी परिणति बनी रहती है। उसका उपयोग (उसकी) दशाके प्रमाणमें बाह्यमें जाता है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थदशामें हो तो गृहस्थीके कार्योंमें उसका उपयोग जाता है, परंतु उसकी परिणति तो निरंतर चैतन्यके आश्रित ही रहती है। उसने चैतन्यका ही आश्रय लिया है, बाह्यका आश्रय छूट गया है। भले ही बाह्य क्रियायें होती रहें, परंतु आश्रयके लिये तो चैतन्यगृह मिल चुका है। जैसे अपने घरमें खड़ा हुआ व्यक्ति अपने घरको नहीं छोड़ता, निरंतर अपने घरमें ही स्थित रहता है। घरके बाहर अनेक लोग आयें, उनके साथ बोले-चाले, सर्व प्रकारका व्यवहार करे, परंतु स्वयं अपने घरको छोड़कर कहीं नहीं जाता, घरमें ही स्थित है। उसी प्रकार ज्ञानीको चौबीसों घंटे चैतन्यका आश्रय नहीं छूटता। उपयोग बाहर जाता है, सब व्यवहार करता दिखाई देता है, देव-शास्त्र-गुरुकी पूजा-भक्ति आदि कार्योंमें संलग्न दिखाई देता है, परंतु आश्रय तो चैतन्यका ही है। ५५६.

प्रश्न :—*सम्यग्दृष्टिको अंतरंग शुद्धि बढ़ती रहती है?*

समाधान :—भूमिकानुसार अंतरंग शुद्धि अमुक प्रमाणमें बढ़ती जाती है। उसे भेदज्ञान वर्तता है, स्वरूपाचरण चारित्र है, अनंतानुबंधी कषायका अभाव हो गया है और शुद्धिमें वृद्धि हो रही है; चौबीसों घंटे चैतन्यका आश्रय है; उपयोग बाहर जाता हो तब भी उसकी डोर स्वयं स्वरूपकी ओर खींचता रहता है; प्रतिक्षण डोरको अपनी ओर खींचता है। उपयोगकी डोरको स्वरूपकी मर्यादा छोड़कर बाहर नहीं जाने देता। डोर अपने हाथमें रखता है। उपयोग भले ही बारम्बार बाहर जाय, परंतु डोर स्वरूपकी ओर खींचाती रहती है।

जैसे पतंगकी डोर हाथमें है और उसे बारंबार अपनी ओर खींचता है, उसी प्रकार उपयोगकी डोरको अपनी ओर खींचता रहता है। स्वरूपका आश्रय है, द्रव्य पर दृष्टि एवं ज्ञान है, तथा चारित्रकी लीनतामें उपयोगकी डोरको बारंबार अपनी ओर खींचता रहता है, प्रतिक्षण खींचता है। स्वरूप छोड़कर उपयोगको विशेष बाहर नहीं जाने देता। उसकी परिणतिका कार्य प्रतिक्षण चलता ही रहता है, वह कार्य कभी नहीं छूटता। स्वानुभूतिकी निर्विकल्पदशा तो जुदी ही है; परंतु बाहर खड़े-खड़े अपनी डोरको स्वरूपकी ओर खींचता ही रहता है। उपयोग बाह्य क्रियाओंमें दिखे अर्थात् देव-शास्त्र-गुरुकी पूजा, भक्ति, शास्त्र स्वाध्याय, श्रवणादिमें जुडे, परंतु उसकी डोर अपने हाथमें ही है; उसे बाहर शुभाशुभ कार्योंमें ज्यादा नहीं जाने देता। ५५७.

प्रश्न :—*क्या ज्ञानीको राग काले नाग जैसा लगता है?*

समाधान :—हाँ, काले नाग जैसा लगता है। अपने स्वरूपको छोड़कर बाहर जाना वह काले नाग जैसा लगता है। यह विभाव सचमुच हमारा देश नहीं है, हम यहाँ कहाँ आ पहुँचे? हमारा चैतन्य-देश तो जुदा ही है! यह राग तो विषधर सर्प जैसा लगता है। ५५८.

प्रश्न :—*मुमुक्षुके हाथमें कौनसी डोर है?*

समाधान :—मुमुक्षुके हाथमें प्रतिक्षण रुचिके पुरुषार्थकी डोर होती है। मुमुक्षुको रुचिकी डोर हाथमें रखनी चाहिये। रुचि मंद न हो जाय वह देखना चाहिये, तथा वैसे कार्योंमें भाग नहीं लेना चाहिये कि जो मुमुक्षुको शोभा न दे।

आत्मार्थीका प्रयोजन तो एकमात्र यह है कि मुझे कैसे आत्मा प्राप्त हो? प्रत्येक कार्यमें, मुझे आत्मा कैसे मिले, वह प्रयोजन साथमें रहता है। बीचमें अन्य मानादि लौकिक कार्योंका प्रयोजन न आ जाय वैसी तीव्र आत्मरुचि (जागृति) अंतरमें उसे होती है। ज्ञानीकी तो बात ही और है, वह तो उपयोगकी डोरको अंतरकी ओर खींचता ही रहता है। मुमुक्षुको भी आत्मरुचि—आत्मप्रयोजन—के सिवा अन्य कोई प्रयोजन नहीं होता। स्वयं पुरुषार्थ नहीं कर सकता, परंतु प्रयोजन तो आत्माका है। ५५९.

प्रश्न :—*शुभाशुभभाव जिसे न रुचे उसे मार्ग मिलता है या नहीं?*

समाधान :—जिसे शुभाशुभभाव नहीं रुचते हों उसे अंतरंग मार्ग न मिले ऐसा

नहीं हो सकता। जिसके अंतरमें सच्ची लगन लगी हो उसको मार्ग प्राप्त हुए बिना नहीं रहता; उसे ज्ञायक ग्रहण हुए बिना रहता ही नहीं। यदि शुभाशुभभावोंमें सचमुच अंतरमें आकुलता लगती हो और कहीं चैन नहीं पड़ता हो तो वह आत्माको ग्रहण किये बिना नहीं रहता, वह मार्ग खोज ही लेता है। गुरुदेवने मार्ग स्पष्ट बतलाया है और यदि हम उसे ग्रहण न कर सकें तो हमारे पुरुषार्थकी खामी है। यदि वास्तवमें दुःख लगा हो तो मार्ग ग्रहण किये बिना नहीं रहता। सच्ची भूख लगी ही नहीं है, इसलिये ग्रहण नहीं करता। ५६०.

प्रश्न :—*मुमुक्षुकी भूमिकामें शुभभाव कैसा होता है?*

समाधान :—मुमुक्षुको एकत्वबुद्धि है, जुदा नहीं पड़ा है। वह मानता है कि यह शुभाशुभभाव मेरा स्वरूप नहीं है, आत्मा जुदा है, निर्विकल्पस्वरूप है, ज्ञायक–जाननेवाला है; परंतु उसकी परिणति प्रगट नहीं हुई इसलिये वह शुभभावमें खड़ा है। उसने विचार करके जो निर्णय किया है कि 'यह (शुभ) भाव वह मेरा स्वरूप नहीं है' उस निर्णयको साथमें रखकर, इससे मुझे धर्म होता है, यह सर्वस्व है ऐसा मुमुक्षु नहीं मानता। उसे आत्मा न्यारा नहीं रहता, एकत्वबुद्धि हो जाती है, तथापि मान्यता ऐसी रखता है कि 'यह सर्वस्व नहीं है, हेय है, मेरा स्वभाव नहीं है'। वह ऐसा विचारोंमें तो रख सकता है परंतु आत्माका ग्रहण नहीं हुआ है, तो वैसेमें वह खड़ा कहाँ रहे? इसलिये शुभभावमें खड़ा है। 'आत्माका ही करने जैसा है, यह (शुभभाव) मेरा स्वभाव नहीं है, इस विकल्पात्मक परिणतिमें सुख नहीं है, निर्विकल्पस्वरूप जो आत्मा है उसीमें सुख है' ऐसी रुचि रखता है तथापि कार्यमें एकत्वबुद्धि होती है। विचारमें हो, निर्णयमें हो परंन्तु उसकी परिणति पृथक् नहीं हुई। जो कुछ समझते नहीं हैं वे एकत्वबुद्धिसे (शुभभावमें) सर्वस्व मानते हैं, उनकी मान्यता ही जुदी है। उनकी तो विचारपूर्वक भी मान्यता बराबर नहीं है। मुमुक्षुने विचारपूर्वक निर्णय किया है इसलिये आगे बढ़नेका अवकाश है। लगन लगाये तो आगे बढ़नेका अवकाश है। ५६१.

प्रश्न :—*कैसा दुःख लगे तो आत्मा प्राप्त हो?*

समाधान :—दुःख अर्थात् बहुत आकुलता करे ऐसा नहीं। अंतरसे अपनी परिणति ऐसी हो जाय कि वह कहीं न टिके। अंतरमें अपनेको ऐसा लगना चाहिये कि

मुझे तो और ही कुछ चाहिये, कहीं भी शांति नहीं है। कृत्रिमरूपसे दुःख है.....दुःख है.....ऐसा कहता रहे तो उसे दुःख लगा नहीं कहा जाता। जो आत्माको पहिचाने उसे अनुकूलता भी दुःखमय लगती है। अनुकूलता भी कहीं आत्माको सुख देनेवाली नहीं है, वह भी आकुलतारूप है, अपना स्वभाव नहीं है। अनुकूलता, विभावकी उपाधि है। स्वर्गके सुख भी उपाधि हैं, वह आत्माको सुखरूप नहीं है। सम्यग्दृष्टि स्वर्गलोकमें हो, परंतु उसे अंतर आत्मामें सुख लगता है, बाह्यमें कहीं सुख भासित नहीं होता। अनुकूलताके ढेर हों तब भी सम्यग्दृष्टिको कहीं सुख नहीं लगता। अनुकूलतामें वह आकर्षित नहीं हो जाता और प्रतिकूलतामें आकुलित नहीं होता, उसमें शांति रखता है। अज्ञानदशामें अनुकूलताके समय भ्रांतिके कारण 'इसमें सुख है' ऐसा माना है इसलिये अज्ञानी वहाँ आकर्षित हो जाता है। किसीको वैराग्य आये तो उसे ऐसा लगता है कि अनुकूलता कहीं आत्माका स्वरूप नहीं है, परंतु अंतरसे जो लगना चाहिये वह जुदी बात है। अनुकूलतामें भी आकुलता और उपाधि है। जितना बाहरसे आये वह आत्माको सुखरूप नहीं है। स्वयं आत्मस्वभावमेंसे—अंतरमेंसे—जो सुख आये वही सच्चा सुख है। ५६२

प्रश्न :—*क्षयोपशमज्ञानमें वृद्धि हो तो लाभ होता है?*

समाधान :—क्षयोपशमज्ञानका प्रयोजन नहीं है, एक आत्माका प्रयोजन है। विशेष क्षयोपशम हो तो अधिक लाभ हो अर्थात् मुक्तिका मार्ग प्रगट हो या मोक्ष हो जाय ऐसा नहीं है। क्षयोपशमकी इच्छा रखनेकी अपेक्षा मुझे आत्मा कैसे प्रगट हो? भेदज्ञान कैसे हो?—ऐसी भावना होनी चाहिये। अल्प क्षयोपशम हो तब भी भेदज्ञान और स्वानुभूति होती है। प्रत्येकको एक ही प्रकारका क्षयोपशम नहीं होता, सबको अपनी योग्यतानुसार क्षयोपशम होता है, परन्तु क्षयोपशमकी इच्छा लाभकारी नहीं होती। प्रयोजनभूत आत्माको जाने उसमें सब आ जाता है। अनेक शास्त्र पढ़े–घोखे तो आत्मा पहिचाननेमें आये ऐसा नहीं है। शास्त्रज्ञान निमित्त बनता है, विशेष जाननेका कारण होता है, परंतु क्षयोपशम अधिक हो तभी आगे बढ़ सके ऐसा नहीं है। शिवभूति मुनि बहुत कम जानते थे, तथापि वे आगे बढ़ गये। प्रयोजनभूत भेदज्ञान करना जाने तो भवका अभाव हो, आत्माकी पहिचान हो, स्वानुभूति हो। उसका क्षयोपशमके साथ सम्बन्ध नहीं है। ५६३.

प्रश्न :—*जिसे आत्माको समझनेकी सच्ची प्यास लगे उस जीवकी स्थिति कैसी होनी चाहिये?*

समाधान :—सच्ची प्यास लगी हो तो अंतरमें प्रयास किये बिना रहता ही नहीं, प्रयास करता ही है। प्यास लगी हो तो जहाँ श्रवण करनेको मिले वहाँ जाय। और भगवान् तथा गुरु क्या कहते हैं उसका विचार करे, भीतरसे भेदज्ञान करनेका प्रयास करे। यदि सच्ची प्यास लगी हो तो 'मैं ज्ञायक हूँ ....मैं ज्ञायक हूँ..... विभाव मेरा स्वभाव नहीं है' ऐसे ज्ञायकको प्रगट किये बिना रहता ही नहीं। जैसे बाह्यमें अपने किसी कार्यमें कोई कठिनाई लगे तो सब दूर करके, गौण करके, भी अपना कार्य करता है। वैसे ही यहाँ सच्ची प्यास नहीं लगी है, प्यास लगी हो तो प्रयास होता ही है, कोई पूछता है कि कैसे करें? क्या करें? बहुत करते हैं तो भी कार्य नहीं होता। किंतु वह बहुत करता ही नहीं है। प्यास लगी हो तो प्रयत्न होता ही है, कार्य हुए बिना रहता ही नहीं। ५६४.

प्रश्न :—*प्यास लगी है यह कैसे पता चले?*

समाधान :—जिसे प्यास लगी हो वह प्रयत्न करता ही है। यदि प्रयत्न नहीं करता तो समझना कि प्यास नहीं लगी है। सच्ची प्यास लगी हो तो प्रयत्न जरूर करता है। ५६५.

प्रश्न :—*आपने कहा था कि दिन-रात ऐसी लगन लगनी चाहिये कि खाना-पीना भी अच्छा न लगे बस....! एक आत्मा ही चाहिये। ऐसी लगन लगाने जाते हैं तो बीचमें कोई न कोई प्रतिकूलता आ जाती है; तो लगन लगायें कैसे?*

समाधान :—जिसे लगन लगे, उसे अपनी लगनमें कोई भी वस्तु विघ्न नहीं करती। जिसे लगन लगे उसे खाना, पीना, सोना, घूमना-फिरना नहीं रुचता। वह खाता है, पीता है सब कुछ करता है, फिर भी 'मुझे आत्मा चाहिये' ऐसा उसे भीतरमें लक्ष्य रहता है। वह जहाँ भी जाता है, वहाँ 'मुझे आत्मा चाहिये' ऐसी भीतरमें उसे खटक-उत्कंठा रहती है। ऐसी लगन लगे तो पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। उसको कहीं भी चैन नहीं पड़ता। कोई बाधा डाले तो भी वह पुरुषार्थ करके भीतरमें चला जाता है। बाह्य कोई वस्तु प्रतिबंधरूप नहीं होती। भीतर पुरुषार्थ करे उसे कोई बाह्य वस्तु बाधक नहीं बन सकती। वह भीतरमें गये बिना नहीं रहता। ५६६.

प्रश्न :—*दृष्टिमें मैं ज्ञायक हूँ, राग मेरा स्वभाव नहीं है, मैं रागका कर्ता नहीं हूँ—इसप्रकार भेदज्ञानका अभ्यास करे, वह तो बराबर है न?*

समाधान :—इसप्रकार अभ्यास करना वह बराबर है। दृष्टिमें ज्ञायकको रखना। दृष्टिकी अपेक्षा रागका कर्ता नहीं है, राग अपना स्वभाव नहीं है। ज्ञानमें ऐसा रहता है कि मेरी पर्यायमें राग होता है और वह मेरे पुरुषार्थकी मंदतासे होता है। दृष्टिमें ऐसा आये कि 'मैं ज्ञायक हूँ' और ज्ञानमें ऐसा आये कि 'मेरे पुरुषार्थकी मंदतासे राग होता है।' उससे पृथक् होनेका प्रयत्न करे। क्षण-क्षण जो विभावपर्याय प्रगट होती है उसके साथ ही 'मैं ज्ञायक भिन्न हूँ' इसप्रकार अंतरसे समझकर परसे एवं विभावसे पृथक् होनेका—भेदज्ञानका—प्रयास करे तो वह बराबर है। ५६७.

प्रश्न :—*मैं ज्ञायक ही हूँ, ऐसी सच्ची दृष्टिमें, रागका सर्वथा कर्ता नहीं हूँ—ऐसा लिया जा सकता है क्या?*

समाधान :—दृष्टि अपेक्षासे लिया जा सकता है। ज्ञानपूर्वक दृष्टिमें ऐसा आता है। मैं जो अनादि-अनंत शाश्वत ज्ञायक हूँ, उसमें अशुद्धता लगी ही नहीं है। यदि उसमें अशुद्धता लगी हो तो वह कभी दूर न हो, इसलिये अशुद्धता लगी ही नहीं है। दृष्टिकी अपेक्षासे मैं सर्वथा शुद्ध हूँ; द्रव्य-अपेक्षा सर्व प्रकारसे मैं शुद्ध हूँ, अशुद्धता सर्वथा नहीं है, दृष्टिमें तो वह अपेक्षा पूर्णरूपसे है, परन्तु पर्यायमें अशुद्धता है उसे ज्ञान बराबर जानता है। इसलिये पुरुषार्थकी डोरसे उसमेंसे छूटनेका प्रयत्न करता है। ५६८.

प्रश्न :—*परिणामी द्रव्य परिणामका कर्ता है यह तो ज्ञानमें बराबर रखा है और दृष्टिमें मैं ज्ञायक ही हूँ, ज्ञायक सर्वथा रागका अकर्ता है अर्थात् दृष्टि अपेक्षासे मैं रागसे सर्वथा भिन्न हूँ—ऐसा लिया जा सकता है?*

समाधान :—द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे द्रव्य, रागसे सर्वथा भिन्न है, सर्वथा ही भिन्न है, अनादि-अनंत सर्वथा भिन्न है; उसमें अन्य कोई अपेक्षा नहीं रहती। जिस प्रकार स्फटिकमणि सर्वथा निर्मल ही है, परंतु उसकी पर्यायमें—वर्तमान परिणतिमें—लालिमा है, वैसे ही चैतन्यद्रव्यके मूलमें—ज्ञायकमें—अशुद्धता सर्वथा प्रविष्ट नहीं हुई है, परंतु उसकी पर्यायमें अशुद्धता है वह उसके ज्ञानमें है। दृष्टिमें शुद्ध ज्ञायक है। द्रव्यमें अशुद्धता तो नहीं है, परंतु अपूर्ण-पूर्ण पर्यायकी अपेक्षा तथा किसी भेदकी अपेक्षा भी नहीं है। ५६९.

प्रश्न :—*स्वभाव-अपेक्षासे मैं क्षयोपशम ज्ञानसे भिन्न हूँ, ऐसा लिया जा सकता है?*

समाधान :—हाँ; स्वभावकी अपेक्षा क्षयोपशम ज्ञानसे भिन्न हूँ। क्षयोपशम ज्ञान कर्मके निमित्तकी अपेक्षा रखता है, इसलिये वैसी अपेक्षा भी मुझमें नहीं है। मैं तो ज्ञायक सो ज्ञायक हूँ। ५७०.

प्रश्न :—*शुद्ध हूँ और अशुद्ध भी हूँ, ऐसे दोनों विरुद्धभाव एक ही समयमें साथ रहते हैं?*

समाधान :—हाँ; साथ रहते हैं। एक ही समयमें दोनों प्रकारके भावोंका विचार करें तो विरोधी लगते हैं, तथापि साथ रहते हैं। एक द्रव्य अपेक्षासे और एक पर्याय अपेक्षासे—इसप्रकार दोनों भाव साथ रहते हैं; ऐसा आश्चर्यकारी अचिंत्य द्रव्य है। एकता–अनेकता, शुद्धता–अशुद्धता आदि सर्व भाव एकसाथ रहते हैं। पर्याय अपेक्षासे अशुद्धता है, शक्ति अपेक्षासे शुद्धता है। अशुद्धता मूल वस्तुको हानि नहीं पहुँचाती; उसके वेदनमें अशुद्धताका वेदन होता है। ५७१.

प्रश्न :—*रागके कर्तृत्वकी बुद्धि मिटाना तथा राग–द्वेष नहीं करना, यह दोनों बातें ज्ञानमें बैठ जाती हैं; परंतु शुद्धात्माका आलंबन लेनेकी बातका तो भाव ही समझमें नहीं आता; फिर प्रयोग कैसे करें?*

समाधान :—शुद्धात्माका आश्रय लिये बिना वास्तवमें कर्तृत्व नहीं छूटता। जो अकर्ताका–शुद्धात्माका आश्रय ले वह अकर्तारूपसे—ज्ञायकरूपसे—परिणमता है और तब उसे वास्तविक अकर्तापना आता है। उसे (समझमें भले ही) ऐसा लगे कि मैं इस परद्रव्यका कर्ता नहीं हूँ, रागका कर्तृत्व छोड़ दूँ, परंतु उसका कर्तृत्व नहीं छूटता है; (क्योंकि) ज्ञायकका आश्रय ले और अकर्तारूपसे परिणमित हो तभी कर्तृत्व छूटता है। परद्रव्यका और रागका कर्तृत्व छोड़ना वह तो सरल है ऐसा उसे बुद्धिमें लगता है, विचारमें भी वैसा आता रहता है कि मैं परद्रव्यका या रागका कर्ता नहीं हूँ, परंतु वह विचारमें ही रहता है; वस्तुतः उसे रागका कर्तृत्व नहीं छूटता। शुद्धात्माके आलंबन बगैर सच्चा अकर्तापना नहीं आता। शुद्धात्मा स्वयं है, उसे कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता। रागकी पर्यायका वेदन होता है इसलिये वह पकड़में आती है कि यह रागकी पर्याय है और बुद्धिमें मानता है कि मैं इसका कर्तापना मान रहा हूँ; परंतु जो ज्ञानस्वभावी शुद्धात्मा स्वयं है उसे नहीं पकड़ पाता। राग और ज्ञान दोनों साथ होते हैं, उनमेंसे रागको पकड़ता है किन्तु उसके साथ रहे हुए ज्ञानको नहीं पकड़ता! स्वयं ज्ञान है,

स्वयं शुद्धात्मा ज्ञानस्वरूप ही है, तथापि अपनेको छोड़कर सब ग्रहण करने जाता है! रागके साथ ज्ञान मौजूद है किंतु उसे पृथक् नहीं कर सकता कि यह ज्ञान है और यह राग है। वह करना सरल है, परंतु अनादिसे रागके साथ एकत्वबुद्धि होनेके कारण रागसे पृथक् होना कठिन लगता है। स्वयं ही है, उसे खोजने जाना पड़े ऐसा नहीं है। जो ज्ञान है वही ज्ञायक है। वह ज्ञान कहाँसे उत्पन्न हुआ है?—वह ज्ञायकका ज्ञान है। ज्ञानलक्षणद्वारा पूर्ण ज्ञायकको ग्रहण कर, शुद्धात्माको ग्रहण कर। जैसे बैलगाड़ीके नीचे चलनेवाले कुत्तेको ऐसा लगता है कि मैं ही यह गाड़ी चला रहा हूँ, वैसे ही दूसरोंके कार्य मानो मैं ही कर रहा हूँ ऐसा उसे स्थूलरूपसे पकड़में आता है। उससे राग सूक्ष्म है, तथापि रागका वेदन होता है इसलिये उसे ग्रहण करता है; परंतु ज्ञान उसे दिखाई नहीं देता। वास्तवमें तो ज्ञान दिखाई दे वैसा ही है, जो जान रहा है वह तू ही है। रागका वेदन हो, उस वेदनको जाननेवाला कौन है?—वह स्वयं ज्ञात हो ऐसा है, परंतु उसे नहीं जानता। रागसे सूक्ष्म ज्ञान है इसलिये उसका ग्रहण करना कठिन लगता है; (किंतु) सरल है; सूक्ष्म होकर अपनेको ग्रहण करे तो पकड़में आये ऐसा है। ५७२.

प्रश्न :—*तो ऐसा कौनसा पुरुषार्थ करना?*

समाधान :—अपनेको अंतरसे उतनी ज्ञायककी भावना, जिज्ञासा, लगन, रुचि जागृत हो तो सूक्ष्म होकर स्वयंको ग्रहण करे। कब ग्रहण करे? कि जब अपनी महिमा आये, अपनी लगन लगे, जिज्ञासा हो कि 'यह सब जाननेमें आता है' तो मैं अपनेको क्यों नहीं जानता?—ऐसे पुरुषार्थ करे, ज्ञान करे, बारंबार तत्त्वको–चैतन्यको ग्रहण करनेके विचार करे तो ग्रहण हो। लगन लगानी चाहिये, दिन–रात उसकी लगन लगाये तो ग्रहण होता है। परंतु उपयोग अनादिसे स्थूल हो जानेके कारण उसे स्वसन्मुख करनेमें कठिनाई पड़ती है। ५७३.

प्रश्न :—*शरीर, राग तथा ज्ञानस्वरूपी आत्मा ऐसे एकमेक लगते हैं कि उन्हें पृथक् करनेमें मुश्किल पड़ती है।*

समाधान :—जाननेवाला स्वयं होनेपर भी उसे ग्रहण करना मुश्किल पड़ता है। ज्ञानलक्षण बतला रहा है कि 'मैं यह रहा', परंतु स्वयं लक्ष्यमें नहीं लेता। जाननेवाला जुदा है। राग आत्माको नहीं जानता, और राग रागको भी नहीं जानता; तथा शरीर तो जड है। विचार करे तो जाननेवाला स्वयं दिखाई दे वैसा है, समझमें आये वैसा है कि जाननेवाला

स्वयं ही है। जाननेवाला स्वयं अपना लक्षण बतला रहा है; परंतु स्वयं धीर होकर खड़ा नहीं रहता। विभावकी परिणति जो तीव्र गतिसे चल रही है उसके साथ वेगपूर्वक दौड़ रहा है; इसलिये वैसेमें उसे रागसे विभक्त होना कठिन पड़ता है। राग मंद करे तो अशुभमेंसे शुभमें आता है; परंतु पृथक् नहीं होता। उसे एकके बाद एक विभाव-चक्र (जंजाल) चलता ही रहता है; उसमेंसे उसे खड़े रहकर, स्थिर रहकर, न्यारा रहकर जुदा पड़ना मुश्किल पड़ता है। ५७४.

प्रश्न :—*हम ऐसा कौनसा पुरुषार्थ करें कि आगामी कालमें हमें गुरुदेवके तथा आपके सान्निध्यका योग प्राप्त हो?*

समाधान :—परद्रव्यके प्रति वर्तते मोहको तोड़ डालनेके लिये ऐसा निश्चित करे कि अंतरमें एक आत्मा ही सर्वस्व है, अन्य सर्व निःसार है। मैं आत्मा शाश्वत हूँ, यह कोई भी परद्रव्य मेरा नहीं है। जीव निरर्थक ही मेरा-मेरा करता है; परंतु यह शरीर, घर-कुटुंब, तथा धन-सम्पति आदि कोई भी, बाह्य वस्तु अपनी नहीं है। सब कुछ सँभाल-सँभालकर भले रखता हो, किंतु एक क्षणमें सबको छोड़ स्वयं चला जाता है और सब यहीं का यहीं धरा रह जाता है। इसलिये अन्य कोई वस्तु सारभूत नहीं है। उन सबकी ममता छोड़कर एक चैतन्यकी रुचि और महिमा बढ़ाना। इसप्रकार, आत्मामें जो संस्कार डाले हों वे साथ आते हैं और उनके साथ जो शुभभाव होते हैं उनसे पुण्य-बंध होता है कि जिसके कारण अच्छे योग अर्थात् गुरुदेव और जिनेन्द्रदेवका सुयोग प्राप्त होता है। ५७५.

प्रश्न :—*अनुभव होनेसे पूर्व मुमुक्षु सच्चे ज्ञान-वैराग्य कर सकता है?*

समाधान :—पहले ज्ञान-वैराग्य कर सकता है, परंतु वास्तविक यथार्थपना तो उसे सम्यग्ज्ञान हो तभी कहनेमें आता है। तथापि उस यथार्थपनेकी भूमिका मुमुक्षुपनेमें हो सकती है। यथार्थपना प्रगट हो उससे पूर्व यथार्थपनेकी भूमिका होनेसे, वह यथार्थपनेके मार्गपर जा सकता है। सम्यग्दर्शनमें जैसी गहरी प्रतीति और आत्माका यथार्थ आश्रय ग्रहण होता है वैसा, वहाँ अभी नहीं है; फिर भी वह यथार्थ मार्गपर जा सकता है, मार्गानुसारी हो सकता है। 'यह शुभाशुभभाव मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा स्वरूप तो एक चैतन्यतत्त्व है जो कि अद्भुत-अपूर्व महिमावंत है; उसकी महिमा प्रगट हो तथा शुभाशुभभाव दोनों आकुलतामय-दुःखमय हैं' ऐसे विचारपूर्वक वह यथार्थ ज्ञान-वैराग्य प्रगट कर सकता है, जिसके पीछे उसे सम्यग्दर्शन अवश्य प्राप्त हो ऐसी भूमिका प्राप्त कर सकता है।

जहाँ पानी भरा है वहाँ नहीं पहुँचा हो, तथापि पानीका अमुक लक्षणोंसे निर्णय कर लेता है कि पानी निकट है; वैसे ही यह जीव, ज्ञायकस्वभाव–ज्ञातातत्त्व कोई अनूठा–अद्भूत तत्त्व है, उसके अनुभव तक अभी पहुँच नहीं पाया है तथापि उसका अमुक प्रकारसे निर्णय कर सकता है। तत्संबंधी ज्ञान–वैराग्य–विरक्ति, उस भूमिकामें भी, सच्चे मार्गपर ले जा सकते हैं। अंतरमेंसे अपूर्व रुचि हो, अपूर्व देशनालब्धि प्राप्त हो जाय कि मार्ग तो यही है; शुभाशुभभावसे भिन्न एक आत्मा वह कोई निराला तत्त्व है और वही सर्वस्व है; बाहर कहीं सर्वस्वता नहीं है; एक आत्माके सिवा बाह्यमें कहीं विशेषता नहीं लगे, जगत्की कोई भी वस्तु अलौकिक नहीं लगे और एक आत्मा ही अलौकिक तत्त्व है—ऐसी अपूर्व रुचि करके वह यथार्थ मार्गपर जा सकता है। ५७६.

प्रश्न :—*भेदज्ञानमें क्या सिद्ध होता है और उसका स्वरूप क्या है?*

समाधान :—भेदज्ञानमें दूसरा द्रव्य साबित होता है, विभाव साबित होते हैं और मैं विभावोंसे जुदा हूँ ऐसा प्रमाणित होता है। उसमें दो द्रव्य साबित होते हैं। अद्वैतवादी कहते हैं कि, दूसरा द्रव्य है ही नहीं; तो वैसी मान्यताका इसमें निषेध होता है। द्रव्य क्षण–क्षण अन्य–अन्य उत्पन्न होता है ऐसा माननेवाले क्षणिकवादियोंका भी इसमें निषेध होता है। भेदज्ञानमें संपूर्ण मुक्तिमार्गका समावेश हो जाता है। ज्ञायकके अस्तित्वका ग्रहण हुआ उसमें ज्ञायककी ज्ञायकरूप परिणति आ गई, अकर्तापना–साक्षीपना आ गया।

साधना करनेका मूल उपाय भेदज्ञान है, जो प्रतिक्षण धाराप्रवाहरूप होता है। मेरा अस्तित्व अपनेरूप है, पररूप नहीं है, वह भेदज्ञानका कार्य है। 'मैं अपने ज्ञायकके अस्तित्वरूप हूँ, पररूप नहीं हूँ' वह कार्य करनेका रहता है। ५७७.

प्रश्न :—*बाहरके अमुक संयोग छोड़कर यहाँ आये हैं और प्रतिदिन यहाँ शास्त्रमेंसे पठन–मनन आदि सब कुछ करते हैं, फिर भी सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता?*

समाधान :—स्वयं ही अटकता है। जितनी रुचिकी तीव्रता चाहिये उतनी नहीं है। अंतरंगमें परसे विमुख नहीं होता, अपनेको ग्रहण नहीं करता, इतनी विरक्ति नहीं आती, महिमा नहीं आती, इसलिये प्रयासमें कचास रहती है, मंदता रहती है। जैसे किसीने जागनेका निर्णय किया हो परंतु प्रमादवश जागता नहीं है और विचार करता रहता है कि जागना है–उठना है; वैसे ही स्वयं प्रमादके कारण जितना चाहिये उतना ज्ञान, उतनी विरक्ति नहीं करता।

जितना कारण देना चाहिये उतना नहीं देता, इसलिये कार्य नहीं होता। अपने आलस्यवश कार्य नहीं होता। छटपटी होनी चाहिये। स्वयं कहाँ अटकता है, उसे अंतरमेंसे पहिचान ले तो वह वहाँ स्वयं अटक ही नहीं सकता और स्वयं अंतरमें चला जाय।

असलमें उसकी दृष्टि ज्ञायकमें स्थिर नहीं होती, विभावसे विभक्त नहीं होता। कारण तो अपना ही है। यदि ज्ञायकका प्रबलरूपसे आश्रय लेकर, विभावका आश्रय छोड़ दे तो निरालंबन हो जाय। स्वाश्रयका जोर हो तो अन्य सभी छूट जाता है। स्वयं छोड़े तो छूट जाय किंतु स्वयं ही नहीं छोड़ता। अपना ही कारण है। द्रव्यदृष्टिसे तो स्वयं विभावमें गया ही नहीं है, उन्हें ग्रहण ही नहीं किया है परंतु पर्यायकी अपेक्षासे सर्वत्र अटका हुआ है। ५७८.

प्रश्न :—*पर्यायमें अटका है उसके लिये क्या किया जाय?*

समाधान :—ज्ञायककी विशेष महिमा लाकर ऐसी दृढ़ता करे कि ज्ञायकमें ही सर्वस्व है, बाह्यमें सर्वस्व नहीं है। चैतन्यमें ही सर्वस्व है, ऐसा पहले भले ही बुद्धिपूर्वक विचार करके निश्चित करे; परंतु फिर उसकी अंतरमेंसे पलटा मारनेकी विशेष तत्परता होनी चाहिये, तो उसकी परिणति पलटा खाती है। बुद्धिमें भले ही आ जाय परंतु जबतक परिणति नहीं पलटती तबतक कचास है। परिणति एकत्वकी ओर ढल रही है वह स्वयंकी कचास है। बुद्धिमें निर्णय करता है कि इसमें (आत्मामें) सुख है, इसमें (परमें) नहीं है; यहाँ तक तो स्वयं आता है परंतु परिणति नहीं पलटती वह स्वयंकी कचास है।

ज्ञायककी ओर टिके कब? कि, जब स्वयंको ज्ञायककी ओर रहनेकी जरूरत लगे कि यही जरूरी है। इसप्रकार परसे विमुख हो तब वैसा हो। परिणतिका पलटना स्वयंके पुरुषार्थसे होता है। सबको ज्ञायक ग्रहण हो सके, वैसा गुरुदेवने सुस्पष्ट कर दिया है।—'तेरा स्वरूप तुझमें है, अन्य कोई तुझमें नहीं है'। संपूर्ण मार्ग स्पष्ट करके बतलाया है। ५७९.

प्रश्न :—*आप तो बारंबार कहते हैं परंतु परिणति इस ओर नहीं ढलती तो क्या करें?*

समाधान :—परिणति पलटा मारे उसमें पुरुषार्थकी तत्परता चाहिये। ५८०.

प्रश्न :—*"तत्प्रति प्रीती चित्तेन" उसका क्या अर्थ करना?*

समाधान :—अंतरंग रुचिपूर्वक जो (शुद्धात्माकी) वार्ता सुनता है उसकी परिणति पलटा खाये बगैर रहनेवाली ही नहीं है और वह भविष्यमें निर्वाणका भाजन होता है। जिसने

अंतरंग रुचिपूर्वक बात भी सुनी है उसकी परिणति पलटे बिना नहीं रहेगी। उसका अर्थ है कि स्वयंके पुरुषार्थपूर्वक परिणतिमें परिवर्तन होना है। जो जिज्ञासु हो उसे ऐसा लगता है कि मेरी परिणति कैसे पलटे? उसे पुरुषार्थ करनेकी वर्तमान भावना रहती है। ५८१.

प्रश्न :—*क्या जिज्ञासु ऐसा अंतरमें आधार रखता है कि भविष्यमें पुरुषार्थ होगा?*

समाधान :—नहीं; वैसा आधार नहीं रखता। उसे तो ऐसी भावना रहती है कि मैं वर्तमानमें ही कैसे पलट जाऊँ? कैसे पुरुषार्थ करूँ? किस प्रकार हो?—ऐसी भावना और लगनवाला ही पलटा खाता है। कब पलटेगा वह उसकी योग्यतापर आधारित है, परंतु भावना तो ऐसी रहती है कि मैं कैसे पुरुषार्थ करूँ और वह कैसे शीघ्र हो?—ऐसी वर्तमानमें पुरुषार्थ करनेकी भावना ही रहती है। ५८२.

प्रश्न :—*ज्ञायककी रुचि बढ़े उसमें क्या ज्ञानकी सूक्ष्मता आ जाती है?*

समाधान :—जिसे ज्ञायककी रुचि बढ़े उसे ज्ञायकको ग्रहण करनेकी सूक्ष्मता आती है; परंतु शेष ज्ञानमें और वृद्धि हो ऐसा नियम नहीं है। ५८३.

प्रश्न :—*ज्ञानीको कर्मका तीव्र उदय आये तब क्या शंका नहीं पड़ती होगी कि मेरा निर्णय पलट तो नहीं जायेगा?*

समाधान :—उसे शंका पड़ती ही नहीं, उसकी सहज धारा जुदी ही रहती है। जिस क्षण विकल्प आये उस क्षण भी ज्ञायककी धारा रहती है, फिर उसे याद नहीं करना पड़ता। अपना-ज्ञायकका अस्तित्व ग्रहण हुआ उसके साथ उस ज्ञायककी जोरदार परिणति रहती है, इसलिये विकल्पमें तन्मय होता ही नहीं, न्यारा रहता है। विकल्प आये तथापि वह न्यारा रहकर आता है, अपने सहज अस्तित्वकी-ज्ञायककी परिणतिपूर्वक वह विकल्प होता है और वह भिन्न रहता है; उसमें शंका पड़ती ही नहीं। ५८४.

प्रश्न :—*धारणाज्ञान तक आता है, समझमें भी बैठता है, परंतु परिणति नहीं बदलती, तो उसका कोई उपाय है?*

समाधान :—जो एकत्वबुद्धिकी परिणति हो रही है उस परिणतिको न्यारा नहीं करता। निर्णय हो गया है कि यह मैं जुदा ही हूँ, ज्ञायक हूँ, परंतु प्रतिक्षण जो विकल्पोंके साथ एकत्वबुद्धि कर कहा है, एकत्वपूर्वक परिणमित हो रहा है, उस एकत्वको नहीं तोड़ता इसलिये परिणति नहीं पलटती। एकत्वको तोड़नेका प्रयास करे तो वह प्रयास प्रथम

अभ्यासरूप हो सकता है। एकत्वबुद्धि तोड़नेका अभ्यास चलता है तथापि एकत्वबुद्धिकी परिणति हो रही है; उस स्थितिमें सहजता नहीं है इसलिये विचार करना पड़ता है कि 'मैं जुदा हूँ' ऐसा विचारपूर्वक अभ्यास होता है, सहज नहीं होता। स्वानुभूति हो तभी सहज होता है। ५८५.

प्रश्न :—*दृष्टि, ज्ञान और अंशतः स्वरूपाचरणचारित्र, वह सब क्या साथ ही होता है?*

समाधान :—दृष्टिका विषय अखंड द्रव्य है। दृष्टि उसे ग्रहण करती है, ज्ञान सब जानता है और चारित्रमें लीनता होती है—यह सब एकसाथ है। विशेष चारित्र भले ही बादमें हो, परंतु प्रारंभमें सब साथ ही प्रगट होता है। दृष्टिका विषय मुख्य होता है और ज्ञान सब जानता है अर्थात् भेदज्ञान करता है कि 'यह मैं हूँ और यह मैं नहीं।' 'स्वरूपसे हूँ और पररूपसे नहीं' इसप्रकार ज्ञान स्व-परको प्रकाशित करता है। दृष्टि एक अपनेको-अखंडको ग्रहण करती है, ज्ञान सबको जानता है और स्वरूपाचरणचारित्र अंशतः होता है, इसप्रकार सब साथ होता है। ५८६.

प्रश्न :—*अंतर्मुख वृत्ति होती है, परंतु वह धाराप्रवाह नहीं रहती, छूट जाती है; उसके लिये क्या करें?*

समाधान :—अनादिसे (परमें) एकत्वका अभ्यास हो रहा है, इसलिये यह कठिन हो गया है। स्वसे एकत्व और परसे विभक्त ऐसा अपना स्वभाव सहज है, तथापि अनादिका अभ्यास-आदत होनेसे (परमें) एकत्व सहज ही हो जाता है और स्वभावमें प्रयत्न करे तब मुश्किलसे होता है; तथापि भेदज्ञानका अभ्यास ज्यों का त्यों चालु ही रखे तो सहज हो। शुरुआतमें प्रयत्न कर-करके वह अभ्यास करता रहे तभी दृढ़ होता है।

मुमुक्षु :—प्रारंभमें भेदज्ञानका अभ्यास सहज क्यों नहीं चलता?

बहिनश्री :—'मैं भिन्न हूँ' इसप्रकार स्वभावको ग्रहण करके अभ्यास करता रहे तो उसे सहज होनेका अवकाश है। आत्मा सहज स्वभावरूप है और उसके ज्ञान-दर्शन-चारित्र भी सहज हैं, सब सहज है; परंतु उस ओर प्रयत्न नहीं मुड़ता, इसलिये कठिनाई पड़ती है। उसे प्रारंभमें प्रयत्न कर-करके अपनी ओर मुड़ना पड़ता है, फिर तो उसका स्वभाव सहज है, इसलिये उसकी परिणति सहज ही अपनी ओर आती है। पहले परिणतिको प्रयत्न

कर-करके अपनी ओर मोड़ना पड़ता है, क्योंकि अनादिका (विपरीत) अभ्यास है। ५८७.

प्रश्न :—*उपदेश सुनकर वृत्तिमें दृढ़ता नहीं आती, उसका क्या कारण है?*

समाधान :—दृढ़ता नहीं आनेका कारण स्वयं ही है, दूसरा नहीं है। स्वयं दृढ़ता लाये तो आती है। अनादिकालका जो अभ्यास है उसीमें चला जाता है और स्वरूप दिखाई नहीं देता इसलिये दृढ़ता नहीं आती; परंतु आत्माको लक्षणसे पहिचानकर निश्चित करना चाहिये। जो आत्मा सुख-आनंदकी इच्छा कर रहा है वह स्वयं सुखरूप है। वह बाहरसे सुखकी आशा रखके सुख-आनंदकी प्राप्तिके लिये उत्सुक रहता है, परंतु सुख बाह्यमेंसे मिलता नहीं, इसलिये आकुल-व्याकुल रहा करता है। सुखकी इच्छा करनेवाला स्वयं ही सुखस्वरूप है; इसलिये बाह्य आश्रय छूट जाय और स्वयं एकाकी रह जाय तो अपने अंतरसे सुख एवं आनंद प्रगट होते हैं और वह निर्णय स्वयं करे तो होता है। ५८८.

प्रश्न :—*जो बाहरी सुधार करना चाहता है उसका ज्ञान क्या मिथ्या कहा जायगा?*

समाधान :—ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि उसने विभावभावोंको छोड़नेका मार्ग नहीं समझा है। विभाव कैसे दूर हों उसका सच्चा उपाय वह नहीं जानता, इसलिये मात्र बाहरमें ही सुधार करता है। जो बाह्यमें सुधार करता रहता है, बाहरी सुधार करना चाहता है उसका ज्ञान सच्चा नहीं है, वह मार्गको नहीं पहिचानता। जिसका लक्ष्य ज्ञायकपर नहीं है ऐसे अनेक जीव मात्र बाहरी ही सुधार करते रहते हैं अर्थात् अशुभभावोंको सुधारते रहते हैं परंतु इसप्रकार विभाव वास्तविकरूपसे नहीं छूटते; इसलिये उसका ज्ञान सच्चा नहीं है।

मुमुक्षु :—बाहरी अर्थात् शुभका अवलंबन लेकर?

बहिनश्री :—अज्ञानी जीव बाहरी अर्थात् शुभका अवलंबन लेकर अशुभको छोड़ना चाहता है, परंतु वह सच्चा मार्ग नहीं जानता; उसकी दृष्टि आत्माकी ओर नहीं है तथा आत्माके लक्ष्यसे विभाव छूटे ऐसा उसका ध्येय भी नहीं है। जीवने कषायकी मंदता अनंतबार की है, मंदकषाय करके अनंतबार मुनिपना धारण किया है, इसप्रकार बाहरी सब सुधार किया है परंतु उसका ज्ञान सच्चा नहीं होनेसे उसके विभाव यथार्थरूपसे नहीं छूटते। मात्र उसे वैराग्यके कारण बाह्यमें सब छूट जाता है, परंतु वास्तवमें तो अंतरंगसे विभाव छूटने चाहिये वे नहीं छूटते; क्योंकि उसका ज्ञान सच्चा नहीं है। ५८९.

प्रश्न :—*मैं कुछ न करूँ तो क्या शून्य नहीं हो जाऊँगा?*

समाधान :—'मैं कुछ कर नहीं सकता, मैं तो मात्र ज्ञाता हूँ' ऐसी जिसे उदासीनता एवं ज्ञायककी महिमा आये वह स्वयं श्रद्धा करके, परिणतिको तालीम दे (गढ़े) तो उसकी सहजदशा हो। मैं कुछ नहीं कर सकता तो मैं निकम्मा–शून्य–निष्क्रिय हो जाऊँगा ऐसा जिसे अंतरमें लगता हो वह उदासीन नहीं रह सकता।

जिसे प्रवृत्तिका रस हो उसे ऐसा लगता है कि सिद्ध भगवान्‌को करनेका कुछ नहीं? तथा यह सब छूट जायगा तो क्या शून्यता तो नहीं आ जायगी न? उसे ऐसी महिमा–श्रद्धा अंतरसे नहीं आती कि अंतरमें सब कुछ भरा है। ५९०.

प्रश्न :—*सत्पुरुषके सान्निध्यमें आत्माकी लगन कुछ विशेष होती है?*

समाधान :—सत्पुरुषका तो निमित्त महान् प्रबल है, परंतु करनेका तो अपनेको रहता है। इसलिये शास्त्रमें आता है न कि देव–शास्त्र–गुरु या सत्पुरुषका सान्निध्य खोजकर तू उनकी शरणमें जा, वे जो कहें वैसा कर। परंतु करनेका तो अपनेको रहता है। उपादान अपनेको तैयार करना पड़ता है, कोई कर नहीं देता। मुक्तिमार्ग प्रगट करने हेतु सत्पुरुषका निमित्त प्रबल है अर्थात् मुक्तिके मार्गको पहिचाननेके लिये, स्वानुभूति प्रगट करनेके लिये जिज्ञासुकी भूमिका–आत्मार्थिता प्रगट करनेके लिये गुरुका निमित्त महान् है, किंतु करनेका अपनेको रहता है। ५९१.

प्रश्न :—*पर्यायमें पुरुषार्थ होता है तो उसे ज्ञानी करता है या जानता है?*

समाधान :—मात्र जानता है इतना ही नहीं, पुरुषार्थ करता है। वह ऐसा जानता है कि मैं ज्ञाता हूँ। ऐसे ज्ञाताकी उग्रता करनेसे ज्ञानमें पुरुषार्थ आ जाता है। मात्र जाननेके लिये जाने तो ज्ञानमें पुरुषार्थ नहीं आ जाता, परंतु ज्ञायककी उग्रतामें पुरुषार्थ आ जाता है। ज्ञाता यानी कि पर्याय है ऐसा जाना अर्थात् जानपना किया कि पर्याय है उससे पुरुषार्थ आ जाय ऐसा नहीं है, परंतु ज्ञाताधाराकी तीक्ष्णता करे तो उसमें पुरुषार्थ आ जाता है। 'मैं ज्ञायक हूँ' इसप्रकार ज्ञाताधाराकी उग्रता करके लीनता करे तो उसमें पुरुषार्थ आ जाता है। 'मैं द्रव्यसे ज्ञायक हूँ' ऐसे ज्ञायकको ज्ञायकरूपसे रखनेके लिये तथा ज्ञायककी परिणति दृढ़ करनेके लिये अर्थात् ज्ञाताधाराकी उग्रता हेतु ज्ञानी पुरुषार्थ करता है। बहिर्मुख होनेवाला उपयोग वह विभाव परिणति है उससे पृथक् होकर स्वयं अंतरमें स्वरूपके प्रति लीनताका प्रयत्न करता है। ज्ञानीका

जानना, वह मात्र जान लेना ऐसा नहीं परंतु पुरुषार्थपूर्वक जानना है। ५९२.

प्रश्न :—*द्रव्य और पर्याय—इन दोनोंके बीचका खेल ही कुछ समझमें नहीं आता! ऐसा करने जाय तो निश्चयाभासी हो जाते हैं और ऐसा करने जाय तो व्यवहाराभासी हो जाते हैं।*

समाधान :—वह सब विकल्पात्मक है इसलिये ऐसा होता है, परंतु सहज हो तो ऐसा नहीं होता। विकल्पसे निर्णय करने जाय तो एक विकल्प छूटता है और दूसरा उत्पन्न होता है। यदि सहज हो तो ऐसा नहीं होता। ज्ञायककी परिणति सहज हो तो एक (द्रव्य)का ग्रहण हो और एक (पर्याय)का ज्ञान छूट जाय वैसा नहीं होता। वह द्रव्यको ग्रहण करता है और पर्यायमें पुरुषार्थ रहता है; परंतु विकल्पात्मक प्रयत्न होता है इसलिये द्रव्यका विचार करनेपर पर्याय छूट जाती है, परंतु उसकी संधिका यथार्थ विचार करके निर्णय करना चाहिये। द्रव्यदृष्टि और पर्यायमें पुरुषार्थ—दोनोंकी संधि करने जैसी है। एकको ग्रहण करने जाय और दूसरा छूट जाय तो मात्र निश्चयाभास हो जाता है। द्रव्यदृष्टि न हो तो मोक्षमार्ग ही प्रगट नहीं होता। ५९३.

प्रश्न :—*पहले द्रव्यदृष्टि होती है या व्यवहार होता है?*

समाधान :—जहाँ द्रव्यदृष्टि मुख्य और यथार्थ हो वहाँ यथार्थ व्यवहार आ जाता है। द्रव्यदृष्टिके साथ यथार्थ व्यवहार रहता है; यदि वह छूट जाय तो दृष्टि ही सम्यक् नहीं है। सम्यग्दृष्टि–यथार्थदृष्टि हो तो उसके साथ यथार्थ ज्ञान और यथार्थ स्वरूपरमणता होती है। ज्ञायकपर दृष्टि जानेके साथ ही पूर्ण मुक्ति और पूर्ण वेदन नहीं हो जाता, परंतु अभी अपूर्णता है और तबतक व्यवहार होता है।

मुमुक्षुदशामें (प्रथम) उसे निर्णय करना चाहिये कि 'मैं स्वभावसे निर्मल हूँ' साथ ही भेदज्ञानका अभ्यास करे कि 'मैं भिन्न हूँ' इसप्रकार एकत्वबुद्धिसे छूटनेका प्रयत्न करना चाहिये। प्रयत्न और दृष्टि साथ होते हैं और भावनामें भी ऐसा होना चाहिये। प्रथम जैसा स्वभाव है वैसा ही ग्रहण करे, फिर पर्यायमें जो अपूर्णता और अशुद्धता है उन्हें हटाकर शुद्धताका प्रयास करता है। ५९४.

प्रश्न :—*पर्यायको न माननेसे क्या दृष्टिका बल बढ़ जाता होगा?*

समाधान :—पर्याय नहीं है ऐसा माननेसे कहीं दृष्टिका बल बढ़ जाय ऐसा नहीं

होता। जैसा है वैसा यथावत् जाने तो दृष्टिका बल बढ़ता है। द्रव्यदृष्टिके विषयमें पर्याय नहीं है, इसलिये पर्याय वस्तु ही नहीं है यह कोई यथार्थ नहीं है। दृष्टिके विषयमें पर्याय नहीं आती; ध्येय एक द्रव्यपर है। उसकी दृष्टिमें पर्याय नहीं रहती, इसलिये पर्याय है ही नहीं ऐसा नहीं है। ५९५.

प्रश्न :—*ज्ञानी बारंबार अपने आप अंतर्मग्न हो जाते हैं?*

समाधान :—उसमें प्रयत्न है, परंतु वह प्रयत्न सहज हो जाता है, कोई उसे कर नहीं देता और न जबरन् करना पड़ता है, प्रयत्न सहज है। अपने घरकी ओर स्वाभाविकरूपसे दौड़के जाता है। ५९६.

प्रश्न :—*ज्ञानीको अंतरमें परम शांति मिलती है तो बाहर किसलिये निकलते हैं? एकदम शांति मिल जानेपर फिर आकुलतामें किसलिये आते हैं?*

समाधान :—उतना पुरुषार्थ नहीं है इसलिये बाहर आ जाते हैं और अनादिके जो विभाव रहे हैं उनमें लग जाते हैं। अभी विभाव विद्यमान हैं उनका क्षय नहीं हुआ है, तथा अंतरमें उतना पुरुषार्थ नहीं है इसलिये अंतरमें स्थिर नहीं रह पानेसे बाहर आ जाते हैं। ५९७.

प्रश्न :—*सत् सरल, सुगम है; परंतु कोई मार्ग दिखलाये तो प्राप्ति हो न?*

समाधान :—सत् सरल और सुगम है। दिखानेवाले दिखाते हैं परंतु देखना तो अपनेको है न? स्वयं न देखे तो कोई चाहे जितना दिखाये तब भी देख नहीं सकता।

स्वयं देखनेकी तैयारी करे तो देख सकता है। बतलानेवाले तो बतलाते हैं—गुरुदेवने बहुत बतलाया है। परंतु जिसकी जितनी तैयारी हो उतना ग्रहण करता है। सब एक ही प्रकारसे ग्रहण नहीं कर सकते। तैयारी तो अपनेको ही करनी है। ५९८.

प्रश्न :—*वृद्धावस्था और मरणका भय लगता है, उसका क्या कारण है?*

समाधान :—वृद्धावस्था या मरण भयका कारण नहीं है; परंतु अपने शरीरके प्रति जो राग है, एकत्वबुद्धि है उस कारण भय लगता है। शरीरमें वृद्धावस्था आये वह किसीको नहीं सुहाती और मृत्युका भय लगता है; मृत्यु किसीको अच्छी नहीं लगती उसका कारण अज्ञान है। जबतक भवका अभाव नहीं होता तबतक शरीर धारण करता है, परंतु अपनेको

शरीरके साथ एकत्वबुद्धिका राग है इसलिये भय लगता है। उसकी एकत्वबुद्धि इतनी प्रबल है कि शरीरसे पृथक् होना अच्छा नहीं लगता इसलिये भयभीत होता है। वृद्धावस्था या मरण, भय नहीं उपजाते परंतु अज्ञानके कारण डरता है। ५९९.

प्रश्न :—*शरीरका स्वतंत्र परिणमन अंतरमें सम्मत नहीं होता, समझमें भी नहीं आता, तो क्या करें?*

समाधान :—समझनेका अभ्यास करना। शरीर जड–पुद्गल है। मैं जाननेवाला हूँ। शरीरका स्वभाव स्वतंत्र है। विकल्प मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो चैतन्य ज्ञायकस्वभावी हूँ, उसमें शांति एवं आनंद भरा है। उसका बारंबार विचार करना। अंतरमें सम्मत नहीं होता है तो सम्मत करनेका अभ्यास करना, बारंबार विचार करना; स्वभावदृष्टिसे (—तात्त्विक दृष्टिकोण अपनाकर) पहिचाननेका अभ्यास करना।

जैसे स्फटिक निर्मल है वैसे ही मैं भी निर्मल हूँ। जलका स्वभाव निर्मल है वैसे ही मैं निर्मल हूँ। जलमें मलिनता बाहरसे आती है, कादवकी वजहसे आती है उसी प्रकार यह संकल्प–विकल्प विभाव हैं, अपना स्वभाव नहीं हैं; उनसे भेदज्ञान करना। ६००.

प्रश्न :—*द्रव्यदृष्टि हुए बिना क्या पर्यायका आश्रय नहीं छूटता?*

समाधान :—द्रव्यदृष्टि प्रगट करे तो पर्यायका आश्रय छूटे और जिसे पर्यायका आश्रय छूटे उसे द्रव्यदृष्टि प्रगट हो। द्रव्यपर दृष्टि करनेसे ही पर्यायदृष्टि छूटती है। मुख्य तो द्रव्य है, पश्चात् (ज्ञानमें) पर्याय खड़ी रहती है, परंतु उसकी दृष्टि छूट जाती है। ६०१.

प्रश्न :—*पर्यायका परिणमन चलता हो फिर भी पर्यायदृष्टि छूट जाती है?*

समाधान :—पर्यायका परिणमन चलता ही रहता है, परंतु पर्यायदृष्टि छूटकर दृष्टि द्रव्यपर आ जाती है। पश्चात् वह परिणमन अमुक अंशमें शुद्ध हो जाता है और अमुक अंशमें विभावरूप रहता है। दृष्टि बदलकर द्रव्यपर गई इसलिये आंशिक शुद्धरूप परिणमन हो गया, तथापि अमुक परिणमन अभी विभावरूप बना रहता है। दृष्टिका दोष मुख्य है। दृष्टिका दोष ही पर्यायदृष्टि है। पर्याय तो मौजूद रहती है, वह कुछ हानि नहीं करती, परंतु पर्यायदृष्टि हानिकारक होती है। अपनी (स्वकी) दृष्टि–श्रद्धा हुई वहाँ संपूर्ण परिणमनचक्र फिर गया, सम्पूर्ण दिशा बदल गई। पहले संपूर्ण दिशा परद्रव्यकी ओर थी, वह स्वद्रव्यकी ओर आ गई। दृष्टि पलट गई इसलिये अनंत संसार छूट गया। अब थोड़ा विभाव रहता है परंतु दिशा संपूर्ण बदल गई। ६०२.

प्रश्न :—*क्या ज्ञानीके सर्व भाव ज्ञानमय और अज्ञानीके अज्ञानमय हैं?*

समाधान :—ज्ञानीकी दृष्टि बदल गई है, इसलिये उसके समस्त भाव ज्ञानमय हैं; जबकि अज्ञानीकी दृष्टि बिलकुल विपरीत होनेसे, उसके जितने भाव होते हैं वे सब अज्ञानमय हैं। अज्ञानीके शुभभावमें भी अंतरंग भ्रांति साथ होती है (शुभभाव भी विभाव है, वह ऐसा) नहीं समझता इसलिये एकत्वबुद्धि करता रहता है। (और उस कारण) जो नहीं समझता उसके समस्त भाव अज्ञानमय हैं। जब दृष्टि यथार्थरूपसे बदल जाये, भेदज्ञान हो जाय, तभी ज्ञानमय भाव कहे जाते हैं; तबतक जिज्ञासाकी भूमिकामें भी ज्ञानमय भाव कहा नही जा सकता, क्योंकि एकत्वबुद्धि विद्यमान है। जिज्ञासुको रस तो मंद पड़ा है; परंतु सर्व ज्ञानमय भाव कब होते हैं? कि जब भेदज्ञानकी–ज्ञातापनेकी धारा हो तब सर्वभाव ज्ञानमय होते हैं और ऐसा न हो तबतक सर्वभाव एकत्वबुद्धिरूप हैं इसलिये वे सब अज्ञानमय कहे जाते हैं। जिज्ञासु जीव छूटनेकी भावना करता है, परंतु अभी एकत्वपरिणति हो रही है, एकत्वबुद्धि है और दिशा परिवर्तित नहीं हुई है। यदि दृष्टिका एक घड़ा सीधा हो जाय तो सब (भावके) घड़े सीधे हो जाते हैं। एक दृष्टिका घड़ा औंधा होनेसे सब घड़े औंधे ही रहते हैं। ६०३.

प्रश्न :—*श्री 'नियमसार' शास्त्रके परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकारकी पहली पाँच गाथाओंमें प्रथम कहा है कि—नारक नहीं, तिर्यंच नहीं, फिर कहा कि भेदज्ञानके अभ्याससे माध्यस्थ होकर चारित्र बनता है, तो क्या सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् भी भेदज्ञानको भाना चाहिये?*

समाधान :—हाँ, सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् भी भेदज्ञानको भाना। भेदज्ञानके अभ्याससे माध्यस्थ होकर चारित्र बनता है। भेदज्ञानमें सम्यग्दर्शन होता है, उसीमें चारित्र भी होता है और उसमें केवलज्ञान भी होता है—सब उसीमें होता है। प्रथम भेदज्ञानके बलसे सम्यग्दर्शन और पश्चात् उसीके बलसे ही चारित्र होता है।—इसप्रकार सर्वत्र भेदज्ञान ही है। प्रारंभसे अंत तक भेदज्ञानके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। मार्ग तो सीधा और सरल है; परंतु अनादि अभ्यासके कारण वह महँगा हो गया है। मार्ग कोई उलटा–पुलटा नहीं है, बाह्यमें इतने कार्य करना ऐसा उसमें नहीं है, सब अंतरमें करनेका है। प्रारंभसे अंत तक एक ही मार्ग है। भेदज्ञानके अभ्याससे संवर, प्रत्याख्यानादि सब प्रगट होते हैं। अनादिकालीन एकत्वबुद्धिके कारण उसे भेदज्ञान प्रथम सहज नहीं होता, विचार आकर छूट

जाते हैं। सहज परिणति नहीं है इसलिये भेदज्ञानको उपयोगमें लाये इतनेमें (वह) उपयोग छूट जाता है। इसप्रकार उपयोग बारंबार फिरता रहता है और उसे स्थिरता नहीं होती, श्रद्धाका बल उतना नहीं टिकता। परिणति सहज नहीं हुई है इसलिये उसे प्रथम भूमिका विकट लगती है। ६०४.

प्रश्न :—*आत्मार्थी जिसे कि वास्तवमें आत्मार्थ प्रगट हुआ है वह निःशंकरूपसे निर्णय कर सकता है कि 'मुझे भव नहीं है?'*

समाधान :—आत्मार्थी स्वयं निर्णय कर सकता है। सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व भी अपनेको वैसी उष्मा (हौस) आये तो स्वयं निर्णय कर सकता है। कोई ऐसा पात्र जीव हो तो वह अपनी भावना तथा आत्मार्थिताके आधारसे यह निर्णय कर सकता है। ६०५.

प्रश्न :—*ज्ञानी परिणमनकी अपेक्षासे विकारका कर्ता-भोक्ता है?*

समाधान :—ज्ञानी परिणमनकी अपेक्षा कर्ता-भोक्ता है; परंतु उसको स्वामित्वबुद्धि नहीं है, इसलिये वह कर्ता-भोक्ता नहीं है ऐसा कहा है; तथापि अस्थिरतामें रागादि हैं। ६०६.

प्रश्न :—*किसी भी 'पर्यायकी योग्यता' लेनेमें प्रमाद आये ऐसा लगता है, तो 'पुरुषार्थकी त्रुटि' लेना बराबर है?*

समाधान :—(एकांतसे) योग्यता लेनेमें प्रमाद आ जाता है। 'जो होना होगा सो होगा', 'उसकी ऐसी योग्यता'—ऐसे बचावकी ओरका पक्ष लेनेमें तो जीवको जरा भी देर नहीं लगती। कार्य न हो तो बचावका पक्ष एकदम आ जाता है। परंतु पुरुषार्थकी ओर जाय तो उसे खटक रहे कि यह मुझे ही करना है, मैं अपने प्रमादके कारण ही रुका हुआ हूँ, प्रमाद है इसीलिये आगे नहीं बढ़ पाता, इतनी लगनी नहीं लगी है इसलिये आगे नहीं बढ़ पाता। श्रीमद्जीने कहा है न? कि जीवको अटकनेके अनेक स्थान होते हैं; जीव चाहे जहाँ अटक जाता है।

मुमुक्षु :—मेरे प्रमादसे ऐसा हुआ है और मैं पुरुषार्थ नहीं कर सकता, ऐसा स्वीकारनेसे तो आकुलता बढ़ जाय ऐसा न बने?

बहिनश्री :—वह सब आत्मार्थीको देखना है। यदि आकुलता बढ़ जाय और विशेष उलझनमें पड़ जाय तब भी मार्ग नहीं मिलता। मार्गमें शांतिसे धैर्यपूर्वक आगे बढ़ा जाता है। मुझे प्रमाद है या शांति है या धैर्य है अथवा क्या है?—वह सब स्वयं विचारना है।

अकुलानेसे मार्ग नहीं मिलता; इसलिये शांतिसे तथा धैर्यपूर्वक स्वयं मार्ग निकाले। अपनी योग्यता कैसी है वह समझकर आगे बढ़ना। पुरुषार्थ नहीं चलता हो अथवा कहीं-कहीं अटकता हो वहाँ पुरुषार्थ करे और यदि उलझन रहती हो तो शांति रखना, धीरज रखना। ६०७.

प्रश्न :—*द्रव्य पर्यायमें नहीं आता वह किस प्रकार? समझानेकी कृपा करें।*

समाधान :—द्रव्य पर्यायमें नहीं आता अर्थात् द्रव्य तो द्रव्यरूप रहता है। द्रव्यका स्वरूप शाश्वत-अनादि-अनंत है, जबकि पर्याय क्षणिक है, दूसरे ही क्षण पलट जाती है; इसलिये जैसी पर्याय प्रतिक्षण पलट रही है वैसा द्रव्यका स्वरूप नहीं है और इसी कारण द्रव्य पर्यायमें नहीं आता। द्रव्य प्रतिक्षण नहीं पलटता, वह तो एकसमान रहता है और पर्याय पलटती है इसलिये द्रव्य पर्यायमें नहीं आता। वैसे तो पर्याय है वह द्रव्यका स्वरूप है। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों मिलकर एक द्रव्यका स्वरूप है। द्रव्य अनादि-अनंत है और पर्याय पलटती रहती है; तथापि पर्याय द्रव्यके आश्रयसे ही होती है, द्रव्यमें ही होती है, कहीं आधार बिना नहीं होती। जो स्वभावपर्याय होती है वह द्रव्यके अवलंबनसे होती है। ज्ञान-आनंदादि अनंतगुणोंकी जो भी शुद्ध पर्याय होती हैं वे द्रव्यके आश्रयसे होती हैं और जो विभावपर्यायें होती हैं वे अपने पुरुषार्थकी मंदतासे होती हैं। वे विभावपर्यायें अपना स्वभाव नहीं हैं इसलिये उनके और अपने—दोनोंके भावभेद हैं, अपना (स्वभाव निराकुलतास्वरूप), और विभावभाव (आकुलतास्वरूप) होनेसे दोनोंके स्वभाव जुदे हैं, दोनोंके भावभेद हैं, अतः विभावसे भेदज्ञान करना कि विभावभाव आकुलतामय हैं, वे मेरा स्वभाव नहीं; वे मेरे पुरुषार्थकी मंदताके कारण होते हैं। परंतु पुरुषार्थ तीव्र हो तो विभावपर्याय छूट जाती है और स्वभावपर्याय प्रगट होती है। ६०८.

प्रश्न :—*द्रव्य निष्क्रिय किस प्रकार है?*

समाधान :—स्वयंकी अपेक्षा द्रव्य निष्क्रिय है। प्रत्येक गुणका कार्य पर्यायमें आता है। ज्ञानगुणका कार्य ज्ञानरूप और आनंदगुणका कार्य आनंदरूप आता है। प्रत्येक गुणका कार्य आता ही रहता है। केवलज्ञानीको केवलज्ञान होनेपर लोकालोक ज्ञात होते हैं वह कार्य ज्ञानका है। और केवलज्ञानी आनंदरूप परिणमता रहता है वह कार्य आनंदका है। उस अपेक्षासे द्रव्य सक्रिय है; परंतु वह वैसा सक्रिय नहीं है कि वह स्वयं सर्व प्रकारसे—सर्वथा—क्रियात्मक हो जाय। अनादि-अनंत द्रव्य स्वयं अपनी अपेक्षासे निष्क्रिय है और पर्याय अपेक्षासे सक्रिय है, सर्वथा निष्क्रिय नहीं है।

मुमुक्षु :—जो दृष्टिका विषय बनता है वह द्रव्य, सर्वथा निष्क्रिय है—ऐसा लेना चाहिये ?

बहिनश्री :—हाँ; जो दृष्टिका विषय बनता है वह द्रव्य, एकसमान निष्क्रिय रहता है। जिसमें कोई फेरफार नहीं है, जो अनादि-अनंत एकसा रहता और जिसका नाश नहीं है, वैसा द्रव्य अनादि-अनंत निष्क्रिय है। आत्मा द्रव्य-अपेक्षासे निष्क्रिय और पर्याय-अपेक्षासे सक्रिय है। यदि वह अकेला निष्क्रिय हो तो उसमें केवलज्ञानकी, मुनिदशाकी पर्याय नहीं हो सकती, इसलिये आत्मा पर्याय-अपेक्षासे सक्रिय है और द्रव्य-अपेक्षासे निष्क्रिय है। आत्मा सर्वथा शून्य नहीं है; जागृतिवान् तथा कार्यशील है; परंतु द्रव्य-अपेक्षासे निष्क्रिय है। अपना स्वभाव सुरक्षित ज्यों का त्यों नित्य ध्रुवरूप रहता है इसलिये निष्क्रिय है। आत्मा पर्याय-अपेक्षा कार्यशील है; क्योंकि यदि आनंद आनंदरूप कार्य प्रगट न करे तो आनंदगुण किस प्रकार कहलाये? यदि उसमें किसी प्रकारकी क्रिया न हो तो जाननेका, शांतिका, पुरुषार्थ पलटनेका कार्य ही न हो अर्थात् कोई कार्य ही नहीं हो।—इसलिये आत्मद्रव्य सर्वथा निष्क्रिय नहीं है; तथापि द्रव्य एकसमान, ज्यों का त्यों ध्रुवरूप रहता है, इसलिये परमपारिणामिकभावसे निष्क्रिय भी है। पर्याय किसी अपेक्षासे पारिणामिकभावरूप भी है, क्योंकि वह किसीकी अपेक्षा नहीं रखती, स्वतंत्र परिणमती है, उपशमादिभावोंमें किसीकी अपेक्षा लागू नहीं होती इसलिये उस अपेक्षासे पर्याय पारिणामिकभावरूप है; परंतु वह पर्याय है इसलिये सक्रिय है। ६०९.

प्रश्न :—*दृष्टिका बल किसके ऊपर होता है? और अधिक बल किसका?—दृष्टिका या ज्ञानका?*

समाधान :—दृष्टिका जोर एक सामान्यपर ही है और ज्ञान सामान्य-विशेष दोनोंको जानता है। जाननेमें भेद आता है। दृष्टिमें जो सामान्यका बल आता है वैसा बल ज्ञानमें नहीं आता। दृष्टि बलवान् है और वह एक सामान्यको ग्रहण करती है; वह एक सामान्यपर जोर देकर आगे बढ़ती है कि अनादि-अनंत चैतन्य सामान्य सो मैं हूँ। उसकी दृष्टि गुण-पर्यायके भेद पर भी नहीं है, वह तो एक सामान्य चैतन्य-अस्तित्व जो कि ज्ञायक है सो मैं, ऐसा स्वीकार करती है। इसप्रकार जैसा दृष्टिका बल है वैसा ज्ञानका बल नहीं है; क्योंकि ज्ञान सामान्य-विशेष दोनोंको जानता है। ज्ञान यथार्थ हो तो परिणति यथार्थ होती है, किन्तु दृष्टि अधिक बलवान् है। दृष्टिमें बल है, क्योंकि दृष्टिने संपूर्ण सामान्यको ग्रहण किया है।

मुमुक्षु :—दृष्टि मूल्यवान् है?

बहिनश्री :—हाँ; दृष्टि मूल्यवान् है।

मुमुक्षु :—दृष्टि जो कार्य करती है वह ज्ञात तो ज्ञानमें होता है?

बहिनश्री :—ज्ञानमें ज्ञात होता है परंतु दृष्टि बलवान् है, जोरदार है। एक सामान्यपर दृष्टि स्थापित करनेसे (स्वरूपमें) लीनता होती है।

जैसे किसी मनुष्यने ऐसा निर्णय किया हो कि मुझे इसप्रकार यह एक ही कार्य करना है, तो फिर वह उस एक कार्यके सिवा आसपासका दूसरा कुछ नहीं देखता और दृढ़तापूर्वक अपना कार्य करता है; वैसे ही एकके बाद एक बीचमें सब भेद आते हैं, परंतु उनपर दृष्टि न देकर सामान्य एक आत्मापर ही दृष्टि देनेपर उसके बलसे लीनताकी परिणति प्रगट होती है।

मुमुक्षु :—ज्ञानमें भी ऐसा बल आता है?

बहिनश्री :—ज्ञानमें सब जानना आता है। यद्यपि ज्ञानमें बल आता है परंतु दृष्टिमें अधिक बल आता है। ज्ञानमें सब पहलुओंको जाननेका कार्य होता है कि यह अधूरा है, यह पूरा है; यह केवलज्ञान है; यह साधकदशा है; यह गुणभेद है, यह पर्यायभेद है;—इसप्रकार ज्ञान सब जानता है तथा एक अखंडका बल भी ज्ञानमें है, तथापि वह जाननेरूप है। जिसने एक सामान्यको ही ग्रहण किया है वह दृष्टि अधिक बलवान् है। ६१०.

प्रश्न :—*पुरुषार्थ कैसे करें?*

समाधान :—यदि रुचिकी उग्रता हो तो पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। "रुचि अनुयायी वीर्य"—रुचि जिस ओर जाये उस ओरका पुरुषार्थ होता ही है; परंतु अपनी रुचि मंद हो तो पुरुषार्थ नहीं उठता। हो रहा है, होगा—ऐसे अपनेको लगता रहे परंतु उग्र भावना न हो तबतक पुरुषार्थ नहीं होता। रुचि उग्र हो उसे बाहर रुकना अच्छा नहीं लगे, प्रतिक्षण आत्माकी लगन लगी रहे, दिन-रात कहीं चैन न पड़े, ऐसा अंतरमें हो तो अपना पुरुषार्थ उग्र हो; परंतु मंद-मंद रहा करता है इसलिये आगे नहीं बढ़ सकता।

मुमुक्षु :—रुचिके जोरसे अंतरसन्मुख पुरुषार्थ होता है?

बहिनश्री :—रुचि उग्र हो तो अंतरसन्मुख पुरुषार्थ सहज होता है। रुचि अपनी ओर हो तो पुरुषार्थ भी स्वसन्मुख होता है।

मुमुक्षु :—तो फिर पुरुषार्थ करना नहीं रहा, किंतु रुचि करनी रहती है?

बहिनश्री :—दोनोंका संबंध है; रुचि हो तो पुरुषार्थ भी साथ होता ही है।

मुमुक्षु :—दोनोंमें मुख्यता किसकी है?

बहिनश्री :—मुख्यता रुचिकी होती है।

मुमुक्षु :—रुचि खूब गहराईसे जागृत करनेके लिये क्या करें?

बहिनश्री :—स्वयं अकारण पारिणामिक द्रव्य है, इसलिये रुचि अपनेको ही करनेकी है। यह स्वभाव ही आदरणीय है, विभाव आदरणीय नहीं है। विभावमें सुख नहीं है; उसके साथ एकत्वबुद्धि करना वह मिथ्या–अयथार्थ है। यथार्थ आत्मतत्त्व विभावसे जुदा होनेपर भी उसमें (विभावमें) एकत्व मान रहा हूँ वह मिथ्या माना है, विपरीत माना है, इसप्रकार यथार्थ ज्ञानपूर्वक निश्चय करके, स्वयं रुचिको दृढ़ करता रहे। ज्ञान, रुचि, पुरुषार्थ—सबको संबंध है; इसलिये यथार्थ ज्ञानसे निश्चय करना चाहिये कि बाह्यमें कहीं सुख नहीं है, आत्मामें सुख है। दो तत्त्व जुदे हैं। यह विभावतत्त्व जुदा है और मेरा आत्मतत्त्व जुदा है, ऐसे निश्चित करके रुचिका बल बढ़ाना चाहिये। ६११.

प्रश्न :—*यह सब मात्र विकल्पमें सम्मत हो तो चलेगा न?*

समाधान :—पहले विकल्प होता है; निर्विकल्प तो बादमें होता है। पहले तो अभ्यास ही होता है और वह अभ्यास गहराईसे हो तो भी उसका निर्णय ऐसा होना चाहिये कि यह अभ्यास तो विकल्पमें है, अंतरकी गहराईमें अभी उतरना बाकी है, ऐसा ध्येय रखे तो गहरे तक जानेका प्रयत्न हो। परंतु विकल्पमात्रमें अटक जाय कि मैंने बहुत कर लिया, तो आगे नहीं बढ़ सकता। यह विकल्पमात्र अभ्यास है, अभी इससे और आगे जाना है, ऐसा ध्येय होना चाहिये। यदि ऐसा ध्येय रखे तो आगे बढ़ सके।

मुमुक्षु :—क्या ध्रुवका ध्येय रखकर अभ्यास करना चाहिये?

बहिनश्री :—हाँ; ध्रुवका ध्येय रखना चाहिये, तो आगे बढ़ा जा सकता है।

मुमुक्षु :—ध्रुवका लक्ष्य रखकर बात सुनना वह क्या विकल्पात्मक भूमिका है?

बहिनश्री :—वह विकल्पात्मक भूमिका है। ध्रुवका ध्येय होना चाहिये कि मुझे आगे बढ़ना है, निर्विकल्प होना है। ६१२.

प्रश्न :—*कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि—गुरुदेव मिले, और यह बातें रुचती भी हैं तो भी आगे क्यों नहीं बढ़ा जाता?*

समाधान :—भावना तो ऐसे रहे कि इतना सब मिलनेपर भी आगेका कार्य क्यों नहीं होता? गुरु मिले, अंतरंग रुचि हो, (मार्ग) सच्चा लगे, परंतु स्वयं परिणतिको नहीं पलटता, वह करना बाकी है। अंतरमें भेदज्ञानकी परिणति प्रगट करके पलटा खाये और स्वानुभूति प्रगट कर ले, फिर तो उसे चारित्र बाकी रहता है। प्रथम सीढ़ी (उन्नति-क्रममें) सम्यग्दर्शन प्रधान है। और वह पलटा खानेसे होता है। यदि पलटा खा गया तो सच्चे मार्गपर चढ़ गया। ६१३.

प्रश्न :—*ज्ञानीके बिना ज्ञान गम्य नहीं है; परंतु ज्ञानीजनोंका साक्षात्कार होनेपर भी हमारी ऐसी परिस्थिति क्यों हो रही है?*

समाधान :—क्योंकि स्वयंने गुरुको तथा भगवान्‌को नहीं पहिचाना। उन्हें बाहरसे पहिचाना किंतु अंतरसे नहीं। अंतरसे अपूर्व रीतिसे नहीं पहिचाना कि यह सबसे निराले हैं! और अनूठी ही बात कह रहे हैं! गुरुदेव पंचमकालमें पधारे और अनोखे ढंगसे बात बतलायी, जिससे सबको इतना तो खयाल आया कि वे और ही कुछ कह रहे हैं! जीवने स्थूलदृष्टिसे-बाह्यदृष्टिसे भगवान्‌को तथा गुरुको पहिचाना; परंतु वे जो कह गये उसे ग्रहण नहीं किया। ६१४.

प्रश्न :—*'मैं भिन्न हूँ.....भिन्न हूँ' ऐसा लगा करता है तो वह क्या ठीक है?*

समाधान :—ज्ञानीको जागते-सोते, चलते-फिरते, स्वप्नमें निरंतर भिन्न लगे सो ठीक है; परंतु उससे पूर्व 'मैं भिन्न हूँ....भिन्न हूँ' ऐसा बोलने लगे वह बराबर नहीं है। तथा 'मैं भिन्न हूँ', ऐसा (शास्त्रसे) जान लेनेके पश्चात् 'मैं भिन्न हूँ' ऐसा विचार होता रहे वह भी बराबर नहीं है। परंतु साक्षात् ज्ञायक उसे हस्तामलकवत् दिख रहा (अनुभवाता) हो कि 'मैं यह रहा ज्ञायक, यह रहा मैं ज्ञायक' अर्थात् मैं ज्ञायक यह (विद्यमान) हूँ, ऐसा ही वेदन बना रहे, सो बराबर है। अपने ज्ञानमें ज्ञायक न्यारा ही लगा करे वह (ज्ञायक) प्रगटरूपसे अलग लगे सो यथार्थ है। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा मात्र विकल्प नहीं परंतु आत्मजागृति होनी चाहिये और वह दुनियासे जुदी ही होती है। जगत्‌से पृथक् हो जाय उसे फिर उलझन नहीं रहती। यह ज्ञायककी धारा मेरे हाथमें है, पुरुषार्थकी सहजधारा

अमुक प्रकारसे तो ज्ञानीके चलती ही रहती है, विशेष उग्रता पीछे होती है। उस धारामें निचली दशा हो तब अमुक समय मंदता होती है और अमुक समय तीव्रता होती है।

मुमुक्षु :—अंतरसे खयाल आता है, परंतु उग्रता कैसे लाना?

बहिनश्री :—श्रद्धाका बल बढ़े तो उग्रता हो। अंतरतत्त्वकी शक्ति बढ़े, अंतरमें विरक्ति बढ़े, चैतन्यकी–अपनी महिमामें वृद्धि हो और बाहरकी महिमा छूटे, बाह्यमें आकुलता लगे और ज्ञायककी महिमा बढ़ जाय तो उग्रता बढ़ती है। अभी (स्वयंको) श्रद्धाके बलमें मंदता लगती है तो स्वयं विचारना चाहिये कि वैसा क्यों है? ६१५.

प्रश्न :—*अपने उदयके कारण (अपने) बालकको कठिनाई होती है न?*

समाधान :—तुम्हारे उदयसे बालकको तकलीफ नहीं होती। उसे उसके अपने उदयसे तकलीफ होती है। उसका उदय स्वतंत्र है और तुम्हारा उदय भी स्वतंत्र है। उस बालकने ऐसे परिणाम किये होते हैं इसलिये उसे तकलीफ पड़ती है, उस प्रकारके संयोग मिलते हैं।

किसीका जन्म राजाके घरमें होता है, किसीका रंकके घरमें; और कोई कहीं जन्म लेता है।—इसप्रकार सर्व जीव अपना–अपना उदय साथ लेकर आते हैं। इसलिये तो शास्त्रोंमें आता है और गुरुदेव भी कहते हैं कि: आत्माका (हित) कर ले! जन्म–मरण करते–करते अनंत भव बीत गये। उनमें अपने परिणामके अनुसार किसीको मनुष्यभव प्राप्त होता है तो कोई देव, नारकी या तिर्यंच होता है। उसमें कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता।

शुभाशुभभावोंका कर्ता तथा उनके फलका भोक्ता स्वयं है। और उनसे पृथक् होकर, 'मैं आत्मा शाश्वत हूँ, मुझमें आनंद है' इसप्रकार आत्माको जाननेवाला भी स्वयं ही है। आत्माकी पहिचान करनेवाला मोक्ष प्राप्त करता है। अंतरमें भेदज्ञान करके ऐसा जाने कि शरीर जुदा और मैं जुदा हूँ; संकल्प–विकल्प होते हैं वह मैं नहीं हूँ; मैं ज्ञाता आत्मा किसीका कुछ कर नहीं सकता; (ऐसे भेदज्ञानरूप परिणमित हो तो) अंतरमें मोक्षदशा प्रगट होती है। जिनेन्द्र भगवान् और गुरु तो उपदेश देते हैं परंतु तदनुसार पुरुषार्थ तो स्वयंको करना रहता है। कोई किसीका कुछ कर नहीं सकता। आत्माकी साधना भी स्वयं करता है। ६१६.

प्रश्न :—*क्रमबद्ध पर्याय माननेसे पुरुषार्थ उड़ जाता है, यह बात ठीक है?*

समाधान :—जो क्रमबद्ध है वह पुरुषार्थपूर्वक है। जो क्रमबद्धको यथार्थ माने उसमें पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्ध सच्चा माना कब कहलाये कि जिसमें पुरुषार्थ साथ हो। तब (सच्चा) माना है। पुरुषार्थपूर्वक क्रमबद्ध है। 'ऐसा ही होना है', वैसा निर्णय पुरुषार्थके बल और पराक्रमको सूचित करता है। पुरुषार्थपूर्वक क्रमबद्ध न माने तो वह क्रमबद्धको मानता ही नहीं है। ६१७.

प्रश्न :—*अपनी शुद्धपर्यायके साथ तत्पना घटित होता है या अतत्पना?*

समाधान :—अपनी शुद्धपर्यायके साथ तत्पना भी है और अतत्पना भी है। शुद्धपर्यायरूपसे आत्मा परिणमता है वह तत्पना है; और पर्याय जितना आत्मा नहीं है अर्थात् आत्मा तो अखंड है जब कि पर्यायका स्वरूप क्षणवर्ती है, इसलिये पर्यायके साथ अतत्पना है। इसप्रकार अपनी पर्याय है इसलिये तत्पना और पर्याय क्षणवर्ती है इसलिये अतत्पना है। ६१८.

प्रश्न :—*स्थूल उपयोगको सूक्ष्म करके अंतरमें जानेकी विधि क्या है?*

समाधान :—विधि तो अपनेको करना है। स्थूल उपयोगको सूक्ष्म करनेके लिये अंतरमें जाना, स्वभावको पहिचानना। अपना मार्ग अपने हाथमें है। बाह्य दृष्टि करनेसे उपयोग स्थूल हो जाता है और भीतरमें दृष्टि करनेसे—स्वभावको ग्रहण करनेसे—उपयोग सूक्ष्म होता है। स्वभावकी गहराईमें उतरनेसे उपयोग सूक्ष्म होता है। प्रज्ञाछैनीसे स्वभावको ग्रहण करे तो उपयोग सूक्ष्म होता है और यदि वह बाहर जाता है तो स्थूल होता है। ६१९.

प्रश्न :—*पराश्रितज्ञान सर्वथा हेय है, तो परकी जानकारी भी हेय है न?*

समाधान :—पराश्रितज्ञान अर्थात् परका आश्रय लेनेवाला ज्ञान वह हेय है; क्योंकि परकी ओर जानेसे उसमें राग होता है, एकत्वबुद्धि होती है। इसलिये वह हेय है। वस्तुतः ज्ञान कहीं हेय नहीं है; किन्तु परके साथ एकत्वबुद्धि करना, राग करना वह हेय है, तथा परका आश्रय लेनेसे ज्ञानोपयोग खंड-खंड हो जाता है (इसलिये उसे हेय कहा है)। ज्ञानका स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। वीतरागदशा प्रगट हो तब स्व और परको जाननेरूप सहजज्ञान होता है; वह परको जानने नहीं जाता। 'इसे जानूँ....इसे जानूँ,' इसप्रकार दर-दर भटकना नहीं पड़ता, एक आत्माको जाने उसमें सर्वस्व आ जाता है। ६२०.

प्रश्न :—*स्वको जाने विना, मात्र परको जानना वह क्या हेय है?*

समाधान :—परको जानना वह हेय नहीं है, परंतु परमें निमग्न होना वह हेय है। मात्र परको जाने और ज्ञायकको न जाने वहाँ ज्ञेयमें निमग्न हो जानेसे वह हेय है। ज्ञानमें निमग्नता अर्थात् आत्मामें स्थिर रहना। ज्ञानमें ज्ञेय सहज ज्ञात होते हैं परंतु उनमें राग करना, निमग्न होना वह हेय है। मात्र परको जानना वह यथार्थ नहीं है, परंतु आत्माको जानकर परका जानना वह यथार्थ है। स्वपूर्वक परको जाने सो यथार्थ है। मात्र परको जानना वह विपर्यय है, मिथ्यात्व सहितका मिथ्याज्ञान है। ६२१.

प्रश्न :—*जिसे संसार दुःखमय लगे और आत्माकी महिमा आये तो वह आत्माकी खोज करे, क्या यह यथार्थ है?*

समाधान :—जिसको संसार दुःखमय लगे और आत्माकी जिज्ञासा–पिपासा जगे उसीको आत्माकी महिमा आती है। जिसको संसारमें तन्मयता होती है उसको अपनी महिमा नहीं आती। जिसे संसारमें दुःख लगे कि यह संसार अच्छा नहीं है, दुःखरूप है, और आत्मवैभव ही जगत्में अनुपम है, ऐसी उसे आत्मजिज्ञासा जगे, महिमा आवे तो वह आत्माको देखनेका प्रयत्न करे। वह आत्मा कौन दिखलाये? आत्मा कहाँ है?—ऐसी जिज्ञासा होती है तो वह खोज करता है। ६२२.

प्रश्न :—*परको जानना दुःखका कारण है या रागका करना वह दुःखका कारण है?*

समाधान :—परको जानना वह दुःखका कारण नहीं है; किंतु परके प्रति राग करना वह दुःखका कारण है। ६२३.

प्रश्न :—*मुझे आत्मा प्राप्त करना ही है, ऐसी भावना लेकर प्रारंभ किया था; वह भावना यदि मंद हो जाय तो क्या निर्णय बदल जाता है?*

समाधान :—मुझे तो आत्मकार्य ही करना है, वह भावना, यदि मंद पड़े तो निर्णय बदल जाता है। आत्मा ही सर्वस्व है ऐसा करके निर्णय किया हो और यदि भावना बदल जाय तो उसका निर्णय भी डावाँडोल होनेका अवकाश है। ६२४.

प्रश्न :—*स्वानुभूतिकी दशा तो वचनातीत है परंतु आपने जो संकेत किया उसमें कुछ और विशेष कहिये।*

समाधान :—वह वचनसे कहनेकी बात नहीं है। स्वानुभूतिमें आनंद-तरंगे

उछलती हैं। आत्माका स्वभाव अद्भुत, अपूर्व एवं आश्चर्यकारी है। आत्मामें आनंदगुण हैं, इसलिये स्वानुभूति होनेपर आत्मा आनंद-तरंगोंमें डोलता है। अनंतगुण एवं पर्यायोंसे परिपूर्ण आत्माका जैसा स्वरूप है वैसा स्वानुभूतिमें प्राप्त होता है। स्वानुभूति होनेपर आत्मा जिन आनंद-तरंगोंमें डोलता है वह आनंद जगत्से जुदा है, निराला है तथा वह वचनातीत है। यद्यपि ऐसा कहा जाता है कि आत्मा आनंद-तरंगोंमें डोलता है; बाकी तो उसे अनंतगुणोंकी विभूति प्रगट होती है, उसमें वह डोलता है। मुख्यरूपसे (वेदनमें) आनंदगुण है, इसलिये आनंद-तरंगोंमें डोलता है ऐसा कहा जाता है।

द्रव्य (सर्वथा) कूटस्थ है, कोई कार्य नहीं करता ऐसा नहीं है। वह परिणमता है, पर्यायोंकी तरंगें उछलती हैं। द्रव्यपर दृष्टि होनेसे उसकी दृष्टि पर्यायके ऊपर नहीं है, परंतु उससे उसे स्वानुभूतिकी पर्याय प्रगट नहीं होती ऐसा नहीं है। पर्यायोंमें आनंदकी तरंगें उछलती हैं और वे वचनातीत हैं, वचनमें आये ऐसी नहीं हैं; द्रव्य–गुण–पर्यायसे शोभित आत्मा अपूर्व है, अद्भुत है एवं आश्चर्यकारी है। अनुभूति होनेपर वह आनंद-तरंगोंमें डोलता है—ऐसा वह जगत्से निराला तत्त्व है। ६२५.

प्रश्न :—*क्रोधका उदय आये तो उससे बचनेके लिये ज्ञानी क्या करते हैं?*

समाधान :—'मैं तो शांतस्वरूप हूँ' ऐसी ज्ञायककी परिणति ज्ञानीको प्रगट हुई होनेके कारण ज्ञायककी डोर उसे क्रोधसे वापस खींच लेती है, वह क्रोधमें मर्यादासे बाहर नहीं जाता। उसे ऐसा भेदज्ञान है कि क्रोधमें एकत्व नहीं होता, क्रोधसे पृथक् का पृथक् ही रहता है, ऐसी भेदज्ञानकी धारा उसे वर्तती है।

मुमुक्षु :—उपयोग तो क्रोधमें होता है, तो क्या वह उपयोगको वापस मोड़ लेनेका प्रयत्न करता है?

बहिनश्री :—उपयोग भले ही क्रोधमें हो, परंतु ज्ञायककी डोर चल ही रही है, इसलिये क्रोधमें एकत्व नहीं होता और उपयोगको वापस मोड़नेका प्रयत्न करता है। ज्ञानीकी परिणति तो पृथक् की पृथक् रहती ही है, परंतु उपयोग भी अधिक बाहर न जाये वैसे उसे सहजरूपसे वापस मोड़ता है। ज्ञानीको भेदज्ञानकी धारा वर्तती है, विरक्तिकी परिणति प्रगट हुई है तथा ज्ञायक उसके हाथमें है, इसलिये परिणति भी अंतरमें पृथक् परिणमती है। अमुक अंशमें स्थिरता–लीनता वर्तनेके कारण उसे अमुक अंशमें शांतपना छूटता ही

नहीं। बाहरसे चाहे जैसा दिखाई दे, किन्तु क्रोधमें वह एकदम आकुल-व्याकुल नहीं होता। ६२६.

प्रश्न :—*सर्वज्ञकी प्रतीतिपूर्वक क्रमबद्धको समझे तो उसमें पुरुषार्थ आता है?*

समाधान :—उसमें पुरुषार्थ तो आता ही है। भगवान्ने जो क्रमबद्ध देखा है वह पुरुषार्थके साथ ही देखा है। जो जीव पुरुषार्थ करता है उसको भवका अभाव होता है। यदि ज्ञायकका पुरुषार्थ करता है, ज्ञाता होता है तो भवका अभाव होता है। जो ज्ञायकका पुरुषार्थ नहीं करते और क्रमबद्धकी बात करते हैं तो उन्हें नुकसान होता है। ६२७.

प्रश्न :—*ज्ञानीकी अंतरंगदशा कैसी होती है?*

समाधान :—ज्ञानीकी अंतरंगदशा कोई अलग ही प्रकारकी है। भेदज्ञानकी सहजधारा निरंतर वर्तती है। ज्ञायककी धारा होनेसे जो-जो विकल्प उठते हैं उन सबसे ज्ञानी भिन्न रहते हैं। ज्ञानी विकल्परूप ज्ञायक नहीं अपितु परिणतिरूप ज्ञायक रहते हैं।

जैसे अज्ञानीको अनादिसे एकत्वबुद्धि चल रही है वैसे ही ज्ञानीको भेदज्ञानकी परिणति सहज वर्तती है, सहज पुरुषार्थ रहता है। बाह्यमें सब (गृहस्थजीवन) दिखनेमें आता है, किंतु उनके अंतरंगको ग्रहण करे तो उनकी दशा पकड़नेमें आती है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी बाह्यमें तो गृहस्थाश्रममें रहते हैं लेकिन उनका अंतरंग परिचय हो तो खयालमें आये कि उनका हृदय भीतरमें क्या है? यदि ज्ञानी गृहस्थाश्रममें हों तो उन्हें पहिचानना मुश्किल होता है। ६२८.

प्रश्न :—*आपके वचनामृतमें ज्ञान-वैराग्यकी धाराका उल्लेख अनेक बार आया है तो उसका भाव क्या लेना?*

समाधान :—'मैं तो ज्ञायकस्वरूप हूँ, विभाव मेरा स्वभाव नहीं है' ऐसे ज्ञायकको यथार्थरूपसे पहिचानकर ग्रहण करता है तब समस्त विभावोंसे विरक्त होता है। जितने कार्य बाह्यमें होते हैं और अंतरमें जितने विकल्प आते हैं उन सबसे वह न्यारा हो जाता है और वही वास्तवमें सच्ची विरक्ति है। अलौकिक ज्ञान द्वारा ज्ञायकको ग्रहण करते ही ज्ञान-वैराग्यकी धारा निरंतर चलती है। उसका हृदय शुष्क नहीं होता। उसके ज्ञान-वैराग्यकी धारा निरंतर चलती है। यदि ज्ञानी गृहस्थाश्रममें हो तब उसे मैं कब

मुनिदशा अंगीकार करूँ, कब मुझे केवलज्ञान हो ऐसी भावना अर्थात् बारंबार भीतरमें जानेकी भावना अंतरमेंसे उछलती रहती है। ज्ञायककी परिणति निरंतर बनी रहती है। कभी-कभी निर्विकल्पदशा होती है; किन्तु भेदज्ञानकी धारा तो निरंतर वर्तती है। ६२९.

प्रश्न :—*आत्मा शरीरसे भिन्न है वह तो तुरन्त खयालमें आता है, परंतु जो विभाव होते हैं उनसे भिन्नताका खयाल नहीं आता?*

समाधान :—वह कठिन है। शरीर जड है और वह दिखाई देता है इसलिये उससे भेदज्ञान करना_सरल लगता है। उपयोग सूक्ष्म हो और अपनेको अंतरसे रस-रुचि जगे तो विभावोंसे पृथक् हो सके। विभावोंसे पृथक् होना उसे मुश्किल पड़ता है। परंतु अंतरसे वैसी तैयारी हो तो पृथक् हो सकता है। ६३०.

प्रश्न :—*आत्मा कैसे दिखाई दे? उसमें लीन होनेका प्रयत्न करते हैं परंतु अंधकार ही दिखाई देता है?*

समाधान :—ज्ञायक ज्योतिको पहिचाने तो आत्मा दिखाई दे। ज्ञायकको पहिचानना चाहिये कि यह रहा मैं आत्मा.....यह रहा मैं ज्ञायक; जैसी चैतन्यस्वभावी वस्तु है वैसी स्वयं श्रद्धा करे तो उसे देख सके। "निज नयनोंके आलससे रे.....मैं देख न सका हरिको।" अपने नेत्रोंके आलश्यवश आँख खोलकर स्वयं नहीं देखता, तो चैतन्यभगवान् दिखाई कहाँसे दें? स्वयं देखता ही नहीं तो फिर तो अंधकार ही दिखेगा न! अपने ज्ञानरूपी चक्षुओंको नहीं खोलता इसलिये आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता; यदि खोले तो दिखाई दे। ६३१.

प्रश्न :—*आत्माको देखनेका मन तो बहुत होता है?*

समाधान :—परंतु उसका उपाय नहीं करता। आत्माको देखनेका उपाय करना चाहिये कि मैं कैसे भीतरमें जाऊँ? उसका उपाय क्या है?—ऐसे उपाय करना चाहिये। अनादिकालीन अन्य अभ्यास होनेके कारण बाहर ही बाहर रहता है; लेकिन उपाय करे तो भीतर जा सकता है। कोई दूसरा नहीं स्वयं ही है। अपना स्वभाव है वह सहज है, सरल है तथापि अनादिकालसे दूसरा ही अभ्यास वर्तता है और बाहर ही बाहर भटक रहा है इसीलिये यह दुर्लभ हो रहा है। भीतरमें जो अपना स्वभाव है वह सरल है किन्तु पुरुषार्थ नहीं करता इसलिये नहीं दिखता। ६३२.

प्रश्न :—*विकल्प सहज है वह कैसे?*

समाधान :—किसी अपेक्षासे विकल्प सहज है। जो विकल्प-विभाव होते हैं उनका कर्ता मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ, इस अपेक्षासे विकल्प सहज है ऐसा कहा है। बाकी तो वे अपने पुरुषार्थकी मंदतासे होते हैं और यदि स्वयं स्वरूपसन्मुख हो जाय तो वे छूट जाते हैं।—ऐसी दो अपेक्षायें हैं।

विकल्प अकेला सहज ही है अर्थात् जो होना हो वह होता है ऐसा एकांत ग्रहण करनेसे नुकसानका कारण होता है। जैसा होना हो वैसा होता है, स्वयं कुछ कर नहीं सकता, पुरुषार्थ करे तो भी विकल्प नहीं छूटते ऐसा सहजका अर्थ नहीं है।

विकल्प अपना स्वभाव नहीं है, इसलिये द्रव्य-अपेक्षासे उसका कर्ता नहीं है, अतः उसे सहज कहा है; परंतु दूसरी अपेक्षासे विकल्पको अपना जाने कि वह पुरुषार्थकी मंदतासे होता है और स्वयं स्वभावकी ओर झुके और ज्ञायक हो जाय तो वह छूट जाता है।—ऐसी दो अपेक्षाएँ हैं। विभाव जब होना हो तब होता है ऐसी एक ही अपेक्षा अर्थात् एकांत लेनेसे हानि होती है, शुष्कता जैसा हो जाता है कि होना हो वह होता है, हम कुछ कर नहीं सकते; विकल्प छूटना होगा तब छूटेगा ऐसा एकांत नहीं है। अपने पुरुषार्थकी मंदताके कारण स्वयं उसमें रुका है, अपनी परिणतिकी मंदता है इसलिये होता है और पुरुषार्थ करे तो छूट जाता है। ६३३.

प्रश्न :—*सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये पहले प्रमाणज्ञानसे पुरुषार्थ करें अथवा ध्रुव-ज्ञायकके बलसे करें? कृपया रीति समझायें।*

समाधान :—दोनों साथ हैं। 'मैं ज्ञायक हूँ, ध्रुव हूँ' ऐसा जोर हो और 'पर्यायमें अपूर्णता है' उसका ज्ञान हो—इन दोनों प्रकारसे पुरुषार्थ उठता है। आत्मा द्रव्यस्वभावसे शुद्ध है ऐसा जोर होनेपर भी द्रव्यमें शुद्धता है और पर्यायमें अशुद्धता है, ऐसे दोनोंका ज्ञान, प्रमाणमें साथ रहता है। परिणति भले ही द्रव्यपर दृष्टि दे (दृष्टि भले ही द्रव्यकी हो) तथापि ज्ञान साथ ही रहता है। ६३४.

प्रश्न :—*पुरुषार्थ करनेके लिये जोर किस पर देना?*

समाधान :—जोर द्रव्यपर जाता है, परंतु ज्ञान साथ रहता है। अकेले द्रव्यपर जोर जाये और पर्याय कुछ ही नहीं ऐसा माने तो द्रव्यके ऊपरका जोर मिथ्या होता है।

द्रव्यपर जोर दे और पर्यायमें राग या कुछ नहीं है ऐसा जाने तो द्रव्यका जोर मिथ्या होता है। दृष्टि और ज्ञान दोनों साथ रहते हैं और तभी उसकी द्रव्यदृष्टि भी सम्यक् है। सम्यग्ज्ञान साथ न हो तो द्रव्यदृष्टि भी सम्यक् नहीं है। भले ही द्रव्यपरका जोर मुख्य रहे तथापि (पर्यायका) ज्ञान साथ रहता है। इसलिये प्रमाणज्ञान किसी कामका नहीं है ऐसा उसका अर्थ नहीं है; द्रव्यदृष्टिकी मुख्यतापूर्वक प्रमाणज्ञान साथ ही रहता है। ६३५.

प्रश्न :—*प्रमाणज्ञान किस प्रकार कार्यकारी है?*

समाधान :—द्रव्यदृष्टि ग्रहण करनेसे द्रव्य शुद्ध है ऐसा जोर आनेपर भी पर्यायमें अशुद्धता है वह खयाल ज्ञानमें है। ज्ञानको शुद्धता और अशुद्धता दोनोंका खयाल है और इसलिये अशुद्धताको टालनेका पुरुषार्थ उठता है। अतः वह (जानना) भी कार्यकारी है। अशुद्धता टालनी है और शुद्ध पर्याय प्रगट करनी है उसके लिये द्रव्यपर दृष्टिका जोर होता है; तथापि अभी पर्यायमें अशुद्धता है और शुद्धपर्याय प्रगट करनी है इसलिये प्रमाणज्ञान भी कार्यकारी है। द्रव्यदृष्टिके बलसे तथा प्रमाणज्ञानसे—दोनोंसे पुरुषार्थ उठता है। दोमेंसे एक ही हो तो दृष्टि और ज्ञान दोनों मिथ्या होते हैं। द्रव्यपर दृष्टि न हो और मात्र ज्ञानसे विचार करे तब भी ज्ञान सम्यक् नहीं होता। तथा द्रव्यपर दृष्टिका जोर हो और ज्ञान कार्य न करे तो द्रव्यपर दृष्टिका जोर एकांत हुआ, अर्थात् पर्यायका—स्वरूप ग्रहणका पुरुषार्थ हुआ या नहीं उसका—कुछ खयाल ही नहीं है तो द्रव्यदृष्टि मिथ्या होती है। मुक्तिके मार्गमें दोनों कार्य करते हैं।

मुख्यता भले ही द्रव्यदृष्टिके बलकी हो, परंतु प्रमाणज्ञान साथ होता है। दोनों साथ ही साथ कार्य करते हैं। ६३६.

प्रश्न :—*प्रमाणज्ञान साथ न रखें तो निश्चयाभासी होनेका अवकाश है?*

समाधान :—हाँ; निश्चयाभासी होनेका अवकाश है, उसकी द्रव्यदृष्टि ही मिथ्या है।

मुमुक्षु :—अनेकांतकी शैली ऐसी है कि दोनों पहलुओंसे स्वरूपकी ओर जानेकी प्रेरणा मिले?

बहिनश्री :—हाँ, अनेकांतका स्वरूप ही ऐसा है। द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध हूँ इसप्रकार दृष्टिमें एकांत आया, तब द्रव्य-पर्यायका ज्ञान भी साथ रहता है अर्थात् सम्यक् एकांतके साथ अनेकांत रहा हुआ है और तब एकांत सच्चा होता है। ६३७.

प्रश्न :—*सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके लिये एक क्षणभंगुरताका विचार करके वैराग्य लाये और एक आत्माका बहुमान लाये—उन दोमेंसे कार्यकारी कौन है?*

समाधान :—वैराग्य लानेके लिये 'सब क्षणिक है' ऐसा विचार करे, उसीके साथ आत्माकी महिमादि सभी होने चाहिये। वैराग्य हेतु ऐसा विचार करे कि यह देह तो क्षणभंगुर है, यह शरीर शाश्वत नहीं है, आत्मा महिमावान् है, यह सब दुःखरूप एवं आकुलतामय है।—ऐसे अनेक प्रकारसे वैराग्य आता है। वैराग्य आये उसमें आत्माको पहिचाननेका ध्येय (मुख्य) होना चाहिये। मेरा आत्मा शाश्वत है और यह देह क्षणभंगुर है, इसप्रकार अपने अस्तित्वकी ओर अपना जोर आना चाहिये। यह देह शाश्वत नहीं है, तो शाश्वत क्या है?—मेरा आत्मा शाश्वत है। इसप्रकार शाश्वत आत्माके ध्येयपूर्वक 'अन्य यह सब क्षणभंगुर है' ऐसा वैराग्य यथार्थ है। ६३८.

प्रश्न :—*आत्माके स्वभावकी मुख्यता होती है?*

समाधान :—मुख्यता आत्माके स्वभावकी होनी चाहिये। मात्र क्षणभंगुरताका वैराग्य आये और शाश्वत आत्माकी ओरका ध्येय न हो तो वह मात्र वैराग्य जितना ही होगा; इसलिये शाश्वत आत्माका ही ध्येय होना चाहिये। आत्मा शाश्वत है, और यह सब क्षणिक है, इसलिये शाश्वत आत्माको ही ग्रहण करना। यह बाहरी कुछ भी ग्रहण करने जैसा नहीं है, वह सब तो परद्रव्य हैं और उनमें परिवर्तन होता रहता है, परंतु मेरा आत्मा एकसा शाश्वत रहनेवाला है, इसप्रकार उसे ग्रहण करना। अपनी ओरका—अपने अस्तित्वके ग्रहणका—बल, ध्येय अंतरंगसे आना चाहिये। यदि वह आये तो यथार्थरूपसे त्याग हो। अंतरसे राग छूटे तब सच्चा वैराग्य आये और वह शाश्वत आत्माके बलपूर्वक आता है। ६३९.

प्रश्न :—*क्या निरंतर भेदज्ञान करते रहना?*

समाधान :—अंतर स्वभावको पहिचानकर निरंतर भेदज्ञान करना। यद्यपि अंतरसे भेदज्ञान हो तभी यथार्थ भेदज्ञान होता है; परंतु वह न हो तबतक उसकी भावना–रटन करना। प्रथम भले ही विकल्पपूर्वक भेदज्ञान करे, परंतु यथार्थ तो जब सहज हो, तब होता है। द्रव्यपर दृष्टि करना तथा भेदज्ञान करना वह एक ही उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है। ६४०.

प्रश्न :—*द्रव्यको अकारण पारिणामिकभाव किस प्रकार कहा है?*

समाधान :—द्रव्यको कोई कारण लागू नहीं होता, वह स्वतःसिद्ध है। किसीके

कारणसे द्रव्य परिणमन करे तब तो द्रव्य पराधीन हो जाय; परंतु वह तो अनादि-अनंत शाश्वत स्वतःसिद्ध है और स्वयं अपने आप परिणमन करता है। विभावमें जानेवाला भी स्वयं, और स्वभावमें जानेवाला भी स्वयं है। कर्म तो मात्र निमित्त है। स्वयं ही परिणमन करता है, उसे अन्य कोई परिणमित नहीं करता। द्रव्य स्वतःसिद्ध अनादि-अनंत शुद्ध है और अपनी परिणतिमें स्वयं अपनेसे अशुद्ध होता है। ६४१.

प्रश्न :—*क्या द्रव्यको पर्यायकी भी अपेक्षा नहीं है?*

समाधान :—द्रव्यको पर्यायकी अपेक्षा नहीं है और पर्यायकी परिणति स्वतः परिणमन करती है; तथापि पर्याय एवं द्रव्य दोनोंके सर्वथा टुकड़े नहीं हैं। द्रव्यके आश्रयसे पर्याय होती है, परंतु है सब स्वतः किसीके कारण कोई नहीं है। द्रव्य स्वयं ही परिणमता है और उसके मूल स्वभावमें अशुद्धता नहीं होती। द्रव्य जुदा रहता है और पर्याय जुदी परिणमती है ऐसे खंड नहीं हैं। पर्याय अंश है और द्रव्य अंशी है ऐसा भेद है; परंतु यह सर्वथा द्रव्यका खंड है और यह दूसरा पर्यायका खंड है, ऐसा नहीं है। ६४२.

प्रश्न :—*क्या यह सब विस्तारसे जानना चाहिये?*

समाधान :—कोई विस्तारसे जाने या संक्षेपसे जाने, (प्रयोजनभूत) जानना तो बीचमें आता है। यह पर और यह स्व, यह विभाव और यह स्वभाव, ऐसे भेदज्ञान करता है उसमें भी इतना जानना आता है। यह स्वभाव और यह विभाव, ऐसा भेदज्ञान करके स्वको जाने उसमें विशेष भेद न जाने, तब भी 'मैं एक अखंड तत्त्व हूँ' ऐसा साथ आ ही जाता है। एक स्त्री दाल और छिलके अलग-अलग कर रही थी उसे देखकर शिवभूति मुनि गुरुके कथनका आशय समझ गये कि गुरु ऐसा कहना चाहते हैं कि जिसप्रकार दाल और छिलके भिन्न हैं उसी प्रकार स्वभाव और विभाव भिन्न हैं। ज्ञानी स्वभाव-विभावको भिन्न करवाकर एक स्वभावको भली भाँति लक्ष्यमें पकड़वाते हैं और जहाँ एक स्वभावको लक्ष्यमें लिया वहाँ उसमें गुण-पर्यायका ज्ञान साथ आ जाता है। 'यह ज्ञायक' इसप्रकार स्वभावको पहिचान लिया तो यह ज्ञायक है; वह आत्मा परिणतिवान् है, सर्वथा कूटस्थ नहीं है; गुणभेद होनेपर भी वस्तु अभेद है, खंडखंड नहीं है।—ऐसा सभी ज्ञान साथमें आ जाता है। यथार्थरूपसे ज्ञायकको लक्ष्यमें लेनेवाला कोई पात्र हो तो संक्षेपमें जल्दी समझ जाता है; विशेष क्षयोपशम हो वह सारांश समझ लेता है। कोई विचार करे और द्रव्य-गुण-पर्यायको (विस्तारसे) जाने। परंतु अमुक प्रकारसे जाने तभी लक्ष्यमें आता है। ६४३.

प्रश्न :—*आगमका अभ्यास होता है?*

समाधान :—आगमका अभ्यास भले हो। बीचमें सब कुछ आता है, परंतु उसमें इतना ही जानना और इतना ही अभ्यास होना चाहिये अथवा आगमका विशेष अभ्यास हो तभी समझमें आये, ऐसा नहीं है। आगममें क्या कहना है?—इसप्रकार आगमका-गुरुका आशय समझे तब भी अनुभव हो सकता है। आशय समझनेमें द्रव्य-गुण-पर्याय, स्व-पर भेदज्ञानका स्वरूप आदि समस्त ज्ञानका समावेश हो जाता है। उसमें संक्षेपसे या विस्तारसे समस्त ज्ञान आ जाता है। ६४४.

प्रश्न :—*भगवान्‌के समवसरणमें जो असंख्यात प्राणी ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे भगवान्‌के कथनका मूलभूत हेतु समझ जाते होंगे?*

समाधान :—वे भगवान्‌का आशय समझ जाते हैं। भगवान्‌के समवसरणमें अनेक जीव तुरत समझ जाते हैं, किन्हींको समझनेमें देर भी लगती है। समवसरणमें भगवान्‌की दिव्यध्वनि छूट रही हो उस समय अनेक जीव तो क्षणमें सम्यग्दर्शन और मुनिपना आदि झट प्राप्त कर लेते हैं, जबकि अनेक जीवोंको देर भी लगती है। भगवान्‌की वाणीका निमित्त इतना प्रबल है कि वह उपादान तैयार होनेका एकदम कारण बनती है। परंतु जब स्वयं तैयार हो तब बनती है। (अपना उपादान तैयार हो तब भगवान्‌की वाणी निमित्त होती है।) ६४५.

प्रश्न :—*कोई योग्यतावान् जीव हो वह आशय ग्रहण कर सकता है, परंतु द्रव्य-गुण-पर्यायका स्वरूप न जाने तो वह ज्ञायकको लक्ष्यमें लेकर, अंतर्मुख होकर, अपना कार्य कर सके?*

समाधान :—तिर्यंचको अपने द्रव्यस्वभावका ग्रहण हो जाता है, अस्तित्वका ग्रहण हो जाता है। 'मेरा अस्तित्व अनंत शक्तिसे परिपूर्ण है' ऐसा उसे अंतरसे आ जाता है। उसे गुण या पर्याय शब्दका ज्ञान नहीं है, परंतु 'मैं एक चैतन्यद्रव्य हूँ, मेरा अस्तित्व सबसे भिन्न है; विभाव स्वभाव मेरा नहीं है, विकल्प उठें वह मैं नहीं हूँ—मेरा स्वरूप नहीं है' ऐसा आशय समझ जाता है और अपने स्वभावको ग्रहण कर लेता है कि 'ज्ञाता सो मैं।' मैं ज्ञाता कैसा हूँ?—मैं केवल ज्ञाता हूँ ऐसा नहीं, परंतु अनंततासे भरपूर ऐसा ज्ञायक हूँ, ऐसा आशय ग्रहण हो जाता है। अनंतता और अचिंत्यतासे भरपूर ऐसा मैं ज्ञायक हूँ, ऐसा

स्वीकार करनेसे उसमें अनंतगुणोंका समावेश हो जाता है। तिर्यंचको परिणति आदि शब्द नहीं आते, परंतु ज्ञायककी गंभीरता ग्रहण करता है उसकी गहराईमें सबका समावेश हो जाता है। अस्तित्व, गुण, पर्याय आदि नाम नहीं आते, परंतु अंतरमें अपना अस्तित्व ग्रहण करता है, स्वभावकी पहिचान करता है उसमें सब आ जाता है। 'यह शरीर सो मैं नहीं हूँ, अंतरमें जो खाने-पीनेके विकल्प आते हैं वह भी मेरा स्वरूप नहीं है, उनसे मैं भिन्न हूँ' ऐसे अपने अस्तित्वको जानकर, भेदज्ञान करके तिर्यंच भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। 'मैं आश्चर्यकारी वस्तु हूँ, अनंत गंभीरतावान् अस्तित्व हूँ' ऐसे अपनेको ग्रहण करता है उसमें गुण-पर्याय आदि सबके ज्ञानका समावेश हो जाता है। ६४६.

प्रश्न :—*तिर्यंचको अपने अस्तित्वकी इतनी महिमा आती है?*

समाधान :—अपने ज्ञायकके अस्तित्वको स्वयं महिमाद्वारा ग्रहण करता है कि मैं यह ज्ञायक कोई निराला ही हूँ। मैं अनंत सामर्थ्यसे परिपूर्ण शक्तिवान् पदार्थ हूँ। यह तुच्छ विकल्प मेरा स्वभाव नहीं है। और उसके अंतरमें द्रव्य-गुण-पर्यायके स्वरूपके ज्ञानका समावेश होता है। उसे न्याय, तर्क या युक्तियाँ नहीं आती, परंतु अस्तित्वका ग्रहण करता है उसमें सब आ जाता है। 'मैं ज्ञायक ध्रुव, कूटस्थ हूँ, परिवर्तनशील नहीं हूँ' ऐसा कुछ शब्दोंमें भले-ही नहीं आता, परंतु 'मैं महिमावान् ज्ञायक हूँ और अपने अस्तित्वको धारण करनेवाला, अपने स्वरूपमें रहनेवाला तथा बाहर नहीं जानेवाला ऐसा मेरा स्वभाव है' ऐसा उसे ग्रहण हो जाता है। उसे नाम नहीं आते, परंतु आत्माको ग्रहण करके उसीमें स्थिर रहूँ तो यह सब छूट जाय, ऐसे सब भाव ग्रहण कर लेता है। नवतत्त्वोंके नाम नहीं आते, परंतु 'मैं आत्मा हूँ और यह रागादि विभाव हैं तथा किसी प्रकारके विभाव परिणाम मेरा स्वभाव नहीं हैं' इसप्रकार आत्माको ग्रहण करके अपनेमें एकाग्र होनेका प्रयत्न उसके होता है और उसमें सब ज्ञान आ जाता है। पुण्य-पाप, जीव-अजीवादि सबके ज्ञानका समावेश हो जाता है। ६४७.

प्रश्न :—*'जिस ज्ञानके साथ आनंद न आये वह ज्ञान नहीं अज्ञान है' ऐसा 'वचनामृत'में आता है; तो उसका विशेष स्पष्टीकरण करनेकी कृपा करें।*

समाधान :—ज्ञानके साथ आनंद नहीं है तो वह यथार्थ ज्ञान ही नहीं है। जिसे सम्यग्दर्शन हो, स्वानुभूति हो उसे ज्ञानके साथ आनंद आता ही है; यदि आनंद न आये तो ज्ञान सम्यक्रूपसे परिणमित ही नहीं हुआ है, मात्र लूखा ज्ञान है। यदि ज्ञानके साथ

आनंदकी परिणति प्रगट नहीं हुई तो वह ज्ञान नहीं है, अज्ञान है और वह (विभावसे) पृथक् नहीं हुआ है। भेदज्ञान होकर अंतरमें स्वानुभूति हो तो उस ज्ञानके साथ आनंद आये बिना नहीं रहता। ज्यों-ज्यों आस्रवोंसे निवृत्त होता जाय त्यों-त्यों ज्ञानकी दशामें वृद्धि होती जाती है और ज्यों-ज्यों ज्ञानदशामें वृद्धि हो त्यों-त्यों आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है। स्वानुभूति प्रगट होकर ज्ञानदशा प्रगट हो उसके साथ आनंद होना ही चाहिये; यदि आनंद नहीं है तो वह ज्ञानदशा यथार्थ नहीं है। ज्ञान पृथक् होकर-न्यारा होकर भेदज्ञानयुक्त नहीं है तो सम्यक्ज्ञान ही नहीं है। वह विचार करता हो वह जुदी बात है, परंतु यह सम्यक्रूपसे परिणमित ज्ञान नहीं है। ६४८.

प्रश्न :—*तत्त्वके विचार दिन-रात करता हो, परंतु भेदाभ्यास न करे, तब भी अनुभव हो सकता है?*

समाधान :—तत्त्वके विचार करता रहे, परंतु जबतक परिणतिमें रागादिसे एकत्व है और भेदज्ञानका अभ्यास नहीं है तबतक निर्विकल्प अनुभूति प्रगट नहीं होती। भेदज्ञानका अभ्यास करे तो निर्विकल्प अनुभूति होती है। किसीको अधिक समय लगे और किसीको थोड़ा समय लगे, परंतु भेदज्ञानका अभ्यास किये बिना, द्रव्यपर दृष्टि दिये बिना, निर्विकल्प अनुभूति नहीं होती। ६४९.

प्रश्न :—*तत्त्व निर्णयके पश्चात् भेद-अभ्यासमें 'यह पुद्गलका परिणमन है', वह पुदगलमें है और 'मैं तो भिन्न हूँ' ऐसा अभ्यास करके पृथक् हो, तो अनुभव हो सके?*

समाधान :—'देह भिन्न और मैं आत्मा भिन्न' ऐसा अंतरमें विकल्प आये उससे भी 'मेरा स्वभाव भिन्न है' इसप्रकार विकल्पसे भी भेदज्ञानका अभ्यास करना चाहिये। अपने पुरुषार्थकी मंदतासे विकल्प होते हैं। तो भी विकल्पसे भेदज्ञानका अभ्यास करे कि विकल्प होनेपर भी 'मैं उनसे भिन्न हूँ'। विकल्पोंसे भेदका अभ्यास हो तो विकल्पोंसे विभक्त हो और तब विकल्प छूटकर निर्विकल्प अनुभूति होनेका प्रसंग आये। विकल्प मौजूद होनेपर भी 'मैं' उनसे पृथक् हूँ, इसप्रकार विकल्पोंसे अलग होनेका अभ्यास नहीं करे तो अलग नहीं हो सकता। विकल्पोंको हटा दूँ.... हटा दूँ, ऐसा करता रहे तो शून्यता जैसा हो जाय; ऐसा नहीं परंतु विकल्पोंसे भेदज्ञानका अभ्यास करनेका है। ६५०.

प्रश्न :—*'कोई भीषण प्रतिकूलता आ जाय, कोई मर्मच्छेदक वचन कहे तो शीघ्र ही देहमें स्थित परमानंदस्वरूप परमात्माका ध्यान करके देहका लक्ष्य छोड़ देना, समताभाव*

धारण करना' ऐसा कहा जाता है; परन्तु अभी तो श्रद्धा-ज्ञानका ठिकाना नहीं है तो वह किसप्रकार परमात्माका ध्यान करेगा?

समाधान :—यह बात तो आगेकी है; परंतु जितनी अपनी शक्ति हो तदनुसार करना। मुनियोंपर घोर परीषह आते हैं—कोई मर्मच्छेदक वचन कहता है, कोई निंदा करता है, तो वे मुनि एकदम आत्माके ध्यानमें ऐसे लीन हो जाते हैं कि बाहरका सब भूल जाते हैं। निंदा-प्रशंसा आदि सब जिनके एकसमान हैं तथा यह शरीर भी जिनका नहीं है, शरीरमें जो हो उससे उन्हें कुछ नहीं होता, ऐसे मुनियोंपर घोर परीषह आयें तो वे तत्क्षण ज्ञायकके ध्यानमें लीन होकर श्रेणि लगाकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। पार्श्वनाथ भगवान्पर उपसर्ग आया था; पांडवोंपर कैसा उपसर्ग आया? तथापि वे सब उस समय भी आत्माका ध्यान करते थे। तीन पांडवोंने तो आगे बढ़कर केवलज्ञान प्राप्त किया! यह तो मुनियोंकी बात हुई। परंतु इसप्रकार जिज्ञासु-मुमुक्षु भी अपनी मर्यादा अनुसार जहाँतक हो सके वहाँतक बाहरके प्रतिकूल प्रसंग आनेपर उनमें शांति रखे कि मैं ज्ञायक हूँ। आत्माका ध्यान नहीं हो सके तो मैं ज्ञायक हूँ, मैं तो आत्मा हूँ मुझे कुछ होता नहीं, यह शब्द तो पुद्गल है, इनके साथ मेरा कोई संबंध नहीं है; ऐसे विचार करे, उसीकी श्रद्धा करे तथा वैसी एकाग्रता और ध्यान करे। पहले यथार्थ ध्यान नहीं होता, परंतु स्वयं भावना करे कि यह शरीर मैं नहीं हूँ, यह तो पुद्गल है; जो कुछ होता है वह शरीरमें होता है, मुझे कुछ नहीं होता; मैं तो ज्ञायक (आत्मा) हूँ, इसप्रकार विचार करे और श्रद्धाका बल बढ़ाये कि मैं तो जुदा हूँ। शब्द नहीं कहता कि तू सुन, और मैं जीव भी वहाँ कुछ सुनने नहीं जाता। मैं अपनेमें हूँ, इसप्रकार विचार करके शांति रखे, समभाव रखे।

मुमुक्षु :—स्वयं जिस भूमिकामें हो तदनुसार करना चाहिये?

बहिनश्री :—अपनी भूमिकानुसार पुरुषार्थ किया जा सकता है; इसलिये वैसा पुरुषार्थ करके अंतरमें स्थिर होना, आकुलता नहीं करना। मुनिराज तो उग्र ध्यान करते हैं; परंतु सबको अपनी-अपनी मर्यादा अनुसार समझ लेना चाहिये। सम्यग्दृष्टि भी आत्माका ध्यान करते हैं; परंतु मुनिकी भूमिका तो जुदी (अनूठी) है। जिज्ञासुको अपनी भूमिकानुसार करना चाहिये। स्वयं संयोगसे न्यारा होकर विचार करे कि यह सब मेरा स्वरूप नहीं है, यह सब उदय है, मैं उससे जुदा हूँ। किसीका दोष नहीं है, मेरे अपने उदयके कारण प्रतिकूलता आयी है, इसलिये शांति रखना। ६५१.

प्रश्न :—*श्रीमद् राजचंद्रजीने कहा है कि 'जिसे ज्ञानीके प्रति परमात्मबुद्धि आती है उसे सर्व मुमुक्षुओंके प्रति दासत्वभाव आता है'। तो वहाँ वे क्या कहना चाहते हैं?*

समाधान :—सत्पुरुष जो कि सर्वोत्कृष्ट मार्ग बतला रहे हैं और साधना कर रहे हैं उनके प्रति मुमुक्षुको परमेश्वरबुद्धि आती है। अर्थात् 'वे ही मुझे सर्वस्व हैं' ऐसा वह मानता है जिससे उसे अन्य मुमुक्षु जीवोंके प्रति दासत्वपना अर्थात् गुणग्राही दृष्टि हो जाती है। वह किसीके दोष नहीं देखता, किंतु उसे सबका दासत्व है अर्थात् 'मैं किसीसे ऊँचा हूँ' ऐसी दृष्टि नहीं है, परंतु नम्रताका भाव आ जाता हैं।

आत्मार्थिताका लक्षण है कि मैं किसीसे ऊँचा हूँ, ऐसा विचार छूट जाय और सबका दासत्व आ जाय। उसे इतनी अधिक नम्रता आ जाती है कि अपना अहंपना और कठोरता छूट जाती है। किंतु उसे परीक्षा बुद्धि होती है। जहाँ सच्चे देव–शास्त्र–गुरु हों वहीं उसकी अर्पणता होती है; परंतु जो सत्य नहीं समझते हों, जिनकी विपरीत बुद्धि तथा मिथ्या आग्रह हों उनके प्रति दासत्व नहीं होता; तथापि स्वयंको कहीं अभिमान नहीं होता और न कहीं अभिमानपूर्वक वर्तता है, ऐसा दासत्व होता है। वह ऐसा मान नहीं रखता कि मुझमें कितनी विशेषता है अर्थात् मैं बड़ा हूँ, ऐसा उसका मान छूट जाता है; जिससे अपनेको हानि हो वैसा अहंपना छूट जाता है। कोई मिथ्या आग्रही हों अथवा कुदेव–कुगुरु हों उन सबको यथावत् जानता है, परंतु स्वयं अहंभाव नहीं रखता। उसे सर्वत्र विवेक वर्तता है, परंतु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वह सब जगह नमस्कार करता है। फिर भी उसको अहंभाव छूट जाता है। मुझमें यह गुण तो है न?—ऐसा अहंभाव उसको नहीं होता, किंतु मुझे अभी बहुत करना बाकी है ऐसी विनम्रता होती है। द्रव्य अपेक्षासे सिद्ध भगवान् समान हूँ, परंतु पर्यायमें पामर हूँ, ऐसी विनम्रता अंतरमें आ जाती है।—यह दासत्वका अर्थ है। मैं पर्यायमें पामर हूँ, मेरी पर्यायमें बहुत अपूर्णता है, मुझे बहुत करना है ऐसी नम्रता होती है; परंतु मैंने यह कर लिया है और मुझमें यह है ऐसा अहंभाव नहीं होता।

दासत्वका ऐसा अर्थ नहीं है कि सबका दास हो जाना और सबको नमस्कार करना। दूसरोंके दोष देखनेकी अपेक्षा अपने दोष देखना कि मैं पर्यायमें पामर हूँ; वह आत्मार्थीका लक्षण है। दूसरोंको दोषबुद्धिसे देखनेकी अपेक्षा तू स्वयं अपनेमें कहाँ अटका हुआ है और तुझमें क्या त्रुटि है उसे तू देख। दूसरोंके दोष देखनेमें नहीं अटकना। 'जगत्को

अच्छा दिखानेका प्रयत्न किया, परंतु तू स्वयं अच्छा नहीं हुआ' ऐसा श्रीमद्जीने कहा है। जगत्को अच्छा दिखानेका प्रयत्न किया परंतु तू स्वयं अंतरसे अच्छा हुआ है या नहीं?— वह तुझे अंतरमें देखना है। तुझे स्वयं अंतरमें गुण प्रगट करने हैं, अंतरंग शुद्धि करनी है। द्रव्यको पहिचानकर अंतरसे जिज्ञासा एवम् लगन लगाकर आत्माकी ओर तेरा झुकाव कितना होता है उसकी–उपादानकी तैयारी करनी है। श्रीमद्जीके इस वाक्यमें गूढता भरी है। गुरुदेवके प्रतापसे स्पष्टता हुई है। गुरुदेवने समयसारादि शास्त्रोंके तथा आत्माके–वस्तुस्वरूपके रहस्य खोले हैं। श्रीमद्जीके कथनके रहस्य भी गुरुदेवने ही खोले हैं। गुरुदेवने सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूपसे सब रहस्य खोले हैं जिससे सब कुछ स्पष्ट हो गया है। ६५२.

प्रश्न :— *"मैं इस संसारमें अधमसे अधम एवं पतित हूँ" इस भावमें क्या दासत्वपना कहना चाहते हैं?*

समाधान :—"मैं ही समस्त जगत्में अधमाधम और महा पतित हूँ, यह निश्चय हुए बिना साधन किस तरह सफल होंगे?" मुझमें समस्त दोष हैं, इसप्रकार अपने दोष देखनेवाला अन्य किसीके दोष नहीं देखता। 'संसारमें मैं अधमसे अधम हूँ' ऐसे अपने दोष देखनेवाला आगे बढ़ता है ऐसा तात्पर्य है। स्वयं कहीं अधमाधम और पतित नहीं हो गया है; किंतु भावना ऐसी है कि मैं दूसरोंके दोष क्यों देखूँ? मैं दोषोंसे भरा हुआ हूँ और अन्य सब (जीव) द्रव्य-अपेक्षा गुणोंसे भरपूर हैं ऐसा वह देखता है। द्रव्य-अपेक्षा अपने स्वभावको दोषरहित देखता है, किंतु पुरुषार्थ उठाना है इसलिये अपनेको ऐसे भी देखता है कि मुझमें ही सब दोष हैं। "मैं अधमसे भी अधम हूँ, पतित हूँ" इसप्रकार पर्याय-अपेक्षासे मुझमें ही दोष हैं और मुझे ही गुण प्रगट करने हैं, दूसरोंके दोष नहीं देखना है। अपनेमें अल्प दोष हो तो उसे बड़ा करके स्वयं अंतर विचार करता है और दूसरोंके अल्प गुणोंको स्वयं अधिक मानकर विचार करता है। आगे जानेवाले मुमुक्षुजीवकी ऐसी ही रीति होती है। जिसे आगे बढ़ना है वह दूसरोंके गुणको देखता है। तथा पुरुषार्थ करना है इसलिये वह अपने दोष देखता है कि अभी मुझे बहुत करना है। ऐसा करके वह आगे बढ़ता है। वह बराबर ज्ञान करता है कि द्रव्य-अपेक्षासे मुझमें शुद्धता भरी है, परंतु पर्यायमें अभी मुझे अंतरपुरुषार्थ करके सब प्रगट करना है। ऐसे किसी अपेक्षासे दासत्वपन कहा है; सर्व अपेक्षासे नहीं। पर्यायकी अपेक्षा स्वयंको आगे बढ़ना है। "दीन भयो प्रभुपद जपे, मुक्ति कहाँसे होय?" वह द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे है।—दोनोंकी संधि है। ६५३.

प्रश्न :—*परमें महत्ता एवं कुटुंब-परिवारमें ममत्व हो जाता है। विचार करनेपर भी वे भाव टूटते नहीं हैं तो क्या करना?*

समाधान :—यदि आत्माकी 'अंतरंग रुचि' एवं 'लगन' लगे तो वे उदयभाव टूटते हैं, विचार करनेसे नहीं टूटते। ज्ञायकको पहिचाने और उदयभावसे भिन्न पड़े कि 'मैं ज्ञायक हूँ', 'यह मेरा स्वरूप नहीं है' तब वे वास्तवमें टूटते हैं। उससे पूर्व उदयभाव भले हों और स्वयं विचार भी करे, परंतु मात्र अकेले विचारसे नहीं, 'पुरुषार्थ' करे तो उदयका रस मंद होकर टूट जाता है। यह कोई सारभूत नहीं है, सारभूत मेरा आत्मा ही है। यह सब निःसार हैं ऐसा अंतरसे 'निश्चय' आये तो उस प्रकारका रस टूट जाता है। 'महिमावंत तो मेरा आत्मा ही है', ऐसे मात्र विचार करता रहे परंतु अंतरसे नीरसता न लगे तो रस नहीं टूटता। मेरा आत्मा शाश्वत है; वास्तवमें यह कुटुंबादि मेरा स्वरूप नहीं है, वे कोई सारभूत तथा महिमावंत भी नहीं हैं; वह सब तो मात्र कल्पनासे माना हुआ है; ऐसा 'वैराग्य' अंतरसे आना चाहिये, आत्माकी लगन लगनी चाहिये। विचारके साथ यह सब आये तो रस टूटे।

स्वयं उदयभावमें जुड़ जाता है, परंतु अंतरसे रस टूट जाना चाहिये। वह अशुभमेंसे शुभमें आता है, परंतु शुभ मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उससे भी भिन्न, महिमावंत चैतन्य हूँ, और विभावमें खड़े रहना वह ठीक नहीं है।—इसप्रकार अंतरसे आत्माकी लगन और महिमा आना चाहिये; उसके बिना रस नहीं टूटता। समस्त बाह्य राग ऐसे ही (निरर्थक) होते हैं; परंतु यदि चैतन्यके प्रति प्रेम जगे तो बाहरका प्रेम अंतरसे टूट जाय। एक मेरा आत्मा ही सर्वस्व है, वही जानने-देखने योग्य है, वही विचारणीय है एवं उसीका भजन करने योग्य है, बाकी सब निरर्थक है। बाह्यमें जिन्होंने वस्तुस्वरूप बतलाया वे जिनेन्द्रदेव हृदयमें स्थापित करने योग्य हैं। देव-शास्त्र-गुरु हृदयमें रखने योग्य हैं। शास्त्रोंका चिंतवन कर्तव्य है। इसके सिवा बाह्यमें किसी पर दृष्टि रखने जैसी नहीं है। अन्य कुछ भी लक्ष्यमें लेने जैसा नहीं है। राग करने जैसा नहीं है।—ऐसा सच्चा निर्णय यदि अन्तरसे हो, सच्ची लगन लगे और सच्चा वैराग्य आये तो बाहरकी महत्ता टूट (छूट) जाय।

वैसे तो इस जीवने बाह्य वैराग्य ला कर अनेकबार रस तोड़ा है; परंतु यथार्थरूपसे तो वह तभी टूटता है कि जब आत्माको लक्ष्यमें ले, ज्ञायकको पहिचाने, तो वास्तविकरूपसे रस टूटे।

उदय तुझे नहीं कहता कि तू जबरन् इसमें जुड़ जा। स्वयं जुड़ता है। बाह्यमें कोई नहीं कहता कि तू मुझे सुन, तू मुझे देख, तू मेरा विचार कर, ऐसा कोई नहीं कहता। परंतु स्वयं ही अपने रागवश उसमें जुड़ता है। रागमें नीरसता लगे तो उसका रस टूट जाय; परंतु मात्र लूखे विचारोंसे रस नहीं टूटता। ६५४.

प्रश्न :—*आपके 'वचनामृत'में आता है कि 'जीवन आत्मामय बना देना चाहिये' वह कैसे बनाया जाय?*

समाधान :—हाँ; जीवन आत्मामय ही बना देना चाहिये। यह सारा जीवन रागमय–विकल्पमय है, उसके बदले आत्मामय बना देना चाहिये। बस! मैं आत्मा हूँ, यह शरीर मैं नहीं हूँ, मैं चैतन्यमूर्ति हूँ, चैतन्यका जो स्वरूप है सो ही मैं हूँ, इसप्रकार जीवन आत्मामय बना देना। हर कदमपर आत्माका ही स्मरण हो ऐसा आत्मामय ही जीवन बनाना। यह सब परद्रव्य हैं, वे कोई मेरे नहीं हैं, मेरा आत्मा जुदा है; मैं चैतन्यमय हूँ; जो पराश्रित विचार आयें वे सब विचार निरर्थक हैं, किंचित्मात्र साररूप नहीं; 'मैं तो एक आत्मा हूँ' प्रथम ऐसी भावना करना, प्रयत्न करना; क्योंकि एकदम सहज होना कठिन होता है; परंतु यदि जीवन आत्मामय हो गया तो सब छूट जाता है, परकी एकत्वबुद्धि टूट जाती है। अंतर्दृष्टि करे कि मैं आत्मा हूँ, यह जो कुछ बाहर दिख रहा है वह मैं नहीं हूँ; मैं तो अंतरमें कोई निराला चैतन्यद्रव्य हूँ। स्वयंने बाह्य कल्पनासे मान लिया है कि यह शरीर सो मैं, घर–कुटुम्बादि सब मैं;—ऐसा स्वयंने माना है; किन्तु यह सब कोई मैं नहीं हूँ, मैं तो चैतन्य आत्मा हूँ, ऐसा आत्मामय जीवन बना देना।

अनंतकालमें बहुत किया, त्याग–वैराग्यादि सब कुछ किया, किंतु यथार्थ—करनेयोग्य—नहीं किया। मैं तो आत्मा हूँ, यह विभाव मेरा स्वरूप नहीं, ऐसे अपना अस्तित्व ग्रहण करके जो वैराग्य आये वह ठीक है। मैं तो आत्मा हूँ, ऐसा सहजरूपसे करनेका प्रयत्न करना। पहले सहज नहीं होता, परंतु सहज करनेका प्रयत्न करना।

यह उदयभाव मैं नहीं हूँ, मैं तो पारिणामिकभावसे रहनेवाला चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ। वह पारिणामिकभाव मेरा स्वरूप है; यह उदयभाव मेरा स्वरूप नहीं—ऐसा आत्मामय जीवन बनाना। ६५५.

